Hannover
2000 Hamburg
1000 Berlin
Zürich
lzburg
Utrecht

॥ ओ३म् ॥

ओ३म् । दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥—अ० ४।११।१२

सायंकाल दोहता हूँ, प्रातःकाल दोहता हूँ, दोपहर में दोहता हूँ । इसके जो दोह (दूध) उत्तमता से प्राप्त होते हैं, उन क्षीण न होनेवालों को हम जानें !

स्वाध्याय-सन्दोह

दोग्धा

वेदामृत, वैदिक धर्म्म, वैदिक स्वदेशभक्ति, स्वाध्याय-संग्रह, स्वाध्याय-सुमन, वेद-प्रवेश, सावित्री-प्रकाश आदि-विविध-पुस्तक-रचयिता

वे० शा० स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

सम्पादक

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक

विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद (उ० प्र०)

प्रकाशक :
विरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाज़ियाबाद, [उ० प्र०]

संशोधित पञ्चम संस्करण [२००० प्रति]
संवत् १६० द० (२०४१ वि०)

मूल्य : ५०-०० रुपये

मुद्रक :
दुर्गा मुद्रणालय,
५४, सुभाष पार्क एक्सटेंशन,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

सम्पादकीय

वेद वैदिक संस्कृति के मूलाधार हैं। वेद ज्ञान और विज्ञान के आदिस्रोत हैं। भारतीय ऋषि-मुनियों ने इसकी महिमा के गीत गाये हैं। महर्षि मनु ने लिखा—

सर्वज्ञानमयो हि सः।—मनु० २।७

वेद ज्ञानमय हैं, ज्ञान के अगाध भण्डार हैं।

वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद ने लिखा—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।—वै० द० ६।१।१

वेद की रचना बुद्धिपूर्वक है।

सभी ब्राह्मणग्रन्थों, दर्शनों, उपनिषदों, स्मृतियों, पुराणों में वेद की महिमा गाई गई है।

मध्ययुग में लोग वेद को भूल गये। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लुप्त हुए वेदज्ञान का पुनः उद्धार किया। नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार वेद का युक्तियुक्त भाष्य किया।

महर्षि दयानन्द के पश्चात् आर्यजगत् के अनेक विद्वानों ने वेद के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। महर्षि के पश्चात् जिन्होंने वेद के सम्बन्ध में कार्य किया उनमें वे० शा० स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ का स्थान सर्वोपरि है। स्वामीजी ने वेद के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखे, यथा—स्वाध्याय-सुमन, स्वाध्याय-संग्रह, वैदिक धर्म, वैदिक स्वदेशभक्ति, राष्ट्ररक्षा के वैदिक साधन, वेदामृत, योगोपनिषत्, ब्रह्मोद्योपनिषत् आदि। स्वाध्याय-सन्दोह स्वामीजी द्वारा लिखित सबसे विशालकाय ग्रन्थ है।

मन्त्रों के रहस्यों का उद्घाटन, भाषा की प्राञ्जलता, सरलता, सरसता, रोचकता इस ग्रन्थ की विशेषताएँ हैं।

यह इस ग्रन्थ का पाँचवाँ संस्करण है। इस संस्करण की विशेषताएं निम्न हैं—

१. मन्त्रों को १६ पॉइंट के स्वर-टाइप में छापा गया है।

२. व्याख्या में आनेवाले सभी प्रमाणों को मोटे टाइप में रखा गया है।

३. स्वामीजी के शब्दों में 'प्रेस के भूतों' की लोप-लीला से जो शब्द लुप्त हो गये थे, उन्हें ठीक कर दिया गया है; जो शब्द अशुद्ध थे, उन्हें भी शुद्ध कर दिया है।

४. सभी प्रमाणों को उन-उन ग्रन्थों से मिलाकर शुद्ध कर दिया गया है।

५. ईक्ष्यवाचन [प्रूफ-संशोधन] में अत्यधिक सावधानी बर्ती गई है।

इस प्रकार यह संस्करण पूर्व सभी संस्करणों से शुद्ध और कलापूर्ण मुद्रित हुआ है।

प्रूफ-संशोधन में श्री सुनीलजी शर्मा ने जो सहयोग दिया है, तदर्थ उन्हें हार्दिक धन्यवाद। दुर्गा मुद्रणालय के सञ्चालक सर्वश्री रामसेवक मिश्र, रामकृष्णजी, बालकृष्णजी तथा प्रेस के सभी कर्मचारियों को शीघ्र, शुद्ध और सुन्दर मुद्रण के लिए साधुवाद देता हूँ।

वेद सदन
एच १/२ माडल टाउन
दिल्ली-९

विदुषामनुचर
जगदीश्वरानन्द सरस्वती
प्रधान
विरजानन्द वैदिक संस्थान

प्रकाशकीय

'स्वाध्याय सन्दोह' का प्रथम संस्करण साढ़े छह वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। इतनी शीघ्रता से यह ग्रन्थ समाप्त हुआ जिसकी कल्पना भी न थी। ग्रन्थ की माँग निरन्तर थी। दुर्भाग्य से देश का विभाजन हो गया। पाकिस्तान निर्माण के कारण स्थानभ्रष्ट हो जाने से लेखक इसके द्वितीय संस्करण का सम्पादन न कर सका। नये स्थान में नई परिस्थिति एवं नये कर्त्तव्यभारों ने कुछ ऐसा व्यस्त कर दिया कि लगभग समयाभाव रहने लगा। उधर ग्रन्थ की माँग निरन्तर बनी रही। स्वाध्याय-प्रेमियों के आग्रह के आगे झुककर जब इसके प्रकाशन का विचार किया तो काग़ज़ की समस्या खड़ी हो गई। पूरा एक वर्ष काग़ज़ प्राप्त करने में लगा। काग़ज़ प्राप्त होने पर भी अन्य अनेक बाधाएँ इसके प्रकाशन के मार्ग में आ उपस्थित हुईं। उन सबके होते हुए भी प्रभुकृपा से ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है। इसमें यत्रतत्र कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन-परिवर्धन भी कर दिया गया है।

पुस्तक के सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न कहकर श्री आनन्दस्वामी सरस्वती (पूर्व—म० खुशहालचन्दजी) का लिखा प्रथम संस्करण का प्राक्कथन उद्धृत कर देना पर्याप्त है—

"वह शुभ घड़ी ही थी जब वेद तथा ऋषि दयानन्द के सच्चे भक्त श्री स्वामी वेदानन्दजी से मैंने निवेदन किया कि 'आर्यप्रादेशिक प्रतिनिधिसभा' की स्वर्णजयन्ती आ रही है, आप सदा वेद से अमृत पान करते रहते हैं, इस अमृत का कुछ भाग सर्वसाधारण को भी मिलना चाहिए। स्वामीजी ने तथाऽस्तु कहकर मेरी प्रार्थना स्वीकार की और अमृतमन्थन में संलग्न हो गये। एक दिन कहने लगे वेद तो अमृत-ही-अमृत है, मिसरी का डली हर ओर से मीठी ही है, किस मन्त्र को छोड़ूँ, किस को लूँ, हां अपनी शक्ति-अनुसार दुग्ध दोहन किया है और आज वही दूध आपके सामने है। कहने को तो "स्वाध्याय सन्दोह" में ३६७ मन्त्र हैं, परन्तु जब आप इसका स्वाध्याय करेंगे तो आप देखेंगे कि मन्त्रों की व्याख्या में प्रसंग से अनेक मन्त्र, मन्त्रखण्ड, उपनिषदों के वाक्य, मनुस्मृति के श्लोक, ऋषि दयानन्दजी के वचन तथा अन्य महात्माओं के वचन उद्धृत हुए हैं, इस प्रकार इस सुन्दर पुस्तक में सहस्रों मन्त्रों तथा श्लोकों का समावेश हो गया है। निस्सन्देह इस संग्रह में अध्यात्मसम्बन्धी सामग्री अधिक है, किन्तु लोकव्यवहार की उपेक्षा भी स्वामीजी ने नहीं की; सद्गृहस्थों के लिए बहुत उपयोगी मन्त्र आप इसमें पाएँगे। इस प्रकार यह संग्रह बहुत सुन्दर बन गया है। सारा वर्ष प्रतिदिन आप इससे अमृत पान कर सकते हैं। श्री स्वामी वेदानन्दजी ने दिन-रात के घोर परिश्रम से जो दुग्ध वेद-धेनु से प्राप्त किया है उसे पान कीजिए और आत्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक शक्ति प्राप्त कीजिए।"

पुस्तक इतने अल्पकाल में न छप सकती, यदि मेरे विद्यार्थी चि० श्री रामचन्द्रजी इसके लिए पुरुषार्थ न करते। उन्हें धन्यवाद देना केवल लोकाचार समझा जाएगा।

—स्वामी वेदानन्द तीर्थ

॥ ओ३म् ॥

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥—ऋ० १०।१४।१५

प्रचण्ड आतप था। आत्मा, मन, प्राण सभी झुलसे जा रहे थे। त्राण का स्थान कहीं न दीखता था। ताप शान्त करने को, आत्मा को त्राण दिलाने को, अनेक तीर्थों में स्नान किया, किन्तु ताप न मिटना था, न मिटा, उलटा बढ़ता जा रहा था। सभी उपचार बेकार हो रहे थे। निराशा-निशा ने आ घेरा था। प्रतीत होने लगा कि कदाचित् ताप याप्य हो, जीवनसङ्गी हो। मूर्छित होने को था कि नन्दगोपाल नन्दलाल ने दयानन्द सरस्वती का तीर दिखलाया। सरस्वती का नीर क्षीर प्रतीत हुआ। सरस्वती-धारा अतीव शीतल थी, उज्ज्वल थी, विमल थी। उसमें डुबकी लगाई। जान में जान आई। चकित हुआ। अमिट ताप मिटता प्रतीत हुआ। दया और आनन्द के स्रोत में घनसार-सा सार था। फिर भी निकलने को था उस सन्तापहारिणी, भवभयहारिणी, संसारतारिणी तरणी से कि दर्शनानन्द ने दिव्य दर्शन दिये और विमल सरस्वती का, शीतल, पावन सरस्वती का माहात्म्य बताया। पूर्वभवीय नानाविध वासनाओं के कारण उत्पन्न हुई चपल चित्त की चंचलता के वशीभूत हुआ यह मूर्ख, धराधाम से विश्वम्भर तक ले-जानेवाली सन्तापहारिणी धार से निकलकर, संसार-अङ्गारों में लोट-पोट होने को था कि विष्णुदत्त विशुद्धानन्द ने इस प्रवाह की आनन्दमयता, विशुद्धता तथा विष्णुपदता दिखलाई। अन्त में जयानन्द ने आकर विजय-दुन्दुभि बजायी, दयानन्द को तीर्थ बताया और दयानन्दतीर्थ बनाया। दयानन्द ने अपने मूल उद्गम तक—अनादि सरस्वान् वेद भगवान् तक पहुँचाया। वहाँ पहुँचकर जो आनन्द पाया, वाणी से जाए वह क्योंकर सुनाया?

मूल सरस्वान् पहुँचकर ज्ञात हुआ कि सरस्वती धारा निकली ही यहाँ से है।

जब महान् सरस्वान् में स्नान किया, उस महान् सरस्वान् के स्नान ने अनायास ही वेदानन्द बना दिया। डुबकी लगाते समय कुछ शीकर-बिन्दु ऊपर को उड़े, उभड़े। ये वही बिन्दु हैं। जिसपर पड़ते हैं, ताप मिटा देते हैं। कोई चाहे तो उसे महान् सरस्वान् तक भी पहुँचा देते हैं।

उस उज्ज्वल, विमल, शीतल, मूलोद्गम महान् सरस्वान् तक पहुँचानेवाले, मार्ग दिखानेवाले सभी महामनुष्यों को नमस्कार, वहाँ तक जानेवालों को नमस्कार।

नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोमि ॥—अ० ६।१३।२

॥ ओ३म् ॥

स्वाध्याय-सन्दोह

(दोग्धा का निवेदन)

ओ३म्। यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥
ओ३म्। पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥—ऋ० ९।६७।३१, ३२

जो मनुष्य भगवान् की कल्याणी वाणी का मनन करता है, वह ऋषियों के प्राप्त किये रस का, भगवान् में विचरण कननेवाले ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं से चखे पवित्र अमृत का, पूर्णतया भोग करता है। उसे ज्ञानदायिनी आद्या-शक्ति ससार की सुख-सामग्री दूध, घी, मधु, जल आदि दोहकर देती है।

सचमुच वेदज्ञान का बहुत बड़ा माहात्म्य है। भगवान् की कल्याणी वाणी के बार-बार मनन करने से मनुष्य का वह कल्याण होता है, जो अन्य किसी साधन से हो नहीं सकता। जब संसार में वेद का प्रचार था, इतिहास इस बात का साक्षी है कि, तब संसार में सब तरह की शान्ति, समृद्धि का प्रसार था; सबका सबसे प्यार था। जब से वेदधर्म्म का लोप हुआ है तभी से संसार में सब प्रकार के उपद्रव, कलह, अशान्ति और दुःख-दारिद्रय की वृद्धि हो रही है। संसार से सब उपद्रवों को दूर करने के लिए वेद-प्रचार की नितान्त आवश्यकता है। इस तत्त्व का अनुभव करके संसार के उपकारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लुप्त वेद-धर्म्म का पुनः प्रचार करने का सफल प्रयत्न किया।

निस्सन्देह वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वह लोक-परलोक-उपयोगी सभी साधनों का यथार्थ ज्ञान देता है। किन्तु आत्मा, परमात्मा आदि का जैसा निरूपण वेद में है, संसार के किसी भी ग्रन्थ में नहीं है।

वेद को वेद (ऋ० १।१६४।२६) में धेनु=कामधेनु कहा गया है। सचमुच यह सभी कामनाओं को दोह देती है। हाँ, कामधेनु को दोहने की युक्ति आनी चाहिए।

ऋषिराज के अनुग्रह से इस नगण्य जन को इस कामधेनु के दर्शन, स्पर्शन, सेवन, आराधन करने का शुभ योग प्राप्त हुआ। उसकी दया-माया से इसे इस गय्या मय्या का दूध भी पीने को मिला। तबसे निरन्तर इसे दोहता हूँ, स्वयं पीता हूँ, अन्यों को भी पिलाता हूँ। वेद के शब्दों में—

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः॥—अथर्व० ४।११।१२

'सायंकाल दोहता हूँ, प्रातःकाल दोहता हूँ, दोपहर में दोहता हूँ। इसके जो दोह=दूध उत्तमता से प्राप्त होते हैं, उन क्षीण न होनेवालों को हम जानें।

यह ऐसी कामधेनु है, जो दूध ही दूध देती है। जिसके सर्वाङ्गों में दूध ही दूध है। दूध दूध में भेद है। किन्तु यह ऐसा दूध है, जो इसे पीता है, वह इसे फिर पीना चाहता है, पीता-पीता अघाता नहीं है। जैसे गौ का दूध पूर्ण भोजन है, गौ का दूध पीनेवाले को दूसरे पदार्थों की, शरीर-यात्रा-निर्वाह के लिए आवश्यकता नहीं होती; वेद-गौ का दूध भी अध्यात्म-तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए वैसा गुणकारी है, इसका पान करनेवाले को अन्य किसी प्रकार के भोजन की अपेक्षा नहीं पड़ती।

मधुच्छन्दाः, कण्व, अत्रि, भृगु, वसिष्ठ, वसुक्र, व्यास, पैल, सुमन्तु, विरजानन्द, दयानन्द आदि-आदि ऐसे कुशल दोग्धाओं ने—दोहनेवालों ने—अपने-अपने समय पर इस धेनु को दोहा है, किन्तु किसी ने यह कहने का साहस नहीं किया कि वह इसका सारा दूध दोह सका है। ये दोग्धा अत्यन्त प्रवीण थे, इनके पात्र विशाल थे; जब ये भी सब न दोह सके, तो उस नगण्य की क्या गणना, जिसका पात्र भी छोटा, बहुत छोटा, दोहने की अटकल भी सर्वथा कच्ची। तथापि श्री महाशय खुशहालचन्द जी आनन्द की प्रेरणा पर दोहने का साहस अवश्य कर बैठा हूँ। यह इस धेनु का माहात्म्य है कि दूध ही दोह सका हूँ, क्योंकि इसमें दूध ही दूध है। यतः इस धेनु में सर्वत्र दूध है, अतः इसमें सब ओर की धाराएँ हैं। प्रयत्न किया गया है कि वर्षभर [जिसमें अधिक-से-अधिक ३६६ दिन होते हैं] के लिए दूध इस पात्र में आ जाए, अतः प्रथम गुरुमन्त्र के साथ ३६६ शीर्षक मिलाकर ३६७ शीर्षकों का संकलन है, मन्त्र इससे अधिक हैं।

ऋषि लोग इस गौ को 'स्वाध्याय' नाम से पुकारते हैं, अतः यह अनाड़ी दोग्धा अपने दोहे दूध को 'स्वाध्याय-सन्दोह' नाम से आप सबके आगे प्रस्तुत करता है। दोग्धा ने स्वयं इसका पान किया है, यह उसे अत्यन्त स्वादु और मधुर लगा है, और इससे उसका भूरि-भूरि मङ्गल हुआ है। सबका मङ्गल हो, इस भावना से सबके समक्ष प्रस्तुत करने का साहस किया है। यदि कहीं किसी बूंद में कोई और रस या विरसता प्रतीत हो, तो उसे दोग्धा का अनाड़ीपन समझकर, उसे दोहने की अटकल बता देने की कृपा कीजिएगा, सन्दोह की=उत्तम दूध की निन्दा मत कीजिएगा, ऐसा पान करनेवालों से निवेदन है।

स्वाध्यायनिकरो धेनुर्वेदानन्दः सुदोहकृत्।
दुग्धः स्वाध्यायसन्दोहस्तं पिबतु सकलं जगत्॥

। शमित्योऽ३म्।

विजयादशमी ११९ द० (२००० वि०)

स्वामी वेदानन्दतीर्थ

(लेखक श्री पं० सत्यानन्दः शास्त्री, एम० ए०, सदस्य विरजानन्द वैदिक संस्थान)

प्रभु की वाणी वेद में श्रद्धा रखनेवाला कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो स्वामी वेदानन्दतीर्थ के नाम से परिचित न हो। महर्षि दयानन्द सरस्वती इस युग के यदि **वेदोद्धारक** थे, तो स्वामी वेदानन्दतीर्थ सच्चे **वेदप्रचारक**। आपने 'वेदामृत', 'स्वाध्याय-सुमन', 'स्वाध्याय-सन्दोह', 'स्वाध्याय-संग्रह', 'योगोपनिषत्', 'ब्रह्मोद्योपनिषत्' और 'वेदप्रवेश' आदि अनेकों[1] वेदविषयक ग्रन्थरत्नों का प्रणयन कर आचार्य दयानन्द द्वारा प्रदर्शित 'वेदार्थ' का मार्ग न केवल विद्वन्मण्डली में ही अपितु जनसाधारण में भी प्रशस्त किया। अपनी इन उत्कृष्ट कृतियों द्वारा वेदमाता के लगभग एक-चौथाई भाग को अत्यन्त सुललित, सरल और सुबोध भाषा में अनूदित अथवा व्याख्यात कर आप न केवल उसे प्रकाशित करने में ही सक्षम हुए अपितु अपनी निरन्तर प्रेरणा द्वारा वेदप्रेमियों के परिवारों तक पहुँचाने में भी सफल हो पाये। आर्यजगत् में आप आज जिस तरफ भी चले जाएँ, स्वामीजी महाराज की इन दिव्य रचनाओं की चर्चा होती पाएँगे।

कहीं आर्यसमाजों में 'स्वाध्याय-सुमन' की कथा हो रही है, तो कहीं वेदभक्त एकत्रित हो नित्यप्रति 'स्वाध्याय-सन्दोह' का पाठ करते हैं। कहीं विद्यालयों और शिक्षणालयों में छात्रों को 'वेद-प्रवेश' पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ाया जाता है, तो कहीं सम्मेलनों और सार्वजनिक सभाओं में 'वेदामृत' और 'वैदिकधर्म' में दिये गये प्रमाणों को वैदिक सिद्धान्तों की पुष्टि में प्रस्तुत किया जाता है। अनेकों पौराणिक पण्डित नित्यप्रति स्वामीजी के वेदसम्बन्धी ग्रन्थों का स्वाध्याय कर, कृतकृत्य हो, मन-ही-मन में आपको साधुवाद कहते हैं। लेखनशैली की उत्कृष्टता—भाषा की प्राञ्जलता, ऊहापोह की प्रखरता, विषयवस्तु के औचित्य (नातिन्यून, नात्यधिक व्याख्या) और प्रमाणों की न्याय्यता—के कारण 'स्वाध्याय-सन्दोह' शताब्दियों तक वेदप्रेमियों के स्वाध्यायपथ को आलोकित करता रहेगा।

'स्वाध्याय-सन्दोह' लिखे जाने के पीछे एक घटना है। सन् १९४३ ई० की बात है। किसी विशेष निमित्त से स्वामीजी महाराज उन दिनों 'गुरुदत्तभवन' में न रहकर दातागंजबख्श (लाहौर) के पास एक मुसलमान के मकान में दूसरी मंजिल पर कमरा किराये पर लेकर रहते थे। उन दिनों ठा० अमरसिंह जी शास्त्रार्थमहारथी (वर्त्तमान—अमरस्वामी सरस्वती) उपदेशक आर्यप्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब प्रायः स्वामीजी के पास आया करते थे। उसी वर्ष प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का जयन्ती-महोत्सव होनेवाला था। एक दिन ठाकुरजी ने स्वामीजी से कहा, 'आपने साप्ताहिक सत्संगों में पाठ के लिए वेदमन्त्रों का एक संग्रह लिखा है; एक ऐसा भी ग्रन्थ लिख दीजिए, जो प्रतिदिन पाठ करने के लिए उपयोगी हो। एक मन्त्र की व्याख्या का प्रतिदिन पाठ कर लेने पर वर्षभर में पूरे ग्रन्थ का पारायण हो जाए।' स्वामीजी ने कहा,

---

१. इनके अतिरिक्त 'वेदपरिचय', 'सावित्री-प्रकाश', 'नैमित्तिक वेदपाठ', 'बृहद्यज्ञपद्धति', 'वैदिक स्वदेशभक्ति', 'सन्ध्यालोक', 'राष्ट्र रक्षा के वैदिक साधन' आदि भी आपकी वेदसम्बन्धी कृतियाँ हैं। 'यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय की व्याख्या' के भी आप ही लेखक हैं। 'वेदार्षकोष' के मूलोद्भावक आप ही हैं, और आपके द्वारा छपवाया जाकर ही मूर्त्तरूप में यह प्रकाशन जनता के सामने आया। इस कोष में वैदिक शब्दों के महर्षि दयानन्द द्वारा वेदभाष्य में किये गये अर्थों का संग्रह है जो कई-एक व्यक्तियों ने मिलकर किया है। इस कोष के सम्पादक पं० चमूपति एम० ए० हैं।

'छपाएगा कौन ?' ठाकुरजी बोले, 'प्रादेशिक सभा।' तब स्वामीजी ने कहा, 'यदि सभा के प्रधान कहें, तो लिख दूंगा।' उन दिनों प्रादेशिक प्रतिनिधिसभा के प्रधान ला० खुशहालचन्द खुर्सन्द (वर्त्तमान—आनन्दस्वामीजी) थे। ठाकुरजी उसी समय लालाजी के पास गये और अपना विचार उन्हें कह सुनाया। लालाजी ठाकुरजी को साथ लेकर स्वामीजी के पास आये और हाथ जोड़ माथा टेककर उन्होंने स्वामीजी से उस प्रकार का ग्रन्थ लिख देने के लिए प्रार्थना की। स्वामीजी ने इसे स्वीकार कर ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ कर दिया।

गरमी का मौसम अपने पूरे यौवन पर था। लाहौर में उन दिनों गरमी के मारे पेड़ों पर से परिन्दे और सड़कों पर तांगों के घोड़े बेहोश होकर गिर जाया करते थे। उसी कमरे में—जहाँ आरपार हवा भी न आती थी, स्वामीजी ने ग्रन्थ की रचना आरम्भ कर दी। पास न पंखा था और न किसी प्रकार की सुविधा ही; ऋषि के कार्य की लगन ही सब अनुकूलताओं का आधार था। लिखते-लिखते बाहुओं पर से जब पसीना बहता, लिखे कागज न बिगड़ें, इस विचार से स्वामीजी बाहुओं के नीचे रद्दी कागज लगा लेते; उनकी लेखनी निरन्तर चलती रहती। जल्दी ही ग्रन्थ तैयार हो गया। एक-एक मन्त्र की व्याख्या प्रायः चार-चार पृष्ठों में की गई थी। सभा के अधिकारियों ने जब ग्रन्थ देखा, तो कहने लगे, 'ग्रन्थ बहुत बड़ा हो गया है, इतना बड़ा ग्रन्थ छपाना कठिन होगा; इसे थोड़ा संक्षिप्त किया जाना चाहिए।' ग्रन्थरचना की अपेक्षा स्वामीजी ने इस संक्षेपणकार्य में अधिक कठिनाई अनुभव की। आज हमारे सम्मुख वही रचना है। काश कि वह पूर्वलिखित ग्रन्थ सुरक्षित किया गया होता। इस रत्न से उस रत्न का केवल अनुमान ही किया जा सकता है। यह घटना अब अमर-स्वामीजी से मालूम हुई है। इसका केवल संकेत मात्र पहले संस्करण की भूमिका में आया है।

स्वामी वेदानन्दतीर्थ लेखनी के धनी थे। वेदसम्बन्धी उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने अनेक अन्य[1] पुस्तकें भी लिखी थीं। दार्शनिक ऊहापोहपूर्ण 'न्यायसूत्रवृत्तिटिप्पणी' संस्कृत भाषा में आपकी एकमात्र[2] कृति है। इसके अध्ययन से दर्शनसम्बन्धी आपके गहरे अनुशीलन का परिचय मिलता है। अपने उपनिषत्सारों[3] में स्वामीजी ने संक्षेपण-कला का चातुर्य दिखलाया है, और गागर में सागर बन्द कर रख दिया है। स्वामीजी द्वारा लिखी गईं विविध पुराणालोचनाओं[4] से पुराणों के सम्बन्ध में आपके अतिगम्भीर अध्ययन का पता चलता है। स्वामीजी ने ये पुराणालोचनाएँ जन-साधारण को पुराणों की अनर्गलता विदित कराने के उद्देश्य से लिखी थीं।

स्वामीजी की समस्त प्रकाशित रचनाओं को यदि एकत्र किया जाए, तो चार हज़ार किताबी पृष्ठों से कम न होंगी। समाचारपत्रों में आर्य-सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए आप द्वारा लिखे गये लेखों का परिमाण भी इससे अधिक ही होगा। आपकी उन अनेकों रचनाओं की यहाँ गणना करना व्यर्थ है, जो देशविभाजन के समय हुए साम्प्रदायिक दंगों में नष्ट हो जाने के कारण छपाई न जा सकीं। किन्तु उन रचनाओं पर किये गये प्रयास का यदि मूल्यांकन करना हो, तो उनका कलेवर

---

१. 'वानर तथा राक्षस मनुष्य थे', 'देशहित के लिए आर्यसमाज का कार्य', 'आर्यसमाज', 'श्राद्ध', 'आर्यसमाज के नियम', 'ही या भी', 'मिरजाई तथा वेद', 'राहे नजात', 'आसनप्रकाश', 'आर्यसमाज और सनातनधर्म', 'विरजानन्द जीवन चरित', 'ऋषिबोध कथा', 'स्वामी दयानन्द की विचित्र बातें', 'स्वामी दयानन्द की निराली बातें', 'स्वामी दयानन्द की अनोखी बातें', 'पुराणों में परस्पर विरोध', 'मोक्ष के साधन', 'ईशोपनिषद् की व्याख्या', 'अध्यात्म प्रसाद' 'परमेश्वर की उपासना क्यों करें और कैसे करें', 'पुराणों की कहानी मिश्रजी की जबानी', 'मनुष्य बन', 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना-मन्त्रों की व्याख्या', 'नारद-नीति', 'कनक-नीति', 'विदुरप्रजागर', 'हम संस्कृत क्यों पढ़ें', 'संस्कृताङ्कुर', 'संस्कृतमंजरी', 'सटिप्पण सत्यार्थप्रकाश', 'ऋषि दयानन्द का उपकार', 'हिन्दू और आर्य', 'मौत के बाद रूह की हालत', 'वैदिक धर्म की फाजीलियत' इत्यादि।

२. 'कलौ सत्ताप्रकाशः' यह एक और लघु पुस्तिका भी स्वामीजी ने संस्कृत में लिखकर छपवाई थी।

३. 'ईशोपनिषत्सार', 'केनोपनिषत्सार', 'कठोपनिषत्सार', 'प्रश्नोपनिषत्सार', और 'मुण्डकोपनिषत्सार।'

४. भविष्यपुराण की आलोचना, शिवपुराण की आलोचना, कूर्मपुराण की आलोचना, लिङ्गपुराण की आलोचना, वराह-पुराण की आलोचना, ब्रह्मपुराण की आलोचना।

भी तीन हज़ार किताबी पृष्ठों से अधिक ही होगा, कम नहीं। इतने विपुल और विशाल साहित्यसर्जन में सक्षम होने के लिए स्वामीजी ने वाग्देवी की एकनिष्ठ होकर कितनी लम्बी आराधना की होगी, यह विज्ञ पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं।

'सटिप्पणस्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश' स्वामीजी महाराज की अन्तिम कृति है। नाम को तो ये 'टिप्पणियाँ' हैं, किन्तु हैं 'विपुल ज्ञान का अखुट कोष'। धार्मिक संसार का कोई विषय ऐसा नहीं, जिसके सम्बन्ध में विस्तृत ब्यौरा आपको यहां न मिले। मूल सत्यार्थप्रकाश में आचार्य ने जितने प्रमाण प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि में दिये हैं, लगभग उतने[1] ही प्रमाण विद्वद्वर टिप्पणीकर्त्ता ने आचार्य के मन्तव्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए संगृहीत किये हैं। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने 'सटिप्पण स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण का 'रिव्यू' करते समय ठीक ही लिखा था—'काश कि सत्यार्थ-प्रकाश पर ऐसी टिप्पणी आज से साठ वर्ष पहले लिखी गई होती! सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के सम्बन्ध में जो भ्रान्तियां लोगों में आज फैली हुई हैं वे न फैल सकतीं।' स्वामीजी को सत्यार्थप्रकाश पर टिप्पणी लिखने के लिए तीन बार प्रयास करना पड़ा। पहले प्रयास का नाश देशविभाजन के फलस्वरूप हुए दंगों ने कर दिया। दूसरी बार एतदर्थ एकत्रित की गई विपुल ग्रन्थराशि, लिखे गये संकेत, नोट और विस्तृत टिप्पण आदि सामग्री (जिनके अन्तर्गत २००० रुपये के करेंसी नोट भी थे) वानप्रस्थाश्रम-ज्वालापुरस्थित स्वामीजी के निवासस्थान का ताला तोड़ धर्मदस्युओं द्वारा लूट ली गई। तीसरी बार खेड़ा खुर्द में टिप्पणी लिखने का प्रयास सफल हो पाया।

पैंसठ-सत्तर वर्षों के अपने कुल जीवनकाल में स्वामीजी ने पचास वर्षों से अधिक सरस्वती की आराधना में गुज़ारे थे। इन पचास वर्षों में संस्कृत पठन-पाठन में निरन्तर लगे रहने के कारण आपका ज्ञान परिपक्वता को प्राप्त हो चुका था। वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों के आप मर्मज्ञ थे; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि वेदाङ्गों में आप पारङ्गत थे; न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा आदि शास्त्रों पर आपको पूर्ण अधिकार था। कोई भी व्यक्ति कहीं से भी कोई स्थल ले आता, आप तुरन्त उसकी प्रसंगोचित संगति लगा संतोषजनक व्याख्या कर दिया करते थे। यही कारण था कि स्वामीजी महाराज जहां कहीं भी जाते, वेदप्रेमी सज्जन—क्या आर्यसमाजी और क्या ग़ैर-आर्यसमाजी पौराणिक, जैन, मुस्लिम और ईसाई आदि भी—आपसे मिलने आते, मिलकर बातचीत कर, अपने संशय मिटाते थे। इस प्रकार जहाँ धर्मजिज्ञासुओं की जिज्ञासा पूरी होती थी, वहाँ आर्यसमाज का भी गौरव बढ़ता था और वैदिकधर्म के प्रचार का मार्ग बड़ी सुगमता से प्रशस्त होता था। आज आर्यसमाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसकी विद्या का लोहा ग़ैर-आर्यसमाजी—पौराणिक, मुसलमान, ईसाई आदि—मानते हों। यह गौरव स्वामी वेदानन्दतीर्थ को ही हासिल था कि उनकी विद्या, शालीनता और व्यवहार से खिंचे हुए अनेकों धर्मजिज्ञासु—गृहस्थ, ब्रह्मचारी, संन्यासी, ईसाई पादरी, मुसलमान मौलवी, जैन आचार्य—आर्यसमाज के उत्सवों पर आते थे और मन-ही-मन आर्यसमाज के सिद्धान्तों के कायल हो जाते थे। गुजरातप्रान्त-निवासी श्री स्वामी भागवतानन्दजी महाराज अद्ययावत् जब भी मिलते हैं, आपको, आपके सद्व्यवहार को, आपके प्रखर ज्ञान को और ऊहापोह में आपकी ऊँची उड़ान को—स्मरण करते हैं। अनेक ग़ैर-आर्यसमाजी ऐसे हैं, जो स्वामी वेदानन्दजी के भक्त हैं और उन्हीं के निजी सम्बन्ध के कारण आर्यसमाज से स्नेह रखते हैं।

स्वामीजी महाराज लौकिक संस्कृत में भी पूरी तरह निष्णात थे। काव्य, नाटक, छन्द, अलंकार आदि सब विषय आपको उपस्थित थे। विद्यार्थिगण जब कभी जिस किसी भी विषय को जहाँ कहीं से और जिस किसी स्थल से पढ़ने की इच्छा व्यक्त करते थे, उसका पाठ उज्ज्वल मोतियों की लड़ी की भांति तुरन्त ही स्वामीजी महाराज के मुखारविन्दरूपी झरने से शब्दायमान होता हुआ निकलने लगता था। आर्यभाषा, बंगला, गुजराती, मराठी, सिन्धी, काश्मीरी, पश्तो, उर्दू आदि देशीय भाषाओं पर आपको पूरा-पूरा अबूर हासिल था। अंग्रेजी भाषा के विद्वान् होने के अतिरिक्त आपको अरबी, फ़ारसी, जर्मन, फ्रैंच, लैटिन, ग्रीक, हिब्रू आदि विदेशी भाषाओं का भी कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त था।

स्वामीजी महाराज में ज्ञान और पुरुषार्थ का अद्भुत संमिश्रण हुआ था। दोनों गुणों के सामञ्जस्य ने स्वामीजी महाराज के व्यक्तित्व को और भी निखार दिया था। संकट-समय में कर्त्तव्यपरायणता से प्रेरित हो, स्वामीजी कर्मठता का

---

१. महर्षि दयानन्द ने अनुमानतः चार हज़ार प्रमाण वेदों तथा अन्य शास्त्रों से सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत किये हैं। टिप्पणी-कर्त्ता ने भी तकरीबन इतने ही प्रमाणों का संग्रह किया है।

सहारा लेते, जिससे आपकी प्रशासकीय क्षमता और भी उभर उठती, और कार्यकुशलता के वे जौहर दिखलाती कि शत्रु भी स्तब्ध हो जाते। आप प्रायः कहा करते थे—'वक्ते रफ़्तन शेर सीधा तैरता है आब में।' यही कारण था कि शत्रु भी आपका लोहा मानते थे। स्वर्गीय महाशय कृष्णजी ने आपके सम्बन्ध में एक बार कहा था—'स्वामी वेदानन्दतीर्थ बड़े योग्य व्यक्ति और गुणों की खान हैं।'

नवयुवकों से स्वामीजी का विशेष प्रेम था। लेखकों को आप सर्वदा प्रोत्साहित करते रहते थे। सत्यनिष्ठा आपमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। आस्तिकता और धर्मपरायणता की आप मूर्त्ति थे। लोभ आपको छू तक भी न गया था। आपकी स्मरणशक्ति अद्‌भुत थी, होती भी क्यों न, नित्यप्रति घण्टों योगसाधन में बैठते थे। आप बड़े मिलनसार, हँसमुख और उत्साही थे। जो कोई भी आपके सम्पर्क में आता ऐसा अनुभव करता, जैसे स्वामीजी महाराज उसके आत्मीय हों।

स्वामी वेदानन्दतीर्थजी यद्यपि आज इस असार संसार में नहीं हैं, परन्तु उनकी दिव्य रचनाएँ चिरकाल तक आर्यों को स्फूर्ति प्रदान करती रहेंगी।

॥ ओ३म् शम् ॥

विषयानुक्रमणिका

२९०. अपने पुरुषार्थ से कच्चों में परिपक्वता डाल
२९१. सभी पुष्टि के लिए तुझ एक बली को धारते हैं
२९२. शिल्पी सहस्रभृष्टि वज्र बनाये
२९३. दो मार्ग
२९४. व्रतरहितों को व्रतसहित करना
२९५. नीचे पड़े को ऊपर उठानेवाला प्रशंसनीय
२९६. भगवान् का मन्यु जो कुछ करता है उसे…
२९७. उत्तम मननशील (मनुष्य)
२९८. दुःखियों की सेवा करनेवाले की सभी प्रशंसा करते हैं
२९९. राजा
३००. वृद्धों की सेवा
३०१. इन्द्र कहाँ है ?
३०२. जितना तुझे जानते हैं, उतना पूजते हैं
३०३. तेरा जानकार विरला
३०४. बुद्धिद्वारा शीघ्र विजय
३०५. भगवान् की पूजा करता हूँ
३०६. श्रेष्ठतम कर्म की प्रेरणा
३०७. प्रभो ! आ
३०८. सबका बल मुझे दे
३०९. मोक्ष का साधन—धर्म
३१०. दाता को भगवान् देता है
३११. पापी को पाप लौट आता है
३१२. धार्मिक जन का प्रभाव
३१३. यह लोक देवों का प्रिय है
३१४. पाप-त्याग
३१५. परमात्मा कर्मानुसार देह देता है, और वाणी भी
३१६. प्रश्न द्वारा आत्मनिरूपण
३१७. झूठ का त्याग करके सत्य का ग्रहण
३१८. तेरे आकर्षक रूप को यहीं देखा है
३१९. विज्ञानी गुरु
३२०. बाल की खाल निकालना
३२१. अथर्ववेद के ज्ञान से पौरोहित्य
३२२. विश्व के जीवन ! तेरी स्तुति करना चाहता हूँ
३२३. वेदकर्त्ता
३२४. मनुष्य
३२५. प्रथम दाता
३२६. हम तेरे तू हमारा
३२७. महान् पुरुष
३२८. भोगसाधन पहले बनाता हूँ
३२९. अल्पज्ञ मनुष्य वेद का त्याग न करे
३३०. अहिंस्य आत्मा
३३१. दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम
३३२. प्रभु को आर्य ही प्राप्त कर सकता है
३३३. स्वयंवर विवाह
३३४. जब भगवान् को धारण करता था
३३५. गुरुकृत शिक्षा
३३६. आधिव्याधिभिः परीतोस्मि
३३७. सत्योपदेश मुझे प्रसन्न करे
३३८. सत्योक्ति मेरी रक्षा करे
३३९. सुकर्म्मा नर
३४०. सूर्य्य किसी और प्रकार से प्रकाशित होता है
३४१. अजन्मा प्रजापति
३४२. प्रभु के अनेक नाम
३४३. सकल संसार के निरीक्षण का फल
३४४. दो विरूप मिलकर बच्चे का पालन करते हैं
३४५. सब देव अग्नि की सेवा करते हैं
३४६. सरस्वती को जानेवाली पाँच नदियाँ
३४७. संसार की अनित्यता
३४८. मेरे दोष दूर हों
३४९. प्रथम संस्कृति
३५०. देव के अनुकूल सबका प्रधान
३५१. नेता बनने के साधन
३५२. कर्म्म करते जीवन बिता
३५३. भोग और कर्म्म हाथों में धारण करता हूँ
३५४. भगवान् ने श्रेष्ठ रचना की है
३५५. अनेक सन्तानोंवाले दुःख पाते हैं
३५६. पञ्चभूतों का अनादि चक्र
३५७. स्त्री की अनुकूलता से भला
३५८. अश्विदेव आत्मा को पाप से छुड़ाते हैं
३५९. प्रातःकाल धर्म्मादि-चिन्तन
३६०. मनोनुकूल मधुरवाणी
३६१. मृत का जीव
३६२. हमारे यज्ञ को देवों में पहुँचने योग्य बना
३६३. किसको अच्छी बुद्धि मिलती है
३६४. ऋतम्भरा प्रज्ञा
३६५. गाँठ खोल
३६६. घर में व्यवस्था होने से परिश्रम सफल होता है
३६७. मनुष्य बन

॥ ओ३म् ॥

स्वाध्याय-सन्दोह

१. गुरुमन्त्र

ओ३म् । भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥—यजुः० ३६।३

शब्दार्थ—हे **भूः** सत्यस्वरूप ! प्राण ! सब जगत् के जीवनाधार ! प्राण से भी प्रिय ! स्वयम्भू ! **भुवः** सर्वज्ञ ! अपान ! सब दुःखों से रहित ! जीवों के दुःख दूर करनेवाले ! **स्वः** आनन्द ! व्यान ! नानाविध जगत् में व्यापक होकर सबको धारण करनेवाले, सबके आनन्दसाधन एवं आनन्द देनेवाले परमेश्वर ! **सवितुः** सर्वजगत् के उत्पादक, सर्वैश्वर्य्य-प्रदाता, सकल संसार के शासक, सब शुभ प्रेरणा देनेवाले **देवस्य** सर्व-सुख-प्रदाता, कमनीय, दिव्यगुणयुक्त आप प्रभु के **वरेण्यम्** स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ **तत्** उस जगत्प्रसिद्ध **भर्गः** शुद्धस्वरूप, पवित्रकारक, चैतन्यमय, पापनाशक तेज को **धीमहि** हम धारण करें तथा ध्यान करें, **यः** जो **नः** हमारी **धियः** बुद्धियों को **प्रचोदयात्** शुभ प्रेरणा करे, अर्थात् बुरे कर्मों से हटाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे ।

व्याख्या—हे परमेश्वर ! सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ! हे अज ! निरञ्जन ! निर्विकार ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे सर्वाधार जगत्पते । सकल जगत् के उत्पादक ! हे अनादे ! विश्वम्भर ! सर्वव्यापिन् ! हे करुणावरुणालय ! हे निराकार ! सर्वशक्तिमन् । न्यायकारिन् ! समस्त संसार की सत्ता के आदिमूल! चेतनों के चेतन! सर्वज्ञ ! आनन्दघन भगवन् क्लेशापरामृष्ट ! कमनीय ! प्रभो! जहाँ आपका जाज्वल्यमान तेज पापियों को रुलाता है, वहाँ आपके भक्तों, आराधकों, उपासकों के लिए वह आनन्दप्रदाता है, उनके लिए वही एक प्राप्त करने की वस्तु है; उनके ज्ञान-विज्ञान, धारणा-ध्यान की वृद्धि कर उनके सब पाप-सन्ताप नाश कर देता है। परमाराध्य परमगुरो ! तू सदा पवित्र और उन्नतिकारक प्रेरणा दिया करता है, हम तेरी शरण में आये हैं, तू हमें भी पवित्र प्रेरणा दे। तू ही सबको सुमार्ग दिखाता है, हमें भी सुमार्ग दिखला। हमें ऐसी प्रेरणा कर कि जिससे हम कुमार्ग से हटकर सुमार्ग पर आरूढ़ हों, कुकाम से निवृत्त होकर सुकाम में प्रवृत्त हों, कुव्यसनों से विरक्त होकर सत्कार्यों में संरक्त हों, सांसारिक कामनाओं को चित्त से हटाकर तेरे तेज को धारण करें, उसका ध्यान करें, ताकि हमारे सारे पाप-ताप नष्ट हो जाएँ, मल धुल जाएँ, विक्षेप का संक्षेप होते-होते सर्वथा प्रक्षेप हो जाए ।

हे सकल-शुभ-विधातः ! करुणानिधान ! कृपालो ! दयालो ! हमपर ऐसी कृपा और अनुग्रह कीजिए, कि हमें सदा तेरी प्रेरणा मिलती रहे, ताकि तेरी उस प्रेरणा से प्रेरित हुए हम सदा तेरी आज्ञा का पालन करते हुए तेरे वर पुत्र बन सकें। प्रभो ! भूयोभूयः तुझसे यही प्रार्थना है ।

२. मन्त्रानुसार आचरण

ओ३म् । नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे ॥—ऋ० १०।१३४।७

शब्दार्थ—हे **देवाः** दिव्यगुणसम्पन्न महात्माओ ! **नकिः** न तो हम **मिनीमसि** हिंसा करते हैं, घातपात करते हैं और **नकिः** न ही **आ+योपयामसि** फूट डालते हैं, वरन् **मन्त्र-श्रुत्यम्** मन्त्र के श्रवणानुसार **चरामसि** आचरण करते हैं, चलते हैं, **कक्षेभिः** तिनकों के समान तुच्छ **पक्षेभिः** साथियों के साथ **अपि** भी **सम्** एक होकर, एकमत होकर, मिलकर, **अत्र** इस जगत् में, **अभिरभामहे** वेगपूर्वक कार्य करते हैं ।

व्याख्या—वेद हिंसा, घातपात का अत्यन्त विरोधी है । साधारण जीवन में हिंसा वेद को अभिमत नहीं है । वास्तव में हिंसा प्रायः सम्पूर्ण दुर्गुणों की खान है । इसलिए ऋषियों ने यमों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है । योगियों का सिद्धान्त है कि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह अहिंसा को ही उज्ज्वल और परिष्कृत करने के लिए हैं ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । इसे अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिए समाज बनाकर रहना होता है । समाज-निर्माण का प्रयोजन मनुष्य का सर्वविध विकास है । उसके लिए कुछ नियम, विधान बनाने पड़ते हैं, ताकि समाज का संचालन भली-भाँति होता रहे । **'विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः'** [मनुष्य के मन की वृत्तियाँ विचित्र होती हैं] के अनुसार कई कुटिल-प्रकृति मनुष्य अपनी कुटिलता के कारण समाज में गड़बड़ उत्पन्न कर देते हैं, उससे समाज में फूट पड़ जाती है । इस भेद के कारण समाज की शक्ति क्षीण हो जाती है । वैदिक लोग कहते हैं—

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि=न हम घातपात करते हैं और न ही फूट डालते हैं । ठीक है, निषिद्ध कर्म्मों से बचना निस्सन्देह उत्तम है, किन्तु मनुष्य का हित तो विहित कर्म्मों में है, अतः कहा—

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि=मन्त्र के श्रवणानुसार हम चलते हैं अर्थात् जैसा वेदमन्त्र में विहित है, मनुष्यमात्र को वैसा आचरण बनाना चाहिए । भगवान् ने मानव के कल्याण के लिए वेदवाणी का विधान किया है । वेद में मन्त्र को गुरु कहा गया है—

मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु—[ऋ० १।१४७।४]=मन्त्र ही फिर गुरु होवे अर्थात् जहाँ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध न हो, वहाँ मन्त्र की शरण लेनी चाहिए । मन्त्र का एक अर्थ विचार भी होता है अर्थात् बिना विचारे कुछ नहीं करना चाहिए । वेद की शिक्षा का एक छोटा-सा नमूना इसी मन्त्र में दे दिया है—

पक्षेभिरपि कक्षेभिरत्राभि सं रभामहे—तिनकों के समान तुच्छ साथियों के साथ एक होकर हम वगपूर्वक यहाँ कार्य करते हैं अर्थात् किसी को भी घृणा या तुच्छता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए । तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ भी अपना उपयोग रखता है । समझदार मनुष्य उससे भी अपनी कार्य्यसिद्धि कर लेते हैं ।

संकेत से यह मन्त्र ऊँच-नीचभाव को समाज के लिए घातक मान उसे त्यागने की प्रेरणा कर रहा है ।

३. आत्मा अविनाशी है

ओ३म् । अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

—ऋ० १।१४।३१

शब्दार्थ—**अनिपद्यमानम्** अविनाशी, **आ** सीधे, आगे **च** और **परा** उलटे, वापसी **च** भी **पथिभिः** मार्गों से **चरन्तम्** विचरण करनेवाले, व्यवहार करनेवाले **गोपाम्** इन्द्रियों के स्वामी को **अपश्यम्** मैंने देखा है, अनुभव किया है, जान लिया है । **स** वह इन्द्रिय-स्वामी **सध्रीचीः** सरल दशाओं को और **सः** वही **विषूचीः** विषम दशाओं को **वसानः** धारण करता हुआ **भुवनेषु+अन्तः** लोकों के बीच **आ+वरीवर्त्ति** पुनः-पुनः आता है ।

व्याख्या—इस छोटे-से मन्त्र में कई बातें कही गई हैं—

(१) आत्मा को यहाँ 'गोपा' कहा गया है । 'गोपा' का अर्थ इन्द्रियों का स्वामी है अर्थात् आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है । इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं, वरन् वह इनका स्वामी है । गोपा का अर्थ 'इन्द्रियों का रक्षक' भी होता है । इन्द्रियाँ तभी तक शरीर में कार्य्य करती हैं, जबतक आत्मा शरीर में रहता है । विचार से देखो, स्वामी के लिए वेद ने रक्षक होने का विधान कर दिया है ।

(२) इन्द्रियों के आत्म-पन का खण्डन कर वेद आत्मा को 'अनिपद्यमान'=नष्ट न होनेवाला, बताता है । इन्द्रियाँ विनाशी हैं, शरीर भी विनाश को प्राप्त हो जाता है किन्तु आत्मा अनिपद्यमान= अविनाशी है अर्थात् शरीरनाश के साथ आत्मा का नाश नहीं होता । इन्द्रियों के विकार से आत्मा नष्ट नहीं होता । इसी शब्द को मन में रखते हुए ब्रह्मविद्या के पारंगत आचार्य याज्ञवल्क्य ने बड़े प्रबल शब्दों में कहा—

अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्म्मा ।—बृ० ४।५।१४

अरे मैत्रेयि ! यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता ।

यदि आत्मा को अनित्य माना जाए तो दो बड़े भारी दोष आते हैं, आत्मा को नित्य माने बिना जिनका समाधान नहीं हो सकता । पहला तो यह कि आत्मा को अनित्य मानने का अर्थ है कि शरीर की उत्पत्ति के साथ आत्मा की भी उत्पत्ति होती है । उस अवस्था में प्रश्न होता है—क्यों कोई दरिद्र के घर उत्पन्न हुआ ? क्यों कोई ऐश्वर्य्य-सम्पन्न दशा में उत्पन्न हुआ ? क्यों कोई अङ्गविकल उत्पन्न होता है ? क्यों किसी को सुडौल-सुन्दर शरीर मिलता है ? मानना पड़ता है कि इस शरीर से पहले कोई तत्त्व ऐसा था, जिसके कर्म्मों का फल उसे ऐसा मिलता है । बिना कारण के भले-बुरे शरीर के साथ संयोग से होनेवाले सुख-दुःख भोगने का नाम है—'अकृताभ्यागम'—न किये को प्राप्त करना । दूसरा दोष है—'कृतहान'—किये का नाश । विनाशी आत्मा शरीर-विनाश के साथ ही नष्ट हो जाना चाहिए । अन्त के कर्म्मों का फल भोगे बिना आत्मा नष्ट हो गया यह अव्यवस्था है; किन्तु संसार में सर्वत्र व्यवस्था है, अतः इस युक्ति-विरुद्ध बात का मानो निरास करने के लिए ही वेद ने आत्मा को 'अनिपद्यमान' कहा है । आत्मा को अविनाशी मानने से संसार-रचना का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है । आत्मा के कर्मों का फल देने के लिए यह जगत् रचा गया है । जो लोग आत्मा की उत्पत्ति मानकर उसका नाश नहीं मानते, वे मानो तर्क से कोरे हैं । क्या कहीं कोई ऐसी वस्तु है जो उत्पन्न तो हो किन्तु नष्ट न होती हो ?

(३) **'आ च परा च पथिभिश्चरन्तम्'** कहकर वेद ने आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी

है। उलटे-सीधे रास्तों से विचरना तभी हो सकता है जब चलने में, विचरने में स्वतन्त्रता हो। इस मन्त्र को लेकर आत्मतत्त्वज्ञों ने आत्मा का स्थूल लक्षण माना है—**'कर्तुमकर्तमन्यथा कर्तुं समर्थः'** जो करने, न करने अथवा उलटा करने में समर्थ हो। महात्मा लोग कहते हैं—**'स्वतन्त्रः कर्त्ता'**=कर्त्ता उसे मानना चाहिए, जो कर्म करने में स्वतन्त्र हो।

(४) अच्छे मार्ग से चले, अच्छे कर्म्म करे, तो परिणाम भी अच्छा हो। बुरे आचरण का, पाप-कर्म्म का फल भी विषम होता है। जो करता है, वही भरता है। स्वतन्त्रता का जैसा उपयोग किया जाएगा, उसका परिणाम भी वैसा ही होगा, इस बात को **'स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानः'** शब्दों के द्वारा प्रकट किया गया है। संक्षेप में कर्म्मफलवाद का संकेत कर दिया गया है।

(५) इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए **'आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः'** कहा गया है। वह संसारों में बार-बार आता है। दूसरे शब्दों में उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है अर्थात् संसार में जब कोई प्राणी दुर्गति की अवस्था में दीखे, समझना चाहिए कि उसने स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया था। उसकी दुर्गति आकस्मिक, अहेतुक, कारण के बिना नहीं है। कर्म करने में स्वतन्त्र होता हुआ आत्मा फल भोगने में परतन्त्र है।

आत्मा के सम्बन्ध में इस मन्त्र द्वारा जो कुछ कहा गया है, वह युक्तियों से सिद्ध है; किन्तु वेद में **'अपश्यम्'** [मैंने देख लिया है] शब्द कुछ और ही इशारा कर रहा है। वेद कहना चाहता है, आत्म-सम्बन्धी इन तत्त्वों को देखो, अनुभव करो, साक्षात् करो। वैदिक योगी कह गये हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ! —बृ० ४।५।६

अरे मैत्रेयि ! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। दर्शन के साधन हैं—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः=वेद-वचनों के श्रवण द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वेद से बढ़कर आत्मज्ञान करानेवाला ग्रन्थ ब्रह्माण्ड में दूसरा नहीं है। आत्मजिज्ञासु को तो अवश्य वेद पढ़ना चाहिए।

मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः=युक्तियों के द्वारा मनन करे। कहीं कोई श्रुति के नाम से अनर्गल बात ही न सुनाने लग जाए और श्रोता भ्रम में न पड़ जाएँ, उसके लिए कहा—**मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः**=युक्तियों से मनन करे। इसी कारण तर्कविद्या को शास्त्रों में अध्यात्मविद्या कहा है।

जो मत युक्ति से भय खाते हैं, तर्क से डरते हैं वे अपने मत की असारता मानो स्वयं स्वीकार करते हैं। श्रवण-मनन के बाद निदिध्यासन आता है। बार-बार, निरन्तर वैसा आचरण निदिध्यासन कहाता है अर्थात् अध्यात्मविद्या सुन-छोड़ने और विचार लेने मात्र से सफल नहीं होती वरन् यह तो आचरण की वस्तु है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनों का जिसने अभ्यास किया है, उसे 'दर्शन'=आत्मदर्शन सुलभ होता है।

४. इसे कौन पूछने जाता है ?

ओ३म् । को द॑दर्श प्रथ॒मं जाय॑मानमस्थ॒न्वन्तं॒ यद॑न॒स्था बिभ॑र्ति ।
भूम्या॒ असु॒रसृ॑गा॒त्मा क्व॑ स्वि॒त्को वि॒द्वांस॒मुप॑ गा॒त्प्रष्टु॑मे॒तत् ॥

—ऋ० १।१६४।४

शब्दार्थ—**यत्** जिस **ग्रस्थन्वन्तम्** हड्डियोंवाले को **ग्रनस्था** ग्रस्थिरहित, ग्रप्राकृत **बिभर्ति** धारण करता है, उस **प्रथमम्** मुख्य **जायमानम्** उत्पन्न होनेवाले को **कः** कौन **ददर्श** देखता है ? ये **ग्रसुः** प्राण तथा **ग्रसृक्** रुधिर तो **भूम्याः** भूमि से, प्रकृति से [होते हैं] **ग्रात्मा** ग्रात्मा **क्व स्वित्** कहाँ है ? **एतत्** इस [तत्त्व] को **प्रष्टुम्** पूछने के लिए **कः** कौन **विद्वांसम्** विद्वान् के **उप+गात्** पास जाता है ?

व्याख्या—सृष्टिरचना इतनी विचित्र है कि मनुष्य की बुद्धि चक्कर खा जाती है । सृष्टि के ग्रारम्भ से तत्त्ववेत्ता लोग इसके रहस्य टटोलने में लगे हैं, ग्रौर नित्य-नये रहस्य मनुष्यसमाज के ग्रागे ला रहे हैं । मनुष्य में यदि ग्रतुल बल न भी हो तो भी यह मानना पड़ता है कि उसका वल बहुत प्रबल है । समुद्र के ग्रन्तस्तल तक पहुँचकर इसने उसकी छान-बीन कर डाली । ग्राकाश में उड़ा तो तारों के समाचार ले ग्राया । यह दुर्दान्त बली मङ्गलग्रहवासियों से बातचीत करना ग्रौर सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है । पर्वतों को इसने राई-समान बना दिया है । ग्राज महारण्य मनुष्य-बुद्धिवैभव के सामने एक ग्रामीण क्षुद्र क्षेत्र से ग्रधिक नहीं है । ध्रुवों की ध्रुवता को इसने ग्रस्थिर कर दिया । पय, पवन, पावक, पृथिवी सभी इसकी सेवा करते हैं । नदियों के प्रवाह इसने मोड़ दिये हैं । ग्राग बरसानेवाली गरमी में, ग्रत्यन्त तप्त प्रदेश में यात्रा करते हुए इसे ग्रब गरमी नहीं सताती । वायु को इसने वश में कर लिया है । विभु ग्रौर ग्रखण्ड काल की भी इसने कलना कर डाली है । ग्रपरिमेय से देश Space को इसने मानो सर्वथा नाप-सा लिया है । ग्रपने कल-बल से इसने सकल लोकों को एक क्षुद्र-सा लोक (ग्राम) बना लिया है । देशकाल की विजय के कारण सम्पूर्ण भूतों पर इसने विजय पा ली है, इससे यह गर्वित हो उठा है । गर्व करने की बात भी है । गर्व इसका ग्रनुचित भी नहीं है । सर्वथा महीयसी शक्तिः !

किन्तु, कभी तूने सोचा भी ग्रो बावले ! तू क्या है ? ग्रो समुद्र को मथ डालनेवाले ! बता, तू क्या है ? ग्रो पर्वतों को पैरों-तले रौंदनेवाले ! तेरा रूप क्या है ? क्या कभी तूने ग्रपने-ग्रापे को देखा है ? तेरा यह शरीर—शीर्ण होनेवाला शरीर—तो भूमि का बना है; जल, वायु, ग्राग ने इसका सहयोग दिया, यह बन गया । क्या तूने कभी इसे भी टटोलने का यत्न किया है ? यह कैसे पैदा हुग्रा ? पहले-पहले कैसे उत्पन्न हुग्रा ? क्यों उत्पन्न हुग्रा ? क्या यह सारी सृष्टि जड़ का खेल है ? क्या यह सब ग्रचेतन का, ज्ञानविहीन का, ग्रनुभूतिशून्य का चमत्कार है ? ग्रात्मा—'मैं' कहनेवाला, 'मेरा' माननेवाला—इसमें कहाँ है ? तूने चीर-फाड़ करके देख लिया । सच है, तुझे ग्रात्मा शरीर में कहीं नहीं मिला ! ! ! ग्रहह ! तो तू 'मैं-मैं' कैसे करता है ? क्या तूने कभी किसी से पूछने का यत्न भी किया ? जैसे शरीर की चीरफाड़ सीखने के लिए, नस-नाड़ी के ज्ञान के लिए तू गुरु के पास गया था, वैसे यह जानने के लिए कि मृतशरीर ग्रौर ग्र-मृतशरीर में भेद क्यों है कभी किसी के पास गया ? ग्ररे ! शरीर हड्डियों के सहारे है किन्तु इन हड्डियों का सहारा क्या है ? ग्ररे ! उसे जान—

ग्रस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति—हड्डियोंवाले को जो हड्डीरहित धारण करता है ।

चीर-फाड़ से तू हड्डियाँ देखेगा, मांस-रुधिर देखेगा । वह तो हड्डियों से रहित है, वह तेरी

चीर-फाड़ से नहीं चिरता, वह तेरी इन आँखों से नहीं दीखता। मृत और अ-मृत शरीर को देखकर भी तू उसे नहीं देखता! यह आश्चर्य है। यम ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा था—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥—कठो० १।२।७

बहुतों को इस आत्मतत्त्व के सुनने का ही अवसर नहीं मिलता, अथवा सुनने का, जानने का विचार ही नहीं आता। कई मनुष्य सुन तो पाते हैं किन्तु समझ नहीं पाते; क्योंकि वे प्रत्यक्षवादी हैं। प्रत्यक्ष से परे किसी पदार्थ को समझने में वे समर्थ नहीं होते। इस आत्मा का स्वरूप बतलानेवाला विरला ही होता है। सुनकर कोई विरला ही समझ पाता है। संसार में ऐसा जन तो सचमुच दुर्लभ है, जिसने ज्ञानी गुरु से इसे जानकर स्वायत्त कर लिया हो।

समुद्र की तरङ्गों से न डरनेवाले! बता, बता, अपने अन्दर की तरङ्गों से क्यों डरता है? इन्हें भी वश में कर! समुद्र की तरङ्गों के रहस्य को तूने जान लिया, किन्तु अपनी तरङ्गों को तू न जान पाया। कितनी बड़ी विडम्बना है? सारे संसार का सार जाननेवाला अपने को नहीं जानता।

ऋषि लोग कह गये हैं—आत्मा के जान लेने से सभी-कुछ जाना जाता है। तू कभी किसी पदार्थ को टटोलता है, कभी किसी का निरीक्षण-परीक्षण करता है, किन्तु सन्तुष्ट नहीं हो पाता। आ, एक बार ऋषियों की बात भी मान, आत्मा को जानने का यत्न कर। अवश्य सफल होगा। यह सफलता तुझे नया आलोक देगी। इस आलोक के साथ मिलेगा तुझे एक अलौकिक रस, जिसमें विरसता नाम को भी नहीं है; जिसका आस्वादन कर तू भटकना छोड़ देगा। हाँ, एक नियम उसके लिए अनिवार्य्य है, वह है श्रद्धा-सहित निरन्तर दीर्घकाल तक प्रयत्न करना।

यह वेदमन्त्र कई बातों की चेतावनी दे रहा है—(१) आत्मतत्त्व को पहचानने के लिए ज्ञानी गुरु के पास जाना चाहिए। (२) आत्मा अनस्था है और अस्थिवाले शरीर से भिन्न है। (३) यह अनस्था आत्मा अस्थिरुधिरप्राणमय शरीर को धारण करता है। (४) यह शरीर भौतिक है, भूमि से=भूतों से बना है किन्तु (५) आत्मा क्वस्वित्=आत्मा का उपादान कारण कोई नहीं, इसका निमित्तकारण भी कोई नहीं है। यह अकारणक है, नित्य है। नित्य और अनित्य में से नित्य ही प्रीति करने योग्य है।

आत्मा से प्रीतिरीति—

"यदि आत्मा से और विराट् आत्मा से प्यार करना है तो अपने अङ्गों की भाँति सबको अपनाना होगा; अपनी क्षुधा-निवृत्ति की तरह उनकी भी चिन्ता करनी होगी। सच्चा आत्मप्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। वह ऊँच-नीच की भद्दी भेद-भावना को त्याग देता है। उतने ही पुरुषार्थ से दूसरे के दुःख निवारण करता है, कष्ट-क्लेश काटता है, जितने से अपने दुःखों को दूर करता है। ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तव में आत्म-प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं।"

५. ईश्वरानुग्रह से आत्मदर्शन

ओ३म् । न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ।।

—ऋ० १।१६४।३७

शब्दार्थ—**यत् इव** जो कुछ, जैसा **इदम्** यह **अस्मि** मैं हूँ, यह मैं **न+विजानामि** विशेषरूप से नहीं जानता हूँ, **निण्यः** मूढ़-सा, भोला [पंजाबी में न्याणा] मैं **मनसा+संनद्धः** मन से बँधा हुआ, जकड़ा हुआ **चरामि** विचर रहा हूँ। **यदा** जब **मा** मुझको **ऋतस्य** ऋत का, सत्यज्ञान का **प्रथमजाः** प्रथमोत्पादक प्रभु **आगन्** प्राप्त होता है **आत्+इत्** तब ही **अस्याः** इस **वाचः** वाणी के **भागम्** भजनीय, वाच्य को **अश्नुवे** प्राप्त करता हूँ ।

व्याख्या—कठोपनिषद् [२।३।१२] में कहा है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।।

आत्मा न वाणी के द्वारा प्राप्त होता है, न मन से और न आँख से [अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्म्मेन्द्रियाँ आत्मा का ज्ञान कराने में असमर्थ हैं; मन तो इन इन्द्रियों के बताये ज्ञान का धनी है, वह कैसे आत्मा का ज्ञान कराए]। जिसको यह ज्ञान हो गया कि आत्मा है, उसे और कैसे बताया जाए ?

उपनिषत् कह रही है—आत्मा **'न मनसा प्राप्तुं शक्यः'** मन के द्वारा नहीं मिल सकता, और मैं निण्यः=न्याणा हूँ । **मनसा सन्नद्धः**=मन के चक्कर में फँस गया हूँ, मन के बन्धन में बंधकर जहाँ मन ले-जाता है, वहाँ जाता हूँ, मैं न्याणा कैसे कहूँ 'मैं क्या हूँ, कौन हूँ, कैसा=किस्वरूप हूँ ?' इस सबको **'न विजानामि'** मैं नहीं जानता हूँ ।

अनुमान के द्वारा यदि कुछ जानूँगा, तो वह सामान्यज्ञान होगा। धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होता है, किन्तु किसका अग्नि—तिनकों का, गोमय का या लकड़ी का, यह ज्ञान तो नहीं होता; यह तो प्रत्यक्ष से होता है । इसी प्रकार मृत शरीर और अमृत शरीर को देखकर किसी चेष्टावाले का, चेष्टा की इच्छावाले का ज्ञान करूँ तब भी **'यदिवेदमस्मि'** जो कुछ मैं हूँ, इसको नहीं जानता । यदि मैं अहंकार करूँ—**'सुवेदेति'** मैं भली-भाँति जानता हूँ, तो साक्षात्कारी ऋषि कहते हैं—

दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ।—केनो० २।१

सचमुच तू बहुत ही थोड़ा जानता है ।

अतः मैं कहता हूँ—**न विजानामि**=मैं विशेष नहीं जानता हूँ । हाँ, यदि मुझपर ईश्वरकृपा हो जाए, ईश्वर के दर्शन हो जाएँ, तो मैं इस 'मैं'-'मैं' करनेवाले को भी जान जाऊँ । वेद कह ही तो रहा है—**'यदा.........भागमस्याः'** । ऋषि इसी का अनुवाद कर रहे हैं—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।—कठो० १।२।२०

विधाता की कृपा से ही निष्काम-कर्म्मा, अतएव शोक से रहित, रागद्वेष से शून्य महात्मा ही आत्मा को देख पाता है ।

ईश्वर-कृपा कैसे मिले ? ईश्वर की अनन्य भक्ति से; सब ओर से चित्त हटाकर उस परम गुरु के अर्पण करने से । योगिराज पतञ्जलिजी ने कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'—यो० १।२३

ईश्वर की अनन्य भक्ति से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।

बाह्य विषयों से सर्वथा हट जाने का नाम निरोध है। जब वृत्तिनिरोध हो जाता है तब आत्मा के अन्दर बसनेवाले अन्तरात्मा परमात्मा के दर्शन और-अनुग्रह होते हैं। उनका फल है—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।—यो० १।२९

ईश्वरप्रणिधान से अपने चेतनस्वरूप का ज्ञान तथा विघ्नों का विनाश होता है।

अपना-आपा जानना है तो ईश्वरप्रणिधान करो। उपनिषत् ने और योगदर्शन ने जो बात इशारों-इशारों में बतलाई, वेद ने उनसे करोड़ों वर्ष पहले बहुत स्पष्ट खोलकर रख दी है। पिता अपने पुत्रों को कैसे खोलकर न समझाए, वह क्योंकर छिपाए? छिपाने से उसके पुत्रों का कल्याण नहीं हो सकता। किन्तु हम मन के फन्दे में फँसे उसे जानने की चेष्टा नहीं करते। मन प्रकृति का पुत्र है, उसने जीव को बाँध रखा है! समझे?

ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति का उपाय—

भगवान् स्वभाव से कृपालु है। यह सृष्टि उसकी कृपा का सबसे बड़ा प्रमाण है। अपना कोई प्रयोजन न होते हुए परमेश्वर ने संसार रचा केवल जीवों के उद्धार के लिए। स्वाभाविक कृपालु की कृपा प्राप्त करना कुछ बहुत कठिन नहीं है। उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए अपने आत्मा और अन्तःकरण को उसकी ओर प्रवृत्त करो। परमात्मा माता-पिता के समान कृपालु है। जब वह अपने वत्स जीव को अपनी ओर प्रवृत्त देखता है तो वह कृपालु अपने अनन्तशक्तिरूप हाथों से मानो उस प्रेमी को उठाकर अपनी गोद में बिठा लेता है।

अनन्य मन से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना, तथा उसके आदेश में रहकर तदनुसार अपना आचरण बनाना, प्राणपण से तन, मन, धन लगाकर लोकोपकार में अपने-आपको समर्पित कर देना, स्वार्थ त्यागकर परार्थ-साधन में तत्पर रहना, सदा सत्कर्मों को करना, अकर्मण्य न रहना परमेश्वर के न्याय, दया, उपकार, आदि गुणों को अपने में धारण करना, विषय-वासना से ऊपर उठकर चञ्चल-चपल चित्त को अचल, अविचल करने का पुरुषार्थ करना आदि परमेश्वर की ओर प्रवृत्त होने के साधन हैं। जो इन साधनों को अपनाता है, परमेश्वर भी उसे अपनाता है अर्थात् उसे अपने अनुग्रह का पात्र बनाता है। जैसे बालक जब माता की ओर चलता है तब माता आगे आकर बालक को गोद में ले लेती है कि कहीं बालक को चोट न लग जाए! इसी भाँति जब कोई साधक सर्वात्मा जगदम्बा की ओर चलता है तो जगन्माता भी उसका स्वागत करती है, अत्यन्त प्रीति से अपनाती है, सब प्रकार के पाप, सन्ताप, पातकों से बचाती है।

६. परिच्छिन्न आत्मा

ओ३म् । अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया ।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्म्माणि कृण्महे ।।—अ० १९।६८।१

शब्दार्थ—अव्यसः अव्यापक, परिच्छिन्न [जीवात्मा] **च+च** और **व्यचसः** व्यापक [परमात्मा] के **बिलम्** भेद को, रहस्य को, ठिकाने को **मायया** बुद्धि से **वि+स्यामि** खोलता हूँ। **ताभ्याम्** उन दोनों से अथवा उन दोनों के लिए **वेदम्** वेद को **उद्धृत्य** ग्रहण करके **अथ** इसके अनन्तर **कर्म्माणि** कर्मों को **कृण्महे** हम करते हैं।

व्याख्या—जीवात्मा अथवा अपना-आपा तथा परमात्मा के सम्बन्ध में संसार में बड़ा विवाद है। कई लोग तो इन दोनों की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। जो स्वीकार करते हैं उनमें भी इनके सम्बन्ध में एकमत नहीं है। परमात्मा को कोई सातवें आसमान पर, कोई चौथे आसमान पर, कोई क्षीरसागर में और कोई अन्यत्र कहीं बतलाकर उसको परिच्छिन्न, अव्यापक, एकदेशी बतला रहा है। एकदेशी अवश्यमेव अल्पज्ञ और अल्प सामर्थ्यवाला होगा, उससे इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना, पालना, संहारणा नहीं हो सकती। इस दोष का निराकरण करने के विचार ही से मानो वेद में कहा गया है कि वह व्यापक है। जीव को अव्यापक बतलाया गया है। इन दोनों का भेद, इनका रहस्य ज्ञान से जाना जा सकता है, इसी लिए कहा—**'बिलं विष्यामि मायया'** बुद्धि से, ज्ञान से इनका भेद, रहस्य खोलता हूँ।

प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में भी बहुधा विवाद हुआ करते हैं, परोक्ष पदार्थों का तो कहना ही क्या है। किन्तु भगवान् ने कृपा करके जो ज्ञान दिया है, उससे काम लो; दोनों के भेद को, ठिकाने को ज्ञान से खोलो। ऋषि ने कहा भी है—

हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।—श्वेता० ४।१७

हृदय से, बुद्धि से तथा मन से ही इसका बोध होता है। जो इस बात को जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, मौत से निर्भय हो जाते हैं।

जिन्होंने उस अविनाशी, अमर को जान लिया उन्हें मृत्युभय कहाँ रहा ? किन्तु उसे जानने के लिए मन, बुद्धि तथा हृदय सभी का सहयोग होना चाहिए। मन और बुद्धि, मनन और अध्यवसाय उनका निश्चय कराएँगे। मस्तिष्क को तर्क चुप करा सकता है, किन्तु सूक्ष्म भावनाओं के धनी हृदय ने यदि उसे धारण न किया तो फिर नास्तिकता के गहरे गर्त्त में गिरना होगा। इसलिए हृदय को भी साथ मिलाओ। ऋषि श्वेताश्वतर ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा—

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ।।—५।८

जो ज्ञानगम्य है, सूर्यसमान तेजस्वी है, संकल्प करता है, अहंकारवान् है, वह अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा अपर है; वह बुद्धि तथा अपने गुणों से दीखता है।

सचमुच वह 'अपर' है, 'पर' तो परमात्मा है। बुद्धि के गुण आत्मा का ज्ञान करा रहे हैं। इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, ज्ञान और प्रयत्न, ये आत्मा के गुण आत्मा का अनुमान करा रहे हैं। इस अनुमान से आत्मा को जानकर जो साधनों का अनुष्ठान करता है, उसे आत्मा का साक्षात्कार, प्रत्यक्ष भी होता है, तभी कहा—**'अपरोऽपि दृष्टः'**=अपर आत्मा के भी दर्शन होते हैं।

इन्हीं ऋषिप्रवर ने आत्मा का परिमाण बताया है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।।—५।६

बाल के अगले हिस्से के सौ टुकड़े कर दिये जाएँ, उस सूक्ष्म सौवें हिस्से के भी सौ हिस्से कर दिये जाएँ, उस सूक्ष्म भाग के समान जीव है, किन्तु उसमें सामर्थ्य बहुत है।

महर्षि दयानन्द ने भी कहा है—

'जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है जो एक परमाणु में भी रह सकता है, उसकी शक्तियाँ शरीर में प्राण, बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त होकर रहती हैं, उनसे सब शरीर का वर्त्तमान जानता है।

—सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास

श्वेताश्वतर और दयानन्द दोनों ने यह रहस्य वेद तथा योग द्वारा जाना। अथर्ववेद में कहा है—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।

ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ।।—अथर्व १०।८।२५

एक (जीवात्मा) बाल से भी अधिक सूक्ष्म है, और एक (प्रकृति) मानो नहीं दीखती है, उससे अधिक सूक्ष्म और व्यापक जो परमात्मा देवता है, वह मेरी प्यारी है अर्थात् परमात्मा जीव से सूक्ष्म और जीव में व्यापक है। वह सदा असङ्ग रहनेवाला है, अतः जीव को उससे प्यार करना चाहिए। कल्याण-अभिलाषी को प्रकृति के प्यार से ऊपर उठकर परमात्मा से प्रीति लगानी चाहिए। कितना कठिन और कितना सरल है यह कार्य्य ! यथार्थ ज्ञान के बिना यह सिद्ध नहीं होता।

ध्यान दीजिए, पहले वेद, पीछे कर्म्म अर्थात् ज्ञान के बिना कर्म्म का अनुष्ठान हो नहीं सकता। तभी शास्त्रों में कर्म्म से पूर्व ज्ञान का नाम आता है।

उत्तरार्ध एक और गम्भीर तत्त्व का संकेत कर रहा है। ज्ञान का पर्य्यवसान अनुष्ठान है। वह ज्ञान जिसे कर्म्म में परिणत न किया जा सके, वह ज्ञान जिससे कर्म्म करने में सहायता न मिले, ज्ञान नहीं है, ज्ञानाभास है। इससे स्पष्ट होता है कि वेद कर्म्मण्यवाद का पोषक है, कर्मत्याग का नहीं। उचित भी यही है। परिच्छिन्न जीवात्मा कर्म के बिना रह नहीं सकता। वह अपने चहुँ ओर के पदार्थ जानना चाहता है, उसके लिए उसे गति करना होती है। गति का नाम ही कर्म्म है अर्थात् कर्म आत्मा का स्वभाव है।

७. उपदेशकों का गुरु

ओ३म् । शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम् ।
मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम् ॥

—ऋ० ३।२६।६

शब्दार्थ—**शतधारम्** सैकड़ों धाराओंवाले **अक्षीयमाणम्** कभी क्षीण न होनेवाले **उत्सम्** स्रोत के समान **विपश्चितम्** महाज्ञानी **वक्त्वानाम्** वक्ताओं के, उपदेशकों के भी **पितरम्** पिता, पालक, गुरु, **मेळिम्** सबको मिलानेवाले **पित्रोः** माँ-बाप अथवा द्यौ-पृथिवी की **उपस्थे** गोद में **मदन्तम्** आनन्द देनेवाले **तम्** उस **सत्यवाचम्** सत्य, निर्भ्रान्त वेद-वाणीवाले को **रोदसी** द्यौ और पृथिवी **पिपृतम्** भर रहे हैं, धारण कर रहे हैं।

व्याख्या—भगवान् सैकड़ों प्रकार से जीव को बोध कराते हैं। यह सारी सृष्टि उसी का बोध कराती है। उसका ज्ञान कभी भी क्षीण नहीं होता। सभी ज्ञानी उसी से ज्ञान लेते हैं, किन्तु उसका स्रोत अक्षीयमाण है। ऋषि कह गये हैं—**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते**=उस पूर्ण का ज्ञान लेकर भी उसके बाद पूर्ण ही शेष रह जाता है। हुआ जो वह अक्षीयमाण उत्स और साथ ही शतधार=सैकड़ों धाराओं-वाला, किन्तु उसे जड़ जल न समझना, वह है **विपश्चित्**=महाज्ञानी। छोटा ज्ञानी भी नहीं, वरन् वह—**'पितरं वक्त्वानाम्'**=उपदेशकों का भी गुरु है। पतञ्जलिजी ने भी इस गुरु के स्वर-में-स्वर मिलाकर कहा है—**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** (यो० १।२६)=वह परमात्मा पूर्वों का, सृष्टि के आरम्भ के गुरुओं का भी गुरु है; सभी गुरु कराल काल की गाल में विला जाते हैं, किन्तु यह कालातीत है, काल का भी काल है, और वह है सत्योपदेशक। मनुष्य अल्पज्ञ है, उसे भ्रम हो सकता है, विप्रलिप्सा=ठग्गी की कामना भी हो सकती है, अतः स्वयं बहका होने के कारण दूसरों को बहका सकता है, किन्तु भगवान् हैं सत्यवाक्। उनकी वाणी में असत्य का लवलेश भी नहीं है; हुए जो वे सर्वज्ञ, अतः सत्य-सत्य ज्ञान का उपदेश करते हैं।

संसार में जितना आनन्द है वह उन्हीं का है। इस संसार में रखकर जीवों को वही आनन्द देते हैं। उन्हें खोजने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं, पत्ता-पत्ता उनकी सत्ता तथा महत्ता का पता दे रहा है। देखो, आँखें खोलो। नहीं दीखता तो उस कृपालु के वेदवचन को सुनो—**तं रोदसी पिपृतम्**=उसे द्यावापृथिवी=सारा संसार धार रहा है अर्थात् पाने के लिए कहीं दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं है, वह सर्वत्र विद्यमान है, सारे संसार में व्यापक है, भर रहा है। जो सब स्थानों में है, उसे सभी स्थानों में पा सकते हैं। कैसा विचित्र है, सभी स्थानों में है और दीखता नहीं है, क्योंकि **'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्**—श्वेता० ४।२०। इसे दिखाने के लिए कोई रूप नहीं है, और न ही कोई उसे आँख से देख सकता है। उसे तो हृदय और मन से देखना चाहिए, क्योंकि सब जगह रहनेवाला हृदय में रह रहा है—**हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति**—श्वेता० ४।२०। उस हृदय में रहनेवाले को हृदय तथा मन से जानो और मुक्ति प्राप्त करो।

८. सृष्टि के तत्त्व भगवान् के आदेश से चलते हैं

ओ३म् । अहं भूमिमददामार्य्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥
—ऋ० ४।२६।२

शब्दार्थ—**अहम्** मैं **भूमिम्** भूमि **अर्य्याय** आर्य्य को **अददाम्** देता हूँ, **अहम्** मैं **दाशुषे** दाता **मर्त्याय** मनुष्य को **वृष्टिम्** वृष्टि देता हूँ । **अहम्** मैं ही **वावशानाः** चाहने योग्य **अपः** जलों को, सूक्ष्म तत्त्वों को **अनयम्** चलाता हूँ, **देवासः** देव, सृष्टि के तत्त्व **मम** मेरे **केतम्**+**अनु** संकेत के अनुकूल **आ**+**अयन्** चलते हैं ।

व्याख्या—भगवान् आदेश करते हैं—मैंने भूमि आर्य्यों को दी है । परन्तु भूमि का बहुत भाग तो अनार्य्यों के पास है । 'ब्राह्मणग्रन्थों' में बहुत सुन्दर रीति से इस समस्या को सुलझाया गया है । वहाँ लिखा है—देवों और असुरों में भूमि के सम्बन्ध में झगड़ा हुआ । सारी भूमि पर असुरों ने अधिकार कर लिया । देवों ने यज्ञ को आगे किया और असुरों से कहा कि हमें यज्ञ के लिए भूमि दो । यज्ञ तो बहुत छोटा था । असुरों ने भूमि दे दी । बस फिर क्या था, यज्ञ बहुत बढ़ गया, सारी भूमि पर देवों का अधिकार हो गया । वहाँ लिखा है कि असुरों की हार का कारण था स्वार्थ और देवों की विजय का मूल था स्वार्थत्याग—**देवा अन्योऽन्यस्मिञ्जुह्वतश्चेरुः**=देव अपने में हवन न करते थे, वरन् एक-दूसरे में होम करते हुए विचरते थे, खाते थे, अर्थात् देव यज्ञशील हैं । यज्ञ में प्रत्येक आहुति के साथ **'इदं न मम'** [यह मेरा नहीं] लगा है । यज्ञ करनेवाले को वेद आर्य्य कहता है—**यजमानमार्य्यम्**—ऋग्वेद । सार निकला, भगवान् ने भूमि स्वार्थ-त्यागियों को दी है; जिसमें जितनी स्वार्थत्याग की मात्रा होगी, उतना ही वह भूमि का अधिकारी होगा । इसी भाव को इसी मन्त्र के दूसरे चरण में स्पष्ट करके कहा है—

अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय=मैं दानी मनुष्य को वृष्टि देता हूँ । वेद दान पर बल देता है । अराति=कंजूस की वेद में बहुत निन्दा है । स्वार्थत्याग वैदिक धर्म्म का मर्म है ।

संस्कृत में जल को जीवन कहते हैं । भगवान् कहते हैं—**अहमपो अनयं वावशानाः**=मैं चाहने योग्य जलों को चलाता हूँ अर्थात् जीवन की बागडोर भगवान् के हाथ में है । नचिकेता ने ठीक ही कहा था—**जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम्**—कठो० १।१।२७ । भगवान् ने जितना भोग निश्चय किया है, उतना ही जीएँगे । जीवन या जल की क्या कहते हो, सभी **'मम देवासो अनु केतमायन्'**=देव मेरे संकेत पर चलते हैं ।

सूर्य, चाँद, आग, हवा, पानी, ग्रह-उपग्रह, सृष्टि के सभी पदार्थ उसके नियम से बँधे चलते हैं । आँख रूप ही देखेगी, गंध नहीं सूँघ सकेगी । कान शब्द ही सुनेगा, रूप नहीं देखेगा, गन्ध नहीं सूँघेगा । उसका केत=संकेत ही ऐसा है ।

जब सभी उसके संकेत पर चलते हैं, तब आओ, हम भी उसके संकेत पर चलें । वेद से उसका संकेत जानें ।

९. सब सत्यविद्याओं का आदिमूल

ओ३म् । देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः ।
उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि ॥
—ऋ० २।२३।२

शब्दार्थ—हे **असुर्य्य** प्राणाधार ! **बृहस्पते** महान् रक्षक ! परमज्ञानिन् भगवन्, **देवाः+चित्** देव ही, ज्ञानी ही **ते** तुझ **प्रचेतसः** सर्वोत्कृष्ट चेतावनी देनेहारे के **यज्ञियम्** यज्ञयोग्य **भागम्** भाग को **आनशुः** प्राप्त करते हैं । **इव** जिस प्रकार **सूर्य्यः** सूर्य्य **ज्योतिषा** ज्योति से युक्त, प्रकाशमय **महः** महान् **उस्राः** किरणों को उत्पन्न करता है, वैसे ही तू **विश्वेषाम्** सम्पूर्ण **इत्** ही **ब्रह्मणाम्** ज्ञानों का, वेदों का **जनिता** उत्पन्न करनेवाला **असि** है ।

व्याख्या—ज्ञान का मूलस्रोत भगवान् है । वेद में कहा भी है—**'स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वान्'** (य० ७।१५) वह बृहस्पति=बड़े-बड़े लोक-लोकान्तरों का पालक सबसे पहला और मुख्य 'चिकित्वान्' ज्ञानी है । आदि ऋषि ने कहा—**'प्रथमः··· चिकित्वान्'**, आज के ऋषि ने कहा—**'सब सत्यविद्याओं······ का आदिमूल'** । इसी बात को प्रकृत मन्त्र के चौथे चरण में कहा—**'विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि'**= सभी वेदों का उत्पादक है । जब वह 'प्रथमः चिकित्वान्' है, तो सचमुच वही ज्ञानों का, ज्ञान के मूल वेदों का उत्पादक है ।

किरणें समस्त संसार को प्रकाश देती हैं, किन्तु किरणें कहाँ से आती हैं ? सूर्य्य से, अतः सूर्य्य किरणों का उत्पादक हुआ । जहाँ भी प्रकाश है, वह सूर्य्य का है । इसी प्रकार जहाँ भी ज्ञान है, वह भगवान् का है । सचमुच ज्ञान भगवान् की देन है । सूर्य्य एक स्थान पर रहकर प्रकाश करता है, अतः सूर्य्य-सम्बन्धी ग्रहों-उपग्रहों के उसी भाग पर प्रकाश होता है जो सूर्य्य के सम्मुख होते हैं । उनके दूसरे असम्मुख-भागों पर प्रकाश नहीं होता, किन्तु भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं, अतः इनका ज्ञानप्रकाश सर्वत्र है । आज भी भगवान् ज्ञान दे रहे हैं; जब कभी पाप की इच्छा होती है, अन्दर से उसके विरुद्ध ध्वनि उठती है, वह ध्वनि परमात्मा की है । ऋषि ने कहा है—'जो पापाचरणेच्छा-समय में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है ।' (सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास)

वैसे तो सारा संसार—क्या पापी और क्या धर्मात्मा, क्या ज्ञानी और क्या मूढ़, सभी परमात्मा के दान का उपभोग करते हैं, हुई जो सारी प्रकृति उसी की सम्पत्ति, किन्तु ज्ञानी ही वास्तविक आनन्द लेते हैं । किसी वस्तु का ज्ञानपूर्वक स्वाद लेने में, उपभोग लेने में जो आनन्द है, वह अज्ञान दशा में कहाँ ? इसी भाव से वेद ने कहा—**देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः**—परमेश्वर केवल ज्ञान का आदिस्रोत ही नहीं, वह असुर्य=जीवनाधार भी है । यज्ञिय भाग=जीवनोपयोगी भाग जीवनाधार से ही मिलेगा । मनुष्य की विशेषता ज्ञान से है । ज्ञान भी भगवान् के पास, ज्ञान से उपभुक्त होनेवाले पदार्थ भी उसी के पास, अतः ऋषि ने कहा—

"सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है ।"

१०. अभीष्ट फलप्रदाता

ओ३म् । अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे ।
अभिष्टिकृद्विचर्षणिः ॥—ऋ० ९।४८।५

शब्दार्थ—अधा और **इन्द्रियम्** इन्द्रिय को, जीव की शक्ति को **हिन्वानः** प्रेरित करता हुआ **ज्यायः** बहुत बड़ा **महित्वम्** महत्त्व **आनशे** प्राप्त करता है, वह **अभिष्टिकृत्** अभीष्ट पदार्थों का कर्त्ता है, क्योंकि वह **विचर्षणिः** सर्वज्ञ तथा विशेष द्रष्टा है ।

व्याख्या—भगवान् की यह बहुत बड़ी महिमा है कि वह जीव को इन्द्रियाँ देता है । इन्द्रियों के सामर्थ्य पर ध्यान दो । जीव तो वेद के शब्दों में **'अव्यसः'**=अव्यापक, **बालादेकमणीयस्कम्**—बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, किन्तु उसकी शक्तियाँ देखो, करोड़ों मील दूर के पदार्थों को उसका नेत्र देखता है । यहाँ बैठा अमरीका के गाने सुनता है । कितनी अद्भुत शक्ति है ! क्या सब-कुछ जीव का है ? वेद कहता है—न, यह भगवान् का है । वही इन्द्रियों को बल दे रहा है । इन्द्र और इन्द्रिय का मेल वह न कराए, तो इन्द्र [जीवात्मा] कुछ भी न कर पाए । इन्द्र के इन्द्रपन का ज्ञान तो इन्द्रियों के द्वारा होता है । इन्द्रियाँ न हों, तो इन्द्र की सत्ता का ही विश्वास किसी को न हो । इन्द्र की सत्ता का विश्वास करानेवाले, इन्द्रियों के निर्माता का कितना बड़ा महत्त्व हुआ ? बहुत बड़ा ! तभी वेद ने कहा—

अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे ।

इन्द्रियाँ क्यों देता है ? वह **अभिष्टिकृत्** है—अभीष्ट पदार्थों का कर्त्ता है, निर्माता है । भगवान् से जीव प्रार्थना करता है या उसे मित्र मानकर मनौती करता हुआ कहता है—

तथा तदस्तु सोमपाः सखे वज्रिन् तथा कृणु । यथा त उश्मसीष्टये ॥—ऋ० १।३०।१२

हे सोमपाः=सोम पालनेवाले, शान्ति देनेहारे, जगद्रक्षक भगवन् ! जैसा हम इष्टि के लिए, अपनी-अपनी अभीष्टसिद्धि के लिए तुझसे चाहते हैं, वह, वैसा ही हो । हे विघ्नवारक मित्र ! उसे वैसा कीजिए ।

स्पष्ट है कि अभीष्टों का निर्माता वही जगद्विधाता है । उसमें यह सामर्थ्य कैसे है ? वेद इसका उत्तर देता है कि वह **'विचर्षणिः'** विशेष द्रष्टा है । सामान्य ज्ञान तो जीव को भी है, किन्तु वास्तविक ज्ञान तो विशेष ज्ञान है । पदार्थों के तत्त्व, पदार्थों के गुण-धर्म, पदार्थों का भेदादि-विषयक ज्ञान ही विशेष ज्ञान है । भगवान् सर्वव्यापक है और साथ ही चेतन है, अतः वह सर्वज्ञ भी है । विशेषज्ञ, सर्वज्ञ ही जानता है कि किसको क्या चाहिए । हमारी चाहना हमारी क्रिया से द्योतित होती है । कर्मों से फल सिद्ध होता है । जिस प्रकार के कर्म्म कर रहे हैं, उसी प्रकार की चाह है ।

भक्त ! दिल खोलकर माँग ! भगवान् तेरे सखा हैं । और—

सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरम्—ऋग्वेद ९।८६।१६ । सखा सखा के वचन को नहीं तोड़ता । वह साधारण सखा नहीं है, वह वज्री है । सभी विघ्नों को मार भगाता है । ऐसे, विघ्नविघातक मित्र के होते हम अभीष्ट को प्राप्त न करें, तो इससे बढ़कर अभाग्य क्या होगा ?

११. प्राणायाम के द्वारा ज्ञान

ओ३म् । वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः ।
अविन्द उस्रिया अनु ॥—ऋ० १।६।५

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** जीवात्मन् ! तू **आरुजत्नुभिः** पीड़ा देनेवाले, श्रान्त करनेवाले **वह्निभिः** जीवन-धारण के कारणभूत, प्राणों के द्वारा **गुहा+चित्** छिपी हुई भी **उस्रियाः** ज्ञानकिरणों को **वीळु+चित्** शीघ्रता से ही **अनु+अविन्दः** अनुकूलता से प्राप्त करता है ।

व्याख्या—थोड़े-से शब्दों में प्राणायाम का महत्त्व बतलाया है । यहाँ प्राण को प्राण न कहकर 'वह्नि' कहा गया है । लौकिक संस्कृत में वह्नि शब्द का अर्थ है आग । जबतक प्राण शरीर में रहते हैं तभी तक शरीर में जीवनाग्नि रहता है । प्राणों ने प्रयाण किया और शरीर ठण्डा पड़ गया; अतः प्राण सचमुच आग है । आग जहाँ सुख का साधन है, पीड़ा भी देती है । आग की पीड़ा का अनुभव गर्मी की ऋतु में पूरी तरह होता है । प्रत्येक पदार्थ सूखने लगता है । इसी प्रकार प्राण-अग्नि को जब ईंधन नहीं मिलता, तब यह शरीरस्थ मांस और रक्त को जलाने लगता है, किन्तु प्राणों का पीड़ादायकत्व पूरा-पूरा मरणसमय में ज्ञात होता है । भोग समाप्त हो चुका है । कालाग्नि प्राणपखेरू को देहपिंजरे से निकालने को आया है । प्राण के मार्ग रुके हैं, उसे राह नहीं मिल रही, वह जोर लगा रहा है, तड़प रहा है । मुमूर्षु की यह दुर्दशा देखकर मुमुक्षु इन पीड़ादायक प्राणों को वश में करता है, मृत्युसमय निकट आया जान आराम से इन प्राणों को खींचकर वह बाहर कर देता है ।

वह प्राणों को आग=जलानेवाला न रहने देकर वेद का वह्नि=धारक, ले-चलनेवाला बना देता है । अब प्राण को वह्नि बना लिया गया है, वे धारित किये गये हैं, उनकी गति रोक दी गई है, अतः वे भी धारक बन गये हैं । इस विषय में प्राण और धर्म्म की एक ही गति है । मारने से धर्म्म मार देता है, पालने से पालता है; प्राण आग बना देने से जलाता है, वह्नि=धारण करनेवाला बना देने से जिलाता है । चुन लो, जीना है या जलना है ?

वह्नि बनकर भी प्राण आरुजत्नु=तोड़ने-फोड़नेवाले बने हुए हैं । अब ये अङ्गों को नहीं तोड़ते, अब यह शरीर को पीड़ा नहीं देते, क्योंकि प्राणों की क्रिया से शरीर का सब मल शुद्ध कर लिया गया है । अब यह आत्मा पर पड़े अज्ञान-आवरण के परदे को फाड़ते हैं । इसीलिए वेद कहता है—

अविन्द उस्रिया अनु=आत्मन् ! तू ही ज्ञान-किरणों को अनुकूलता से प्राप्त कर लेता है ।

योगिराज पतञ्जलि ने अपने अनुभव से वेद की इस सचाई की पुष्टि की है—**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्**—यो० द० २।५२ । प्राणायाम की सिद्धि से बुद्धिप्रकाश पर पड़ा हुआ आवरण=परदा नष्ट होता है ।

वेद ने इससे भी अधिक बताया है—

यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ।—ऋ० १०।१६।२

जब साधक इस असुनीति=प्राणचालन-विद्या को प्राप्त कर लेता है, तब वह इन्द्रियों का वशकर्त्ता हो जाता है ।

इन्द्रियों को वश में करना है, तो प्राण को वश में करो । बहुत गहरा अभिप्राय है । इन्द्रियाँ मन के अधीन हैं । मन बहुत चञ्चल है, जविष्ठ है—सबसे अधिक वेगवान् है; जिधर वह जाता है, इन्द्रियाँ भी

उधर ही जाती हैं। प्राणचालन-विद्या से इन्द्रियों को वश में करने के अर्थ हैं इन्द्रियाधिष्ठाता मन को भी वश में करना। यही अवस्था योग है, जैसा कि कठोपनिषत् में कहा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्॥—कठो० २।३।१०, ११

जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ रुक जाती हैं और बुद्धि भी निश्चल हो जाती है, उस अवस्था को परमगति कहते हैं, इन्द्रियों की उस स्थिर धारणा को योग मानते हैं। इन्द्रियाँ वश में करनी हों अर्थात् इन्द्रियों से यथायोग्य उपयोग लेना हो, तो प्राणायाम का अभ्यास करो। बुद्धि पर से अज्ञान का परदा नाश करना हो, उज्ज्वल, विमल, धवल ज्ञान-प्रकाश प्राप्त करना हो, तो प्राणायाम में सिद्धि प्राप्त करो।

प्राणायाम के महाज्ञानी ऋषि दयानन्द 'सत्यार्थप्रकाश' के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं—'जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जबतक मुक्ति न हो तबतक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।......जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर वे शुद्ध होते हैं वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।......प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य-शरीर में वीर्य्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिरबल, पराक्रम, जितेन्द्रियता (प्राप्त होती है), सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।'

प्राणायाम की महिमा में वेद, मनु, पतञ्जलि, दयानन्द सभी एकमत हैं।

१२. न तत्र सूर्य्यो भाति

१ २र ३२३१ १र३२
ओ३म् । यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
१ २ ३२३२ ३ २३ २ ३१२३१२
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्य्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥

—सा० उ० ४।४।१।१ (८६२)

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** परमैश्वर्यसम्पन्न ! अनन्त शक्ति-सम्पन्न भगवन् ! **यत्** चाहे तो **ते** तेरे **शतम्** सैकड़ों **द्यावः** द्यु-लोक, प्रकाशपुञ्ज हों **उत** अथवा **शतम्** सैकड़ों **भूमीः** भूमियाँ भी **स्युः** हों. किन्तु हे **वज्रिन्** वारक-शक्तिवाले प्रभो ! ये सब **रोदसी** लोक-लोकान्तर तथा **सहस्रम्** हजारों **सूर्याः** सूर्य्य **जातम्** सर्वत्र विद्यमान् **त्वा** तुझको **न** नहीं **अनु+अष्ट** पहुँच पाते ।

व्याख्या—संसार में दो प्रकार के लोक हैं—१. स्वतः-प्रकाश और २. परतः-प्रकाश । सूर्य्य स्वतः-प्रकाश है; और भूमि-चन्द्रादि परतः-प्रकाश हैं, ये सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं । वेद की परिभाषा में इन्हें द्यौ और पृथिवी, द्यावापृथिवी, द्यौ और भूमि, द्यावाभूमि, सूर्य्य और चन्द्र आदि विविध नामों से पुकारा जाता है । इनकी महिमा तो देखिए । भूमि पर से करोड़ों वर्षों से मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, सरीसृप, व्याल, भुजंग आदि नाना प्राणी अपनी भोग्य सामग्री ले रहे हैं, किन्तु माता वसुन्धरा आज तक भी विश्वम्भरा बनी हुई है, आगे भी बनी रहेगी । भूमि का एक नाम 'रसा' है, सचमुच मधुर, तिक्त, अम्ल, कटु, कषाय, आदि सारे रस भूमि में हैं । सोना-चाँदी-लोहादि धातु-उपधातुओं की खान भी यही है । कहीं मरमर पत्थर है, कहीं चिकनी मिट्टी है, कहीं रेत है । कहीं छह मील ऊँचा पर्वत मानो आकाश से बातें करने को सिर उठाये खड़ा है, कहीं उतना ही गहरा सागर है । कहीं नदी-नालों की कलकल ध्वनि है, तो कहीं समुद्र में उत्तुङ्ग तरङ्गें उठ रही हैं । कहीं सस्यश्यामला मनोहारिणी रम्या मही है तो कहीं तृणविहीन बालुकामय जलशून्य प्रदेश है । संसार के आरम्भ से लेकर आज तक के सारे वैज्ञानिक अपनी शक्ति लगा रहे हैं, किन्तु इस ससीम, परिच्छिन्न, सान्त एक भूमि की सीमा=परिच्छेद=अन्त नहीं पा सके और यदि ये सैकड़ों हों तो फिर इनकी कितनी महिमा, कितनी गरिमा होगी ? मनुष्य इसकी कल्पना नहीं कर सकता ।

आओ, द्यौ का तनिक विचार करें । भूमि जहाँ एक क्षुद्र-सा टापू है वहाँ द्यौ एक विशाल सागर है । हमारा प्रतिदिन का परिचित सूर्य्य भार में पृथिवी से साढ़े चार लाख गुना भारी बताया जाता है । कहा जाता है, इस सूर्य में हमारी पृथिवी की-सी तेरह लाख पृथिवियाँ समा सकती हैं । वह महान् सूर्य्य जिससे हमारी पृथिवी उत्पन्न हुई है, द्यौरूपी विशाल सागर में एक तुच्छ कमल-सा है । ऐसे क्या इससे भी बड़े असंख्य सूर्य्य इस द्यौ-सागर में टिमटिमा रहे हैं कहो, या चमचमा रहे हैं कहो ।

क्या इनकी शक्ति की कल्पना कर सकते हो ? आः ! ! ! वेद कहता है, अनन्त द्यौ और अनन्त भूमि तथा असंख्य सूर्य और लोक मिलकर भी उस महान् भगवान् को नहीं पहुँच पाते अर्थात् उसके सामने यह सारा विशाल संसार तुच्छ है । वेद ने स्पष्ट कहा है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः—य० ३१।६ । यह सारा संसार उसकी महिमा का पसारा है, वह पूर्ण तो इससे बड़ा और न्यारा है ।

भगवान् ने इस जहान को पैदा किया है, जैसाकि वेद ने कहा है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥—ऋ० १०।१९०।३

जगन्निर्माता ने पूर्व की भाँति सूर्य्य, चाँद, द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी और स्वः=आनन्द की रचना की। बनी वस्तु बनानेवाले को कैसे पावे ? इसीलिए कठ ऋषि ने कहा—

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥—कठो० ५।१५

न वहाँ सूर्य्य चमकता है, न चाँद-तारे, न ही बिजुलियाँ चमकती हैं, यह अग्नि तो कहाँ से ? उसकी चमक के पीछे ही सभी चमकते हैं। उसके प्रकाश से यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है। सभी उसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, तो स्पष्ट है कि ये सब मिलकर उसकी बराबरी नहीं कर सकते। उसकी तुलना का कोई पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में नहीं है। ये सब मिलकर भी सीमावाले हैं, और वह है असीम। अतएव वह—

विश्वस्य मिषतो वशी।—ऋ० १०।१६०।२

सभी गति करनेवालों का वशी है, नियन्त्रणकर्ता है। जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम, चर-अचर सभी उसके शासन में चलते हैं।

इस प्रकार उसे अप्रतर्क्य समझकर महात्मा चुप हो जाते हैं। ससीम असीम का वर्णन कैसे करे ? केवल अनुभव कर सकता है, उसका वर्णन नहीं कर सकता।

१३. हिंसक को मोक्ष-धन नहीं मिलता

ओ३म् । न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्तं रयिर्नशत् ।

सुशक्तिरिन्मघवं तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्य्ये दिवि ॥

—सा० उ० ४।४३।२ (८६८)

शब्दार्थ—**दुष्टुतिः** बुरी कीर्त्तिवाला, दुष्ट साधनोंवाला, **द्रविणोदेषु** धनदाताओं में **न** नहीं **शस्यते** गिना जाता, अच्छा माना जाता । **स्रेधन्तम्** हिंसक को **रयिः** धन, मोक्षधन, न नहीं **नशत्** प्राप्त होता । हे **मघवन्** पूजनीय धनवन् भगवन् ! **मावते** मेरे-जैसे के लिए **पार्य्ये** पार पाने योग्य **दिवि** प्रकाशावस्था में **देष्णम्** देने योग्य **यत्** जो धन है, **सुशक्तिः** उत्तम शक्तिवाला मनुष्य **इत्** ही **तुभ्यम्** तेरे निमित्त [उसको प्राप्त करता है] ।

व्याख्या—इस मन्त्र में जिस धन की चर्चा है, वह साधारण धन=धन-धान्य, मकान, पशु आदि नहीं; वरन् शान्ति-रूप धन है । वेद में कहा भी है—**शं पदं मघं रयीषिणे**—साम० ४४१ । धनाभिलाषी के लिए शान्ति-रूपी धन ही पद=प्राप्त करने योग्य है । लौकिक धन-धान्य तो चोर-डाकुओं के पास भी होता है । वैसे भी धन की अधिक मात्रा प्रायः अन्याय, अत्याचार, अनाचार से ही कमाई जाती है, किन्तु इस धन से बुद्धिमानों की तृप्ति नहीं होती । याज्ञवल्क्य जब घर छोड़कर संन्यासी बनने लगे, तो उन्होंने धर्मपत्नी मैत्रेयी से कहा—आ मैत्रेयि ! तेरा बटवारा कर दें । इसपर मैत्रेयी ने पूछा—

यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् । स्यान्न्वहं तेनामृता ।—बृहदा० ४।५।३

भगवन् ! धन-धान्य से पूर्ण यदि यह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाए तो क्या मैं अमृत हो जाऊँगी ?

सत्यदर्शी यथार्थवक्ता याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—

नेति नेति…यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्याद्, अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन ।

—बृहदा० ४।५।३

नहीं, नहीं,…जैसे धन-धान्य सामानवालों का जीवन होता है, वैसे ही तेरा जीवन भी होगा । अमृतत्व की=मुक्ति की आशा=सम्भावना धन से नहीं हो सकती ।

इसपर मैत्रेयी ने कहा—

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि ।—बृहदा० ४।५।४

जिससे मैं मुक्त न हो सकूँ, उससे मेरा क्या प्रयोजन ? महाराज ! मोक्ष का जो भी साधन आप जानते हैं वही मुझे बताइए ।

धन के प्रति कितनी ग्लानि है ! कितना गहरा निर्वेद है ! सचमुच मोक्षाभिलाषी, शान्ति की कामनावाला इस चञ्चल धन को कैसे चाहेगा, जिसके सम्बन्ध में वेद स्वयं कहता है—

ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ।—ऋ० १०।११७।५

अरे धन तो सचमुच एक से दूसरे के पास जाते हुए रथ के चक्रों की भाँति अदलते-बदलते रहते हैं । ऐसे विनश्वर भौतिक धन में अविनाशी के अभिलाषी की अभिलाषा कैसी ! ! ! इसीलिए प्रकृत मन्त्र में कहा है—

न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ।

दुष्ट साधनोंवाला मनुष्य धनदाताओं में नहीं गिना जाता । जब उसके पास है ही नहीं, तब देगा कहाँ से ? वेद पाने की बात न कहकर देने की कहता है, क्योंकि वेद दान की महत्ता का प्रचारक है । ऋग्वेद ने तो स्पष्ट कह दिया—

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु।—ऋ० ७।३२।२१

मनुष्य दुष्ट उपायों से धन प्राप्त नहीं कर सकता।

दूसरे चरण में बहुत स्पष्ट कहा है—

न स्रेधन्तं रयिर्नशत्—हिंसक भी धन नहीं प्राप्त कर सकता।

कितना ही शास्त्रवेत्ता क्यों न हो, जबतक हिंसादि दुष्ट उपायों को नहीं छोड़ता, तबतक शान्ति-धन, आत्म-सम्पत्ति को नहीं प्राप्त कर सकता। यम ने मार्मिक शब्दों में नचिकेता को समझाया था—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।—कठो० २।२२

जो दुराचार से नहीं हटा, जो चञ्चल है, जो प्रमादी है, सावधान नहीं है, जिसके मन में क्षोभ है, वह बुद्धि से, ज्ञान से इस आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

आत्मज्ञान के बिना शान्ति नहीं। जब प्रमाद तथा अनाचार से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती तब उसकी प्राप्ति के बाद प्राप्त होनेवाली शान्ति-सम्पत्ति की प्राप्ति की आशा कैसे की जा सकती है?

वेद कहता है, देने योग्य धन को कोई शक्तिशाली ही प्रभुसमर्पण की भावना से प्राप्त कर सकता है। बलहीन का संसार में ही ठिकाना नहीं, परलोक की तो बात ही क्या? वहाँ के लिए उपयुक्त धन कमाने को बड़ा बल चाहिए।

१४. अध्यात्मानुभव

ओ३म् । शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः । चरन्ति विद्युतो दिवि ॥

—सा० उ० ५।१।३।३ (८६४)

शब्दार्थ—शुष्मिणः पाप-ताप को सुखा देनेवाले महाबली **पवमानस्य** सबके शोधक, शान्तिदायक भगवान् का **स्वनः** शब्द, आदेश **वृष्टेः+इव** वृष्टि के शब्द की भाँति **शृण्वे** सुनाई दे रहा है और **दिवि** प्रकाशाधार मस्तिष्क में **विद्युतः** बिजलियाँ, प्रकाश की झलकें **चरन्ति** विचर रही हैं।

व्याख्या—साधक की साधना जब परिपक्व हो जाती है, तब उसे जो अनुभव होता है, उसकी संकेतमात्र चर्चा यहाँ है। सामवेद सारा-का-सारा आध्यात्मिकता की विविध अनुभूतियों के वर्णनों से ओत-प्रोत है। उपासना की समस्त भूमियाँ इसमें दर्शायी गई हैं। इस मन्त्र में भी साधक को जो प्रत्यक्ष भान होता है, उसका वर्णन है।

भगवान् साधारण जन और असाधारण गण्यजन सभी को सदा उपदेश देते हैं, किन्तु उसको अधिक जन अनसुना कर देते हैं। कोई विरला ही उसे सुनने का यत्न करता है। साधना का मार्ग खुल गया, इसकी सूचना इसी से होती है कि साधक भगवान् के विमल उपदेश को सुने। जिसे सुनाई देता है, वही कह सकता है—

शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।

पाप-ताप ने झुलस दिया है, आत्मा अशान्त हो उठा है। गर्मी के प्रचण्ड ताप को वृष्टि ही कम कर सकती है। साधक कहता है—मुझे वृष्टि का-सा शब्द सुनाई देता है। धर्म्ममेघ समाधि के समय वृष्टि का ही शब्द सुनाई देना चाहिए। उस धर्म्ममेघ की वृष्टि से अधर्म्म से पैदा हुई सब जलन शान्त हो जाती है; झुलस से उत्पन्न सब कालिमा धुल जाती है।

मेघ के साथ बिजली भी आती है, इसलिए कहा है—

चरन्ति विद्युतो दिवि ।

आकाश में बिजलियाँ चमक रही हैं।

सचमुच इस शरीराकाश में साधक को विद्युत् के दर्शन होते हैं। योगी श्वेताश्वतरजी कहते हैं—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥—श्वेता० २।११

कोहरा, धुआँ, सूर्य्य, आग, हवा, खद्योत, विद्युत्=बिजली, बिल्लौर और चन्द्र के-से रूप आगे आते हैं, जब ब्रह्मयोग का अनुष्ठान किया जाता है। वेद के **विद्युत्** को इनका उपलक्षण समझा जा सकता है। बाहर की बिजली आँख बन्द कराती है, यह बिजली आँख खोल देती है, मस्त कर देती है। अनुभव की बात को शब्दों से कौन समझाए ? भगवान् ने थोड़े-से शब्दों द्वारा कहना उचित समझा, तो मर्त्य कैसे वाणी की ग्लानि का सामान करे !

१५. मथन से आत्मज्ञानप्राप्ति

ओ३म् । त्वाम॑ग्ने॒ अङ्गि॑रसो॒ गुहा॑ हि॒तमन्व॑विन्दञ्छिश्रिया॒णं वने॑वने ।
स जा॑यसे म॒थ्यमा॑नः॒ सहो॑ म॒हत् त्वामा॑हुः॒ सह॑सस्पु॒त्रम॑ङ्गिरः ॥

—ऋ० ५।११।६

शब्दार्थ—हे **अग्ने** अग्ने ! **अङ्गिरसः** आत्मरस के रसिक **वनेवने** वन-वन में **शिश्रियाणम्** निरन्तर रहनेवाले **त्वाम्** तुझको **गुहाहितम्** हृदयगुफा में छिपा **अनु+अविन्दन्** पाते हैं । **सः** वह तू **मथ्यमानः** मथन करने से **जायसे** प्रकट होता है, तू **महत्** महान् **सहः** सहन-सामर्थ्य है । हे **अङ्गिरः** आत्मरसप्रदातः ! **त्वाम्** तुझको **सहसः+पुत्रम्** बल का शोधक और रक्षक **आहुः** कहते हैं ।

व्याख्या—भगवान् की खोज हो रही है । वेद में एक दूसरे स्थान पर कहा है—जैसे पशु-चोर के खोजी खुर देखते हैं, ऐसे ही उस चित्तचोर की खोज होती है । हम डरते हैं चोरी न हो जाए । लेकिन जिनकी चोरी हो गई, जिनके चित्त को वह चित्तचोर ले गया, उनकी व्यकुलता का क्या ठिकाना ? जिसकी कोई वस्तु कभी चोरी गई हो, उससे पूछो । जिस तन लागे सोई जाने । वह क्या जाने पीर पराई, जिसके फटी न पैर बिवाई । भाई ! जन्म-जन्मान्तरों से, या यों कहो, लगभग अनादिकाल से, ब्रह्मधाम से लौटने के बाद से हमारी एक ही निधि थी, वह था हमारा चित्त ! अमृत-धन के लालच में आकर हम उस चित्तधन को गँवा बैठे । किसी ने बता दिया कोई उसे चुरा ले गया है । थाने में रपट लिखाई नहीं जा सकती । द्युलोक के राजपुरुषों से वास्ता पड़ा । उन्होंने पता बताया कि वह सब जगह है । हम वन-वन में उसे ढूँढने लगे । जंगल-पहाड़, नदी-नाले, अरण्य, ताल, समुद्र सब खोज डाले । किसी ने बताया, श्रीमन् ! चित्तचोर गुफा में छिपे बैठे हैं । हम प्रसन्न हो उठे कि चोर पकड़ा गया । चोर के पकड़े जाने से आनन्द का होना स्वाभाविक है । चोरी हुए सामान की प्राप्ति की सम्भावना हो गई है । गुफा में घोर अन्धकार है, दिखाई नहीं देता । कैसे देखें, कैसे पकड़ें ?

वेद ने कहा—**स जायसे मथ्यमानः ।**

अरणियों का मथन करो । दियासलाई को रगड़ो, फिर वह प्रकट होगा । अरणी रगड़ी, दियासलाई जलाई । अरे ! यह आग पैदा हो गई । यह क्या ! सब अँधेरा दूर । प्रकाश ही प्रकाश ! आग बुझने न पाये, कोई वायु का झोंका न लग जाए । वायु है तो अग्नि का सखा, किन्तु आग को बुझा भी दिया करता है । ऋषि ने कहा भी है—**अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते** (श्वे० २।६) । अग्नि का जहाँ मथन किया जाता है, वायु जहाँ रोका जाता है । देखा नहीं ! दियासलाई जलाते हुए ओट करते हैं, कहीं वायु के झोंके से बुझ न जाए । विषयवासना की हवा आत्मज्ञानाग्नि को बुझा देती है । सावधान रहो ! गूढ़ अन्धकार में थोड़ा-सा भी प्रकाश बहुत सहायक होता है, अतः कहा—**सहो महत् त्वामाहुः**—तुझे महाबल कहते हैं ।

वृत्र को, अन्धकार को नाश करनेवाला यदि महाबल नहीं तो, और क्या है ? हमारा चित्त भी महाबल था, परन्तु उसमें महामल भी था । इस अग्नि में पड़कर वह शुद्ध हो गया है, उसके मल जल गये हैं । इसी से उसको—**आहुः सहसस्पुत्रम्**=बल का शोधक और रक्षक कहते हैं । गये थे उसे पकड़ने और अपना माल वापस लेने, किन्तु वह ऐसा निकला, उसने हमें कुछ पिला दिया है । उस अङ्गिराः ने, रसीले रस के दाता ने हमें अङ्गिरस बना दिया है । हमें भुला दिया है । अच्छा है, भूले रहें । अङ्गिरस बने रहें ।

१६. ब्रह्मणस्पति की पूजा का फल

ओ३म् । स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः ।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥

—ऋ० २।२६।३

शब्दार्थ—**यः** जो **श्रद्धामनाः** श्रद्धायुक्त मनवाला **हविषा** श्रद्धा से, त्यागभावना से, आत्मसमर्पण के भाव से **देवानाम्** देवों के, विद्वानों के, निष्काम ज्ञानियों के **पितरम्** पालक रक्षक पिता **ब्रह्मणः+पतिम्** ब्रह्मणस्पति, लोकपालक, वेदरक्षक भगवान् को **आ+विवासति** पूरी तरह पूजता है, **सः+इत्** वही **जनेन** लोकसेवा द्वारा **धना** धनों को **भरते** पुष्ट करता है, **सः** वही **विशा** प्रजा के द्वारा **सः** वही **जन्मना** विविध पदार्थों की उत्पत्ति के द्वारा धन धारण करता है, **सः** वही **पुत्रैः** पुत्रों के द्वारा तथा **नृभिः** मनुष्यों के द्वारा अथवा नेताओं के द्वारा **वाजम्** ज्ञान, अन्न, बल तथा धनों को **भरते** धारण करता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में भगवान् की पूजा का फल बताया गया है । भगवान् को इस मन्त्र में ब्रह्मणस्पति कहा गया है, किसी दूसरे मन्त्र में—**विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि** (ऋ० २।२३।२)—कहा गया है । भगवान् ही लोक तथा ज्ञान का उत्पादक है, वही उनका पालक है । जो उत्पादक है, वही पालक है, अतः वह अवश्य पूजने योग्य है ।

हम मर्त्य हैं । आज जीते हैं, कल मर जाएँगे । फिर हमें कोई जानेगा भी नहीं । देव अमर्त्य होते हैं, शरीरनाश के साथ उनका नाश नहीं होता है । उनका यशःशरीर कभी भी शीर्ण नहीं होता । देव भी उसी से बनते हैं, वह उनका पिता है ।

खाली पूजा करने आये हो या कुछ लाये भी हो ? अरे गुरु के पास जाना होता है, तो समित्पाणि होकर, हाथ में समिधा लेकर जाते हैं । गुरुओं के गुरु के पास जाते समय पास कुछ भी नहीं, खाली हाथ जा रहे हो, कैसे पूजा करोगे ?

भगवान् द्रव्य के भूखे नहीं हैं । द्रव्य=पदार्थ तो सारा उन्हीं का है । वह उन्हें क्या दोगे ? अपना-आपा त्यागो, उसकी हवि डालो, विवश होकर नहीं । ज्ञात हो गया है कि एक दिन यह छोड़ना होगा । इसलिए विपत्ति समझकर मत छोड़ो, वरन् **'श्रद्धामनाः'** श्रद्धायुक्त मनवाले होकर । श्रद्धा में बड़ी शक्ति है । वेद ने कहा है—

श्रद्धया विन्दते वसु ।—ऋ० १०।१५१।४

श्रद्धा से धन मिलता है ।

सचमुच लौकिक और पारलौकिक धन श्रद्धा के बिना प्राप्त नहीं हो सकता ।

ब्रह्मणस्पति, धनपति को भी कहते हैं । धन की कामना है तो धनपति ब्रह्मणस्पति भगवान् की पूजा करो ।

भगवान् अपने धन से क्या करता है ? उसने सारा-का-सारा धन अपनी जीव-प्रजा को दे रखा है । त्याग के कारण ही भगवान् धनी है । जो धनी होते हुए भी धन का त्याग नहीं करते वे दुःखी रहते हैं । भूख लगी है, बाजार से फल मिल सकते हैं, किन्तु कंजूस खर्चना नहीं चाहता । धन के होते हुए भी भूख से तड़प रहा है । धन दे दे, फल आदि ले ले, भूख मिट जाए, अशान्ति हट जाए । धन के त्याग से ही शान्ति मिलती है, इसलिए धनपति भगवान् का उपासक धन प्राप्त करके—**स इज्जनेन···भरते धना**= वह जनसेवा द्वारा धन धारण करता है अर्थात् वह संसारी जनों को धन दे डालता है ।

उसे प्रजा मिली है, उसके घर पुत्र-पौत्र के जन्म होते हैं। ऐसे दाता के पास नेता तक आते हैं। वह धन के साथ अपने पुत्र-पौत्ररूप जन भी दे डालता है, वह कमाता है त्याग के लिए। इसे—**त्यागाय संभृतार्थानाम्**। (रघुवंश १।७)=त्याग के लिए धन-संग्रह की बात स्मरण है।

ब्रह्मणस्पति से उसे केवल धन ही नहीं **'वाज'** भी मिला है, ज्ञान भी मिला है। उसे भी वह दे डालता है अर्थात् भगवद्भक्त का जन, धन, ज्ञान सब परार्थ है। इससे अगले मन्त्र में इस बात को बहुत खोलकर कहा गया है—

यो अस्मै हव्यैर्घृतवद्भिरविधत् तं प्राचा नयति ब्रह्मणस्पतिः।
उरुष्यतीमंहसो रक्षती रिषोंहोश्चिदस्मा उरुचक्रिरद्भुतः॥४॥

जो ज्ञान-प्रकाशयुक्त श्रद्धामय त्याग से इसकी पूजा करता है, उसको ब्रह्मणस्पति आगे से, उन्नति की ओर ले-जाता है। पाप की प्रबल भावना से, रिस से, हिंसा से उसकी रक्षा करता है। वह महान् इसका कार्य्य-साधक होकर अभूतपूर्व बना हुआ पाप से बचाता है।

भगवान् ही सबको आगे ले-जाते हैं, और जो भगवान् की पूजा करता है वह सचमुच उन्नति प्राप्त करता है, ऊँचा उठ जाता है।

मनुष्य के अन्दर पाप की प्रबल भावनाएँ उठती हैं। हिंसा की इच्छा पैदा होती है, कुटिलता की कामना आती है। भगवान् ही उससे बचाते हैं। वे अपापविद्ध हैं। जो उसकी शरण में जाएगा, पाप से बच जाएगा; पाप से बचने का अर्थ है दुःख से बचना। जितने दुःख हैं, सबका कारण पाप है। कौन है जो दुःख से छुटकारा नहीं पाना चाहता! दुःख से छूटने के लिए पाप छोड़ना होगा। पाप का मूल अज्ञान है, क्योंकि जानबूझकर कोई दुःख के साधनों का अनुष्ठान नहीं करता। अज्ञान ज्ञानवान् की सङ्गति से मिटेगा। इसीलिए ब्रह्मणस्पति=ज्ञानपति भगवान् की उपासना का विधान किया है।

उपासना और सङ्गति एक हैं। उपासना=पास बैठना, सङ्गति=एकसाथ चलना। दोनों में साथ अनिवार्य है। भगवान् से बढ़कर कौन ज्ञानी है! अतः 'उसी की उपासना करनी योग्य है'।

१७. घर की गौ की महिमा

ओ३म् । स्व आ दमे॑ सु॒दुघा॒ यस्य॑ धे॒नुः स्व॒धां पी॑पाय सु॒भ्वन्न॑मत्ति ।
सो अ॒पां नपा॑दू॒र्जय॑न्न॒प्स्व१॒न्तर्व॑सु॒देया॑य विध॒ते वि भा॑ति ॥—ऋ० २।३५।७

शब्दार्थ—**यस्य** जिसके **स्वे** अपने **आ** ही **दमे** घर में **सुदुघा** उत्तम दूध देनेवाली, आसानी से दोही जानेवाली **धेनुः** दुधार गौ है वह **स्वधाम्** अपनी शक्ति को **पीपाय** बढ़ाता है और **सुभु** उत्तम रीति से सिद्ध होनेवाले **अन्नम्** अन्न को **अत्ति** खाता है । **सः** वह **अपाम्+नपात्**—जीवनी शक्ति को पतित न होने देने-वाला **अप्सु+अन्तः, अपां+नपात्** जलों के भीतर रहनेवाली बिजली के समान **ऊर्जयन्** बलसम्पन्न होता हुआ **वसुदेयाय** धन देने योग्य **विधते** मेधावी के लिए **विभाति** विशेषतः चमकता है ।

व्याख्या—वेद के उपदेश करने की शैली निराली है। वेद कहीं आदेश करता है, कहीं निषेध करता है, कहीं प्रार्थना द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध कराता है, कहीं वास्तविक स्थिति आगे रखकर समझाता है ।

इस मन्त्र में जो बात कही है, वह पहले भी ठीक थी, आज भी सत्य है और कल को भी यथार्थ होगी। वेद के उपदेश सामयिक नहीं, वरन् सदातन=सदा रहनेवाले, त्रिकालाबाधित हैं। अथर्व ५।२८।३ में कहा है—

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥

इस त्रिगुणात्मक जगत् में तीन पुष्टियाँ बनी रहें,—(१) अन्न की बहुतायत, (२) पुरुषों की बहुलता तथा (३) पशुओं की बहुतायत । ये इस संसार में बनी रहें, पशुपति दूध-घी से भरपूर रहें । दूध-घी कहाँ से आये ? पशुओं से । पशुओं में गौ का घी-दूध सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट माना गया है । अतएव वेद में गौ की महिमा बहुत है । यथा—**गावो भगो गाव इन्द्रो मे ।** (अ० ४।२१।५)=गौएँ ही भाग्य और गौएँ ही मेरा ऐश्वर्य हैं।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु ॥—अ० ४।२१।६

गौएँ दुबले को भी मोटा कर देती हैं और शोभाहीन को भी सुन्दर बना देती हैं। मधुर बोली-वाली गौएँ घर को कल्याणमय बना देती हैं। सभाओं में गौओं की बहुत कीर्ति कही जाती है ।

गौओं के पालने की रीति का भी थोड़ा-सा संकेत है—

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।—अ० ४।२१।७

सन्तानसहित गौएँ उत्तम चारे के कारण पुष्ट हों, उत्तम जलपान के स्थान में शुद्ध जल का पान करें ।

आज गोभक्त आर्य इस उपदेश को भूल-सा गया है । अब न अच्छा चारा देते हैं और न गौओं को शुद्ध जल पिलाने की व्यवस्था की जाती है । यह तभी हो सकता है जब **'स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनुः'**—अपने घर में ही उत्तम दूध देनेवाली गौ हो ।

वेद के कथनानुसार जिसके दूध के पीने से दुर्बल भी हृष्ट-पुष्ट हो जाते हैं और श्रीहीन सुश्रीक=सुन्दर शोभमान् हो जाते हैं, उससे पूरा लाभ उठाने के लिए उसे घर में पालना अच्छा होता है । इसका दूध पीने से गोपति जल में विद्युत् के समान चमकता है ।

१८. संसार का उत्पादक ही सुकर्म्मा

ओ३म् । स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान ।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत् ॥

—ऋ० ४।५६।३

शब्दार्थ—भुवनेषु लोकों में **सः+इत्** वही **स्वपाः**=सु+**अपाः** सुकर्म्मा **आस** है **यः** जो **इमे** इन **द्यावापृथिवी** द्यौ और पृथिवी को, प्रकाशयुक्त तथा प्रकाशशून्य लोकों को **जजान** उत्पन्न करता है । **उर्वी** विशाल **गभीरे** गहरे **सुमेके** सुन्दर **अवंशे** वंशरहित, आधार=स्तम्भ से रहित **रजसी** दोनों लोकों को **धीरः** वह धीर महाज्ञानी, शक्तिशाली **शच्या** अपने सामर्थ्य से **सम्+ऐरत्** समता से चलाता है ।

व्याख्या—भगवान् को इस मन्त्र में सुकर्म्मा कहा है, क्योंकि वह संसार को उत्पन्न करता है और इस संसार को अधर में किसी आश्रय के बिना चला रहा है । भगवान् ने सृष्टि क्यों उत्पन्न की ? वेद में एक स्थान पर कहा है कि भगवान् ने यह जहान जीव को भोग तथा मोक्ष देने के लिए बनाया अर्थात् इस सृष्टि के बनाने में प्रभु का अपना कोई प्रयोजन नहीं, केवल जीवों के उद्धार के लिए ही भगवान् ने यह संसार बनाया है । भाव यह हुआ कि निष्काम कर्म्म करने के कारण भगवान् सुकर्म्मा है । भगवान् में **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** (श्वेता० ७।८)=ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया स्वाभाविक है ।

प्रभु उस स्वाभाविक शक्ति से लोकोपकार करता है । भक्त को भी भगवान् का अनुकरण करना चाहिए, उसे भी निष्काम कर्म्म करने चाहिएँ, तभी वह भगवान् का सखा बन सकेगा ।

सृष्टि के निर्माण के कारण भगवान् स्वपाः=उत्तमकर्म्मकारी है अर्थात् निर्माण, जनन उत्तम कर्म्म है । इस तत्त्व को हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है । मनुष्य को भी योग्य है कि यदि वह भी स्वपाः=उत्तमकर्म्मकारी कहलाना चाहता है [सभी चाहते हैं कि संसार उनको भला कहे] तो उसे भी कुछ निर्माण कर जाना चाहिए । केवल मौख [मुँह बोलो] सन्तान-उत्पादन से निर्माणविधान पूर्ण नहीं होता । उससे भूभारमात्र बढ़ता है । यह कार्य्य तो कीट-पतंग भी कर जाते हैं । जैसे भगवान् कामनारहित होकर ऐसा सुन्दर जीवन-साधन जगत् बनाते हैं, वैसे ही मनुष्य को भी किसी लोकसुखदायी अद्भुत साधन का निर्माण कर जाना चाहिए ।

उत्तरार्ध में एक बहुत सूक्ष्म बात कही है । इतने विशाल ब्रह्माण्ड को उसने किसी आश्रय के बिना धारण कर रखा है । एक छोटा-सा तिनका भी आश्रय के बिना अधर में नहीं रह सकता, किन्तु इतना विशाल ब्रह्माण्ड किसी सहारे के बिना चल रहा है । सूर्य्य जो पृथिवी से कई लाख गुना भारी है, अधर में सहारे के बिना ठहरा है । चन्द्र-तारे सारे सभी बिना सहारे हैं । कैसे ? क्योंकर ? इस मन्त्र में उत्तर है—समैरत्—भगवान् ने समता से गति दे रखी है अर्थात् गति के कारण ये ठहरे हैं । उदाहरण से इसको समझिए—हमने हवा में एक गेंद फेंकी, हमने अपनी शक्ति-अनुसार उसमें गति डाली । हमारी शक्ति परिमित है, फिर हम सारी शक्ति भी उसमें नहीं डाल सकते, अतः कुछ दूर जाकर उसकी गति रुक जाएगी । गति रुकते ही वह भूमि पर आ गिरेगी । इसी प्रकार भगवान् ने इसमें गति का आधान किया हुआ है । जबतक उसकी दी गति इसमें है, तबतक यह समस्त संसार और इसमें के सारे पिण्ड आकाश में ठहरे रहेंगे । जैसे फेंकी हुई गेंद बिना सहारे के चल रही है, नीचे नहीं गिरती, ऐसे ही आकाश में फेंके गये पिण्ड भी गति के कारण अधर में लटके रहते हैं । भगवान् की शक्ति=शची जो सब पदार्थों में समवेत है, इनको चला रही है ।

१९. वेदकर्त्ता

१ २३ १२ ३ १ २ ३२३१ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २

ओ३म् । इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् । ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥

—सा० उ० ६।७२।१ (१०२५)

शब्दार्थ—विप्राय मेधावी **बृहते** महान् **ब्रह्मकृते** वेदकर्त्ता **विपश्चिते** सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी **पनस्यवे** सबसे स्तोतव्य, व्यवहारोपदेष्टा **इन्द्राय** अज्ञानवारक, उपद्रवशामक भगवान् के लिए **बृहत्** महान् **साम** साम, स्तुति **गायत** गाओ।

व्याख्या—सचमुच सभी स्तुतियों का पात्र भगवान् है। **गुणकथनं स्तुतिः।** कौन-सा ऐसा गुण है जो भगवान् में नहीं है! वह सर्वगुणनिधान है। उसके गुणों का कथन ही वास्तविक स्तुति है।

भगवान् को यहाँ 'ब्रह्मकृत्'=वेदकर्त्ता कहा गया है। तनिक वेद के शब्दों पर ध्यान दीजिए। भगवान् को पहले इन्द्र=अन्धकारवारक कहा गया है। अन्धकार तो सूर्य्य आदि भौतिक पदार्थ भी दूर करते हैं। इसलिए भगवान् के सम्बन्ध में कहा कि वह 'विप्र' है, बुद्धिमान् भी है, ऐसा बुद्धिमान् जिसमें धारणावती बुद्धि भी है, अर्थात् वह जड़ नहीं चेतन है। संसार में सैकड़ों विप्र हैं, किन्तु भगवान् बृहत्= महान् है, और साथ ही **'ब्रह्मकृत्'** वेदकर्त्ता है। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को कार्य चलाने के लिए, विश्व तथा विश्वपति का ज्ञान कराने के लिए भगवान् ने जो ज्ञान दिया, वह सब विद्याओं का मूल है। सभी ऋषि-मुनि कहते हैं—**वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति मूलोद्देश्यतः**—बीजरूप से वेद में सभी विद्याएँ हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर वेद को परमात्मा की रचना बताया है—**देवत्तं ब्रह्म गायत** (ऋ० १।३७।४)—परमात्मा के दिये वेद का गान करो। स्पष्ट रूप से ब्रह्म=वेद के साथ 'देवत्तं' [देव का दिया हुआ] विशेषण विद्यमान है। वेद-ज्ञान देने का प्रयोजन बताने के लिए मन्त्र में एक और विशेषण लगाया कि वह 'पनस्यु' है—व्यवहार का उपदेश देने का इच्छुक है। मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार में त्रुटि न आये, सभी पदार्थों के गुणधर्म्म उसे ज्ञात हो सकें, इस दृष्टि से करुणानिधान सर्वगुणखान भगवान् ने सर्गारम्भ में मनुष्यों को वेदज्ञान दिया। वही सच्चा ज्ञान है।

ऋग्वेद के दशममण्डल का ७१वाँ सूक्त 'ज्ञानसूक्त' है। इसमें वेदोत्पत्ति का वर्णन बहुत सुन्दर शब्दों में है। वहाँ पहले मन्त्र में बृहस्पति=ज्ञानपति भगवान् से वेदोत्पत्ति बतलाकर मानो एक शङ्का का समाधान करने के लिए दूसरे मन्त्र की रचना है। शंका यह है कि जब भगवान् ने मनुष्य के हृदय में ज्ञान दिया, क्या उच्चारण करते समय उसने उसमें अपना कुछ नहीं मिलाया? इसका समाधान—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥—ऋ० १०।७१।२

जैसे चालनी (छाननी) से सत्तू साफ़ किये जाते हैं, ऐसे ही उन धीरों ने मन से वाणी को किया, अर्थात् शुद्ध वाणी ही बाहर आने दी, क्योंकि भगवान् के सखा सखित्व के नियमों को जानते हैं, उनकी वाणी पर कल्याणकारी श्री विराजती है अर्थात सर्गारम्भ के, वेदप्रापक ऋषियों ने शुद्ध परमात्मप्रदत्त ज्ञान ही उच्चारण किया था।

२०. वृद्ध

ओ३म् । ये अ॑ग्ने॒ नेर॒य॑न्ति ते वृ॒द्धा उ॒ग्रस्य॒ शव॑सः ।
अप॒ द्वेषो॒ अप॒ ह्वरो॒ऽन्यव्र॑तस्य सश्चिरे ।।—ऋ० ५।२०।२

शब्दार्थ—**ते** वे **वृद्धाः** वृद्ध हैं, हे **अग्ने** प्रकाशमय नेतः ! **ये** जो **न** नहीं **ईरयन्ति** काँपते हैं, और जो **उग्रस्य** तीव्र **शवसः** बलधारी **अन्यव्रतस्य** परमात्मा से भिन्न के उपासक के, दस्यु के **द्वेषः** द्वेषभाव को **अप** दूर करते और **ह्वरः** कुटिलता को **अप+सश्चिरे** दूर करते हैं।

व्याख्या—साधारण दशा में बूढ़ा उसे कहते हैं जो आयु में किसी से बड़ा हो, अर्थात् जो संसार में पहले आया हो। वैसे संसार में कई प्रकार के वृद्ध होते हैं—ज्ञानवृद्ध, बलवृद्ध, वयोवृद्ध आदि। वयोवृद्ध सबसे निकृष्ट वृद्ध माना जाता है।

वेद इस मन्त्र में एक ऐसे वृद्ध की चर्चा करता है, जो इन सबसे निराला है। वेद के शब्दों में वस्तुतः वृद्ध है भी वही। संसार में ईश्वरविश्वासी तथा अनीश्वरवादी दो प्रकार के लोग हैं। वेद कहता है—

ते वृद्धा, उग्रस्य शवसः । अपद्वेषः···अन्यव्रतस्य—बूढ़े वे हैं जो तीव्र बलधारी नास्तिक के द्वेष को दूर कर दें। निरन्तर धर्म्मप्रचार, सदुपदेश, सद्व्यवहार, सद्युक्ति के द्वारा जो नास्तिक के भीतर से ईश्वर तथा ईश्वरविश्वासियों के प्रति द्वेषभावना को नष्ट कर दें। स्वयं ईश्वर को मानना कठिन नहीं, किन्तु दूसरों को ईश्वरविश्वासी बनाना बहुत बड़ा काम है, अतः जो इसे कर दे वह वृद्ध है।

बहुधा लोग अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए कुटिलता का आचरण करते हैं। कुटिल लोगों में यह नीच भावना ऐसा घर कर लेती है कि उनका स्वभाव-सा बन जाती है और **'स्वभावो दुरतिक्रमः'** स्वभाव कठिनता से टलता है। जो किसी को स्वभाव से हटा दे, उसमें परिवर्तन कर दे, उसके महान् होने में, वृद्ध होने में कोई सन्देह नहीं है। वृद्ध की एक पहचान और भी कही है—**ये नेरयन्ति**—जो नहीं काँपते अर्थात् जो अपने लक्ष्य से, उद्देश्य से नहीं टलते, चाहे कितने ही विघ्न क्यों न हों। नीतिकारों ने कहा भी है—**न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः** (नीतिशतक, ७४)। धृतिशील न्याययुक्त मार्ग से पग नहीं हटाते।

अधम लोग विघ्नों के भय से कार्य्य आरम्भ ही नहीं करते, मध्यम लोग विघ्न आने पर हिम्मत हार बैठते हैं और कार्य्य को बीच में छोड़ देते हैं, किन्तु उत्तमपुरुष बार-बार विघ्नों की मार खाकर भी कार्य्य को नहीं छोड़ते, वरन् पूरा करके दम लेते हैं। इसी भाव का द्योतक है—**ये नेरयन्ति**=जो नहीं काँपते।

सार यह है कि नास्तिकों को आस्तिक बनाना, उनसे तथा दूसरों से द्वेषभाव छुड़ाना, कुटिलता हटाकर ऋजुता=सरलता स्थापित करना वृद्ध का कार्य्य है और इसमें चाहे उसे कितनी पीड़ा और क्लेश क्यों न आये, इसे न छोड़े।

२१. प्राणरक्षित सर्वथा रक्षित रहता है

ओ३म् । न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति ।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥

—ऋ० ५।५४।७

शब्दार्थ—हे **मरुतः** प्राणो ! **यम्** जिस **ऋषिम्** ज्ञानी को **वा** अथवा **राजानम्** रक्षाकर्म्मपरायण, कर्म्मशील को **वा** अथवा किसी अन्य को **सुषूदथ** सुख देते हो, **सः** वह **न** नहीं **जीयते** हानि उठाता, आयु में कम होता है। **न+हन्यते** न मारा जाता है **न+स्रेधति** न दुःख देता है **न+व्यथते** न डरता-काँपता है **न+रिष्यति** न रिस करता है, क्रोध करता है **न** न ही **अस्य** इसके **रायः** धन **उपदस्यन्ति** क्षीण होते हैं और **न** न ही इसकी **ऊतयः** प्रीतियाँ, रक्षाएँ तथा व्यवहार नष्ट होते हैं।

व्याख्या—मनुष्य को अनेक भय लगे रहते हैं, कभी आयु घटने का, कभी मरने का, कभी किसी से प्रताड़ित होने का; कभी किसी रोग आदि से शरीर में कँपकँपी हो जाती है, कभी धननाश का भय उसे सताता है तो कभी प्रीतिनाश की भीति उसे व्याकुल करती है। वेद कहता है, इन सब उपद्रवों से बचना चाहते हो तो प्राण की शरण में आओ। यदि प्राणों को अपने त्राण में लगा सको तो तुम्हें किसी प्रकार का भय विह्वल नहीं करेगा।

सभी मानते हैं कि प्राण के अभ्यास से आयु बढ़ती है, अतः जो प्राण का साधन करेगा, उसकी आयु बढ़ेगी, घटेगी नहीं। प्राण का साधन करने से मृत्यु का क्लेश भी नहीं हो सकता। मरना तो अवश्यं-भावी है, जो जन्मा वह अवश्य मरेगा—**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**=उत्पन्न की मौत निश्चित है, किन्तु मरणसमय में प्राण निकलने से मुमूर्षु को जो पीड़ा होती है, प्राणाभ्यासी उससे बच जाता है। मृत्यु संनिहित देखकर वह तत्काल आयास के बिना प्राण को बाहर निकाल देता है। प्राणानुष्ठान से उसे आत्म-ज्ञान होता है और वह अनुभव करता है कि सबमें मेरे आत्मा के समान आत्मा का वास है, तब वह हिंसा और क्रोध से हट जाता है। किसी की त्रुटि के कारण क्रोध आया करता है। प्राणों ने अपनी त्रुटियों का ज्ञान करा दिया है, अब वह अपनी त्रुटियों के निवारण में संलग्न है। उसे अवकाश ही नहीं कि दूसरों के दोष देखे। है तो वह अब भी दोषदर्शी, किन्तु स्वदोषदर्शी; न कि परदोषदर्शी। डर या कँपकँपी पदार्थ-नाश की सम्भावना से होते हैं; जब वह सम्भावना ही न रही, तब डर काहे का ?

ऐसे संयमी का धन कभी नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि प्राणसाधक को अत्यन्त संयम से जीवन बिताना होता है, सभी दुर्व्यसनों से अपने-आपको बचाकर रहना होता है। सबको आत्मसमान जानने से वह सभी से प्रीति की रीति से नीतियुक्त व्यवहार करता है, अतः वह सबका प्रीतिभाजन बन जाता है। ऋ० १।६४।१३ में ठीक ही कहा है—

प्र नू स मर्तः शवसा जनाँ अति तस्थौ व ऊती मरुतो यमावत ।

हे मरुतो=प्राणो ! सचमुच वह मनुष्य बल के कारण जनसाधारण से बढ़कर रहता है जिसकी तुम अपनी प्रीति से रक्षा करते हो।

प्राण में बड़ा बल है। भूमि से कोई भार उठाते समय यदि बीच में श्वास बाहर निकल जाए तो वह भार हाथ से गिर पड़ता है, क्योंकि बल का आधार प्राण बाहर चला गया, अतः बल के इच्छुकों को प्राणसाधन का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

२२. विद्वान् भगवान् के सख्य के लिए संयम करता है

ओ३म् । विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥—ऋ० ८।९८।३

शब्दार्थ—ज्योतिषा प्रकाश से **विभ्राजन्** विशेष चमकता हुआ **दिवः** प्रकाशमय लोकों को **रोचन्** चमकाता हुआ तू **स्वः** आनन्द को **अगच्छः** नित्य प्राप्त है। हे **इन्द्र** सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन्! अज्ञान-निवारक परमेश्वर! **देवाः** निष्काम ज्ञानी **ते** तेरे **सख्याय** सख्य के लिए, मैत्री के लिए **येमिरे** संयम करते हैं।

व्याख्या—सूर्य्य-चन्द्रादि में प्रकाश के साथ अन्धकार भी है किन्तु भगवान् में अन्धकार का लवलेश नहीं। जीव को चाहिए निर्धूम प्रकाश, जीव को चाहिए दुःख से असंपृक्त आनन्द; वह मिल सकता है भगवान् से। भगवान् की आराधना में जब उसे अनुभूति की उत्तरोत्तर भूमियों से परिचय होता है, तब वह स्वयं अपने इष्टदेव से कहता है कि मुझे ज्ञात हो गया है, क्यों साधक तेरी अर्चा, पूजा करते हैं। हमें चाहिए आनन्द; और तू है आनन्दमय, तेरे आनन्द का कारण भी हमें ज्ञात हो गया है, तू सदा ज्योतिः से ज्योतिष्मान् हो रहा है। तू केवल स्वयंप्रकाश ही नहीं है, तू दूसरों को भी प्रकाशित करता है। इसी से तू आनन्दघन है, तेरे इसी आनन्द के कारण विद्वान् संयम करते हैं। मन्त्र का संक्षिप्त भाव यह है कि—

१. भगवान् आनन्दमय है।

२. उसके आनन्द का कारण ज्योतिर्मयता, सर्वज्ञता के साथ सर्वप्रकाशकता तथा सबको ज्ञानदान है।

३. दूसरों को देने के लिए अपने ऊपर संयम करना होता है। भगवान् सबसे बड़ा दाता है, अतः सबसे बड़ा संयमी है। अतएव

४. उसका सख्य प्राप्त करने के लिए संयम करना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य भी है।

ऋग्वेद ३।५१।११ में आदेश है—

सुते नियच्छ तन्वम्=ऐश्वर्य-प्राप्ति के निमित्त शरीर को संयत कर।

वेद और आर्य्यशास्त्र संयम के उपदेशक हैं। उन्हें पूर्ण निश्चय है कि—**भोगे रोगभयम्** भोग में रोग लगा है। रोग पारलौकिक क्रिया तो क्या, लौकिक क्रिया भी नहीं करने देता। संयमी मनुष्य को जो रस मिलता है, उसका शतांश भी विलासी, भोगपरायण को नहीं मिलता।

आश्रम-व्यवस्था संयम की व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य्य-दशा में अस्खलितवीर्य्य होने के लिए मनसा, वाचा, कर्म्मणा भोग से पराङ्मुख रहना होता है; वानप्रस्थ और संन्यास तो हैं ही कठोर संयम के लिए। रह गया जीवन का एक-चौथाई भाग गृहस्थ, उसमें भोग का विधान होते हुए भी संयम का प्रतिबन्ध है।

बल के जितने भी कार्य्य हैं, उन्हें सम्पादन करने के लिए भी संयम की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए मल्लविद्या=पहलवानी को ले लीजिए। क्या कोई असंयमी, दुराचारी, विलासी मनुष्य कभी अच्छा मल्ल=पहलवान बन पाया है? अतः जिसे लोक में सफलता और ब्रह्मानन्द लेना हो, उसे संयमी बनना चाहिए।

२३. कौन मनुष्य धनी ?

ओ३म् । स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवानमर्त्ये य आजुहोति हव्यम् ।
स देवता वसुवनिं दधाति यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति ।—ऋ० ७।१।२३

शब्दार्थ—हे **अग्ने** ज्ञानिन् ! **स्वनीक** उत्तम प्रकाशवान् महात्मन् ! **सः** वह **मर्तः** मनुष्य **रेवान्** धनवान् है **यः** जो **अमर्त्ये** अविनाशी में **हव्यम्** हव्य, भोग्य पदार्थों को **आ+जुहोति** पूर्ण रूप से दे डालता है । **सः** वह **वसुवनिं** धन के कमनीय **देवता** दिव्य गुणों को **दधाति** धारण करता है **यम्** जिसके पास **पृच्छमानः** पूछता हुआ **सूरिः** विद्वान् **अर्थी** अर्थी, याचक होकर **एति** जाता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में ऊँचे दर्जे के दो उत्तम व्यावहारिक तत्त्व बताये गये हैं । पूर्वार्द्ध में धनी का स्वरूप बताया गया है । धन शब्द का भावार्थ है जिससे प्रीति उत्पन्न हो । प्रीति के दर्जे हैं । संसार की सारी प्रीतियाँ, सारे सुख, समस्त आनन्द दुःख से युक्त हैं । इसीलिए तैत्तिरीयोपनिषत् (ब्रह्मानन्दवल्ली ८) में ऋषि ने कहा—

युवा स्यात्साधुयुवाध्यापकः, आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्, स एक मानुष आनन्दः ॥ जवान हो, सच्चरित और युवा विचारों का हो, खूब खाता-पीता हो, दृढ़ शरीर-वाला हो, अत्यन्त बलवान् हो, धन-धान्य से पूर्ण यह सम्पूर्ण पृथिवी उसकी हो । यह एक मानुष आनन्द है ।

मानुष आनन्द की प्रथम कोटि भी किसी को प्राप्त नहीं । जो प्राप्त है, वह निकृष्ट है । और यदि यह कोटि किसी भाँति प्राप्त भी हो जाए, तो इसके स्थिर रहने का कोई प्रमाण नहीं, अतः बुद्धिमान् इस विनाशवान् धन का सदुपयोग भगवान् के मार्ग में करते हैं । इसी भाव को लेकर वेद कहता है—**स मर्त्तो……रेवान्, अमर्त्ये य आ जुहोति हव्यम्** । वह मरणधर्म्मा [मनुष्य] धनी है, जो अमर्त्ये=अविनाशी भगवान् के निमित्त सम्पूर्ण भोग-सामग्री दे डालता है ।

ब्रह्मानन्द लेने के लिए तो यह सब देना होगा । जैसाकि अथर्ववेद में कहा है—

मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।—अ० १९।७१।१

जीवनप्राण, धनधान्य, यशकीर्त्ति, प्रतिष्ठा सभी मुझे दे डालो और तुम ब्रह्मलोक=ब्रह्मानन्द प्राप्त करो । सौदा तो सस्ता है । ये सांसारिक पदार्थ न भी दोगे तब भी ये आपके पास न रहेंगे, आपके पास से चले जाएँगे । कितनी अच्छी बात है कि व्यर्थ जानेवालों को दे डालने से अखुट ब्रह्मानन्द मिलता है । कोई मूर्ख व्यापारी ही इस व्यापार से चूकेगा । यम बड़ा अच्छा व्यापारी था । उसने नचिकेता को समझाया था कि भाई ! इन पदार्थों को पास रखने में हानि का अनुभव करके—

ततो मया नाचिकेतश्चितोग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ।—कठो० २।१०

मैंने नाचिकेत अग्नि जलाई है [और उसमें इन सब विनश्वर पदार्थों का हवन कर डाला है], इससे मैंने अनित्य पदार्थों के द्वारा नित्य तत्त्व को पाया है ।

वैसे भी दान देने से धन नहीं घटता । वेद बहुत सुन्दर शब्दों में कहता है—

उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति ।—ऋ० १०।११७।१

और देनेवाले का तो धन नष्ट होता ही नहीं । वह तो पारमात्मिक बैंक में जमा होकर सूद के कारण बढ़ता ही है । धन की वृद्धि कौन धनिक नहीं चाहता ? भोले ! फिर इस रीति को तू क्यों नहीं अपनाता ?

उत्तरार्ध में कहा—**स देवता वसुवनिं दधाति यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति।** धन के कमनीय गुणों को वही धारण करता है जिसके पास पूछताछ करता हुआ विद्वान् याचक आता है।

विद्वान्—सच्चा विद्वान्—भूखों मर जायेगा किन्तु मदमाते धनपतियों के पास न जाएगा। वह सरस्वती के केतु को, झण्डे को लक्ष्मी के द्वार पर नहीं गिराएगा। किन्तु सचमुच उस धनी को बड़ा सौभाग्यवान् समझना चाहिए, विद्वान् जिसके द्वार पर याचक होकर आये। सचमुच उसमें कोई कमनीय गुण है। संसार का बहुत-सा व्यवहार धन के आश्रय चलता है। धनैषणा से ऊपर उठे हुए विरक्त संन्यासी को भी अन्न-वस्त्र की आवश्यकता होती है। अन्न-वस्त्र स्वयं धन है और धन से साध्य है, अतः धन की प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकता पड़ती है। वेद धन की निन्दा नहीं करता; धनप्राप्ति की निन्दा भी नहीं करता। वेद तो कहता है—

शतहस्त समाहर।—अ० ३।२४।५

सैकड़ों हाथों से कमा।

सहस्रहस्त सं किर।—अ० ३।२४।५

हजारों हाथों से बिखेर दे, दान कर।

ऐसे भाग्यवान् धनी दो प्रकार के होते हैं—एक जानश्रुति पौत्रायण जैसे, जो निस्स्वार्थ भाव से अन्नादि के द्वारा साधु-सन्तों, ब्रह्मवादियों की सेवा करते हैं; दूसरे अजातशत्रु और जनक जैसे, जिन्हें दूर-दूर से जिज्ञासु, ब्रह्मतत्त्व के अभीप्सु पूछते हुए आते हैं। धन का यदि कोई स्पृहणीय, कमनीय गुण है, तो ऐसे धनियों में। शेष तो कोषाध्यक्ष हैं, धनस्वामी=धनी नहीं हैं।

२४. यज्ञकर्त्ता का नाश नहीं

ओ३म् । नू चित्स भ्रेषते जनो न रेषन्मनो यो अस्य घोरमाविवासात् ।
यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत्स राय ऋतेपा ऋतेजाः ॥

—ऋ० ७।२०।६

शब्दार्थ—**नू**+**चित्** क्या कभी **सः** वह **जनः** मनुष्य **भ्रेषते** भ्रष्ट होता है, हानि उठाता है ? **न** नहीं **रेषत्** हिंसित होता, **यः** जो **अस्य** इसके **मनः** मन्तव्य को **घोरम्** कष्टक्लेश सहकर भी **आ**+**विवासात्** पालन करता है । **यः** जो मनुष्य **यज्ञैः** यज्ञों के द्वारा **इन्द्रे** परमात्मा में **दुवांसि** पूजाओं को **दधते** अर्पण करता है, **सः** वह **ऋतपाः** ऋतरक्षक **ऋतेजाः** ऋतपुत्र=धर्म्म-पुत्र **रायः** धनों को **क्षयत्** बसाता है ।

व्याख्या—जब कोई भगवान् के मार्ग पर चलने लगता है, तो संसारी जन उसे डराते हैं. कहते हैं, खाओ, पियो, आनन्द करो । प्रत्यक्ष को छोड़कर क्यों अप्रत्यक्ष=परोक्ष के पीछे भागते हो, क्यों अपनी जवानी का नाश करते हो ? अहो ! भोगविलास, विषयवासना में यौवन नष्ट नहीं होता !

पूर्वार्द्ध का एक अर्थ और भी है—सचमुच वह मनुष्य नष्ट हो जाता है, जो मन को डुलाता हुआ इसके घोर [भयंकर दुःखदायी] विषय-समूह का सेवन करता है। विषय तो विष है; विषैले सर्प हैं । काले से डसा कोई नहीं बचता । विषय में तो धन जाए, मान जाए और छोड़ जाएँ स्वजन । वेद बहुत मार्मिक शब्दों में कहता है—

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ।—ऋ० १०।३४।४

बाप, माँ, भाई कहते हैं, हम इसे नहीं जानते, बेशक इसे बाँधकर ले जाओ ।
सब सम्बन्धी पराये बन जाते हैं, व्यसनी का कोई अपना नहीं बनता ।
वेद कहता है—

ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ।—ऋ० १०।३४।१०

ऋण की कामनावाला डरता है, ऋण की चाह है, डर का मारा रात को दूसरे के घर जाता है ।

व्यसनी घोर व्यसनों में पड़कर सम्पत्ति नष्ट कर बैठता है। अब ऋण लेने लगा है । कुछ दिन तक सुविधा से ऋण मिलता रहता है। ऋण वह वापिस नहीं करता । ऋणदाता तंग करता है, ऋणी डरकर अपने घर नहीं आता । कितनी दुर्दशा है ? इस विपत्ति से बचने के लिए वेद कहता है—

मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।—ऋ० १०।३४।१४

धृष्टता करके, ढिठाई को सामने रखकर घोर आचरण मत करो ।

बुराई के मार्ग में ढीठ लोग ही जाते हैं । व्यसनों से धननाश बताकर धनरक्षा का सच्चा, वास्तविक उपाय भी वेद बताता है—

यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत्स राय ऋतपा ऋतेजाः ।

जो यज्ञों द्वारा भगवान् की सेवा-पूजा करता है, वह ऋतरक्षक=धनरक्षक ऋतेजा=ऋतपुत्र=धर्म्मपुत्र धनों को बसाता है।

धन चंचल हैं । आज एक के पास हैं, कल दूसरे के पास भागते रहना, स्थान बदलते रहना धन का स्वभाव-सा है; किन्तु जो दान में लगाता है, उसके पास यह बस जाता है । जो इसे रखना चाहे, उसके पास रहता नहीं । जो इसे दूर करे, उसके पास भागा आता है। कैसी विचित्रता है !

सागर सूर्य्य को जल देता है। सूर्य्य उसे सभी जगह बरसाता है, किन्तु सभी स्थानों का जल दौड़कर अन्त में सागर में जाता है। जो सागर में नहीं जाता, वह या सड़ांद पैदा करता है या सूख जाता है। यही दशा धनसम्पत्ति की है, दे डालो तो निश्चिन्तता। सँभालकर रखो, चोर-चकार, राजा का भय।

दान को वेद की परिभाषा में यज्ञ कहते हैं। सब धन भगवान् का है। उसी ने सबको दिया है, जो इस तत्त्व को समझकर **'त्वदीयं वस्तु सर्वात्मन् तुभ्यमेव समर्पये'** [तेरी वस्तु प्रभो! तुझे ही अर्पण करता हूँ] की भावना से भगवान् के निमित्त दे डालते हैं, वे सचमुच यज्ञ करते हैं।

यज्ञ में द्रव्य डालते हैं। उससे वृष्टि होती है, वृष्टि से धनधान्य होता है, वह फिर याज्ञिक के पास आता है और हुत द्रव्य से अधिक मात्रा में आता है, अतः धन का सच्चा उपयोग, धन का सच्चा बचाव यज्ञ में है, किन्तु यज्ञ के स्वरूप को समझ लो। ऋ० ७।२१।२ में यज्ञानुष्ठान का फल बताया है, उससे यज्ञ का स्वरूप थोड़ा-सा समझा जा सकता है, अतः उस मन्त्र को यहाँ उद्धृत करते हैं—

प्र यन्ति यज्ञं विपयन्ति बर्हिः सोममादो विदथे दुध्रवाचः।
न्यु भ्रियन्ते यशसो गृभादा दूरउपब्दो वृषणो नृषाचः॥

जो लोग उत्तमता से यज्ञानुष्ठान करते हैं, वे हृदयाकाश में विशेषरूप से पहुँचते हैं, सोमरस से सदा मदमाते रहकर विदथे=शास्त्रसंग्राम में वे धर्षक वाणीवाले होते हैं [अर्थात् उनके आगे सबकी बोलती बन्द हो जाती है], वे सचमुच कीर्त्ति के घर से लाये जाते हैं। उनकी वाणी दूर तक जाती है। वे सुखवर्षक तथा लोकसंग्राहक होते हैं।

यज्ञानुष्ठान करनेवालों की प्रत्यभिज्ञान=पहचान इस मन्त्र में बतायी गई है—१. वे हृदयाकाश में विशेष रूप से पहुँचते हैं अर्थात् वे विवेकी, विचारी तथा धारणा-ध्यान के धनी होते हैं; २. इस कारण वे शान्तिरस से सदा मस्त रहते हैं; योगी से अधिक शान्ति किसको मिल सकती है? ३. और इसी कारण उनकी वाणी में बड़ी शक्ति रहती है, उनकी वाणी से सभी को दबना पड़ता है, मौन होना पड़ता है; ४. और इसी से उनकी महती कीर्ति होती है, मानो वे साक्षात् कीर्तिगृह से लाये जाते हैं; ५. उनकी वाणी दूर तक जाती है अर्थात् उनके उपदेश-आदेश का प्रभाव दूर तक पहुँचता है; ६. वे महाबली होते हैं तथा सबपर सुख की वृष्टि करते हैं; और ७. इन गुणों से नृषाच=जनसाधारण से मिलते-जुलते हैं और सबको अपना सहायक, सहयोगी, सहकारी बना लेते हैं अर्थात् यज्ञ का अर्थ हुआ लोक-संग्रह, लोकविग्रह यज्ञ नहीं हो सकता।

२५. लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः (कर्म्मप्रधान जहान)

ओ३म् । मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्म्मणा भुवत् ॥

—ऋ० ७।३२।१३

शब्दार्थ—अखर्वम् क्षुद्रतारहित **सुधितम्** सुचिन्तित **सुपेशसम्** सुन्दर रूप-रेखावाला **मन्त्रम्** मन्त्र, गुप्त परिभाषित विचार **यज्ञियेषु** यज्ञयोग्य, यज्ञ के अधिकारियों में **आ** पूर्णरूप से **दधात** डालो । **पूर्वीः+चन** पूर्व से प्राप्त **प्रसितयः** बन्धन **तम्** उसको **तरन्ति** लाँघ जाते हैं, छोड़ जाते हैं, **यः** जो **इन्द्रे** परमेश्वर के निमित्त **कर्म्मणा** कर्म्म से **भुवत्** समर्थ होता है ।

व्याख्या—पता है, पाप क्या होता है ? कुकर्म्म क्या होता है ? मनु महाराज ८।८२ कहते हैं—**नानृतात्पातकं परम्**—झूठ से बढ़कर गिरानेवाला [पाप] कोई नहीं है । पातक कहो, पाप कहो, एक बात है । पातक जितने हैं, प्रायः उनमें दूसरों के साथ सम्बन्ध अवश्य होता है । हिंसा, जबतक हिंस्य न हो, नहीं हो सकती । बोलना दूसरे के साथ होता है, मिथ्या=बोलने में भी दूसरे की, श्रोता की आवश्यकता पड़ती है । चोरी पराये माल की होती है । ब्रह्मचर्य-नाश=मैथुन में भी दूसरा चाहिए । दूसरा न हो, तो अभिमान क्या और किसके आगे करें !

पाप के आचार से पहले पाप का विचार होता है । विचार अपने मन में होता है, उसको वाणी से उच्चारकर दूसरों तक पहुँचाते हैं । वेद कहता है—विचार हरएक को न दो किन्तु **'दधात यज्ञियेष्वा'**= जिनमें परोपकार-भावना है, यज्ञ-भावना से जो भावित हैं, ऐसे सदाचारी धर्मात्मा सज्जनों को विचार दो ।

किन्तु वह मन्त्र=विचार अखर्व हो=क्षुद्र न हो । क्षुद्र विचारों से संकीर्णता उत्पन्न होती है, उससे स्वार्थ उत्पन्न होकर समाज-भावना का विनाश होता है । उच्चाशय के भावों से भरपूर विचार ही संसार के लिए कल्याणकारक होते हैं । साथ ही वह सुधित=सुचिन्तित होना चाहिए । ऐसा नहीं कि जो विचार आया, झट से उच्चारण कर दिया । नहीं, उसे सोचिए, उसके अनुकूल-प्रतिकूल सारे पहलुओं पर गम्भीरता से विचार कीजिए । जिसको विचार देने लगो, देख लो कि उसने इसे भली-भाँति धारण कर लिया है, समझ लिया है ? अन्यथा, यह अपनी अधम बुद्धि से हानि करेगा । जब कोई विचार देने लगो, उसकी भाषा ललित हो, उसके समझाने का ढंग मनोहारी हो । उसे इस रूप में जनता के आगे रखो जिससे वह स्वयं आकृष्ट हो । सुन्दरता सभी को प्रिय है । भगवान् भी सत्य और शिव होते हुए सुन्दर हैं । वेद के शब्दों में भगवान् स्वः=सु+अस्=सुन्दर सत्तावान हैं । भगवान् ने इस सृष्टि में कितना सौन्दर्य भर दिया है ! यह जहान कितना रूपवान् बनाया है ! तुम क्यों कुरूप सृष्टि रचो ? तुम्हारी सृष्टि भी सुन्दर होनी चाहिए ।

जब किसी को विचार देने लगते हैं, तब वे कर्म्म हो जाते हैं । कर्म्मों को अनेक ज्ञानी बन्धन का हेतु मानते हैं । कुछ सीमा तक यह बात है भी सत्य । पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि अधम योनियों में पड़े, ज्ञान-प्रकाश से रहित हुए विवशता का जीवन बिता रहे हैं और नाना दुःख पा रहे हैं, यह क्यों ? जब इन्हें कर्म की स्वतन्त्रता थी, तब इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके कुकर्म्म किये, उसका फल यह वर्त्तमान दुर्दशा है । कर्म्म से बन्धन मिला, कर्म्म ही से वह कटेगा, अतः वेद कहता है—

पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्म्मणा भुवत् ।

पहले के बन्धन उसे छोड़ते हैं, जो प्रभु के निमित्त कर्म्म से समर्थ होता है। वासना बन्धन का कारण है, जो सांसारिक वासनाओं से वासित होकर कर्म्म करेगा, वह बन्धन में पड़ेगा, अतः सांसारिक वासनाओं को त्यागो। अब जो कर्म्म करो, प्रभु के निमित्त करो, अर्थात् अपने-आपको भगवान् का हथियार बना लो। अब सब इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, अभिलाषाएँ छोड़ दो; जो प्रभु कराये, वह करो। प्रभु के कराने से कर्म्म होने की एक पहचान है—ऐसा कर्मकर्त्ता हानिलाभ से विचलित नहीं होता, क्योंकि उसे विश्वास होता है कि प्रभु जो करते हैं, भला करते हैं। जाने, प्रतीयमान हानि में कोई गहरा लाभ छिपा हो! वेद जीवनभर कर्म्म करने का ही नहीं, कर्म्म करते हुए जीने की इच्छा का आदेश करता है यथा—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत ँ् समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥—य० ४०।२

इस संसार में मनुष्य आयुभर कर्म्म ही करता हुआ जीने की इच्छा करे। इस भाँति तुझमें कर्म्म लिप्त नहीं होंगे अर्थात् बन्धन का कारण नहीं बनेंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।

यहाँ कुकर्म्म और अकर्म्म का निषेध किया जा रहा है। कर्म्म किये बिना रहना प्राणी के लिए सर्वथा असम्भव है। ऐसी दशा में प्राणी को अपना कर्त्तव्य विचारना चाहिए। उसका विचार करके उस-पर आरूढ़ हो जाए। कर्त्तव्यज्ञान वेद से होगा। वेद भगवान् की वाणी है। वेदानुसार कर्म्म करनेवाला मनुष्य यह सोचे कि मैं प्रभु के आदेश का पालन कर रहा हूँ। ऐसी निष्ठा-भावना से कर्म्म करनेवाला सचमुच भगवान् का करण=उपकरण बन जाता है।

प्रभु-निमित्त कर्म्म को निष्काम कर्म्म भी कहते हैं। अपना आपा भुलाये विना यह लगभग क्या, सर्वथा असम्भव है। अपना आपा भुलाना=आत्मविस्मरण, आत्मसमर्पण के बिना अशक्य है। कर्म्म की महिमा बतलाते हुए भी वेद का संकेत उसी ओर है। कोई है जो इस संकेत को ग्रहण करे! **धन्यः सः, धन्या च तदीया जननी।**

२६. आत्मा और इन्द्रियों का सम्बन्ध

ओ३म् । समीचीनास आसते होतारः सप्तजामयः । पदमेकस्य पिप्रतः ॥

—ऋ० ६।१०।७

शब्दार्थ—सप्तजामयः सात भोग-साधन=सात इन्द्रियाँ **होतारः** दान-आदान करती हुई, लेती-देती हुई **एकस्य** एक=आत्मा के **पदम्** ठिकाने की **पिप्रतः** रक्षा करती हुई **समीचीनासः** ठीक-ठीक **आसते** रह रही हैं।

व्याख्या—आँख, नाक, कान, स्पर्श, जिह्वा, मन तथा बुद्धि अथवा आँख, नाक, कान, स्पर्श, जिह्वा, हाथ और पाँव ये सात जामि भोगसाधन हैं [चमु, छमु, जमु, झमु, अदने=चम्, छम्, जम्, झम्, धातुओं का अर्थ खाना=भोगना है]। इन्द्रियाँ लेती भी हैं और देती भी हैं। आँख रूप का ज्ञान आत्मा को देती है। कान शब्द आत्मा के पास पहुँचाता है। नाक गन्ध का ज्ञान कराती है। जिह्वा रस देती है। स्पर्श सर्दी-गर्मी, सख्ती-नरमी का पता कराती है इत्यादि। अन्न-पानादि से ये अपना-अपना भाग लेती हैं। भोजन न मिले, तो आँख-नाक आदि की तो बात क्या, स्मृति भी नष्ट हो जाती है। दीर्घ उपवास करने से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। इसी से इनको 'होतारः' कहा है। इनका लक्ष्य है—आत्मा के ठिकाने की, या प्राप्तव्य की रक्षा करना।

आत्मा शरीर में रहता है। शरीर भोजन तथा वायु के सहारे रहता है। नाक वायु को अन्दर ले-जाकर शरीर की रक्षा करता है। जिह्वा से भोजन अन्दर ले जाते हैं, नाक उसकी सुगन्ध-दुर्गन्ध का परिचय कराके उसकी हेयता या उपादेयता का बोध कराती है। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ मिलकर उस आत्मा के शरीर की रक्षा-सी करती हैं अर्थात् ये आत्मा के कारण हैं, और कि शरीर के अन्दर उसका अभिमानी आत्मा एक है, इसको '**पदमेकस्य पिप्रतः**' [एक के पद की रक्षा कर रही है] के द्वारा व्यक्त किया है।

यदि ये आत्मा के पद का=शरीर का पालन करें, तो यह **समीचीनासः**=उत्तम गतिवाली हैं, क्योंकि तब ये अपने लक्ष्य की सिद्धि में रत हैं। किसी ने हमारे आगे अत्यन्त उत्तम सुमधुर पक्वान्न आदि रख दिये। हमने स्वाद के लोभ में आकर अधिक खा लिये। परिणाम किसी रोग के रूप में हमारे सामने आता है। अब यह जो स्वाद की लालसा में आवश्यकता से अधिक खाया गया, यह शरीर की रक्षा के लिए नहीं था; इससे शरीर की हानि हुई, अतः इन्द्रियाँ समीचीन न रहीं। इन्द्रियाँ समीचीन=समता की गति से चलेंगी, तब तो शरीर की रक्षा होगी। यदि ये प्रतीचीन=उलटी चाल चलेंगी, तो शरीर को हानि पहुँचाएँगी। इसी प्रकार इन्द्रियों की चाल यदि शरीररक्षा निमित्त है तो इन्द्रियाँ समीचीन हैं, अन्यथा प्रतीचीन हैं।

यज्ञ में कई ऋत्विक् होते हैं। उनमें ऋग्वेद से जो कार्य्य कराता है उसे 'होता' कहते हैं। ऋग्वेद का काम यथार्थ ज्ञान कराना है। इन्द्रियाँ यदि यथार्थ ज्ञान कराती हैं तो ये 'होता' हैं। मन्त्र ने संक्षेप से आत्मा, इन्द्रियों और शरीर का सम्बन्ध बतला दिया है। इन्द्रियाँ आत्मा की करण हैं, शरीर पद=भोग-प्राप्ति का अधिष्ठान है। ये दोनों आत्मा के लिए हैं, आत्मा इनके लिए नहीं।

२७. जीव के लिए सारा संसार

ओ३म् । तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे । तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः ॥

—ऋ० ९।६२।२७

शब्दार्थ—हे **कवे** क्रान्तदर्शनसमर्थ, छिपी वस्तुओं के देखने की शक्तिवाले **सोम** शान्ति के अभिलाषी जीव ! **इमा** यह **भुवना** भुवन, लोक **महिम्ने** महिमा के कारण **तुभ्यम्** तेरे लिए **तस्थिरे** ठहरे और गति करते हैं । **सिन्धवः** नदी, समुद्र, बहनेवाले पदार्थ **तुभ्यम्** तेरे लिए **अर्षन्ति** गति करते हैं ।

व्याख्या—प्रश्न होता है, यह संसार किसके लिए है ? अत्यन्त गहन प्रश्न है । यदि कहो कि जीव के लिए, तो यह बात समझ में नहीं आती । दार्शनिक लोग बताते हैं, साथ में वेद की गवाही भी है कि जीव अत्यन्त छोटा, परमाणु से भी सूक्ष्म है । यह सारा पसारा तुच्छ जीवों के लिए ! हो नहीं सकता ।

तो क्या संसार निष्प्रयोजन है ? क्या कोई कारीगर ऐसा भी है जो कोई ऐसी वस्तु बनाये जिसका उपभोक्ता=बरतनेवाला कोई न हो । बनी वस्तु बनानेवाले का जहाँ पता देती है, वहाँ यह भी बताती है कि इसका उपयोग करनेवाला भी कोई होना चाहिए ।

वेद कहता है—हे जीव ! यह सारा संसार तेरे लिए है । तभी तो आत्मनिरूपण प्रसंग में वेद ने कहा है—

आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ।—ऋ० १०।१७७।३

जीव पुनः-पुनः इन लोकों में आता-जाता है ।

यदि यह जीव के लिए न हो, तो इनमें इसे कौन आने दे ? ये बड़े-बड़े पदार्थ हैं । इनका जीव के लिए होना जीव की बड़ाई का द्योतक है । परिमाण में बड़ाई बड़ाई नहीं । हाथी का डील-डौल बड़ा है किन्तु महावत उसे छोटे-से अंकुश से जिधर चाहता है, चलाता है । वेद में दूसरे स्थान पर बहुत सुन्दर शब्दों में इस भाव को व्यक्त किया है—

इन्द्राय द्याव ओषधीरुतापो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि ।—ऋ० ३।५१।५

जीव के लिए द्यौ लोक है । ओषधियाँ और जल, वन आदि सब मिलकर जीव के लिए धन की रक्षा करती हैं । पृथिवी से लेकर द्यौ पर्य्यन्त जो भी जन्य पदार्थ हैं, सारे जीव के लिए हैं । यदि यह इनका सदुपयोग करेगा, तो ये इसके लिए धन=प्रीतिसाधन हैं; दुरुपयोग से यही निधन=मृत्युसाधन बन जाएँगे । हे जीव ! सारी सृष्टि तेरे लिए है, तू जैसे चाहे प्रयोग कर, किन्तु परिणाम को अवश्य विचार करना ।

२८. मूढामूढभेद

ओ३म् । आ यद्योनिं हिरण्ययमाशुर्ऋतस्य सीदति । जहात्यप्रचेतसः ॥

ओ३म् । अभि वेना अनूषतेयक्षन्ति प्रचेतसः । मज्जन्त्यविचेतसः ॥

—ऋ० ९।६४।२०, २१

शब्दार्थ—आशुः भोक्ता जीव **यत्** जब **ऋतस्य** ऋत की **हिरण्ययम्** हितरमणीय, चमचमाती **योनिम्** योनि में, ठिकाने में **आ+सीदति** आ बैठता है, तब वह **अप्रचेतसः** अज्ञानियों को **जहाति** छोड़ देता है । **वेनाः** बुद्धिमान्, मेधावी, कमनीय महात्मा **अभि+अनूषते** अभिमुख होकर स्तुति करते हैं **प्रचेतसः** ज्ञानी, उत्तम समझदार **इयक्षन्ति** यज्ञ करते हैं, दान करते हैं, सत्संग करते हैं, प्रभुपूजा करते हैं और **अविचेतसः** अज्ञानी, अचेत **मज्जन्ति** डूब मरते हैं ।

व्याख्या—इन दो मन्त्रों में ज्ञानी-अज्ञानी की निशानी बताई गई है । वेद के सीधे-सादे, हृदय तक पहुँचनेवाले शब्द कितनी गम्भीर बात का कैसा सरल विवेचन करते हैं !

ज्ञानी की पहली निशानी यह है कि वह ऋत का, सत्य का, सृष्टिनियम का अनुगामी होता है । सृष्टिनियम के अनुगमन का फल उसे उत्तम अवस्था मिलती है । मूढ लोग सृष्टिनियम को जानते ही नहीं, न उसे जानने का यत्न करते हैं, जतलाने पर उसे ग्रहण करने की चेष्टा भी नहीं करते, अतः वह इनका संग छोड़ देता है ।

बुद्धिमान् की दूसरी पहिचान यह है कि वह भगवान् की स्तुति करता है । ज्ञानी जन सदा यज्ञ करते हैं । लोगों को ज्ञानदान, अन्नादि से तृप्त करते हैं, श्रेष्ठ पुरुषों की सङ्गति करते हैं, प्रभुपूजा करते हैं । ज्ञान का फल भी यही है कि वह भले-बुरे की पहिचान करके भले का ग्रहण और बुरे का त्याग करे । जैसा कि वेद में कहा है—

चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान् ।—ऋ० ४।२।११

विद्वान् ज्ञान और अज्ञान की विशेष पहचान करे अर्थात् पण्डित का कर्त्तव्य है कि उचित-अनुचित का यथायोग्य विवेचन करे । इसके द्वारा वह अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकेगा । मूर्खों में यह गुण नहीं होता, अतः वे '**मज्जन्त्यविचेतसः**' मूढ, अचेत डूब मरते हैं ।

ज्ञानी ही भवसागर से तरते हैं, क्योंकि उन्होंने तारनेवालों से सख्य किया है, तरने के साधनों को सँभाल रखा है । मूर्ख जहाज की पेंदी में छेद कर रहा है । डूबेगा नहीं तो क्या होगा ?

२९. भोग-सामग्री के साथ जीव का शरीर में प्रवेश

ओ३म् । हरिं॑ मृजन्त्यरु॒षो न यु॑ज्यते॒ सं धे॒नुभि॑: क॒लशे॒ सोमो॑ अज्यते ।
उद्वाच॒मीरय॑ति हि॒न्वते॑ म॒ती पु॑रुष्टु॒तस्य॒ कति॑ चि॒त्परि॒प्रिय॑: ॥—ऋ० ९।७२।१

शब्दार्थ—**अरुषः+न** इन्द्रियों की भाँति **हरिम्** हरणशील जीव को **मृजन्ति** शुद्ध करते हैं, वह **कलशे** शरीररूप कलश में **धेनुभिः** धेनु=इन्द्रियों के साथ **युज्यते** युक्त होता है, जोड़ा जाता है, और **सोमः** ऐश्वर्य्य, भोगसामग्री **अज्यते** प्राप्त कराई जाती है । तब वह **वाचम्** वाणी का **उद्+ईरयति** उच्चारण करता है **कति+चित्** कुछ **पुरुष्टुतस्य** अनेकों से स्तूयमान भगवान् का **परिप्रियः** प्यारा होकर **मती** मति से, बुद्धि से, **हिन्वते** चेष्टा करता है ।

व्याख्या—आत्मा को शुद्ध करो, जीव को पवित्र करो, सब ओर से यह ध्वनि आती है, किन्तु कोई नहीं बताता, कैसे पवित्र करें ? वेद संकेत करता है—'**हरिं मृजन्त्यरुषो न**' जैसे इन्द्रियों को शुद्ध किया जाता है, वैसे ही आत्मा को भी शुद्ध करते हैं । इन्द्रियों की शुद्धि संयम से हो सकती है, जैसाकि मनुजी ने कहा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥—मनु० २।८८

जैसे विद्वान्=समझदार स्वकार्य्यकुशल सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे मन और आत्मा को कुमार्ग पर ले-जानेवाली विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के संयम=निग्रह में सब प्रकार से प्रयत्न करे, क्योंकि—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥—मनु० २।९९

जीवात्मा इन्द्रियों के वश में पड़कर निस्सन्देह बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है, और जब उन इन्द्रियों को संयत कर ले तब सिद्धि को प्राप्त करता है । संयम का जबतक ज्ञान न हो, अनुष्ठान नहीं हो सकता, तात्पर्य यह कि आत्मा की शुद्धि के लिए ज्ञान तथा संयम, विद्या तथा तप दोनों की आवश्यकता है, जैसाकि मनुजी ने कहा है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥—मनु० ५।१०९

जल से शरीर के अवयव शुद्ध होते हैं, मन सत्य से शुद्ध होता है, विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि होती है और बुद्धि ज्ञान से—तृण से ब्रह्मपर्य्यन्त के विवेक से शुद्ध होती है ।

इन्द्रियों के प्रसङ्ग से चूंकि आत्मा विषयों में खींचा जा रहा है, अतः वेद ने उसे 'हरि' नाम दिया ।

भोग की अभिलाषा से, अथवा भोग की प्राप्ति की भावना से मनुष्य इन्द्रियों के वश होकर मलिन होता है । वेद कहता है—अरे जीव ! इस कार्य के लिए तू अपने को मलिन न कर, क्योंकि जहाँ तू इन्द्रियों=भोग के साधनों से युक्त करके शरीर में भेजा गया है, वहाँ सोम=भोगसामग्री भी साथ ही भेजी गई है । तात्पर्य्य यह है कि जितना तेरे पूर्वकर्मों से अर्जित भोग है, वह तुझे अवश्य मिलेगा । उसमें न्यूनता या अधिकता नहीं हो सकती, फिर क्यों तू विषयवासना के फेर में पड़कर अपना सत्यानाश करने लगा है ?

विषयवासना अत्यन्त प्रबल होती है, यह आत्मा पर मानो पर्दा डाल देती है, आत्मा को कुछ सुझाई नहीं देता है । विषयवासना के कारण प्रकृति से संग बढ़ता है, भगवान् से दूर होता जाता है ।

जितना प्रकृति से संग बढ़ता है, उतना इसमें ज्ञानप्रकाश क्षीण होने लगता है। किसी विरले के भाग्य जागते हैं और वह कुछ-कुछ उस सर्वथा सर्वदा सर्व से स्तोतव्य भगवान् का ध्यान, संग करता है, उसका प्यार पाने लगता है, तब उसकी मति सुधरती है। बुद्धि विषयवासना से पराङ्मुख होने लगती है, तब उसकी चेष्टाएं विवेकपूर्ण होने लगती हैं। मनुष्य जीवन-यात्रा-निर्वाह के लिए, अपेक्षित भोगसामग्री की प्राप्ति के लिए ही पाप में प्रवृत्त होता है; यदि यह दृढ़ निश्चय हो जाए कि भोग अवश्य प्राप्त होगा, तो मनुष्य पाप से हट जाएगा।

इस निश्चय का साधन सर्वव्यापक सर्वज्ञ भगवान् को कर्म्मफल-प्रदाता जानने-मानने से हो सकता है। भगवान् को इस रूप में मानने से मनुष्य छिपकर कर्म्म करने की चेष्टा नहीं कर सकता; उसे भगवान् के सर्वत्र विद्यमान होने का ज्ञान है। ज्ञानवान् यदि सर्वत्र विद्यमान है तो उसका ज्ञान भी सर्वत्र अर्थात् सर्व पदार्थों के विषय में अवश्य होता है अर्थात् किस कर्म्म का परिणाम=फल क्या हो, इसका उसे पूरा ज्ञान है। इसके कर्म्मफल-ज्ञान की सफलता कर्म्मफल-प्रदान में है अर्थात् भगवान् सर्वव्यापक-सर्वज्ञ होता हुआ याथातथ्यरूप से कर्म्मफल विधान करता है। इस निश्चय के दृढ़, अविचल होते ही मनुष्य की पापवासनाएँ जल जाती हैं, किन्तु मनुष्य का नैसर्गिक अज्ञान उसे पुनः पाप-गर्त में गिराने की सामग्री प्रस्तुत कर देता है। इससे बचने का उपाय सर्वज्ञाननिधान भगवान् का ध्यान है। जैसा कि मनुजी ने कहा है—**ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्।**

३०. ध्यानियों को महान् प्रकाश मिलता है

ओ३म् । उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥—ऋ० ७।९०।४

शब्दार्थ—उच्छन्नुषसः प्रकाश का विस्तार करनेवाले **सुदिनाः** उत्तम दिनोंवाले **अरिप्राः** निर्दोष **दीध्यानाः** निरन्तर ध्यान करनेवाले मनुष्य **उरु** विशाल **ज्योतिः** प्रकाश को **विविदुः** प्राप्त करते हैं । **उशिजः** कमनीय कामनाओंवाले **गव्यम्** इन्द्रिय-सम्बन्धी **ऊर्वम्** विशाल बल को **चित्** भी **वि+वव्रुः** विशेष रूप से वरण करते हैं **तेषाम्** उनके **प्रदिवः+अनु** ज्ञान प्रकाश के अनुकूल **आपः** जल **सस्रुः** बहने लगते हैं ।

व्याख्या—सब विषयों का आकर होते हुए भी वेद मुख्यतया ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करता है । ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

सर्वेषां वेदानां मुख्यं तात्पर्यं ब्रह्मण्येवास्ति । क्वचित्साक्षात्क्वचिच्च परम्परया, न कस्मिंश्चिदपि मन्त्रे ईश्वरार्थत्यागो अस्ति ।

अर्थात्—सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म में ही है, कहीं साक्षात्, कहीं परम्परा से, किसी भी मन्त्र में ईश्वर-अर्थ का त्याग नहीं है । भाव यह है कि कोई मन्त्र यदि ऐसा प्रतीत हो जिसमें परमात्मा से अतिरिक्त का वर्णन हो, वहाँ भी परमात्मा का अधिष्ठाता-रूप से या स्रष्टा आदि के रूप में वर्णन समझना चाहिए । वैसे वेद ब्रह्मविद्या का ही मुख्य-रूप से वर्णन करता है । जीव, प्रकृति, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान कराके प्रकृतिपाश से छुड़ाकर ब्रह्मसाक्षात् कराना ब्रह्मविद्या का काम है । ज्ञान का प्रधान साधन ध्यान है, उस ध्यान का बयान इस मन्त्र में है—

उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः=निरन्तर ध्यान करनेवाले विशाल प्रकाश को प्राप्त करते हैं । ध्यान का एक सामान्य अर्थ है विचार करना । प्रत्येक पदार्थ के गुण-दोषों का विवेचन विचार है । अमुक पदार्थ उपादेय=ग्रहण करण करने योग्य और अमुक हेय=त्यागने योग्य है, इस प्रकार के विवेक को विचार कहते हैं । इस प्रकार से हेय-उपादेय का विवेक करके हेय को त्यागकर उपादेय को ग्रहण करके आत्मसात् करने का नाम ध्यान है अर्थात् ऐसी अवस्था जिसमें ध्येय वस्तु पर चिरकाल तक अटूट विचारधारा निर्बाध रूप से बनी रहे, उसको ध्यान कहते हैं । इस ध्यान का फल विशाल प्रकाश बतलाया है । अनुभवी जन इसका समर्थन करते हैं । ध्यानियों की थोड़ी-सी पहचान बताई है—वे **सुदिन** होते हैं । उनकी दिनचर्य्या बड़ी सधी हुई, नियमित होती है । वे **अरिप्र** होते हैं । साधारणतया दस प्रकार के पाप होते हैं । जैसा कि वात्स्यायन मुनिजी ने न्यायभाष्य में लिखा है—

"शरीरेण प्रवर्त्तमानः हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुषसूचनासंबद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति, सेयं प्रवृत्तिरधर्म्माय ।—न्यायभाष्य १।१।२

शरीर से प्रवृत्त होता हुआ मनुष्य हिंसा, चोरी और निषिद्ध मैथुन करता है, वाणी से मिथ्या, कठोर वचन, चुगली और असम्बद्ध प्रलाप करता है, मन से दूसरों से द्रोह, दूसरों के धन हरण करने की इच्छा और नास्तिकता । यह प्रवृत्ति अधर्म्म का, पाप का हेतु होती है ।

ध्यानीजन इन पापों से रहित होते हैं । इस बात को अगले मन्त्र के पूर्वार्द्ध में बहुत स्पष्ट करके कहा है—

तेन सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति ।—ऋ० ७।९०।५

वे सच्चे मन से ध्यान करते हुए, अपने सच्चे ज्ञानकर्म्म से युक्त हुए निर्वाह करते हैं अर्थात् उनके ज्ञान, कर्म्म तथा मन में कोई खोट नहीं होता।

ध्यान का साधन भी बतला दिया कि वह मन से किया जाता है। उनके शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक व्यवहार में किसी प्रकार का असत्य नहीं होता, अतः उनके निष्पाप होने में सन्देह किसे हो सकता है ?

'स्वेन युक्तासः ऋतुना वहन्ति' में एक और संकेत भी है कि उनका कर्म्म अर्थात् आहार-व्यवहार युक्तियुक्त होता है। ध्यानी कर्म्महीन नहीं होते, वरन् वे **'स्वेन युक्तासः ऋतुना वहन्ति'**=अपने कर्म्म से युक्त हुए निर्वाह करते हैं। उन्हें ज्ञात है कि **'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** कोई भी एक क्षण कर्म्म किये बिना नहीं रह सकता, अतः वे अपने कर्त्तव्य कर्म्म से सदा युक्त रहते हैं। ध्यानियों के अरिप्र होने का हेतु भी इस मन्त्र में बता दिया गया है, यतः **'उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः**=ध्यान करते हुए वे विशाल प्रकाश को प्राप्त करते हैं। रिप्र=दोष=पाप अन्धकार में होता है। प्रकाश में अन्धे या असावधान को ठोकर लग सकती है, नेत्रवाले तथा सावधान को ठोकर का लगना सम्भव नहीं। ध्यानियों का ध्यानानुष्ठान उनकी सावधानता की सूचना देता है, अतः, प्रकाश प्राप्त कर वे पाप से निरवकाश हो जाते हैं। परिच्छिन्न जीव का स्वभाव है गति करना, इस नैसर्गिक नियम को जानकर वे ध्यानी भी गति करने में विवश हैं, अतः वे ध्यान से प्राप्त ज्योति के प्रसार के लिए यत्न करते हैं। ज्ञान-ज्योति प्रसार करने से उनका ज्ञानालोक उत्तरोत्तर बढ़ता है, और इस प्रकार उनके रिप्रों का संहार होता है। योग के द्वारा वे अपनी इन्द्रियशक्ति बढ़ा लेते हैं। उनके तप के प्रभाव के अध्यात्म जल की शान्त धाराएँ बहने लगती हैं, और वे उनके रहे-सहे दोषों को भी बहा ले जाती हैं। ऋग्वेद (१०।९।८) में इस अध्यात्मजल की महिमा ऐसी ही कही है—

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥

हे जलो ! यह बहा ले जाओ, जो कुछ मुझमें दुरित=दुरवस्था=दुर्गति=बुराई है, अथवा जो मैंने किसी से द्रोह किया है, या गाली दी है, अथवा झूठ बोला है।

नदी-नालेवाले जल में यह बल कहाँ ? वह तो **'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति'** शरीर की शुद्धि कर सकता है। आओ, इस जल में जी भरकर नहाओ।

३१. तू ही माँ तू ही पिता

ओ३म् । अ॒ग्निं म॑न्ये पि॒तर॑म॒ग्निमा॒पिम॒ग्निं भ्रात॑रं स॒दमित्सखा॑यम् ।
अ॒ग्नेरनी॑कं बृह॒तः स॑पर्यं दि॒वि शु॒क्रं य॑ज॒तं सूर्य्य॑स्य ।।—ऋ० १०।७।३

शब्दार्थ—मैं **अग्निम्** सर्वाग्रणी, सबकी उन्नति करनेवाले, सबसे पूर्व विद्यमान भगवान् को **पितरम्** पिता **मन्ये** मानता हूँ । **आपिम्** आप्त, सम्बन्धी, माँ भी **अग्निम्** अग्नि को मानता हूँ । **भ्रातरम्** भाई भी **अग्निम्** अग्नि को और **सदम्+इत्** सदा ही **सखायम्** सखा, मित्र रहनेवाला भी अग्नि=सबको आगे ले जानेवाले भगवान् को मानता हूँ । उस **बृहतः** महान् **अग्नेः** अग्नि=परमात्माग्नि का **अनीकम्** जीवनदायी तेज **सपर्यम्** पूजा के योग्य है तथा **दिवि** मस्तिष्क में वह **सूर्य्यस्य** आत्मारूप सूर्य्य का **शुक्रम्** शोधक बल एवं **यजतम्** संगत करने योग्य है ।

व्याख्या—संसार में बन्धु-बान्धव प्रिय लगते हैं । दिन में सैकड़ों-हजारों मनुष्य हमारी आँखों के सामने से गुजरते हैं किन्तु हम किसी को बुलाने का प्रयास नहीं करते । यदि कोई बन्धु सामने से निकलने लगे, हम उसे बुलाने का प्रयत्न करते हैं । उससे हमें विशेष आत्मीयता प्रतीत होती है । इसी प्रकार बन्धुओं में भी माता, पिता, भ्राता आदि निकटवर्ती अधिक प्रीतिपात्र होते हैं ।

यह सब ठीक, किन्तु एक दिन आता है, माता का संग छूट जाता है । समय आता है, पिता काल के कराल गाल में विलीन हो जाता है । भाई का संग भी सदा साथ नहीं रहता । अभिन्न कहा जानेवाला मित्र भी एक दिन साथ छोड़ जाता है, किन्तु परमात्मा तो किसी अवस्था में भी नहीं छोड़ता । परमात्मा उनकी पालना करता है जिनके लौकिक माता-पिता नहीं हैं, अतः जिसने संसार की असारता और सम्बन्धों को बन्धन समझा है, वह कहता है—**अग्निं मन्ये पितरम्······सखायम् ।**

भगवान् में एक ऐसा गुण है, जो और किसी में नहीं । भगवान् सभी प्राणियों को आगे बढ़ाते हैं, आगे बढ़ने की सामग्री देते हैं, अतः वही सच्चा बन्धु और सखा है । औपनिषद् ऋषि ने इसी वेदमन्त्र को सामने रखकर कहा—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।।

तू ही माता है, पिता भी तू ही है, तू ही भाई, तू ही सखा (सहायक) है । तू ही ज्ञान तथा तू ही धन है । हे देवों के देव ! मेरे लिए सभी कुछ तू ही है ।

मनुष्य यदि सारे सम्बन्ध भगवान् से स्थापित कर सके, तो उसे फिर कुछ प्राप्त करने को न रहे । भगवान् महान् है; उसका तेज=अनीक भी महान् है । वह भर्ग है, पापनाशक है, अतः पूजनीय है । उसके तेज को अन्यत्र मत देखो, अपने शरीर के द्युलोक में—मस्तिष्क में देखो । वह तुम्हारे सभी मलों को, विकारों को दूर कर रहा है । वह तुममें मिला हुआ है, तुममें संगत है ।

अरे जिसे तू जगत् के कोने-कोने में ढूँढता फिरता था, वह तेरे अपने अन्दर निकल आया । अब इसे अपना । सारे सम्बन्ध इसी से लगा । वास्तव में सच्चा सम्बन्धी है भी यही ।

३२. शरीर-याग

**ओ३म् । स्वयं यंजस्व दिवि देव देवान् किं ते पाकः कृणवदप्रचेताः ।
यथायंज ऋतुभिर्देव देवानेवा यंजस्व तन्वं सुजात ॥**—ऋ० १०।७।६

शब्दार्थ—हे **देव** कमनीय ! अथवा कामनाक्रान्त जीव ! तू **स्वयम्** अपने-आप **दिवि** मस्तिष्क में विद्यमान **देवान्** देवों को, इन्द्रियों को, दिव्य भावों को **यजस्व** मिल, प्रेर, संगत कर। **अप्रचेताः** मूढ, अचेत **पाकः** परिपक्व, पवित्र **ते** तेरा **किं** क्या **कृणवत्** कर सकता है । **यथा** जैसे तू **ऋतुभिः** ऋतुओं के अनुसार **देवान्** देवों को **अयजः** संगत करता है **एवा** ऐसे ही, हे **सुजातदेव** सुकुल ! कुलीन ! उत्तम ! देव **तन्वं** शरीर को **यजस्व** संगत कर !

व्याख्या—इस मन्त्र में कई धारणीय तत्त्व हैं—

(१) देव=इन्द्रियाँ द्युलोक=मस्तिष्क में रहती हैं । यह शरीर ब्रह्माण्ड का एक संक्षिप्त सार Epitome है । ब्रह्माण्ड में त्रिलोकी है—द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी । द्यौ में सूर्य्य, चन्द्र, तारे आदि प्रकाश-पिण्ड रहते हैं । अन्तरिक्ष में वायु आदि हैं । पृथिवी सबका आयतन है । शरीर में मस्तिष्क=शिरोभाग द्यौ है । आत्मा को बाहर के पदार्थों का ज्ञान पहुँचानेवाले आँख, नाक, कान, रसना, स्पर्श इन्द्रिय-देव यहीं रहते हैं । शरीर का मध्य भाग अन्तरिक्ष है । अधो भाग पृथिवी है ।

(२) इनसे तुझे स्वयं संगत होना होगा, किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करनी होगी । मेरी आँख से मैं ही देखूँगा, दूसरा कोई भी मेरी आँख द्वारा नहीं देख सकता । मेरे कान से मैं ही सुन सकता हूँ, महाश्रवणशक्तिसम्पन्न होता हुआ भी दूसरा नहीं । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की दशा समझ लेनी चाहिए। जैसे इनसे मैं ही कार्य्य ले सकता हूँ, ऐसे ही इनके द्वारा प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख का भागी तथा भोगी भी मैं ही बनूँगा ।

(३) अप्रचेताः=मूढ़ अज्ञानी किसी का कुछ सँवार नहीं सकता । पवित्रता के साथ ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है ।

(४) ऋतु-ऋतु में उस-उस ऋतु के अनुसार यज्ञ करने चाहिएँ । गोपथब्राह्मण में ऐसे यज्ञों को भैषज्य यज्ञ कहा गया है ! इनसे अपना-पराया स्वास्थ्य बिगड़ने नहीं पाता ।

(५) जैसे देवयज्ञ करना आवश्यक है, वैसे शरीर-याग [यजस्व तन्वम्] भी आवश्यक है ।

वेद सभी मनुष्यों के लिए है, किन्तु आज तो 'यजस्व तन्वम्' उपदेश भारतीयों के लिए अत्यन्त उपादेय है । वेद शरीर की उपेक्षा का उपदेश नहीं करता । यज्ञ वैदिक धर्म्म का प्राण है । यहाँ शरीर-याग करने का विधान है, अर्थात् शरीर निन्दनीय नहीं है । यजुर्वेद में कहा है—

इयं ते यज्ञिया तनूः ।—यजु० ४।१३

यह तेरा तन यज्ञ करने योग्य है, पूजनीय परमात्मा से मिलाने का साधन है । कौन मूढ़ ऐसे अमूल्य रत्न को सँभालकर न रखेगा ?

भवसागर पार करने को यह शरीर नौका है । नौका को बिगाड़ दोगे, उसमें छिद्र करोगे तो आप ही डूबोगे, लक्ष्य पर न पहुँचोगे, इसी संसार-सागर में गोते खाते रहोगे, अतः तरणि को सुरक्षित रखो, इसी से वेद कहता है—**यजस्व तन्वम्** । जैसा कि ऊपर यजुर्वेद के प्रमाण से बताया जा चुका है कि यह मानव तन पूजनीय परमात्मा से मिलने का साधन है । इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि शरीर का वेद की दृष्टि में कितना महत्त्व है । परमात्मा से मिलने-मिलाने की बात छोड़ भी दी जाए, तो

भी मानव-शरीर का महत्त्व न्यून नहीं होता। वाचाशक्ति और किस शरीर में है? सांसारिक जीवन की सुख-सुविधा इसी देह पर अवलम्बित है। रुग्ण देहवाला मनुष्य अपने परिवार को भी भार प्रतीत होता है, अपनी क्रिया भली-भाँति नहीं कर सकता, इस हेतु अथर्ववेद में कहा गया है—**'स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज'** अपने देह में अनमीवा—रोगरहित विराजमान हो, अर्थात् आहार-विहार ऐसा रखो, जिससे किसी प्रकार का रोग शरीर पर आक्रमण न करे। शरीर पर रोग अपथ्य, मिथ्याहार-विहार, अशुद्ध उपचार से आते हैं। यदि खान-पान, शयन-आसन आदि में नियमितता एवं संयम रखा जाए तो रोग होने का हेतु नहीं। इसपर भी यदि शरीर रुग्ण हो जाए, तो समझ लीजिए, पूर्वजन्म की असावधानता का परिणाम है। इसे समझने का फल यह होना चाहिए कि मनुष्य अधिक सावधान हो जाए। पूर्वजन्म की बात से अगले जन्म का विचार करे। पूर्वजन्म के विचार, आचार, व्यवहार के आधार पर हमारा वर्त्तमान देह बना है। इसी भाँति इस जन्म के आहार, व्यवहार, विहार के अनुसार उत्पन्न संस्कार भावी जन्म के हेतु बनेंगे।

यहाँ एक बात और विस्मरण नहीं करनी चाहिए कि विचारों का शरीर पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, अतः शरीरयाग के लिए विचारों की पवित्रता नितान्त प्रयोजनीय है। शरीर हृष्ट-पुष्ट है, किन्तु विचार अपवित्र हैं तो शरीरयाग नहीं हुआ; इसका संकेत—**किं ते पाकः कृणवदप्रचेताः'** में है। मनन कीजिए। आत्मा को सम्बोधन करते हुए 'देव' तथा 'सुजात' शब्द कहे गये हैं। ये दोनों विशेषण महत्त्व के हैं। 'देव' दिव्य भावोंवाले को कहते हैं, अर्थात् हे जीव! तेरी नैसर्गिक प्रकृति तो देवत्व है, अज्ञान से तू असुर भावों में फँस जाता है, अतः अपना स्वरूप पहचान। निस्सन्देह नेत्र आदि महादेव तेरे साथी हैं, किन्तु अप्रचेता=जड़, अतः तेरा कुछ नहीं सँवार सकते। तू उनसे ऊपर उठ और अपने ऊपर भरोसा करके देवयज्ञ कर, शरीरयाग कर, यज्ञ हो और देवयज्ञ हो, तभी कल्याण होगा।

३३. ध्यानी बुद्धि से कर्म्म को पवित्र करते हैं

ओ३म् । जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः ।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम् ॥

—ऋ० ३।८।५

शब्दार्थ—**जातः** शरीरधारी **अह्नाम्** दिनों को **सुदिनत्वे** सुदिन करने के निमित्त **जायते** उत्पन्न होता है, वह **समर्ये** जीवन-संग्राम के निमित्त तथा **विदथे** लक्ष्य-प्राप्ति के निमित्त **आ** सब प्रकार से **वर्धमानः** बढ़ता है । **धीराः** ध्यानी जन **मनीषा** बुद्धि से **अपसः** कर्म्मों को **पुनन्ति** पवित्र करते हैं और **विप्रः** मेधावी ब्राह्मण **देवया** दिव्य कामना से **वाचम्** वाणी को **उत्+इर्यत्ति** उच्चारण करता है ।

व्याख्या—पूर्वार्द्ध में मनुष्य-जीवन का प्रयोजन सुन्दर काव्य-भाषा में वर्णित किया गया है। मनुष्य का जन्म दिनों को सुदिन बनाने, सँवारने के लिए होता है। पशु-आदि योनि में भगवान् के आराधन-साधन न थे, अतः जन्म सफल न कर सका, दिनों को सुदिन न बना सका, वे वैसे ही चले गये । अब उत्तम मानव-तन मिला, जहाँ जीव को उन्नति के सभी साधन प्राप्त हैं। अब भी यह यत्न न करे, तब कब करेगा ?

यह जीवन ऐसा-वैसा नहीं है। यह समर्य=संग्राम है । बहुतों को इकट्ठा होकर लड़ना पड़ता है। बिना युद्ध के जीवन सुजीवन, दिन सुदिन नहीं होंगे । दुर्योधन ने झूठ नहीं कहा था—**सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव,** युद्ध के बिना सूई के अग्रभाग समान भूमि भी न दूँगा । जो आलसी बनकर जीवन-सुख लेना चाहते हैं, वे धोखे में हैं ।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ।—ऋग्वेद

परिश्रम के बिना दैवी शक्तियाँ भी मित्र नहीं बनतीं ।

नैव श्रमो न विश्रमः—थकान नहीं, अतः विश्राम नहीं । परिश्रम नहीं, आराम नहीं ।

इसी भाव को लेकर कहा—**समर्य आ विदथे वर्धमानः** । उत्पत्तिमात्र से कुछ नहीं होता, जबतक पुरुषार्थ, अध्यवसाय, यत्न न किया जाए, जीवन चल ही नहीं सकता, सुजीवन—सुदिन तो दूर की बात है । चेष्टा में, यत्न में जीवन है, वृद्धि है । देखिए जो बच्चा निश्चेष्ट पड़ा रहता है, उसकी बाढ़ रुक जाती है, वह अपाहिज हो जाता है । स्वस्थ बच्चा पड़ा-पड़ा भी हाथ-पैर हिलाता रहता है। यही हाथ-पैर आदि का हिलाना-चलाना उसकी वृद्धि का कारण होता है । इसीलिए यहाँ विदथ=प्राप्ति से समर्य=संग्राम का ग्रहण किया ।

बढ़ने का प्रयोजन है लड़ना, पुरुषार्थ करना, Struggle तथा प्राप्ति । यदि प्राप्ति कुछ नहीं, और केवल लड़ते ही रहे, सारा जीवन संग्राम में बीत गया, तो व्यर्थ गया, अतः अन्धे होकर नहीं लड़ना चाहिए । लड़ना लड़ने के लिए नहीं है । लड़ना साधन है, साध्य नहीं, अतः वेद कहता है—

पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा—बुद्धिमान् मननशक्ति से, विचारशक्ति से कर्म्मों को पवित्र करते हैं । ज्ञान बड़ा शोधक है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।—गीता ४।३७—ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्म्मों को भस्म कर देता है अर्थात् कर्म्मों के दोषों को ज्ञान दूर करता है, अतः वेद में कहा है—

साधन्नृतेन धियं दधामि ।।—ऋ० ७।३४।८

मैं ऋतयुक्त साधना करता हुआ ऋतयुक्त बुद्धि को धारण करता हूँ अर्थात् कर्म्म के साथ बुद्धि

को, ज्ञान को भी धारण करता हूँ। ज्ञानयुक्त कर्म्म करनेवाले विद्वान् को विप्र कहते हैं, ऐसा विप्र व्यर्थ नहीं बोलता। जब वह बोलता है सारयुक्त वचन बोलता है, अतः वेद कहता है—**'देवया विप्र उदियर्त्ति वाचम्'** विप्र देवविषयक वाणी बोलता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में आता है कि यज्ञ में मानुषी वाणी न बोले, वैष्णवी या दैवी वाणी बोले। इसके दो तात्पर्य हैं, एक तो यह कि यज्ञ में दैवी परमात्मा की वेदवाणी का प्रयोग करे। दूसरा यह कि वह दैवी वाणी = दिव्य भावयुक्त वाणी बोले, न कि आसुरी वाणी।

मनुष्य-जीवन की सफलता देव बनने में है। देव बने बिना दैवी वाणी कैसे बोल सकेगा ? देव बनने का साधन है ऋतानुसार अनुष्ठान। वह अनुष्ठान अनृत-त्याग के बिना सर्वथा असम्भव है। यज्ञ करने के लिए तत्पर यजमान दीक्षा लेते हुए कहता है—

'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।'—य० १।५

मैं अनृत का त्याग करके सत्य ग्रहण करता हूँ। ऋत का एक अर्थ यज्ञ है। यजमान प्रतिज्ञा करता है कि मैं यज्ञ-विरोधी भावों का त्याग करता हूँ। ब्राह्मणग्रन्थों तथा वेदों में यह बात अनेक बार कही गई है कि देव यज्ञ करते हैं।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि—पर शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि इसका अनुष्ठान करनेवाला **'मनुष्येभ्यो देवानुपैति'** = मनुष्यों से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त करता है। वहीं यह भी लिखा है—

'सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः।

देव सत्य-स्वरूप होते हैं, मनुष्य अनृत अर्थात् मनुष्य अनेक बार ऋतविरोधी कर्म करता है किन्तु देवों के आचरण में अनृत = असत्य का लवलेश भी नहीं होता। उनका जीवन—व्यवहार सत्य से ओत-प्रोत रहता है। मानव-जीवन का लक्ष्य देव-जीवन है। उनके लिए अनृतत्यागपूर्वक सत्यग्रहण, सत्यधारण, अनिवार्य है। उसके बिना देवत्व सम्भव नहीं है।

३४. तुझे जागरूक जगाते हैं

ओ३म् । तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम् ॥—ऋ० ३।१०।९

शब्दार्थ—**तम्** उस **त्वा** तुझ **हव्यवाहम्** हव्यों=भोग्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले **सहोवृधम्** बल बढ़ानेवाले **अमर्त्यम्** अविनाशी को **विपन्यवः** स्तुति-व्यवहार में कुशल **जागृवांसः** जागरणशील, जागरूक **विप्राः** मेधावी विद्वान् **सम्+इन्धते** भली प्रकार प्रकाशित कर सकते हैं, जगा सकते हैं।

व्याख्या—भगवान् को पा तो शायद सभी सकते हैं, किन्तु दूसरे के हृदय में भगवद्भक्ति की भावना सभी नहीं जगा सकते। आचार्य्य-परीक्षा या शास्त्री-परीक्षा तो अनेक उत्तीर्ण कर जाते हैं, किन्तु वे सभी अध्यापन का कार्य, पढ़ाने का काम कर सकते हैं, इसे कोई भी नहीं मानता।

भगवान् की भक्ति क्यों करें? जबतक इसका समाधान न किया जाए, क्यों कोई भक्ति की भावना की उद्भावना करे? संसार में मनुष्य को सबसे अधिक चिन्ता उदरदरी की पूर्ति की रहती है। शरीर-पोषण की भावना प्राणिमात्र में एक-समान प्रबल है। यत्न करने पर भी बहुधा अभिलषित पदार्थ नहीं मिला करते! क्यों? अरे! इन पदार्थों का स्वामी कोई और है, वही सबकी व्यवस्था करता है। जिसे जिस योग्य समझता है, उसे वह देता है, न अधिक न न्यून। वेद उसे **हव्यवाह** कह रहा है। भोग्य पदार्थों का नाम हव्य है, उनका प्राप्त करानेवाला भगवान् ही है।

कई लोग कहा करते हैं—'हमने कर्म्म किया, उसने फल दिया, इसमें उसका क्या उपकार? यह तो कोरा व्यापार है।' ऐसे अज्ञानी जन मर्म तक नहीं पहुँचे। ऐसों से कहो, वह न दे कर्म्मफल, तुम क्या कर लोगे? उसका कर्म्मफल देना बड़ी कृपा है, महान् उपकार है। अरे भाई! देता ही है न कुछ, तुमसे लेता तो नहीं? व्यापार तो तब होता, जब तुम कुछ देते। तुम्हारे पास है ही क्या? जो कुछ है सभी उसी का दिया है। पराये धन के धनी! धन्य हो!!

भोगप्राप्ति के लिए मनुष्य को उद्योग करना पड़ता है, इसके लिए बल चाहिए, इसीलिए कहा—बल के मूल को बढ़ानेवाला **'सहोवृध'** भी वही है। **य आत्मदा बलदा**—य० २५।१३ जो आत्मानुभूति का दाता है, जो बल का दाता है।

अथर्ववेद में प्रार्थना है—

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ।
सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ।
बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥—२।१७।१-३

प्रभो! मैं सच कहता हूँ, तू ओज है, मुझे ओज दे; तू सह=सहनशक्ति=बल का मूल है, मुझे बल दे, यह मैं हृदय से कहता हूँ। मेरी दृढ़ धारणा है, बलाधार तू ही है, मुझे बल दे।

भोग और भोगसाधन=बल के भण्डार को यदि न चिताएँगे, तो क्या कर पाएँगे?

किन्तु संसार तो सोता है। सोते ने किसी को कभी जगाया है? उस जोत को जागरित ही जगा सकते हैं—**'जागृवांसः समिन्धते'** जागरूक ही जगाते हैं।

वेद और उपनिषद् ने कहा—

दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिः ।—ऋ० ३।२९।२

उत्तिष्ठत जागृत ।—कठ० १।३।१४

जागनेवाले ही प्रतिदिन उसकी पूजा करते हैं । विप्र की पहचान ही यह है कि वह जागता रहता है । जैसा कि गीता [२।६९] में भी कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

जिसमें सभी प्राणी सोते हैं, संयमी उसमें जागता है । जिसमें सब प्राणी जाग रहे हैं, ज्ञानी मुनि के लिए वह रात है । साधारण जन भोग-भावना से ऊपर नहीं उठ पाते । उनका सारा जीवन खान, पान, पहरान का सामान जुटाने में जाता है । ज्ञानी जानता है कि जिसने यह शरीर दिया है, वह इसकी रक्षा का सामान भी देगा । मैं तो उसे पाऊँ, जो दूसरी योनियों में दुर्लभ है । नचिकेता के आगे जब भोग-सामग्री प्रस्तुत की गई और उसे प्रलोभन दिया गया कि इसे तू ले ले, किन्तु आत्मतत्त्व की बात न पूछ, तब उसने मार्मिक शब्दों में अतीव सुन्दर उत्तर दिया । उसने कहा था—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ।।—कठो० १।१।२६, २७

जो कुछ तुम मुझे देना चाहते हो यह आज है कल नहीं । फिर यह सम्पूर्ण इन्द्रिय-शक्ति को क्षीण कर देता है । आचन्द्र-दिवाकर भी जीवन मिल जाए, तो भी थोड़ा है । नाच-गान का सामान अपने पास रखिए । धन से किसी की तृप्ति नहीं होती, यदि आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया, तो धन भी प्राप्त कर लेंगे । जबतक भोग है जिएँगे । मुझे वर तो वही लेना है ।

जागरणशील होने के साथ **'विपन्यु'**=स्तुति-व्यवहार में कुशल=समझा सकने में कुशल भी हो, तभी दूसरे को समझा सकेगा ।

३५. भगवान् का ज्ञान तारक

ओ३म् । अग्निर्धिया स चेतति केतुर्यज्ञस्य पूर्व्यः ।
अर्थं ह्यस्य तरणि ॥—ऋ० ३।११।३

शब्दार्थ—**अग्निः** सबकी उन्नति करनेवाला **सः** वह भगवान् **धिया** ध्यान से **चेतति** चिताया जाता है, वह **यज्ञस्य** संसार-यज्ञ का **पूर्व्यः** पूर्व से विद्यमान **केतुः** केतु है, **अस्य** इसकी **अर्थम्** प्राप्ति, ज्ञान **हि** सचमुच **तरणि** तारक है।

व्याख्या—लोग पूछते हैं, भगवान् कैसा है ? हम पूछते हैं, मिठास क्या है ? समझा-समझाकर संसार हार गया, मिठास का सार न बता सका। अन्त में थककर कहा, ये लो, यह मिठासवाला पदार्थ है, इसे खाओ, जो स्वाद लगे, वह मिठास है। भौतिक मिठास को भौतिक वाणी न कह सकी और न कभी कह सकेगी। तुम अभौतिक ब्रह्म की बात पूछते हो, उसे भौतिक वाणी, जो भौतिक पदार्थों के वर्णन में असमर्थ सिद्ध हो चुकी है, कैसे बखान करे ? वाणी का व्यापार बन्द करो, वह वाणी से ज्ञेय नहीं है—**'अग्निर्धिया स चेतति'** वह अगुआ भगवान् ध्यान से चिताया जाता है। ध्यान क्या है ? **ध्यानं निर्विषयं मनः**।—(सांख्य द० ६।२५) मन की वह दशा, जब उसमें आँख, नाक आदि इन्द्रियों से प्रतीत होनेवाले विषय हों ही न, वह ध्यान है। आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ मूँद दो, इनका व्यवहार रोक दो, मन को भी खाली कर दो, तब उस हृदयगुहा में रहनेवाले अधूम अग्नि के दर्शन होंगे।

मन का खाली करना कठिन है। इसे खाली किये बिना उसका चिताना कठिन है। संसार और भगवान् का एक-साथ ध्यान नहीं किया जा सकता। मन निर्बल है, दुर्बल है। उसमें एक-साथ दोनों को धारण करने का सामर्थ्य नहीं है। आपकी इच्छा है, उससे भगवान् का ध्यान करो। आपकी इच्छा है, उससे संसार का व्यवहार-व्यापार कराओ। यह एक समय में एक ही कार्य करेगा। ज्ञानी-जन उसी का ध्यान करते हैं क्योंकि उन्हें निश्चय है कि **'अर्थं ह्यस्य तरणि'** इसकी प्राप्ति तारक है। यम ने इसी भाव को लेकर कहा था—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥—कठो० १।३।२

जो ब्रह्म यज्ञ करनेवालों के लिए पुल है, जो अविनाशी ब्रह्म सबसे उत्कृष्ट है, संसार-सागर को पार करने के अभिलाषियों के लिए जो भयरहित पार करने का साधन है, उस नाचिकेत=सर्वसंशयनाशक ब्रह्मज्ञान का हम सम्पादन कर सकें।

इसी कारण औपनिषद् ऋषि उस ब्रह्म के जानने पर अधिक बल देते थे। मुण्डक ऋषि ने कह ही तो दिया—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथामृतस्यैष सेतुः ॥—मुण्डक० २।२।५

उसी एक परमात्मा को जानो, अन्य सब बातें छोड़ दो, क्योंकि वही अमृत का सेतु है। आओ, उसका ध्यान लगाओ, और पार हो जाओ।

३६. पूर्ववर्त्ती श्रेष्ठ का अनुसरण

ओ३म् । यस्त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः ।
तस्यानु धर्म्म प्र यजा चिकित्वोऽथा नो धा अध्वरं देववीतौ ॥

—ऋ० ३।१७।५

शब्दार्थ—हे **अग्ने** ज्ञानिन् ! **यः** जो **होता** होता **त्वत्** तुझसे **पूर्वः** पूर्व और **यजीयान्** अधिक याज्ञिक है **च** और **द्विता** दो प्रकार से **सत्ता** स्थितिवाला **च** और **स्वधया** अपनी शक्ति से, स्वभाव से **शम्भुः** कल्याणस्वरूप है, हे **चिकित्वः** समझदार ! **तस्य** उसके **अनु** अनुसार **धर्म्म** धर्म्म का, कर्त्तव्य का **प्र+यज** उत्तम रीति से पालन कर **अथ** और **नः** हमारे **अध्वरम्** यज्ञ को, हिंसारहित व्यवहार को, मार्गप्रदर्शन कार्य्य को **देववीतौ** देवकामना के निमित्त **धाः** धारण कर।

व्याख्या—आज संसार में बुद्धिवाद का शोर है। सभी कहते हैं हम अपनी बुद्धि के पीछे चलते हैं। कहते तो सभी ठीक हैं, किन्तु उसमें थोड़ा-सा विचारने की आवश्यकता है। बुद्धि बालक में भी होती है। उसे अनुकरण करना पड़ता है, माता, पिता, भ्राता, स्वसा आदि का। जैसे वे चलते हैं, वैसे वह चलने का यत्न करता है। जैसा वे बोलते हैं, वैसा वह भी बोलता है। बुद्धि का प्रयोग वह भी करता है, क्योंकि बुद्धि के बिना अनुकरण सम्भव ही नहीं। कहावत है, नकल के लिए भी अक़्ल चाहिए। एक महाविद्वान् को ले लो। बड़ा ज्ञानी है, तत्त्वदर्शन, भौतिक विज्ञान, रसायन, गणित आदि का महापण्डित है। क्या उसे यह सब-कुछ अनुकरण किये बिना आ गया है ? अरे ! उसके पास बहुत-कुछ दूसरों का है, अपना थोड़ा है। सार यह कि संसार में अनुकरण करना पड़ता है। वेद अनुकरण की एक शर्त बताता है—**'यस्त्वद्धोता पूर्वो यजीयान्'** जो होता तुझसे पूर्व और अधिक याज्ञिक हो, उसका अनुकरण करो।

जिसका अनुकरण करेंगे, उसके समकालीन होने पर उसका अनुकर्त्तव्य कर्म तो हमसे पूर्व विद्यमान है और साथ ही वह हमसे अधिक गुणवान् है। कोई मनुष्य अपने समान गुण-कर्मवाले का अनुकरण नहीं करता। जिसका अनुकरण करने लगे हो, वह अधिक याज्ञिक हो। यज्ञ परोपकार कर्म्म को कहते हैं। ऐसा मनुष्य स्वभाव से शम्भु=कल्याणस्वरूप होना चाहिए। अन्यथा उसका परोपकार प्रहार का रूप धारण कर लेगा। गुरुकुल से शिष्य को विसृष्ट (विदा) करते समय गुरु कहा करते थे—

अथ यदि ते कर्म्मविचित्सा वा वृत्तविचित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः ॥

—तैत्तिरीयो० १।११

यदि तुझे कभी अपने किसी कार्य्य की युक्तता में सन्देह हो जाए अथवा आचार के औचित्य में संशय हो जाए तो देख, वहाँ जो कोई सबको एक-समान-देखनेवाले, धर्म्मयुक्त, पापरहित, मधुर-स्वभाववाले, धर्म्माभिलाषी, ब्रह्मनिष्ठ मनुष्य हों, जैसा वे करें, वैसा तू करना।

अनुकरणीय पुरुषों के गुण संक्षेप में बड़े सुन्दर रूप से सुझा दिये हैं। प्रकृत मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या यही है—लोभी, लालची, कठोर स्वभाव, अधार्मिक, भेद बुद्धिवाला अनुकरण के योग्य नहीं है। इस मन्त्र के अन्त में यज्ञ का उद्देश्य भी थोड़े-से शब्दों में कहा है—**'अथा नो धा अध्वरं देववीतौ'** और हमारा अध्वर दिव्य कामनाओं के निमित्त धारण कर। सर्वथा कामनारहित होना असम्भव है, जैसाकि मनु महाराज कहते हैं—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमो कर्मयोगश्च वैदिकः ॥—मनु० २।२

कामनाओं से आक्रान्त रहना अच्छा नहीं है और न ही इस संसार में कामनारहित होना सम्भव है, क्योंकि वेदाध्ययन तथा वैदिक कर्मयोग कामना करने की वस्तु हैं। यज्ञ कर्मयोग है, वैदिक है, अतः यह कामना का विषय है, किन्तु यह किस कामना को लक्ष्य करके किया जाए? वेद स्वयं इसका उत्तर देता है—**'अथा नो धा अध्वरं देववीतौ'** हमारे अध्वर को दिव्यकामना के निमित्त, अथवा देव=भगवान् की कामना के निमित्त धारण करो। भगवान् की कामना तब होती है, जब संसार की सब कामनाएँ मिट जाएँ, जैसा मुण्डक ऋषि ने कहा है—

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः।
कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥—मुण्ड० ३।२।१, २

जो लौकिक कामनाओं को त्यागकर परमपुरुष की उपासना करते हैं, वे ध्यानी इस संसार से तर जाते हैं। जो लौकिक कामनाओं को ही सब-कुछ मानता हुआ कामनाएँ करता रहता है, उन कामनाओं के कारण उसका बार-बार जन्म होता है। जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो चुकी हैं, वह कृतार्थ है, सफल है, उसकी सभी कामनाएँ इसी जन्म में मिट जाती हैं। बार-बार जन्मना, मातृगर्भ की अन्धेर कुटिया में कैद होना, नाना क्लेश सहना!!! कामना छोड़, संसार से मुख मोड़, जगत् से नेह-नाता तोड़, भगवान् से सम्बन्ध जोड़, फिर ये सब बन्धन कट जाएँगे।

३७. वैश्वानर अग्नि का चयन मन से

ओ३म् । वैश्वानरं मनसाग्निं निचाय्या हविष्मन्तो अनुषत्यं स्वर्विदम् ।
सुदानुं देवं रथिरं वसूयवो गीर्भी रण्वं कुशिकासो हवामहे ॥

—ऋ० ३।२६।१

शब्दार्थ—हम **कुशिकासः** ब्रह्मनिष्ठ लोग **हविष्मन्तः** श्रद्धाभक्तिरूप हवि से सम्पन्न होकर **अनु+सत्यम्** सत्यानुकूल **स्वर्विदम्** आनन्द-प्रकाश प्राप्त करानेवाले **वैश्वानरम्** सब मनुष्यों के हितकारी **अग्निम्** अग्नि का **मनसा** मन से **निचाय्य** चयन करके, संग्रह करके, स्थापना करके, धारण करके, **सुदानुम्** उत्तम दानी **रथिरम्** आत्मा को आनन्द देनेवाले **रण्वम्** रमणीय **देवम्** भगवान् को **वसूयवः** धनाभिलाषी होकर **गीर्भिः** वाणियों से **हवामहे** चाहते हैं, बुलाते हैं ।

व्याख्या—परमात्मा का एक नाम वसु है। वसु का यद्यपि एक अर्थ धन भी है, परन्तु मूल अर्थ है, बसने की सामग्री । भगवान् ही तो जीव को बसने की सामग्री देता है, अतः सबसे बड़ा और वास्तविक वसु वही है । जिन्हें वसु भगवान् की कामना है, वे हैं वसूयुः । केवल किसी वस्तु की कामनामात्र से वह वस्तु नहीं मिल जाती, किन्तु उसके लिए श्रद्धा, उत्साह तथा साधन भी चाहिएँ। वेद की परिभाषा में इन सबको हवि कहते हैं अर्थात् वसूयु होने के साथ हविष्मान् भी होना चाहिए।

भगवान् सुदानु हैं, सबसे उत्तम दानी हैं, अतः धन वहीं से मिलेगा । उसे पुकारना चाहिए । वाणी से पुकार सकते हो; किन्तु वाणी के साथ मन का मेल भी चाहिए । इसीलिए वेद कहता है—**वैश्वानरं मनसाग्निं निचाय्य**—वैश्वानर अग्नि को मन से धारण करके ।

वैश्वानर ध्यान से ही प्राप्त होता है, इसको बहुत सुन्दर शब्दों में मुण्डक ऋषि ने समझाया है—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥
एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः ।—३।१।७, ८, ९

वह महान्, दिव्य, अचिन्त्यरूप, सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म, चमक रहा है । वह दूर से भी सुदूर है, वैसे यहीं पास में है । देखनेवालों की तो इसी हृदय-गुफा में छिप रहा है । आँख, वाणी से उसका बोध नहीं होता, न ही दूसरी इन्द्रियों से, न ही तप अथवा कर्म्म से । ज्ञान की विशुद्धि से विमलबुद्धि होकर ध्यान करनेवाला उस कलारहित=अखण्ड को देख पाता है । यह सूक्ष्म आत्मा चित्त=चिन्तन से जानने योग्य है । भगवान् को कर्म्म और ज्ञान भी प्राप्त नहीं करा सकते, दूसरे साधनों का तो कहना ही क्या है । कर्म्म-ज्ञान के साथ जब ध्यान आ मिलता है तब प्रभु के दर्शन सुलभ हो जाते हैं । आँख आदि इन्द्रियाँ दूरस्थ पदार्थ के देखने आदि में सहायक हो सकती हैं किन्तु परमात्मा तो **'इहैव निहितं गुहायाम्'** हृदय-गुफा में छिपा है । हृदय में पड़ी वस्तु को हृदय से, मन से देखना होगा, अतः वेद ने कहा—**मनसाग्निं निचाय्य** और उपनिषत् ने भी **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'**=यह आत्मा चित्त से, मन से जाना जा सकता है । उपनिषत् का **'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः'** इतना स्पष्ट नहीं है, जितना वेद का **'अनुषत्यम्=**

अनुसत्यम्' है। सत्यस्वरूप को सत्यानुसार ही विचारना, धारना चाहिए अर्थात् जीवन में सत्य का प्रधान स्थान हो।

इस मन्त्र में एक विशेष बात कही है, साधकों को उसका विशेष मनन करना चाहिए। वह यह है कि भगवान् का ध्यान आवश्यक है। ध्यान में वाग्-व्यापार नहीं होता; ध्यान हृदय से, मन से किया जाता है, जैसा कि वेद (ऋ० ३।२६।८) में कहा है—**हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्**=हृदय से मनन, ध्यान करके तदनुकूल ज्योति=आत्मपरमात्मप्रकाश को उत्तमता से जान पाता है।

वेद कहता है, ध्यानातिरिक्त समय में वाणी से भी भगवान् का स्मरण, कीर्तन करो, तभी तो कहा—**गीर्भी रण्वं कुशिकासो हवामहे**=हम ब्रह्मनिष्ठ लोग उस रमणीय को वाणियों से भी चाहते हैं। भाव यह कि मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् की आराधना करनी चाहिए, क्योंकि वह है—**रथिर-रथी**=रथवाले आत्मा को रमण करानेवाला। संसार के अन्य पदार्थ इन्द्रियों को, शरीर को सुख दे सकते हैं, आत्मा को आनन्द इस सुदानु=महादानी वैश्वानर से मिल सकता है। इसीलिए [ऋग्वेद ३।२६।२] में कहा—

तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे वैश्वानरं मातरिश्वानमुक्थ्यम्।
बृहस्पतिं मनुषो देवतातये विप्रं श्रोतारमतिथिं रघुष्यदम्॥

उस पवित्र, सर्वनेता, सर्वत्र विराजमान, अत्यन्त प्रशंसनीय, महाज्ञानी, सबकी सुननेवाले, निरन्तर सर्वज्ञ, शीघ्र करुणा से आर्द्र होनेवाले महाभगवान् का, अपने रक्षण तथा देव-प्राप्ति के निमित्त, आह्वान करते हैं। संसार के पदार्थों की परीक्षा कर ली, एक-एक को चखकर आत्मा कह उठता है—**नात्र भोग्यमस्ति**=इसमें आत्मा के भोग योग्य कुछ नहीं है। विश्व के सब पदार्थ निरख-परख लिये, आत्मा की भूख नहीं मिटी, उसे जो चाहिए, वह उसे नहीं मिला। उसके कारण वह व्याकुल हो उठा है। अपनी इस दिशा में वह अपने-आपको अरक्षित अनुभव करता है। भौतिक पदार्थ उसे अपहरणकर्त्ता के रूप में प्रतीत होने लगे हैं तब उसे सुनाई दिया—**'तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे'** हम उस वैश्वानर, पवित्र अग्निदेव को अपनी रक्षा के लिए बुलाते हैं, चाहते हैं। इतना ही नहीं, उसे सुनाई देता है—**बृहस्पतिं मनुषो देवतातये'** महान् भगवान् को मनुष्य के देव-प्राप्ति या देवत्व-प्राप्ति के लिए पुकारते हैं। मार्ग मिला। वह श्रोता है, साथ ही रघुष्यद=शीघ्र पिघलनेवाला=आशुतोष है। आओ, उसे रिझाएँ, पिघलाएँ।

३८. हृदय से ज्योति को जानना

ओ३म् । त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन् ।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्य्यपश्यत् ॥

—ऋ० ३।२६।८

शब्दार्थ—हृदा हृदय से **मतिम्** ज्ञान तथा **ज्योतिः** प्रकाश को **अनु+प्रजानन्** अनुकूलता से, उत्तमतापूर्वक जानता हुआ **त्रिभिः** तीन **पवित्रैः** पवित्रकारकों से **हि** ही **अर्कम्** अर्चनीय आत्मा को **अपुपोत्** निरन्तर पवित्र करता है । **स्वधाभिः** अपनी शक्तियों से **वर्षिष्ठम्** सबसे उत्तम, श्रेष्ठ, बहुमूल्य **रत्नम्** रत्न **अकृत** बनाता है **आत्** इसके पश्चात् **इत्** ही **द्यावापृथिवी** द्यावापृथिवी को, संसार को **पर्यपश्यत्** तिरस्कार से देखता है ।

व्याख्या—आत्मा को पवित्र करने का यत्न कर्म्म है । कर्म्म से पूर्व ज्ञान आवश्यक है । ज्ञान हृदय में मिलता है—**हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्**—हृदय से ज्ञान और ज्योति को जानता है । ज्ञान के बाद कर्म्म करता है, साधनों के द्वारा आत्मज्योति का ज्ञान उसे होता है । तब वह आत्मशोधन में लगता है—**'त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कम्'** तीन पवित्रकारकों के द्वारा ही आत्मा को निरन्तर पवित्र करता है । वे तीन पवित्रकारक कठोपनिषत् में संकेतित हुए हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यम् विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥—१।१।१७

जिसने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया है, जो तीन के साथ सन्धि कर चुका है, जो तीन कर्म्म करता है, वह जन्म-मृत्यु=आवागमन को पार कर जाता है । संसारोत्पादक पूजनीय देव को जानकर और धारण करके इस परम शान्ति को पाता है ।

योगाभ्यास का नाम नाचिकेताग्नि है, उसी से सारे संशय नाश होते हैं । ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों में—जीवन के तीन स्थलों में जिसने योगाभ्यास किया है । माता, पिता तथा आचार्य्य इन तीन से जिसने सन्धि की है अर्थात् इनसे ज्ञान प्राप्त किया है, अथवा परमात्मा, स्वात्मा तथा मन से जिसने सन्धि की है, जिसने इन तीन को स्वायत्त कर लिया है और जो यज्ञ, दान और तप—तीन कर्म्मों को करता है [उपनिषद् में कहा है—**त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञस्तपो दानम्**=धर्म के तीन तने हैं, यज्ञ, तप और दान ।] वह मनुष्य संसार के चक्कर से बाहर हो जाता है । इस त्रयी के द्वारा वह जगदुत्पादक परमात्मा को जान लेता है और उसे धारण कर लेता है, वह शान्त हो जाता है । शान्ति के धाम को प्राप्त करके भी शान्ति न मिलेगी क्या ? तीन कर्म्मों से अभिप्राय श्रवण, मनन, निदिध्यासन भी हो सकता है । आत्म-शोधन के कारण वह एक रत्न=ब्रह्म-प्राप्तिरूप रत्न को बना लेता है । जिस प्रकार हीरों का स्वामी मिट्टी-पत्थर को तुच्छता की दृष्टि से देखता है, ऐसे ही जिसने ब्रह्मानन्दरूप रत्न को प्राप्त कर लिया वह संसार को हेय समझता है; उत्तरार्द्ध में यही बात कही गई है—**वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावा-पृथिवी पर्यपश्यत्** । किन्तु रत्न ऐसे नहीं बन जाता । रत्न अपने पुरुषार्थ=स्वधा से बनता है । एक स्वधा नहीं, अनेक स्वधाएँ लगानी पड़ती हैं अर्थात् जी-जान से, प्राणपण से इस रत्न को बनाने में लगना पड़ता है । रत्न हाथ आते ही उसे संसार तुच्छ दीखने लगता है । प्रभो ! रत्न-निर्माण का सामर्थ्य दे ।

३९. परमेश्वर सबका अधिष्ठाता है

ओ३म् । आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामाऽऽविश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥

—ऋ० ३।३८।४

शब्दार्थ—**आ+तिष्ठन्तम्** सब ओर रहनेवाले भगवान् को **विश्वे** सभी **परि** सब प्रकार से **आभूषन्** शोभित करते हैं । वह **स्वरोचिः** स्वप्रकाश **श्रियः** शोभाओं को **वसानः** धारण करता हुआ **चरति** संसार को चलाता है । उस **वृष्णः** सुखवर्षक **असुरस्य** प्राणाधार भगवान् का **तत्** वह **महत्** महान् **नाम** यश है कि वह **विश्वरूपः** सर्वस्रष्टा **अमृतानि** अमृतों का, जीवों का, प्रकृति का **तस्थौ** अधिष्ठाता है ।

व्याख्या—भगवान् स्थित है, गतिरहित है, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं, वरन् सर्वत्र उपस्थित है । सूर्य्य-चन्द्र आदि देवों की कान्ति और आभा देखने योग्य है । ये सारे आभावान् पदार्थ भगवान् की शोभा बढ़ा रहे हैं, मानो उसकी महिमा गा रहे हैं । कहीं किसी को भ्रम न हो जाए कि यह सूर्य्य-चन्द्र आदि से प्रकाशित होता है, इस भ्रम का वारण करने के लिए कहा कि वह **'स्वरोचिः'** स्वप्रकाश है । किसी दूसरे से प्रकाशित नहीं होता । स्वप्रकाश होने के कारण तथा इन सबका मूल प्रकाश होने के कारण सारी शोभाओं को वह धारे हुए है अर्थात् संसार में जहाँ कहीं शोभा, कान्ति, तेज, उत्कर्ष है—वह वास्तव में परमेश्वर का है । जब सभी प्रकार का उत्कर्ष परमेश्वर का है, तो आनन्द, सुख भी उसी का है, इसलिए यहाँ और वेद में अन्यत्र अनेक स्थलों पर उसे 'वृषा'=सुखवर्षक कहा है । जीवनोपयोगी सारी सामग्री का स्वामी वह है, अतः असुर=असु+र=प्राणदाता=जीवनदाता भी वही है ।

संसार में जितने रूप हैं, इनका निरूपण करने, चित्रित करनेवाला वही है, अतः वह विश्वरूप है । जीव के लिए तथा जीव-प्रकृति के संयोग से वह संसार बनाता है, अतः वह इनका अधिष्ठाता भी है । महात्मा श्वेताश्वतर ने मानो इस मन्त्र के एक अंश को हृदय में रखकर कहा—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्य्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥४॥
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्याँश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणाँश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥५॥—श्वेता० ५

जिस प्रकार सूर्य्य ऊपर, नीचे, तिरछी सभी दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ चमकता है, इसी भाँति वह सर्वश्रेष्ठ भगवान् परमेश्वर अकेला ही कारण तथा स्वभावों का अधिष्ठाता है । जो विश्वयोनि= विश्वरूप स्वभाव का परिपाक करता है, और पकने योग्य सभी पदार्थ-धर्म्मों का यथायोग्य विनियोग करता है, वह अकेला ही इन सबका अधिष्ठाता है ।

ऋषि ने वेदमन्त्र का आशय समझाने के लिए सूर्य्य का दृष्टान्त दिया है । सूर्य्य पृथिवी आदि ग्रहों, चन्द्र आदि उपग्रहों को प्रकाशित करता हुआ स्वयं चमकता रहता है । इसी प्रकार परमदेव परमेश्वर—**'श्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः'**—सब शोभाओं को धारण करता हुआ स्वप्रकाश है ।

सूर्य्य एक स्थान पर रहता हुआ सभी सूर्य्यादि स्वमण्डलान्तर्गत ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रादि प्रकाशाप्रकाश-पुंजों को अपने आकर्षण-विकर्षण-सामर्थ्य से नियन्त्रण में रखता है, अतः उसका प्रभाव अतीव विस्तृत होता हुआ भी संकुचित है, ससीम है । इस ब्रह्माण्ड में ऋग्वेद ९।११४।३ के शब्दों में—**सप्त दिशो**

नाना सूर्य्याः—इन सात दिशाओं में अनेक सूर्य्य हैं। प्रत्येक सूर्य्य का प्रभाव परिमित ही रहेगा, किन्तु अनन्त सूर्य्यों को प्रकाशित करनेवाले भगवान् की महिमा का क्या कहना! सूर्य्य का प्रभाव अनित्य पदार्थों पर है, किन्तु भगवान्—**'विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ'** विश्वरूप सभी अमृतों=अविनाशी जीवों तथा प्रकृति का अधिष्ठाता है अर्थात् उनका यथायोग्य विनियोग करने में समर्थ है।

कई मीमांसकों का मत है कि प्रत्येक वेदवाक्य में विधि या निषेध अवश्य होना चाहिए। इस सिद्धान्त को लेकर वे प्रत्येक वेदमन्त्र के साथ योग्यतानुसार 'ऐसा करो' या 'ऐसा मत करो' लगा देते हैं। कदाचित् इसी भाव से श्वेताश्वतर महर्षि ने इसका भाव बताते हुए दूसरे स्थान पर कहा है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥—४।११॥

जो प्रत्येक कारण तथा स्थान पर अकेला ही अधिकार रखता है, जिसमें यह सब संयुक्त-वियुक्त होता रहता है, मनुष्य उस उत्तम दाता पूज्य ईश्वर देव को धारण करके इस शान्ति को पूरी तरह पाता है अर्थात् भगवान् को धारण करना चाहिए।

४०. अन्धकार छोड़कर प्रकाश की कामना करो

ओ३म् । ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके ।
इमा गिरः सोमपाः सोमवृद्ध जुषस्वेन्द्र पुरुतमस्य कारोः ॥

—ऋ० ३।३९।७

शब्दार्थ—विजानन् विज्ञानी मनुष्य **तमसः** अन्धकार से हटकर **ज्योतिः** प्रकाश को **वृणीत** वरण करे, पसन्द करे । हम **दुरितात्** दुर्गति से **अभीके+आरे** अत्यन्त दूर **स्याम** होवें । हे **सोमपाः** सोमरक्षक **सोमवृद्ध** सोम के कारण वृद्ध **इन्द्र** इन्द्र ! योगात्मन् ! **पुरुतमस्य** सर्वश्रेष्ठ **कारोः** स्तोता=पदार्थ-ज्ञानकारक की **इमाः** इन **गिरः** वचनों को, वेदवचनों को **जुषस्व** प्रीतिपूर्वक सेवन कर ।

व्याख्या— अन्धकार मृत्यु है, प्रकाश जीवन है, अतः वेद ने आदेश किया—**ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्**=विज्ञानी मनुष्य अन्धकार से (अन्धकार छोड़कर) प्रकाश को चुने । अन्धकार और प्रकाश का भेद जिसे ज्ञात होगा, वही अन्धकार त्यागकर प्रकाश को पकड़ेगा । इसीलिए **'विजानन्'** शब्द का प्रयोग किया है । वेद में प्रकाश की कामना अनेक स्थानों पर की गई है । सन्ध्या के उपस्थान मन्त्र में आता है—**उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्**=हम अन्धकार को छोड़कर श्रेष्ठ प्रकाश को देखें । प्रकृत मन्त्र से अगले मन्त्र में ही कहा गया है—**ज्योतिर्यज्ञाय रोदसी अनु ष्यात्**=दोनों लोकों में यज्ञ के लिए प्रकाश व्याप्त हो । प्रकाश का प्रयोजन है यज्ञ । एक-दूसरे का हितसाधन यज्ञ है, उससे परमकल्याण मिलता है । प्रकाश के ज्ञान का फल दूसरे चरण में बतलाया है—**आरे स्याम दुरितादभीके**=दुरित से, दुर्गति से हम बहुत दूर हों अर्थात् ज्ञानप्रकाश का फल यह होना चाहिए कि हमें भले-बुरे का विवेक हो । बुरे कर्म्म का फल दुरित=दुर्+इत=दुर्गति होती है, यह ज्ञान होना चाहिए ।

सारा-का-सारा वेद मनुष्य को दुरित से हटने की प्रेरणा है, अतः भगवान् ने आदेश किया—**इमा-गिरः···कारोः**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानदाता के इन वचनों का प्रीतिपूर्वक सेवन कर अर्थात् वेदानुसार आचरण कर ।

इन्द्र=जीव को इस मन्त्र में **'सोमपाः'** कहा है । सोमपाः का अर्थ है, सोमपान करनेवाला, तथा सोम की रक्षा करनेवाला अर्थात् भोग्य पदार्थों की रक्षा भी जीव का कर्तव्य है । जीव सोमवृद्ध है, सोम से बढ़ता है । सोम का अर्थ सोमलता ही नहीं । सोम ब्रह्मानन्द रस को भी कहते हैं, जैसाकि वेद में कहा है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिषन्त्योषधिम् । सोमं यं ब्राह्मणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥

—ऋ० १०।८५।३

जब ओषधि (सोमलता) को पीसते हैं, तब सोमपान किया जाना समझा जाता है, किन्तु जिस सोम को ब्रह्मवेत्ता लोग जानते और प्राप्त करते हैं, उसको कोई नहीं खाता-पीता । सचमुच ब्राह्मणों के सोम का अब्राह्मण उपभोग कर ही नहीं सकते । ब्रह्मवेत्ता का सोम ब्रह्मानन्द ही है । इसका पान करना ही इसकी रक्षा करना है, क्योंकि यह पान करने से, दान करने से बढ़ता है, घटता नहीं जैसा कि ऋग्वेद १०।८५।५ ने स्वयं कहा है—**यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः**—हे दिव्य गुणयुक्त ! जब तेरा पान किया जाता है, तब तू फिर बढ़ जाता है । ब्रह्मानन्द रस का जब-जब पान किया जाए, बढ़ेगा ही । दूसरों को इसका दान करो, बढ़ेगा ही । सोमपान=ब्रह्मानन्द-रसपान से ज्ञान-प्रकाश बढ़ता है—

सना ज्योतिः सना स्वर्विश्वा च सोम सौभगा । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥—ऋ० ९।४।२

हे सोम ! हम तुझसे सदा ज्योतिः, सदा आनन्द और समस्त सौभाग्य माँगते हैं । इन्हें देकर तू हमें पूजनीय कर दे ।

४१. मधुमती वाणी

ओ३म्। या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा अग्ने देवेषूच्यत उरूची ।
तयेह विश्वाँ अवसे यजत्राना सादय पायया चा मधूनि ॥—ऋ० ३।५७।५

शब्दार्थ—हे **अग्ने** पुरोहित ! नेतः ! **या** जो **ते** तेरी **मधुमती** मीठी **सुमेधाः** उत्तम मेधायुक्त अर्थात् सुबुद्धिपूर्वक **उरूची** विशाल अर्थों का ज्ञान करानेवाली **जिह्वा** वाणी **देवेषु** देवों में, विद्वानों में, **उच्यते** कही जाती है, प्रसिद्ध है **तया** उसके द्वारा **अवसे** प्रीति के लिए, प्रयोजन-सिद्धि के लिए **विश्वान्** सब **यजत्रान्** याज्ञिकों को **इह** यहां **आ+सादय** ला बिठा और **मधूनि** मधुर पदार्थ **पायय** पिला।

व्याख्या—बहुत-से लोग एक विशेष समुदाय के साथ मधुरता का व्यवहार करते हैं। वेद संकेत कर रहा है कि भाई ! तू सबके साथ मीठी वाणी बोल। ऋषि ने इसी का अनुसरण करते हुए कहा है—'सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।' अथर्ववेद १६।२।२ में कहा है—**मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम्**—हे प्रजाओ ! तुम मिठासयुक्त होओ, मैं मिठासयुक्त वाणी बोलूँ अर्थात् जो चाहता है कि लोग उसके साथ मीठा व्यवहार करें, उसे दूसरों के साथ स्वयं मधुर व्यवहार करना चाहिए। भगवान् ने उपदेश किया है कि सृष्टि के सारे पदार्थ मधुरता का व्यवहार कर रहे हैं, तू भी मधुरता का व्यवहार कर। देखिए, कितने मधुरमान्=मधुर हैं ये मन्त्र !

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥—ऋ० १।९०।६

सृष्टि-नियम की अनुकूलता से चलनेवाले के लिए वायु मिठास लाती है, नदियाँ मिठास बहाती हैं; ओषधियाँ हमारे लिए मीठी हों।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥—ऋ० १।९०।७

रात मीठी है, प्रभात मीठे हैं, पृथिवी की धूलि या पृथिवीलोक भी मीठा है; पिता द्यौ भी हमारे लिए मधुर हो।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥—ऋ० १।९०।८

वनस्पति हमारे लिए मीठी हो, सूर्य्य भी हमारे लिए मधुमान् हो। हमारी गौवें माध्वी=मिठासवाली होवें। यह सब मिठास ऋतानुसारी के लिए है। ऋत कहते हैं सरल-सीधे, सृष्टि-नियमानुकूल व्यवहार को।

प्रकृत मन्त्र में वाणी को मधुमती के साथ **'सुमेधाः'** भी कहा गया है। मीठा बोलो, किन्तु बुद्धि के साथ बोलो। बुद्धिरहित मीठा भाषण किस काम का ! मीठे वचन को बुद्धियुक्त कहने का प्रयोजन है, यदि वक्ता में बुद्धि हो, तो वह अप्रिय सत्य को भी प्रिय बना लेगा। स्मृतिकार कहते हैं—**सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्**। सच बोले, किन्तु अप्रिय सत्य न बोले। बड़ी उलझन है। क्या चुप रहा जाए ? नहीं, यही मनु महाराज कहते हैं—**'मौनात्सत्यं विशिष्यते'**—चुप रहने से सत्य बोलना अच्छा है। वेद भी यही कहता है—**वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान्**—बोलनेवाला ज्ञानी न बोलनेवाले से अधिक पूज्य है, अर्थात् सत्य तो अवश्य बोलना है चुप नहीं रहना। हाँ उसे अप्रिय भी नहीं रहने दे। प्रिय बनाने के लिए बुद्धि चाहिए। इसी कारण वेद ने कहा—

या ते जिह्वा मधुमती सुमेधाः—जो तेरी मीठी सुबुद्धियुक्त वाणी है। उस सुबुद्धियुक्त वाणी से सब जनों को इकट्ठा कर और मिठास पिला। सबसे मीठा वेद है, उन्हें वह पिला। बता, तू वेद का मधुर पान दूसरों को पिलाता है ? नहीं पिलाता, तो अब पिला। वेद बहुत मीठा है। एक बार स्वयं पी, फिर तू बार-बार पीएगा, और विवश होकर दूसरों को भी पिलाएगा।

४२. वेद सर्वजनहितकारी

ओ३म् । या ते अग्ने पर्वतस्येव धारासश्चन्ती पीपयद्देव चित्रा ।
तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम् ॥

—ऋ० ३।५७।६

शब्दार्थ—**अग्ने** सबको ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित करनेवाले ! सबको आगे ले-जानेवाले **देव** प्रकाश-स्वरूप प्रभो ! **या** जो **ते** तेरी **पर्वतस्य+इव** पर्वत की धारा के समान **असश्चन्ति** संसक्त न होती हुई **चित्रा** विचित्र, अद्भुत **धारा** वेदमयी ज्ञानधारा **पीपयद्** निरन्तर ज्ञान दान कर रही है, हे **वसो** सबको बसानेवाले, **जातवेदः** सबमें रहनेवाले, प्रत्येक पदार्थ के ज्ञाता ! सर्वज्ञ भगवन् ! **अस्मभ्यम्** हमें **ताम्** वह **प्रमतिम्** उत्तम बोध देनेवाली **विश्वजन्याम्** सर्वजनहितकारिणी **सुमतिम्** वेदरूप कल्याण-मति **रास्व** दो, दान करो।

व्याख्या—वेद वह ज्ञानधारा है, जो सृष्टि के आरम्भ में मानव-समाज के हित के लिए भगवान् ने बहाई । पहाड़ पर पड़ी जलधारा पहाड़ पर न अटककर चारों ओर बह निकलती है । ऐसे ही दिव्य ज्ञानधारा भी सभी देशों, सभी मनुष्यों की ओर बहती है, कहीं अटकती नहीं । सभी इसके अधिकारी हैं । इसीलिए इसको **विश्वजन्या**=सब जनों की हितकारिणी कहा । कुछ लोग इस धारा को कहीं रोकना चाहते हैं, इसमें सड़ाँद पैदा करना चाहते हैं । रुका जल हानि ही करता है । ज्ञान भी रुकने पर रोकनेवाले का भी नाश कर देता है । आज का भारत इसका निदर्शन है । वेद सबके लिए है, इसका वेद में बार-बार उल्लेख हुआ है । प्रमादी मनुष्य को चिताने के लिए बार-बार कहा गया है । भगवान् कहते हैं **'पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्'** सभी जन मेरी पुकार को सुनें । यजुर्वेद २६।२ में कहा है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च ॥

जैसे मैं यह कल्याणकारी वेदवाणी मनुष्यमात्र के लिए कहता हूँ । ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, अपने-पराये सभी के लिए करता हूँ । प्रभु का बनाया सूर्य्य सबके लिए, चन्द्र सबके लिए, जल सबके लिए, पृथिवी सबके लिए । किन्तु इन पदार्थों का उपयोग बतानेवाला प्रभु का दिया ज्ञान सबके लिए नहीं ? अब्रह्मण्यम् ! शान्तं पापम् ? यदि सबके लिए नहीं तो भगवान् ने उन्हें कान और ज्ञान-आधान के साधन क्यों दिये ? वेद विश्वजन्य हैं, कल्याणी वाक् सभी का हित करेगी, सभी का कल्याण करेगी । वेदवाणी प्रमति है, उत्तम ज्ञान की खान है, सुमति है; दुर्मति नहीं अर्थात् वेद में मानव-समाज के उत्कर्ष के साधन वर्णित हैं । ऐसी कोई भी शिक्षा वेद में नहीं, जिससे मनुष्य का पतन सम्भव हो । ऐसे उत्तम सुमतिदाता ज्ञान का त्याग क्यों मनुष्य ने किया ? वेद है चित्र=अद्भुत । इसमें ब्रह्मज्ञान है, इसमें जीव की चर्चा है, प्रकृति का बखान है। आग का विधान है, जल का भी वर्णन है। पृथिवी का गान है, तो द्यौ का भी बखान है। मनुष्योपयोगी कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसका वेद में व्याख्यान न हो। ऐसे सर्वविद्यानिधान के त्याग से आज मानव-समाज पीड़ित है । नहीं-नहीं, मानव मानव नहीं रहा । इसे पुनः मानव बनाने के लिए वेद को अपनाना होगा ।

४३. भगवान् के दान की निन्दा मत करो

ओ३म् । मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान् ।
पाकाय गृत्सो अमृतो विचेता वैश्वानरो नृतमो यह्वो अग्निः ॥

ऋ० ४।५।२

शब्दार्थ—**मा** मत, उसकी **निन्दत** निन्दा करो **यः** जिस **स्वधावान्** स्वशक्तिसम्पन्न [परनिरपेक्ष] **अमृतः** अविनाशी **विचेताः** विशेषज्ञ **वैश्वानरः** सब नरों के हितकारी **नृतमः** नेताओं में श्रेष्ठ **यह्वः** बलधारी **गृत्सः** उपदेशकारी **अग्निः** सबकी उन्नति करनेवाले **देवः** देव ने **मह्यम्** मुझ **मर्त्याय** मरणधर्म्मा के लिए **पाकाय** पवित्र करने के लिए, पक्का करने के लिए **इमाम्** यह **रातिम्** दान **ददौ** दिया है ।

व्याख्या—यह सारा जहान भगवान् ने जीवों को दान दे डाला है । किसी उपकार के बदले में नहीं, क्योंकि वह **स्वधावान्** है, अपने कार्यों में—सृष्टि रचना, पालना, संहारणा में—किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता, अतः भगवान् का दान सर्वथा निष्काम है ।

भगवान् **विचेता**=विशेषज्ञ है । सबकी आवश्यकताओं को ज़ानता है, अतः उन सबका विचार करके उसने यह सृष्टि रची है । मूर्ख, विद्वान्, पुण्यात्मा, पापात्मा निर्बल-बलवान्, धनी-दरिद्र, राजा-प्रजा आदि सभी का निर्वाह इसी से होता है । इस सृष्टि बनाने का प्रयोजन है कि इसमें ग्रस्त जीव उठे, उन्नति करे, आगे बढ़े । वह अग्नि है, सबको आगे ले जाता है । उसका उपदेश भी आगे बढ़ने का है—**उच्छ्रयस्व महते सौभगाय ।** (ऋ०) परम सौभाग्य के लिए उन्नति कर ।

मैं मर्त्य हूँ, मरणधर्म्मा हूँ । जाने किस समय मर जाऊँ ! वह अमृत है, अविनाशी है । काल का भी काल है । उस अमृत के पास अमृत है । जाने, मुझे भी अमृत होने के लिए इस दान में अमृत ही दिया हो ! तुम क्यों उनकी निन्दा करते हो ? मत करो निन्दा । वह वैश्वानर है । सब नरों का नर है, वह गृत्स है, उपदेशक है, इस दान के साथ इसका ज्ञान भी देता है । मैं कच्चा हूँ, अतएव अपवित्र हूँ; मुझे पक्का करने के लिए, पाक-पवित्र करने के लिए उसने मुझे यह दान दिया है । मैं उसकी निन्दा करूँ ? अपने गृत्स की, गुरु की निन्दा मैं नहीं सुनता । **कर्णौ तदा पिधातव्यौ गुरुनिन्दा भवेद्यदा'**—तब कान बन्द कर लेने चाहिएँ, जब गुरु-निन्दा होने लगे । तुम भगवान् की, सर्वहितकारी गुरु, सर्वज्ञ गुरु की निन्दा मत करो, अन्यथा मैं तुम्हारी बात नहीं सुनूंगा । मैं तो कहता हूँ कि भगवान् **'वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।'** ऋ० ८।१।६। मेरे पिता की अपेक्षा भी मेरे लिए अधिक पूजनीय है, मेरे भाई से भी अधिक सत्करणीय है । माता, पिता, भ्राता की अपेक्षा अधिक पूजनीय की निन्दा सुनूं ? असम्भव ! वह बड़ा दाता है और बहुत देना चाहता है—

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर । भूरि घेदिन्द्र दित्ससि ॥—ऋ० ४।३२।२०
भूरिदा ह्यसि श्रुतः ।—ऋ० ४।३२।२१

हे बड़े दानी ! हमें बहुत दे, थोड़ा मत दे, बहुत ला । हे इन्द्र ! तू बहुत देना चाहता है, क्योंकि तू महादानी=बहुत देनेवाला प्रसिद्ध है ।

भगवान् के दान हैं भी भले—**भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।** [ऋ०] भगवान् के भले दान की निन्दा कौन करे !

४४. आदर से पूछने पर सत्य-सत्य कहना

ओ३म् । ऋतं वोचे नमसा पृच्छ्यमानस्तवाशसा जातवेदो यदीदम् ।
त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्वं दिवि यदु द्रविणं यत्पृथिव्याम् ॥—ऋ० ४।५।११

शब्दार्थ—हे **जातवेदः** सर्वज्ञ ! **नमसा** नमस्कारपूर्वक, आदर से **पृच्छ्यमानः** पूछा जाकर **ऋतम्** सत्य-सत्य **वोचे** मैं कहूँ **यदि** यदि **इदम्** इसको **तव** तेरे **आशसा** उपदेश से पाऊँ कि **त्वम्** तू ही **अस्य** इस सारे धन को **क्षयसि** ठिकाने लगाता है **यत्+ह** जो कि **विश्वम्** सम्पूर्ण **दिवि** द्यौ में है और **यत्+उ** जो **द्रविणम्** धन **पृथिव्याम्** पृथिवी में है और **यत्** जो अन्यत्र है ।

व्याख्या—वेदशास्त्र में जिज्ञासु को विनीत होने का उपदेश है । प्रश्नोपनिषत् का आरम्भ हमारे इस कथन की पुष्टि करता है । वहाँ लिखा है कि सुकेशा आदि छह महाविद्वान् जो ब्रह्मज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ थे, परब्रह्म की खोज करते हुए, यह समझकर कि भगवान् पिप्पलाद हमें सब-कुछ बता सकेंगे—**'समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः'** समित्पाणि होकर भगवान् पिप्पलाद की सेवा में उपस्थित हुए ।

इसी प्रकार की कथा छान्दोग्योपनिषद् के पाँचवें प्रपाठक में भी आती है । प्राचीनशाल आदि महापाठशालाध्यक्ष, महाश्रोत्रिय [वेद के महाविद्वान्] मिलकर विचार करने लगे—'आत्मा क्या है', 'ब्रह्म क्या है' ? वे उद्दालक आरुणि के पास गये । उद्दालक ने सोचा 'मैं इनकी शंका का समाधान न कर सकूंगा', अतः उसने कहा, इस समय केकय देश का राजा अश्वपति इस विद्या का पण्डित है, हम सब उसके पास चलें । जब वे राजा के पास पहुँचे, उसने उन सबका यथायोग्य आदर किया, सबके आगे पूजा-भेंट रखी । उन्होंने स्वीकार न की, राजा उद्विग्न हुआ । उन्होंने कहा, महाराज ! हम प्रयोजनविशेष से आये हैं, अतः उसकी सिद्धि कीजिए । राजा ने सुनकर दूसरे दिन बताने को कहा ।

ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे—वे प्रातः हाथ में समिधा लेकर उपस्थित हुए । मुण्डकोपनिषद् (१।२।१२) में तो गुरु के पास समित्पाणि होकर जाने का विधान ही है । जैसा कि **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** उस परम तत्त्व के जानने के लिए वह समित्पाणि [हाथ में समिधा लेकर] होकर श्रोत्रिय=वेदवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाए ।

समिधा उपलक्षण है, कोई ऐसी वस्तु जिज्ञासु के हाथ में अवश्य होनी चाहिए, जिससे उसकी श्रद्धा प्रकट हो । जिसमें श्रद्धा-भक्ति न हो, उसे तो उदेपश ही नहीं करना चाहिए, ऐसा हमारे शास्त्रों का विधान है । इसी भाव को मन्त्र के पहले पाद में कहा है—**'ऋतं वोचे नमसा पृच्छ्यमानः'** आदर से पूछा जाकर सत्य-सत्य कहूँ । निरादर से, उपेक्षा से प्रश्न करनेवाला जिज्ञासु नहीं हो सकता है, वह वितण्डा करनेवाला, जल्प करनेवाला विजिगीषु हो सकता है । जिज्ञासु तो आदर से ही पूछे, जैसा कि वेद में कहा है—**'नमसेदु सीदत ।'** [ऋ० ११।६] नमस्कार से जिज्ञासु बनो । जिससे पूछना है, उसकी भी परख कर लेनी चाहिए । प्रत्येक से पूछने का कोई लाभ नहीं । वेद में कहा ही है—**'तवाशसा···यदीदम्'** यदि मैं तेरे उपदेश से इस सबको जान पाऊँ ।

अज्ञानी गुरु क्या समझाएगा और क्या बताएगा ? उपनिषत् ने इसी का आशय लेकर गुरु के लिए श्रोत्रिय=वेदज्ञ [जिसे Theory का ज्ञान हो] और ब्रह्मनिष्ठ [जिसने ब्रह्मविद्या की Practice भी की हो] होना आवश्यक बतलाया । एक मनुष्य को क्रियात्मक ज्ञान है किन्तु वह दूसरे को बता नहीं सकता, अतः आचार्य्य बनने के वह अयोग्य है । एक को ग्रन्थज्ञान बहुत है, क़िन्तु क्रिया द्वारा उसने उसका अनुशीलन कभी नहीं किया, अतः गुरु बनने के योग्य वह भी नहीं है । जिसमें ज्ञान और अनुष्ठान समान रूप से विराजमान हों, वह गुरु ग्रहण करने योग्य है । ब्रह्मविद्या का आचार्य्य सबसे पूर्व शिष्य को ब्रह्म के सर्वस्वामित्व का ज्ञान कराता है, अतः मन्त्र के उत्तरार्ध में ब्रह्म का सर्वस्वामित्व निरूपित किया गया है ।

४५. मीठी नजर

ओ३म् । तव स्वादिष्ठाऽग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः ।

श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके ॥—ऋ० ४।१०।५

शब्दार्थ—हे **अग्ने** अग्ने ! **तव** तेरी **स्वादिष्ठा** स्वादिष्ट=अत्यन्त स्वादु=अतिशय मीठी **संदृष्टिः** उत्तम दृष्टि, नेक नज़र **इत्** ही **अह्न+चित्+आ** दिन से लेकर **अक्तोः+चित्+आ** रात तक **इत्** भी **रुक्मः+न** सुवर्ण की भाँति **उपाके** समीप में **श्रिये** कल्याण के लिए **रोचते** चमक रही है ।

व्याख्या—कविजन बताते हैं, दृष्टि बहुत ऋष्टि है, इससे कइयों को घायल होते सुना गया है । कामी-जनों की ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं, जिनमें कमनीय के एक दष्टि-निक्षेप से कामी उन्मत्त हो गया । क्रोधी मनुष्य की दृष्टि लाल हो जाती है, उसकी आँख-से-आँख मिलाना कठिन हो जाता है । बालक जो अभी मनोगत भावों को पूर्णरूप से व्यक्त नहीं कर सकता, विह्वल होकर जब माता को देखता है, तो माता की ममता कैसे प्रदीप्त होती है ? माँ की इस दशा का मूल क्या है ? बालक की दृष्टि । क्रोध या उदासी की दशा में बालक माँ के सामने जाता है । माता उसे स्नेहमयी दृष्टि से देखती है, उसके क्रोध या उदासी के भाव वहीं विलीन हो जाते हैं । किसके प्रभाव से ? माता की ममताभरी स्नेहसिक्त संदृष्टि से । दृष्टि की बड़ी महिमा है, यह हंसतों को रुला देती है, रोतों को हँसा देती है, मित्र को शत्रु बना देती है और शत्रु को प्राणपण से प्रीति करनेवाला सुहृद् बना देती है । सन्तजन सुनाते हैं, किसी महापुरुष का कृपा-कटाक्ष अधम-से-अधम पुरुष का बेड़ा पार कर देता है । उसकी चित्त-नदी, जिसका प्रवाह पाप-सागर की ओर था, प्रवाह बदल कल्याणसमुद्र की ओर बहने लगती है ।

मनोविज्ञान के आचार्य्य बतलाते हैं कि दृष्टि भीतर के मनोभावों की निर्दशिका होती है । तभी संसार में 'ललचाई आँख' 'क्रोध से लाल आँख' 'प्रेम भरे नेत्र' 'मदमाते, अलसाते नयन' आदि प्रयोग होते हैं । भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति के समय आँख में कोई एक अवर्णनीय-सा परिवर्तन होता है । ज्ञानी और मूढ़ बिना सिखाये इसे जानते हैं । इस मनोवैज्ञानिक आकृतिविज्ञानमय दृष्टिभेद को लक्ष्य कर कामना की गई है—**'तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिः'** अग्ने ! तेरी अत्यन्त मीठी नज़र । मार्ग दिखानेवाला आँख मैली कर ले, तो समझ लो कि यह अमार्ग में पटकेगा । गुरु की कुदृष्टि हुई तो जान लो विद्या में बाधा आई । गुरुओं के गुरु की यदि संदृष्टि न रही, तो फिर क्या गति होगी ? जिसके एक कुदृष्टि-निपात से यह समस्त जगत् समाप्त हो सकता है, उसकी कुदृष्टि से कितना अनिष्ट हो सकता है ? अतः याञ्चा है—**'तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिः'** । इस वेदमन्त्र से यह प्रतीत होता है कि भगवान् की तो सदा संदृष्टि-ही-संदृष्टि चमक रही है, फिर संसार क्यों व्याकुल है ? उसकी संदृष्टि की ओर पृष्ठ कर देने से । दृष्टि सामने होने पर ही प्रभाव करती है । जब हमने पीठ फेर ली, या आँख मूँद ली, तब फिर संदृष्टि हमारी दृष्टि से ओझल हो गई और हम संदृष्टि के पुनीत फल से वंचित हो गये, किन्तु जिन्होंने तेरी संदृष्टि पा ली, वे—

नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टौ ॥—ऋ० ६।१।४॥

तेरी भली सन्दृष्टि में आनन्द करते हुए पूज्य नामों को धारण करते हैं । भगवान् की सन्दृष्टि—भद्र सन्दृष्टि—स्वादिष्ट संदृष्टि जिनपर पड़ गई, उनके नामों की पूजा न होगी, तो किनकी होगी ? जो भद्र है वह स्वादिष्ट है । अभद्र, अमङ्गल किसे स्वादु लग सकता है ? वह तो सबको कटु लगता है । प्रभो ! हमें क्या तेरी संदृष्टि न दीखेगी ? हमारे नेत्रों का परदा तू ही हटाएगा । प्रभो ! **यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।** (ईशो० १६) तेरा तेजोमय अतिशय कल्याणकारी जो रूप है, उसे मैं देखता हूँ । प्रभो **'पश्यामि'** कहने का अधिकार कब मिलेगा ?

४६. पाप का मूल अज्ञान

ओ३म् । यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः ।
कृधी ष्व१स्माँ अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥

—ऋ० ४।१२।४

शब्दार्थ—हे **यविष्ठ** अतिशय बलवन् ! **अचित्तिभिः** अज्ञानों के कारण **यत्+चित्** जो-कुछ भी **पुरुषत्रा** पुरुषों में **ते** तेरा **कच्चित्** कदाचित् **आगः** अपराध, पाप **चकृमा** हम करते हैं, **अस्मान्** हमें **अदितेः** अदिति का **सु** अच्छी प्रकार **अनागान्** अनपराधी **कृधि** बना । हे **अग्ने** अग्ने ! हमारे **एनांसि** पापभावों को **विष्वक्** सब प्रकार से **वि+शिश्रथः** विशेष रूप से शिथिल कर ।

व्याख्या—अज्ञान=उलटे ज्ञान अथवा ज्ञान के अभाव के कारण मनुष्य पाप-गर्त में गिरता है । ज्ञान के अभाव की अपेक्षा उलटा ज्ञान भयङ्कर होता है । वह विपर्य्यय, विपरीत ज्ञान, मिथ्याज्ञान, अविद्या आदि कई नामों से पुकारा जाता है । अविद्या का लक्षण योगदर्शन में इस प्रकार किया गया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।—यो० द० २।५

अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र मानना, दुःख में सुख का भान करना, और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान करना अविद्या है । धन-धान्य, महल-अटारी, पर्वत, नदी-नाले, सूर्य्य-चन्द्र, पृथिवी आदि नाशवान् अतएव अनित्य पदार्थों को नित्य मानना मूर्खता नहीं तो क्या है ! ऐसे ही नित्य जीव आदि को अनित्य मानना अविद्या है । अपवित्र पदार्थों—मलमूत्रादि को पवित्र मानना अज्ञान है । शरीर अपवित्र है किन्तु पामरजन इसे पवित्र मानते हैं । स्त्री पुरुष का मुख चाटती है और पुरुष स्त्री पर मोहित होकर अकरणीय कार्य करता है । शरीर के अन्दर और बाहर की स्थिति पर तनिक विचार कीजिए । इसके गन्देपन का निश्चय हो जाएगा । मलमूत्र, विष्ठा का थैला पवित्र कैसे ? किन्तु संसार का अधिक भाग इसे पवित्र मान विपर्य्यय ज्ञान में फँस रहा है । इसी प्रकार पवित्र को अपवित्र मानना भी उलटा ज्ञान है । संसार में कितना दुःख है, जन्म-मरण के चक्कर में कितनी पीड़ा है, किन्तु कितनों को इसका भान होता है ? कितने इससे छुटकारा पाने की चेष्टा करते हैं ? इस दुःखबहुल को सुख मानना अविद्या है । इसी प्रकार मोक्षसुख को दुःख मानना भी अविद्या है ।

किसी का धन चोरी हो जाए तो वह कहता है, मैं लुट गया । लुटा तो धन किन्तु मान बैठा वह अपने-आपको लुटा हुआ । 'मैं काणा हूँ'—काणापन तो आँख में है, किन्तु कह रहा हैं, 'मैं काणा हूँ' । 'मैं रोगी हूँ,—रोग शरीर में है किन्तु अपने-आपको रोगी मान रहा है । धन, इन्द्रिय, शरीर सभी अनात्मा हैं, किन्तु अविद्या की महिमा देखो, इन सबको आत्मा मान रहा है । यह महती अविद्या है । इसी प्रकार आत्मा को न मानना, उसे जन्य किन्तु अमर मानना आदि अनेक प्रकार की अविद्या है । अज्ञान के कारण हिंसा आदि पापों को लोग पाप नहीं मानते, वरन् कई मूढ़ इनको परमेश्वर की प्रसन्नता का साधन मानकर पुण्य समझते हैं । कितनी दयनीय है उनकी दशा ! संसार में जितने पाप होते हैं, उन सबका मूल है यह अविद्या । भगवान् ही यथार्थ ज्ञान देते हैं, अतः उन्हीं से प्रार्थना है कि हम अदिति के=तुझ जगन्माता के पापी न बनें । यथार्थ ज्ञान दे, पापभावना का नाश कर । ज्ञान होने पर भी कई मनुष्य पाप करते हैं । उनके अन्दर पापों की वासनाएँ प्रबल होती हैं । भगवत्कृपा से ही वासनाओं का नाश हो सकता है, अतः उसी से प्रार्थना की है—**'व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने'** हे ज्ञानाग्नि से पापवासना को दग्ध करनेवाले ! मेरी पापभावनाओं को सर्वथा शिथिल कर दे ।

४७. भगवान् की महिमा का निदान

ओ३म् । वव॒क्ष इन्द्रो॒ अमि॑तमृजी॒ष्यु१॒भे आ प॑प्रौ॒ रोद॑सी महि॒त्वा ।
अत॑श्चिदस्य महि॒मा वि रे॑च्य॒भि यो विश्वा॒ भुव॑ना ब॒भूव॑ ॥

—ऋ० ४।१६।५

शब्दार्थ—**इन्द्रः** सकलैश्वर्य्यसम्पन्न भगवान् **अमितम्** अपरिमित को **ववक्ष** धारण करता है, वह **ऋजीषी** सरलता को पसन्द करनेवाला परमात्मा **महित्वा** अपने महत्त्व के कारण **उभे** दोनों **रोदसी** लोकों को **आ+पप्रौ** पूरी तरह पूर्ण कर रहा है । **अस्य** इसकी **महिमा** महिमा **अतः+चित्** इससे भी **विरेचि** बढ़कर है, **यः** जो महिमा **विश्वा** सब **भुवना+अभि** भुवनों पर **बभूव** व्यापक है ।

व्याख्या—कई तर्कशून्य सज्जन कहा करते हैं कि परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति जब एक-समान अनादि हैं, तो परमात्मा की क्या विशेषता रही ? क्यों वह दूसरों से उत्कृष्ट है ? वेद इसका अतीव सुन्दर उत्तर देता है—**'ववक्ष इन्द्रो अमितम्'** भगवान् अमित=अपरिमित को धारण करता है । जीव शरीर को धारण करता है, शरीर के सहारे रेलगाड़ी आदि का वहन भी कर लेता है, किन्तु भगवान् के धारे जहान के सामने वह अत्यन्त तुच्छ तथा अलीक है । निस्सन्देह यह जहान भगवान् के सामने तुच्छ है, किन्तु मानव-बुद्धि तो इस संसार का भी पार नहीं पा सकी, अतः मानव की दृष्टि में तो संसार भी अनन्तपार=अपार है, अतः वेद का यह कहना कि **'ववक्ष इन्द्रो अमितम्'** भगवान् अपरिमित को धारण कर रहा है, सर्वथा युक्त है ।

दूसरी युक्ति परमात्मा के उत्कर्ष की है—**'ऋजीषी उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा'**—सरलता को पसन्द करनेवाला भगवान् दोनों लोकों को पूर्णरूप से भर रहा है अर्थात् सारे संसार में व्यापक है । जीव तो शरीर के एक देशमात्र में रहता है । वेद में जीव को परिच्छिन्न=अणु-परिमाणवाला कहा गया है, जैसा कि अथर्ववेद (१०।८।२५) का वचन है—**'बालादेकमणीयस्कम्'** एक-जीव बाल से भी सूक्ष्मतर है । किन्तु परमात्मा तो—**'उभे आ पप्रौ रोदसी ।'** दोनों लोकों में व्यापक है । क्यों ? **महित्वा**=अपने महत्त्व के कारण । एक अत्यन्त अल्प है, एकदेशी है, एक इतना महान् है कि सारे जहान में भर रहा है ।

वेद कहता है, कहीं यह न समझ लेना कि वह केवल विश्वब्रह्माण्ड में ही व्यापक है, अपितु उसकी महिमा इससे कहीं बड़ी है । इसी भाव को मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा है अर्थात् वह ब्रह्माण्ड के अन्दर भी है और बाहर भी है । यजुर्वेद ४०।५ में इस भाव को बहुत स्पष्ट करके वर्णन किया है—**'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।'** वह इस सबके भीतर है और वह इस समस्त संसार के बाहर भी है । प्रकृति तथा जीवों का निवास संसार में ही है, परन्तु एक-देशी के रूप में भगवान् सब संसार के अन्दर भी है और बाहर भी, अतः उसकी महत्ता, उसकी सबसे उत्कृष्टता में सन्देह का अवसर ही नहीं है । एक समय तीन मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उनकी शक्तियाँ तथा सम्पत्तियाँ समान नहीं होतीं, तो एक-समान अनादि होने के कारण तीनों—ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति—का सामर्थ्य समान क्यों ?

४८. स्तोता को धनाधिकारी बनाता है

ओ३म् । क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्त्ति रेणुं मघवा समोहम् ।
विभञ्जनुरशनिमाँ इव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात् ॥

—ऋ० ४।१७।१३

शब्दार्थ—मघवा महान् सामर्थ्यवान् भगवान् **त्वम्** एक **क्षियन्तम्** नष्ट होते हुए को **अक्षियन्तम्** नाश से रहित **कृणोति** करता है अथवा **क्षियन्तम्** बसते हुए को **अक्षियन्तम्** बेठिकाना कर देता है, अथवा **अक्षियन्तम्** बेठिकाने को **क्षियन्तम्** बसनेवाला, ठिकानेवाला कर देता है, और **रेणुम्** धूल को **समोहम्** समुदाय, संघात रूप में **इर्यत्ति** गति देता है, अथवा **समोहम्** संघात को **रेणुम्** धूलि के रूप में गति देता है। वह **अशनिमान्+इव** विद्युत्वाले की भाँति, वज्रधारी के समान **विभञ्जनुः** विभाग करनेवाला, तोड़ने-फोड़नेवाला और **द्यौः** प्रकाशमान् तथा प्रकाशाधार है, **उत** और वह **मघवा** ऐश्वर्य्यों का स्वामी, अन्तर्यामी **स्तोतारम्** स्तुति करनेवाले को **वसौ** धन में **धात्** धारण करता है।

व्याख्या—इस मन्त्र में भगवान् के प्रलयकारी स्वरूप का वर्णन किया गया है, किन्तु साथ ही आश्वासन भी दिया है कि धनदाता भी वही है—**'स्तोतारं मघवा वसौ धात्'**—ईश्वर स्तोता को धन में धारण करता है। धन देने की एक शर्त है—स्तोता होना। स्तोता=स्तुतिकर्त्ता। स्तुति का अर्थ लोग बहुत अन्यथा समझते हैं। लोग समझते हैं कि कुछ विशेष शब्दों या वाक्यों का उच्चारण करना स्तुति है, जैसे यह कहना कि 'परमेश्वर तू दयालु है, कृपालु है, सब सुखदाता है, जगद्विधाता है, चराचर का अधिष्ठाता है,' इत्यादि। स्तुति का अर्थ है किसी वस्तु के गुण-दोष जानकर, अपने गुणों से उसकी तुलना करके, अपने में जिन गुणों का अभाव है या जो कमी है उसकी पूर्ति की भावना का नाम स्तुति है अर्थात् इस ज्ञान से अपना चरित्र सुधारना ही यथार्थ स्तुति है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में सगुण-निर्गुण-स्तुति का भेद बतलाकर लिखा है—"इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुण-कर्म्म-स्वभाव अपने भी करना। जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवें और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर का गुण-कीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है" अर्थात् अपेक्षित गुण के कीर्त्तन के साथ तदनुगुण पुरुषार्थ भी करना स्तुति है। ऐसी स्तुति करने-वाला जन मघवा की=सकलैश्वर्य्य-सम्पन्न की स्तुति करता है, वह अवश्य धन पाता है, क्योंकि वह बड़ा दाता है। जैसाकि ऋग्वेद [४।१७।८] में कहा—**'दाता मघानि मघवा सुराधाः ।'** उत्तम धनवाला अर्थात् उत्तम रीति से आराधित हुआ मघवा=पूज्य धनी प्रभु पूज्य धन देता है। इसी कारण आस्तिक उसी से माँगते हैं—

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।—ऋ० १०।१२१।१०

जिस अभिलाषा से तुझे पुकारें, वह हमारी पूरी हो, हम धनों के स्वामी हों। आराधना शर्त है, पुकारना शर्त है। देने में वह त्रुटि नहीं करता, क्योंकि वह—**'क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोति'**— अमीर को गरीब और गरीब को अमीर कर देता है। वेद (ऋ० ४।१७।९) में ही कहा है—

अयं वृतश्चातयते समीचीर्य आजिषु मघवा शृण्व एकः ।
अयं वाजं भरति यं सनोत्यस्य प्रियासः सख्ये स्याम ॥

चुना जाकर यह भगवान् उत्तम अवस्था का विस्तार करता है, जो भगवान् जीवन-संग्राम में

अकेला सहायक है, जिसको वह सम्भजन करता=चुनता है, वह अन्न, बल, ज्ञान धारण करता है, अतः इसकी मैत्री में हम इसके प्यारे=प्रेमी बनें अर्थात् वह व्यर्थ ही धनी को दरिद्र, या दरिद्र को धनी नहीं कर देता, गुण-कर्म्म देखकर ही सब-कुछ करता है। भगवान् की स्तुति का कैसा सुन्दर फल है! इसको अधिक स्पष्ट शब्दों में ऋ० [४।१७।१९] में यों कहा है—

स्तुत इन्द्रो मघवा यद्ध वृत्रा भूरीण्येको अप्रतीनि हन्ति।
अस्य प्रियो जरिता यस्य शर्म्मन्नकिर्देवा वारयन्ते न मर्त्ताः॥

स्तुत हुआ पूज्य परमेश्वर अकेला ही अनेक अप्रतिम बाधाओं का नाश कर देता है, क्योंकि स्तोता इसका प्यारा है। उससे होनेवाले कल्याण को न देव=दैवी शक्तियाँ और न मनुष्य रोक सकते हैं, क्यों न इस महाबली, महाधनी की स्तुति करें!

४९. लोककर्त्ता भगवान् ही सच्चा पिता

ओ३म् । त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम् ।
सखा पिता पितृतमः पितृणां कर्त्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥

—ऋ० ४।१७।१७

शब्दार्थ—**ददृशानः** पुनः-पुनः दर्शन देता हुआ वह **त्राता** रक्षक होकर **नः** हमें **बोधि** सुझाता है । वही **आपिः** बन्धु **अभिख्याता** सामने से बतानेवाला है और वही **सोम्यानाम्** सौम्य=शान्त स्वभावों को **मर्डिता** तृप्त करनेवाला है, वह **सखा** सखा=मित्र **पिता** पिता **पितृणाम्** पालकों में से **पितृतमः** सबसे अधिक पालक है, वह **वयोधाः** जीवनदाता, कान्तिधारक, प्रकाशदाता **उशते** अभिलाषी को **लोकम्** प्रकाश **कर्त्ता+इम्+उ** देता ही है अथवा **वयोधाः** जीवनदाता प्रभु **उ** ही **उशते** भोग-मोक्ष के अभिलाषी के लिए **लोकम्** संसार को **कर्त्ता+इम्** बनाता ही है ।

व्याख्या—अन्तिम चरण में गहरा तत्त्व वर्णित है । उसको समझ लेने से मन्त्र के शेष चरणों का भाव धारण करने में कठिनता नहीं होगी । मन्त्र का अन्तिम चरण—**'कर्त्तेमु लोकमुशते वयोधाः'** है । हमने इसके दो अर्थ लिखे हैं । भाव दोनों का एक ही है । जीव जीवन चाहता है, प्रकाश चाहता है, भोग चाहता है, मोक्ष चाहता है । उन सबका धाता तथा दाता वह परमेश्वर ही है । यह संसार उसने उशन्=कामनावाले के लिए बनाया है । योगदर्शन २।१८ में इसी भाव का एक सूत्र है—**'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'**—भोग और मोक्ष के लिए ही यह दृश्य=संसार है । अपना कोई प्रयोजन **न** होते हुए भी केवल जीवों के कल्याण के लिए भगवान् लोक-रचना करता है, जैसाकि यो० द० १।२५ की व्याख्या करते हुए व्यासजी ने लिखा है—**'तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानामनुग्रहः प्रयोजनम्'**—उसका अपना कोई प्रयोजन न होते हुए भी जीवों पर कृपा ही प्रयोजन है । माता-पिता भी भोग-सामग्री देते हैं, परमात्मा की दी सामग्री से ही वे हमारे लिए देते हैं, अतः सच्चा पिता, सखा, पिताओं का पिता वही है, इसीलिए कहा—**सखा पिता पितृतमः पितृणाम् ।** केवल वह पालक ही नहीं, वह रक्षक भी है । मनुष्य को आग, हवा, पानी सभी से डर लगा रहता है । नदी, नाले, पर्वत, समुद्र सभी से यह घबराता है । वह इसे रक्षक के रूप में मिलता और इसकी रक्षा करता है । तभी कहा—**'त्राता नो बोधि ददृशानः'**—सचमुच बार-बार वह रक्षक के रूप में दर्शन देता है । सांसारिक बन्धु विचारभेद होने पर, अथवा उनकी किसी बात के पूरा न होने पर, सङ्ग त्याग देते हैं, किन्तु भगवान् कभी सङ्ग नहीं छोड़ते, सदा प्राप्त रहते हैं, अतः वे **आपि**=बन्धु हैं ।

वेद में दूसरे स्थान पर इसी भाव को इन शब्दों में प्रकट किया है—**'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता'**—वह हमारा बन्धु, उत्पादक तथा सुखदाता है । शेष बन्धु प्रयोजन के बन्धु हैं । परमात्मा सदा के बन्धु हैं, किसी स्वार्थ के बिना बन्धु हैं, अतः सच्चा बन्धुत्व परमेश्वर में ही है । कहीं भूल-चूक हुई, हुई क्या, उसका विचार भी उत्पन्न हुआ कि अन्दर से ताड़ना की ध्वनि गर्जती है, वह प्रभु की ध्वनि है, अतः वेद परमात्मा को 'अभिख्याता' सामने बिठाकर उपदेश देनेवाला कहता है । सच्चे बन्धु का लक्षण भी यही है कि वह मित्र को कुमार्ग से बचाये । (ऋग्वेद ७।१८।६) में बहुत सुन्दर शब्दों में कहा है—**'सखा सखायमतरद् विषूचोः**—मित्र मित्र को विषम दशा से बचाता है ।

परमात्मा सर्वज्ञ है । सम-विषम का पूर्ण ज्ञान उन्हें ही है । वह मनीषी मन में विषमभाव के आते ही चेतावनी देता है, सावधान करता है, अपनी मित्रता निबाहता है । शान्तचित्त महात्माओं को शान्ति-धन देकर तृप्त और शान्त करनेवाला भी वही है—**'मर्डिता सोम्यानाम् ।'** क्या हम उस सच्चे पिता, बन्धु, त्राता, मर्डिता, अभिख्याता सखा का प्रेम प्राप्त न करेंगे ?

५०. सारा जहान तेरा निशान

ओ३म् । विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परि यन्ति केतवः ।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥

—ऋ० ९।८६।५

शब्दार्थ—हे **विश्वचक्षः** सर्वद्रष्टः ! सर्वज्ञ प्रभो ! **विश्वा** सब **धामानि** लोगों को **ऋभ्वसः** प्रकाशकों के प्रकाशक **सतः** होते हुए **ते** तुझ **प्रभोः** प्रभु के **केतवः** केतु **परि+यन्ति** सब ओर से प्राप्त हो रहे हैं । हे **सोम** शान्ति प्रदान करनेवाले भगवन् ! तू **व्यानशिः** विशेष रूप से निरन्तर व्यापक होता हुआ **धर्मभिः** नियमों से **पवसे** पवित्र करता है और **विश्वस्य** सम्पूर्ण **भुवनस्य** संसार का **पतिः** पालक, स्वामी होकर **विराजसि** विराज रहा है ।

व्याख्या—लोग भगवान् का स्थान तथा निशान पूछते हैं, वेद कहता है कि भगवान् प्रभु हैं, सब स्थानों में उत्तम रीति से रहते हैं, प्रकाशकों के प्रकाशक हैं, अतएव विश्वचक्षाः हैं, अतः उनका निशान सारा जहान है । जहाँ कोई रहता है, वहीं उसका निशान होता है । भगवान् सर्वत्र विद्यमान है, अतः उसका सर्वत्र निशान है, अर्थात् जहाँ चाहो भगवान् के दर्शन कर लो, थोड़ा-सा प्रयत्न करने की आवश्यकता है । सर्वत्र है तो दीखता क्यों नहीं ? निस्सन्देह मार्मिक प्रश्न है । किन्तु क्या सभी वस्तुएँ सदा दिखाई देती हैं ? आपकी पीठ पर क्या है ? आप लाहौर बैठे हैं, अमृतसर आपको दिखाई नहीं देता, अतः क्या अमृतसर नहीं है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है । पीठ पर आँख जाती नहीं । अमृतसर दूर है, अतः दिखाई नहीं देता ।

तो ज्ञात हुआ कि पदार्थ होते हुए भी किसी कारणविशेष से दृष्टिगोचर नहीं होते । दूर होने से, रुकावट होने से, अत्यन्त समीप होने से, एक-समान पदार्थों में रल-मिल जाने से, अत्यन्त सूक्ष्म होने से, अत्यन्त महान् होने से विद्यमान पदार्थ दिखाई नहीं दिया करते । जैसे आँख सबको देखती है, किन्तु आँख में पड़े सुरमे को नहीं देख पाती, क्योंकि वह अत्यन्त समीप है । परमाणु की सत्ता युक्ति-प्रमाण से सिद्ध है किन्तु परमाणु दिखाई नहीं देता, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है । काल से व्यवहार सभी करते हैं, किन्तु अति महान् होने के कारण वह आजतक किसी को दिखाई नहीं दिया । अमृतसर दूर होने से दिखाई नहीं देता । दीवाल के पीछे पड़ी वस्तु रुकावट के कारण दिखाई नहीं देती । सरसों का एक दाना सरसों के ढेर में मिला दो, फिर वह हाथ नहीं आता, एक-जैसों में मिलकर दिखाई नहीं देता । सभी जन्य पदार्थों में अग्नि है किन्तु दिखाई नहीं देती । तिलों में तेल है, दिखाई नहीं देता । दूध-दही में घृत है, दिखाई नहीं देता । इसी भाँति परमात्मा अति महान् है, जैसा कि यजुर्वेद (३१।३) में कहा है—**'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः'**—यह सारा जहान भगवान् की महिमा है, वह व्यापक प्रभु तो इससे बहुत बड़ा है, अतः ये आँखें उसे नहीं देख सकतीं । सबमें—सभी सत्पदार्थों में—ओत-प्रोत है, अतः दिखाई नहीं देता । अत्यन्त सूक्ष्म है, जैसाकि उपनिषत् ने कहा—**अणोरणीयान्**=सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, अतः आँखों की पहुँच से बाहर है । अति समीप है—**'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'** (कठो० १।२।२०)—इस प्राणी का=जीवात्मा का आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा परमात्मा हृदयगुहा में छिपा है । आत्मा-परमात्मा एक स्थान में रहते हैं, अतः अत्यन्त समीप होने से इसे दिखाई नहीं दे रहा । आँख में भी व्यापक है, अति समीप होने से आँख इसे नहीं देख पाती ।

अज्ञानियों से वह दूर है, कठिनता से प्राप्त होता है। वेद कहता है—**तद्दूरे तद्वन्तिके** [य० ४०।५]। वह दूर है, वह सचमुच समीप है। जैसे अति दूर आदि पदार्थों को देखने के लिए प्रयत्न-विशेष करना पड़ता है, ऐसे ही वह अतिसूक्ष्म, अतिमहान्, अतिदूर, अतिसमीप, अज्ञानावरण के कारण न दीखनेवाला, सभी पदार्थों में ओत-प्रोत विभु प्रभु प्रयत्नविशेष से प्रत्यक्ष होता है। यत्न करने की आवश्यकता है।

५१. ऋतमहिमा

ओ३म् । ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥

—ऋ० ४।२३।८

शब्दार्थ—**ऋतस्य** ऋत की **हि** सचमुच **शुरुधः** शक्तियाँ **पूर्वीः** पूर्ण, तथा पूर्व से अर्थात् सनातन से **सन्ति** हैं । **ऋतस्य** ऋत का **धीतिः** चिन्तन, विचार **वृजिनानि** वर्जन करने योग्यों को, पापों को **हन्ति** नाश कर देता है । **बुधानः** समझाया जाता हुआ **शुचमानः** समुज्ज्वल **ऋतस्य**+**श्लोकः** ऋतकीर्त्तन, ऋत-प्रचार **आयोः** मनुष्य के **बधिरा** बहिरे **कर्णा** कानों को **ततर्द** खोल देता है ।

व्याख्या—सृष्टिनियम बहुत बलवान् है । सृष्टिनियम के अनुकूल चलकर मनुष्य सृष्टि के तत्त्वों पर अधिकार जमा लेता है, किन्तु विपरीत चलकर जीवन खो बैठता है । वाष्प और अग्नि के बल को जानकर उनके अनुकूल व्यवहार से मनुष्य ने रेलगाड़ी, हवाई जहाज बना डाले । विद्युत् की शब्दवाहकता का सामर्थ्य समझकर रेडियो बनाया गया । गले में स्वरयन्त्र के रहस्य को समझकर शब्दग्राहक यन्त्र (ग्रामोफोन) बनाया गया ।

आग की शक्ति है ताप और प्रकाश । आज तक कोई ऐसा विज्ञानधुरीण न निकला, जिसने आग के ये दो गुण नष्ट कर दिये और आग में अन्धकार तथा शैत्य उत्पन्न कर दिया हो । कान का धर्म है शब्द सुनना । कोई ऐसा बलवान् विज्ञानवान् न हुआ, जिसने कान से बोलने या चखने का कार्य्य लेने की युक्ति निकाली हो । आँख में चखने का सामर्थ्य कोई भी न ला सका । ऐसा क्यों ? ये सब विधाता के ऋत विधान का चमत्कार है । सचमुच ऋत की बड़ी शक्ति है और वह है भी नित्य । सृष्टिनियम के विरुद्ध आचरण करने से कष्ट होता है । दुःख-कष्ट पाप का फल होते हैं, अतः सृष्टिनियम का उल्लंघन पाप है । पाप से बचने का उपाय सृष्टिनियम का उल्लंघन न करना है, इसके लिए सृष्टिनियम का ज्ञान होना चाहिए । सृष्टिनियम के ज्ञान का पुनः-पुनः अभ्यास मनुष्य को उसके विरोध से हटाता है अर्थात् पाप से बचाता है, अतः वेद ने कहा—**ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति**=ऋत का चिन्तन पापों को मारता है । इस भाव को लेकर सन्ध्या में आनेवाले '**ऋतं च सत्यं च**···' आदि तीन मन्त्रों को ऋषि लोग अघमर्षण=पाप के मसलने-वाला कहते हैं, क्योंकि उन तीन मन्त्रों में ऋत का वर्णन है । ऋषियों ने कहा भी है—'जब-जब मन में पाप की भावना उठे, इन मन्त्रों का जप करना चाहिए ।' जप केवल किसी शब्द या वाक्य के बार-बार दोहराने को नहीं कहते, वरन्—'**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' (यो० द० १।२८)—जप का अर्थ, अर्थ-विचार है । इसीलिए जब यह ऋततत्त्व=सृष्टिनियम का रहस्य भले प्रकार समझाया जाए, तब बहिरे के कान भी खोल देता है अर्थात् वह अपने अन्तरात्मा की ध्वनि सुनने लग जाता है । तभी ऋग्वेद के नवम मण्डल में कहा है—'**ऋतं वदन्नृतद्युम्न**' (ऋ० ९।११३।४)—ऋतवादी ऋतु से चमक उठता है । उसका जीवन ऋतमय हो जाता है, क्योंकि—'**ऋतस्य दृढा धरुणानि सन्ति**' (ऋ० ४।२३।९)—ऋत की धारक शक्तियाँ दृढ़ हैं । अतएव '**ऋतं येमान ऋतमिद् वनोति**' (ऋ० ४।२३।१०)—ऋत के द्वारा संयम करनेवाला ऋत को ही चाहता है, अतः ऋत-व्रती होना चाहिए । वेद में ऋत के विपरीत अनृत के त्यागने की कामना की गई है—'**इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि**' (य० १।५)—अनृत=ऋतभिन्न, ऋतविरुद्ध को त्यागकर मैं सत्य को प्राप्त करता हूँ । ऋत की महिमा जानकर कौन अनृत को पकड़ रखेगा ?

५२. श्रम बिना विश्राम कहाँ

ओ३म् । इदाह्नः पीतिमुत वो मदं धुर्न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ।
ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन्त्सवने दधात ॥

—ऋ० ४।३३।११

शब्दार्थ—**देवाः** दिव्य शक्तियाँ **अह्नः** दिन=जीवन-दिन **आ** तक का **इत्** ही **पीतिम्** पान **धुः** देते हैं **उत** और **वः** तुमको **मदम्** मस्ती देते हैं, किन्तु वे **श्रान्तस्य** परिश्रम के **ऋते** विना **सख्याय** मैत्री के लिए **न** नहीं होते । हे **ऋभवः** प्रकाशशील महाशक्ति-सम्पन्नो ! **ते** वे तुम **नूनम्** अवश्य **अस्मिन्** इस **तृतीये** तीसरे **सवने** सवन में **अस्मे** हमारे लिए **वसूनि** धनों को **दधात** धारण करो ।

व्याख्या—प्रभु-शक्तियाँ जीवित को ही खान-पान देती हैं, मृतक को नहीं, अर्थात् मनुष्य को भोग-प्राप्ति के लिए जीवन का यत्न करना चाहिए । कहा भी है—**'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति'** जीवित मनुष्य सैकड़ों कल्याणों के दर्शन करता है । जहाँ ये भोग देते हैं, वहाँ मद=मस्ती=जीवन-मुक्ति भी देते हैं । किन्तु एक शर्त है कि **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'**—परिश्रम के बिना देव दोस्त नहीं बनते ।

मानो ऐतरेय ब्राह्मण के ३३वें अध्याय में इसकी विशद व्याख्या की है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम । पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ॥ चरैव,
पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः । शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हतः ॥ चरैव,
आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः । शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥ चरैव,
कलि शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः । उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥ चरैव,
चरन् वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् । सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥ चरैव,

हे रोहित ! हमने सुना है, परिश्रम करनेवाले के लिए श्री=शोभा, लक्ष्मी है । बैठा रहनेवाला (आलसी) मनुष्य पापी होता है । इन्द्र पुरुषार्थी का मित्र है, अतः श्रम कर । टाँगें चलती हैं, आत्मा फलाभिलाषी होना चाहता है । परिश्रमी के सारे पाप परिश्रम से मार्ग में मारे जाकर सो जाते हैं, अतः परिश्रम कर । बैठे हुए का भग=भाग्य बैठा रहता है, खड़े हुए का खड़ा हो जाता है, पतनशील का सो जाता है, गतिशील का भाग्य गति करता है, अतः परिश्रम कर । सोया हुआ मनुष्य कलि है, नींद त्याग रहा द्वापर है, उठता हुआ त्रेता है, और परिश्रम करनेवाला कृत=सत्य हो जाता है, अतः परिश्रम कर । परिश्रमी को मधु मिलता है, परिश्रमी को ही स्वादु उदुम्बर मिलता है, सूर्य्य का परिश्रम देख, चलता हुआ आलस्य नहीं करता है, अतः परिश्रम कर ।

सचमुच आलसी पापी होता है । श्रम के बिना तो भोजन भी नहीं पचता, अतः मनुष्य को सदा पुरुषार्थ में तत्पर रहना चाहिए । कहावत है **'अलसः पापमन्दिरम्'**=आलसी पाप का घर है । जो पुरुषार्थ करता है, चलता फिरता है, मानो अपने सारे पाप मार देता है । ठहरा हुआ तो जल भी सड़ाँद पैदा कर देता है, अतः क्रियाशील होना चाहिए । वेदशास्त्र आलसी का तिरस्कार करते हैं । यौवन में कमाई करने से बुढ़ौती में आराम मिलता है । जैसे भौतिक शरीर के सम्बन्ध में यह तत्त्व सत्य है, वैसे ही आत्मा के विषय में । जवानी में जो त्याग-वैराग्य का अभ्यास कर लेता है, जीवन की संध्या=शाम में उसे सुख-सम्पत्ति मिलती है ।

५३. यज्ञ हृदय और मन के लिए

ओ३म् । ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञा जुष्टासो अद्य घृतनिर्णिजो गुः ।
प्र वः सुतासो हरयन्त पूर्णाः क्रत्वे दक्षाय हर्षयन्त पीताः ॥

—ऋ० ४।३७।२

शब्दार्थ—ते वे **यज्ञाः** यज्ञ **वः** तुम सबके **हृदे** हृदय के लिए **मनसे** मन के लिए **सन्तु** होवें । **जुष्टासः** प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाकर वे **घृतनिर्णिजः** प्रकाश से विमल होकर **अद्य** आज **गुः** प्राप्त हुए हैं । **सुतासः** निष्पादित किये जाकर **पूर्णाः** पूर्ण हुए वे **वः** तुम्हें **प्र** बहुत अच्छी तरह **हरयन्त** चाहते हैं । **पीताः** पिये जाकर **क्रत्वे** क्रतु-कर्म्म तथा **दक्षाय** उत्साह के लिए **हर्षयन्त** हृष्ट करते हैं, उत्साहित करते हैं ।

व्याख्या—'यज्ञ' शब्द बहुत व्यापक अर्थोंवाला है । संक्षेप में कहना हो तो कह सकते हैं, लोकोपकारक सभी शुभकर्म्म यज्ञ हैं । सकाम, निष्काम, नित्य, नैमित्तिक सभी कर्म्म यदि मन और हृदय को पवित्र करते हैं, तो ये सार्थक हैं और यज्ञ हैं । यज्ञ=शुभकर्म्मों का फल अन्तःकरण की शुद्धि है । इसलिए कहा है—**ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञाः**=वे सब यज्ञ हृदय और मन के लिए हों । शुभकर्म्म बेपरवाही और अनास्था से नहीं करने चाहिएँ, अति प्रीति, श्रद्धा एवं आस्था से वे करने चाहिएँ । इस प्रकार सत्कारपूर्वक किये गये यज्ञ प्रकाश से विमल होकर प्राप्त होते हैं और इसी जीवन में ही ।

यज्ञ कई प्रकार के होते हैं—द्रव्ययज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ आदि । इस मन्त्र में जिन यज्ञों का संकेत है, वे द्रव्ययज्ञ नहीं हो सकते । द्रव्ययज्ञ कदाचित् अन्तःकरण की शुद्धि में थोड़े-बहुत सहायक हों तो हों, किन्तु वे घृतनिर्णिग्=प्रकाश से विमल, अथवा प्रकाश द्वारा विमल करनेवाले नहीं हो सकते । फिर **'अद्य'**=[आज=इसी जीवन में] शब्द भी कुछ और कहता है । यह योगदर्शन के **'तीव्रसंवेगानामासन्नः'** [जिनका वैराग्य अधिमात्रतीव्र होता है, उन्हें सबसे शीघ्र समाधि प्राप्त होती है] की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है । विशेषकर मन्त्र का चौथा चरण इस बात की पुष्टि करता है—**'क्रत्वे दक्षाय हर्षयन्त पीताः'** पान किये जाकर ये क्रतु तथा दक्ष के लिए उत्साहित करते हैं ।

अभ्यास, वैराग्य, ईश्वरप्रणिधानादि योगक्रियाएँ जब भली प्रकार परिपक्व हो जाती हैं, तब उस विरक्त योगी के हृदय में सांसारिक जनों को देखकर करुणा का स्रोत बह निकलता है । वह देखता है कि संसारी लोग विषय-वासना की आग में लोटपोट हो रहे हैं, इन्हें इस अग्नि से बचाना चाहिए । जैसे मैं इस आग से बच सका हूँ ऐसे ही इनको भी बचाऊँ । इस पुनीत भावना से प्रेरित होकर वह संसारोपकार के पवित्र कार्य्य में प्रवृत्त होता है । यह उपकार-कार्य्य उसका क्रतु है । **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'** भले कार्य्यों में विघ्न भी बहुत आते हैं, किन्तु उसके अन्दर क्रतु के साथ दक्ष भी आ चुका है, अतः प्रबल-से-प्रबल विघ्नवात्या भी उसे विचलित नहीं कर सकती, क्योंकि—**'प्र वः सुतासः हरयन्त पूर्णाः'** वे यज्ञ पूर्णरूप से निष्पादित होकर ऐसे महात्माओं की कामना करने लगते हैं ।

कैसी अद्भुत घटना है, पहले साधक यज्ञों को चाह रहा था । साधक ने उनको पूरा किया, तो अब वे उसके चाहनेवाले बन गये । समझो इस गम्भीर वैदिक आध्यात्मिक मर्म को !

५४. विद्वान् भगवान् का ध्यान करते हैं

ओ३म् । यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण ।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥

—ऋ० ४।५०।१

शब्दार्थ—यः जिस **त्रिषधस्थः** त्रिलोकी में रहनेवाले **बृहस्पतिः** महान् लोक-लोकान्तरों के पालक भगवान् ने **सहसा** शक्ति तथा **रवेण** आदेश से **ज्मः** संसार के **अन्तान्** सिरों को **वि** विशेष रूप से **तस्तम्भ** थाम रखा है **प्रत्नासः** पुराने, सनातन व्यवहारकुशल **ऋषयः** यथार्थदर्शी **विप्राः** मेधावी, ज्ञानी **दीध्यानाः** ध्यान करते हुए **तम्** उस **मन्द्रजिह्वम्** मस्ती के उपदेशक को **पुरः** आगे **दधिरे** धरते हैं, अर्थात् उसका ध्यान करते हैं।

व्याख्या—मनुष्य का आदर्श बहुत ऊँचा होना चाहिए। छोटे आदर्शवाले मनुष्य छोटे ही होते हैं। वेद में उपदेश आता है—'**उत्क्रामातः पुरुष**' हे मनुष्य ! इस अवस्था से ऊपर उठ अर्थात् वर्तमान अवस्था पर ही सन्तोष करके नहीं रहना चाहिए, वरन् और अधिक उन्नति के लिए चेष्टा करनी चाहिए। अल्प में सुख नहीं है, अतः बड़ा बनने का, बड़ाई प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। महात्मा सनत्कुमार ने नारद को ठीक ही बताया था—'**यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति** (छ० ७।२३।१)' जो सबमें बड़ा है, वही सुख है, थोड़े में तो सुख है ही नहीं।

आओ ! महान् का अनुसन्धान करें। कोई छोटा-सा मिट्टी का ढेला हाथ में ले लो, फिर हाथ से छोड़ दो। क्या वह वहाँ रह जाएगा ? नहीं, नीचे जाएगा। क्यों ? आकर्षण-शक्ति इसकी व्याख्या नहीं। जड़ पृथिवी आदि में यह सामर्थ्य कहाँ, यह ज्ञान कहाँ ? संसार में व्यवस्था तथा नियम सूचित कर रहे हैं कि कोई ऐसा नियामक है जो इस सारे ब्रह्माण्ड का संचालन कर रहा है और जिसमें सबको वश में रखने का सामर्थ्य है, जिसे इस सबका यथार्थ ज्ञान भी है अर्थात् वह सर्ववशी, सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में उस महान् का बखान है—'**यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण**' जिस त्रिषधस्थ बृहस्पति ने शक्ति तथा आदेश से संसार के सिरों को विशेष रूप से थाम रखा है।

बृहस्पति=सबसे बड़े रक्षक ने लोकों के सिरों को थाम रखा है अर्थात् लोकों के अन्तों तक उसकी पहुँच है। कैसे पहुँच है ? वह **त्रिषधस्थः** तीनों लोकों में एक-साथ रहता है अर्थात् वह सदा सर्वव्यापक है, कारण और कार्य्य दोनों में वह एक-समान विराजमान है। इससे भगवान् एकदेशी नहीं, वरन् सर्वदेशी है, यह सिद्ध हुआ। वह यह कार्य्य अपने सहज सामर्थ्य से कर रहा है। वह **मन्द्रजिह्व है**—मधुर उपदेशक है, उसके उपदेश मस्ती देते हैं। उपदेश ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। सर्वत्र रहनेवाले का ज्ञान भी सर्वव्यापक होना चाहिए। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् से अधिक महान् कौन है ? अतः सुखाभिलाषी ऋषि उसी का ध्यान करते हैं—'**तं प्रत्नासः ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।**' इसका एक भाव और भी है। पुरोधान=आगे धरने का एक अर्थ है—नेता बनाना, आदर्श बनाना। आदर्श जिसे बनाओ, वह मन्द्रजिह्व=मधुरवाणी=मीठी जबानवाला हो। सचमुच भगवान् के उपदेश में कहीं भी कटुपन नहीं है। चारों वेद पढ़ जाइए, मिठास ही मिठास वहाँ मिलेगी। आलोचकों का कहना है, वेद के युद्ध सूक्तों में भी एक मिठास है, रस है।

क्या प्रत्येक मनुष्य भगवान् का ध्यान कर सकता है ? ध्यान करनेवाले में दो गुण होने चाहिएँ—

एक ऋषित्व, दूसरा विप्रत्व। ऋषि का अर्थ है—**ऋषिर्दर्शनात्**—जिसको पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो गया है, जिसने प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् के बन्धन करने के गुण को देख लिया है, वह कैसे इस पाश में फँसेगा ? किन्तु होता यह है कि मनुष्य बार-बार भूल जाता है। प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य संसार में इतनी मोहकता, इतना आकर्षण है कि प्राकृतिक विषयों के सामने आने पर मनुष्य को सारा ज्ञान भूल जाता है, अतः केवल एक बार जान लेना ही पर्य्याप्त नहीं है वरन् उस ज्ञान को धारण करने का गुण भी होना चाहिए। उस गुण का नाम है विप्रत्व। विप्र कहते हैं मेधावी को, मेधा-बुद्धिवाले को। मेधा का अर्थ है धारणावती बुद्धि। इसी कारण यजुर्वेद (३२।१४) में अनेक स्थानों पर मेधा-बुद्धि-प्राप्ति के लिए प्रार्थना है—**'या मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा'**—जिस मेधा-बुद्धि का सेवन निष्काम विद्वान् तथा सकाम ज्ञानी करते हैं, हे उन्नतिदायक प्रभो ! उस मेधा-बुद्धि से युक्त करके मुझे भी मेधावी कीजिए। मेधा के बिना संसार का कार्य्य भी नहीं चल सकता। सच्चे मेधावी की पहिचान ही यह है कि वह भगवान् का ध्यान करता हो।

५५. भगवान् सर्वोत्पादक तथा सर्ववशी

ओ३म् । बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी ।
स नो देवः सविता शर्म्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः ॥

—ऋ० ४।५३।६

शब्दार्थ—**यः** जो भगवान् **बृहत्सुम्नः** महाकल्याणकारी **प्रसवीता** संसार का उत्तम उत्पादक, श्रेष्ठ शासक तथा अच्छा अनुशासक=प्रेरक है और जो **जगतः** जंगम, चर का तथा **स्थातुः** स्थावर, अचर का **उभयस्य** दोनों का **निवेशनः** रचयिता, योग्य स्थान पर स्थापन करनेवाला तथा **वशी** वश में करनेवाला है, **सः** वह **सविता** सर्वोत्पादक **नः** हमारा **देवः** देव **अंहसः** पाप से बचाकर **अस्मे** हमें **क्षयाय** रहने के लिए **त्रिवरूथम्** त्रिलोकी में श्रेष्ठ **शर्म्म** कल्याण, आश्रय **यच्छतु** देवे ।

व्याख्या—यहाँ भगवान् से कल्याण माँगा गया है । जिसके पास हो न, वह दे भी नहीं सकता । देने के लिए देय वस्तु का दाता के पास होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः भगवान् को मन्त्र के आरम्भ में **बृहत्सुम्नः** =महान् कल्याणनिलय कहा है अर्थात् कल्याण की कामनावालों को भगवान् से ही कल्याण माँगना चाहिए । परमेश्वर केवल जगत् के पदार्थों की रचना ही नहीं करता, वरन् वह **निवेशनः**=सबको उचित स्थान पर स्थापित भी करता है । जैसे-जैसे जिसके कर्म्म हैं, उसको उसके अनुसार स्थिति प्रदान करता है । पशुयोनि के योग्य को पशुस्थान में स्थापित करता और मनुष्य-जीवन के अधिकारी को मनुष्य-शरीर देता है । स्थावर-जंगम, चर-अचर का वह **वशी**=वश में रखनेवाला भी है । ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में कहा भी है—**'विश्वस्य मिषतो वशी'** (ऋ० १०।१९०।२)—वह सम्पूर्ण सचेष्टों का वशी है । निश्चेष्ट को, गतिरहित को वश में करना कोई बड़ी बात नहीं है । इस सबको बनाना, सँभालना, धारना, गतियुक्त करना और अपने वश में रखना बड़ी बात है । वेद में कहा है—

अदाभ्यो भुवनानि प्र चाकशद् व्रतानि देवः सविताभिरक्षते ॥—ऋ० ४।५३।४

किसी से न दबनेवाला सविता देव भुवनों=लोकों का प्रकाश करता और नियमों की रक्षा करता है अर्थात् परमेश्वर के नियमों को कोई नहीं तोड़ सकता । वशी को 'अदाभ्य' कहकर बात अधिक विशद कर दी गई है । निवेशन-पन को इसी सूक्त में खोलकर कह दिया है—**'निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्** [ऋ० ४।५३।३]' वह जगत् को ठिकाने पर रखता और प्रेरित करता है अक्तु=रात्रि=प्रलय के साथ । वह जगदुत्पादक तथा जगद्धारक ही नहीं, वरन् प्रलयकर्त्ता भी है । जो कर्त्ता, धर्ता, हर्त्ता हो, उसके वशी होने में क्या भ्रम ? सचमुच वह कल्याणकारी है । उसकी कल्याणकारिता इसी सूक्त में अतीव सुन्दर शब्दों में वर्णित हुई है—

विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वजीजनत्सविता सुम्नमुक्थ्यम् ॥—ऋ० ४।५३।२

वह सर्वद्रष्टा सविता विस्तार करता हुआ सबसे प्रीति करता हुआ विशाल तथा स्तुतियोग्य कल्याण को उत्पन्न करता है । काकू द्वारा यह बतलाया कि इस संसार-विस्तार का प्रयोजन जीवों का कल्याण है, इन्हें सुख देना है ।

समझो इस कल्याण की रीति को और जानो उस प्रियतम की प्रीति के मर्म को !

५६. मोक्ष सबसे उत्तम भाग है

ओ३म् । देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् ।
आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः ॥ —ऋ० ४।५४।२

शब्दार्थ—हे **सवितः** सर्वोत्पादक ! सकल कल्याणसाधक ! **हि** सचमुच तू **यज्ञियेभ्यः** यज्ञ के द्वारा पूजनीय **देवेभ्यः** निष्काम महात्माओं के लिए **प्रथमम्** पहले, सर्वप्रधान **अमृतत्वम्** मोक्षरूपी **उत्तमम्** सर्वोत्तम **भागम्** भाग, सेवनीय पदार्थ को **सुवसि** देता है । तू **आत्+इत्** सभी ओर से **दामानम्** बन्धन को **व्यूर्णुषे** खोल देता है और **मानुषेभ्यः** मनुष्यहितकारी मनुष्यों के लिए **अनूचीना** अनुकूल प्रवृत्तिवाले **जीविता** जीवन-साधन देता है ।

व्याख्या—भगवान् हमें अनेक दान देते हैं । वे सभी बढ़िया हैं, एक-से-एक बढ़कर हैं । कहा भी है—**'वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत्'** (ऋ० ४।५४।१)—जो मनुष्यों को रत्न देता है, वह हमें इसी जीवन में श्रेष्ठ धन दे । इसी जीवन में, आज ही श्रेष्ठ धन मिलना चाहिए । जाने कल को क्या हो जाए ? श्रेष्ठ धनों में भी सबसे श्रेष्ठ मोक्ष है—**'देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्'** यज्ञिय देवों के लिए सबसे पहला और उत्तम मोक्षरूप भाग देता है । मोक्ष को यहाँ **प्रथम**=पहला भाग कहा है । इस संसार-चक्कर में पड़ने से पहले तू मुक्त था । तेरी अवधि समाप्त हुई, तू उसे प्राप्त करने को इस संसार में फिर आया है अर्थात् तेरे लिए सबसे मुख्य और पहले मुक्ति प्राप्तव्य है, शेष तो आनुषङ्गिक हैं । इस बात को समझाने के लिए अमृतत्व का विशेषण 'प्रथम' दिया है ।

जो मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते, ऐसे नवीन वेदान्ती भी यह मानते हैं कि अविद्या के चक्कर में पड़ने से पूर्व ब्रह्म मुक्त था, अतः सबसे प्रथम धन मुक्ति है । वह मुक्ति केवल प्रथम उपार्जनीय ही नहीं, वरन् **उत्तम भाग** भी है । उस मोक्ष की प्राप्ति पर सब भय नष्ट हो जाते हैं । गौ आदि पशु, सोना-चाँदी आदि धन के कारण भय लगा रहता है, किन्तु मोक्ष प्राप्त करके जीव निर्भय हो जाता है; जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषत्, ब्रह्मानन्द वल्ली के नवम अनुवाक में कहा है—**'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥'**—जिसे प्राप्त किये बिना मनसमेत वाणी जहाँ से हट जाती है, उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर मनुष्य कहीं से भी नहीं डरता है । वाणी और मन अर्थात् इन्द्रियाँ मुक्ति में सङ्ग नहीं रहतीं । न ही ये मुक्ति का वर्णन कर सकती हैं ।

मुक्ति के अधिकारी यज्ञिय देव हैं । सचमुच यज्ञ के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती । यज्ञ को समझने की आवश्यकता है । हमारे पास घृत है, हम घृत को अग्नि में डाल देते हैं । जो घृत पहले थोड़े-से स्थान में सुगन्ध दे रहा था, अब दूर तक फैल गया है । त्याग का यह फल है । यज्ञ में त्याग आवश्यक है, तभी तो प्रत्येक आहुति के साथ **'इदन्न मम'** [यह मेरा नहीं है] पढ़ा जाता है । यज्ञिय का अर्थ हुआ त्यागशील । **'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'** (उप०)—त्याग के द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं । त्याग कहो, संयम कहो, एक बात है । वेद कहता है—**'यथा यथा पतयन्तो वियेमिरे एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते'** (ऋ० ४।५४।५)—गिरते-पड़ते जैसे-जैसे संयम करते हैं, वैसे-वैसे वे, हे सवितः ! तेरे आदेश के लिए स्थिर होते हैं । इस प्रकार जो त्यागयज्ञ=त्याग+संयम से भगवान् के आदेश का पालन करते हैं भगवान् उनके बन्धन खोल देता है—**'आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषे'**—सवितः ! तू उनके बन्धन खोल देता है । जिन्होंने संयम द्वारा अपने-आपको भगवन् के अर्पण कर दिया, उनके बन्धन वह स्वयं काट देता है । बन्धनों का काटना ही मुक्ति है । ऐसे जीवन्मुक्त भोग-समाप्ति के लिए रहते हैं ।

५७. सारा संसार तेरा धाम है

ओ३म् । धाम॑न्ते॒ विश्वं॒ भुव॑न॒मधि॑ श्रि॒तम॒न्तः स॑मु॒द्रे हृ॒द्य॑१॒न्तरायु॑षि ।
अ॒पामनी॑के समि॒थे य आभृ॑त॒स्तम॑श्याम॒ मधु॑मन्तं त ऊ॒र्मिम् ॥

—ऋ० ४।५८।११

शब्दार्थ—हे प्रभो ! **विश्वम्+भुवनम्+अधि** सारे संसार में **ते** तेरा **धामन्** धाम, तेज, ठिकाना है **समुद्रे+हृदि+अन्तः** समुद्र-समान विशाल हृदय में तथा **आयुषि+अन्तः** जीवन-सार में तेरा धाम **श्रितम्** आश्रित है। **अपाम्+अनीके** जलसमुदाय में तथा **समिथे** सत्सङ्ग में **यः** जो **आभृतः** भरा गया है, लाया गया है, **ते** तेरी **तम्** उस **मधुमन्तम्** मधुमय, मधुर **ऊर्मिम्** लहर को **अश्याम** हम प्राप्त करें।

व्याख्या—सारे संसार में भगवान् का धाम बतलाकर कह दिया कि वह भगवान् तेरे हृदयरूपी समुद्र में भी है [हृदय और समुद्र की समता के लिए लेखक की ब्रह्मोद्योपनिषत् देखिए], हृदय की क्या बात, वह जीवन में है। आँखें हों तो उसे देखो ! अरे क्यों इधर-उधर भटकता है ? उस महान् का हृदय में ध्यान कर। छान्दोग्योपनिषत् के अष्ठम प्रपाठक के प्रथम खण्ड में अत्यन्त मनोरम रीति से इस तत्त्व को समझाया गया है—

> **अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥१॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥२॥ स ब्रूयाद्यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥३॥**

यह जो इस ब्रह्मपुर=शरीर में [शरीर को ब्रह्मपुर क्यों कहते हैं, इसके लिए ब्रह्मोद्योपनिषत् देखना चाहिए] चमकीला कमल-समान घर है, उसमें चमकीला आकाश है, उसके भीतर जो है, उसकी खोज करनी चाहिए, उसे जानना चाहिए। यदि ऐसे मनुष्य को लोग कहें कि इस ब्रह्मपुर में चमकीला कमलाकार गृह भी है और उसमें दहर आकाश भी है, किन्तु उसके भीतर और क्या रहता है, जिसे खोजना चाहिए और जानना चाहिए ? तब वह उत्तर देवे, जितना यह बाह्य आकाश है, उतना ही हृदय के भीतर का आकाश है। ये दोनों द्यौ और पृथिवी इसी में समाये हैं, दोनों आग और हवा, दो सूर्य्य और चन्द्रमा, विद्युत् तथा नक्षत्र और जो-कुछ इस बाह्य आकाश में है और जो इसमें नहीं हैं, वह सब इसमें समाया है।

महान् भगवान् सारा जहान लेकर इस हृदय में समा रहे हैं। कितना विशाल है यह हृदय ! दार्शनिक लोग बतलाते हैं—संसार में छह रस हैं। मधुर रस स्वभाव से जल में है। मन्त्र का उत्तरार्ध कहता है—जल में जो मिठास तूने भर रखी है तेरी उस मधुभरी लहरी का हम भी स्वाद लें। यह लहरी मुक्ति देती है—**'समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्'** (ऋ० ४।५८।१)—हृदय-समुद्र से मधुभरी लहरी उठी और उसने चुपचाप अमृतत्व=मोक्ष, जीवन भली प्रकार प्राप्त करा दिया। चुपचाप, शोर-शार किये बिना मोक्षरस का पान करानेवाली इस मधुभरी लहरी में नहा लो। बन्धन में जकड़ा हुआ मनुष्य तड़प रहा है। संसार के बन्धन अनेक रूपों में आकर इसे जकड़ रहे हैं। इस लहरी को उठा,

यह बन्धन तोड़ देगी। भगवान् स्वयं कह रहे हैं—**'काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः'** (ऋ० ४।५८।७)—ऊर्मियों=लहरियों से पुष्ट होता हुआ सीमाओं को तोड़ देता है। लहरियाँ उठती ही तब हैं, जब हृदय को सचमुच समुद्र बना दिया जाए। समुद्र में पूर्णचन्द्र के समय लहरियाँ उठती हैं, और बाँध तोड़ जाती हैं। इसी भाँति जब हृदय-समुद्र के सामने प्रियतम-पूर्णचन्द्र आता है तब लहरियाँ उठती हैं, और सब सीमाएँ, बन्धन टूट जाते हैं।

बन्धनों में बँधे मानव! हृदय को समुद्र बना, प्रियतम को सामने ला। फिर देख, उठती हैं न लहरियाँ और टूटते हैं न बन्धन!

५८. यज्ञों में पूज्य

ओ३म् । प्र णु त्यं विप्रमध्वरेषु साधुमग्निं होतारमीळते नमोभिः ।
आ यस्ततान रोदसी ऋतेन नित्यं मृजन्ति वाजिनं घृतेन ॥

—ऋ० ५।१।७

शब्दार्थ—**नु** सचमुच विद्वान् लोग **अध्वरेषु** यज्ञों में **त्यम्** उस जगत्प्रसिद्ध **विप्रम्** महामति, सबको तृप्त करनेवाले **साधुम्** सर्वहितसाधक **होतारम्** परम दाता **अग्निम्** सबकी उन्नति करनेवाले भगवान् को **नमोभिः** नमस्कारों से **प्र+ईळते** भली-भाँति पूजते हैं **यः** जिसने **रोदसी** दोनों लोकों का **ऋतेन** ऋत के द्वारा **आ+ततान** विस्तार किया है, और इसीलिए वे **नित्यम्** नित्य **घृतेन** ज्ञानप्रकाश से **वाजिनम्** आत्मा को **मृजन्ति** शुद्ध करते हैं ।

व्याख्या—कई लोगों का विचार है कि वेद का देवयज्ञ=अग्निहोत्र भौतिक आग और उसके द्वारा विभिन्न देवों की पूजा का एक प्रकार है । उन्हें इस मन्त्र का मनन करना चाहिए । इस मन्त्र में अग्नि का एक विशेषण है—'विप्रम्' । विप्र का अर्थ होता है मेधावी, धारणावती बुद्धिवाला । भौतिक अग्नि में बुद्धि कहाँ ? पुनः इस अग्नि के सम्बन्ध में मन्त्र के तीसरे चरण में कहा है—**'आ यस्ततान रोदसी ऋतेन'** जिसने ऋत के द्वारा, अपने अबाध्य, अकाटच, सर्वत्र प्राप्त नियम द्वारा सारे संसार की रचना की है । भौतिक अग्नि में इस विशाल संसार की रचना की योग्यता कहाँ ?

अग्नि आदि शब्द जहाँ भौतिक पदार्थों के वाचक हैं, वहाँ ये परमात्मा के नाम भी है । कहाँ भौतिक अर्थ ग्रहण करना और कहाँ 'परमात्मा' अर्थ लेना, इसके सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने बहुत सुन्दर व्यवस्था की है । वे लिखते हैं—'अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है ।"

(स० प्र० प्रथम समुल्लास)

इस मन्त्र में अग्नि को विप्र तथा सृष्टिकर्त्ता कहा है, साथ ही बताया है कि उसे सभी ज्ञानी नमस्कार करते हैं, अतः सिद्ध हुआ कि यहाँ अग्नि का अर्थ परमेश्वर है । तात्पर्य यह है कि देवयज्ञ आदि यज्ञों में आर्य्य अग्नि की पूजा नहीं करते, वरन् उस जगदुत्पादक, जगन्नायक प्रभु की उपासना करते हैं । इसी भाव को सामने रखकर महर्षि ने लिखा है—"मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गल कार्य्यों में अपने और पराये कल्याण के लिए यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें ।" (संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण)

मन्त्र के चौथे चरण में इस यज्ञ के द्वारा ईश्वरोपासना का बहुत सुन्दर फल बताया है—**'नित्यं मृजन्ति वाजिनं घृतेन'** वे नित्य घृत द्वारा=ज्ञानप्रकाश द्वारा आत्मा को शुद्ध करते हैं । आत्मा की शुद्धि भौतिक पदार्थों से नहीं हो सकती, वरन् ज्ञान से हो सकती है । मनु महाराज ने भी इस विषय में कहा है—**'विद्यातपोभ्यां भूतात्मा'** विद्या और तप के द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है । विद्या कहो, ज्ञान कहो, एक बात है । परमात्मा की उपासना का यह फल स्वाभाविक है । सिद्ध उपासकवर दयानन्द उपासना-सम्बन्धी अपने अनुभव का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष-दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण-कर्म्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं ।" (स० प्र०)

किन्तु स्मरण रखना चाहिए यह आत्मा की शुद्धि अपने पुरुषार्थ के बिना नहीं हो सकती, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से होती है। जैसाकि ऋग्वेद [५।१।८] ने कहा है—**'मार्जाल्यो मृज्यते स्वे दमूनाः'** शुद्ध करने योग्य आत्मा दान्त=संयमी होकर स्व=अपने पुरुषार्थ से शुद्ध किया जाता है। आत्मशुद्धि के लिए सतत देवयज्ञ करना चाहिए।

५६. प्रकृति-माता पुत्र को पिता के हवाले नहीं करती

ओ३म् । कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्त्ति न ददाति पित्रे ।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥

—ऋ० ५।२।१

शब्दार्थ—युवतिः सदा जवान, संयोग-वियोग के स्वभाववाली प्रकृति **माता** माता **समुब्धम्** मूढ, विवेक-विहीन **कुमारम्** कुमार को, कुत्सित कामनाक्रान्त जीव को **गुहा** अपनी गोद में **बिभर्त्ति** पालती है, रखती है, और **पित्रे** पिता को **न** नहीं **ददाति** देती है। **अस्य** इसकी **अनीकम्** शक्ति **न** नहीं **मिनत्** नष्ट होती। **जनासः** लोग **अरतौ** अरति में **निहितम्** पड़े हुए को **पुरः** सामने, समक्ष **पश्यन्ति** देखते हैं।

व्याख्या—वेद ने यहाँ एक ऐसा मर्म बताया है, जो सर्वथा प्रत्यक्ष है, किन्तु संसारी जीव उसे देख नहीं पाते। शायद इसी दशा को देखकर किसी ज्ञानी ने कहा है—**'पश्यन्नपि न पश्यति शृण्वन्नपि न शृणोति, जानन्नपि न जानाति'**—देखता हुआ भी नहीं देखता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, जानता हुआ भी नहीं जानता है। हम प्रतिदिन लोगों को मरते देखते हैं, मृतकों को श्मशान ले जाते हैं, अपने हाथ से जलाते हैं, किन्तु कितने हैं जिन्हें यह विचार आता हो कि एक दिन हमारी भी यही अवस्था होगी, हमें भी इस संसार से कूच करना होगा, यह पुत्र, कलत्र, मित्र सभी यहीं रह जाएँगे, कोई साथ नहीं जाएगा। जीव की इस मूढ अवस्था का ही वर्णन मन्त्र के पूर्वार्द्ध में है। प्रकृति माता के रूप में=पालिका, लालिका के रूप में आती है और उसे अपनी गोद में छिपा लेती है। जो वास्तविक पालक है, उस परम पिता के पास नहीं जाने देती। प्राकृतिक विषयों में फँसा जीव परमात्मा को भूल जाता है। इसी भाव को एक महात्मा ने यों कहा है—**अनृतेन प्रत्यूढाः**=असत्य से प्रभावित हो रहे हैं। सचमुच परमात्मा से दूर होना असत्य-प्रवाह में गिरना है। प्रकृति-माया बड़ी ठगनी है। किसी सन्त ने माया से—प्रकृति से—दुःखी होकर कहा है—'सन्तो माया हम बड़ी ठगनी जानी।' किन्तु प्रकृति के इस स्वरूप को कितने जानते हैं? हाँ, एक आश्वासन है। प्रकृति की गोद में छिपकर भी—**'अनीकमस्य न मिनत्'** इसके सामर्थ्य का नाश नहीं होता। जीव का जो स्वाभाविक ज्ञान है, वह बना रहता है; मूढ होकर भी ज्ञानहीन नहीं होता। इससे आशा बनी रहती है, कभी कोई ज्ञानी सन्त मिलेगा, तो कदाचित् उसके सत्सङ्ग से इसे होश आ जाए और प्रत्यक्चेतना जाग पड़े।

ज्ञानीजन देख रहे हैं कि यह अरति में फँसा है। रति की खोज में—सुख की तलाश में—गया था। अज्ञान के कारण अरति में फंस गया। आखिर कुमार ही है न! साथ ही है समुब्ध=भोला। कुमार=कुत्सित कामवाला=बुरी वासनाओंवाला। प्रकृति प्रत्येक जीव को नहीं पकड़ती। यह उसे पकड़ती है जो कुमार हो, युवा या वृद्ध न हो। कुमार का अर्थ लौकिक संस्कृत में 'बालक' होता है। बालक अज्ञानी को कहते हैं। ब्रह्मज्ञान से शून्य अज्ञानी नहीं तो और क्या है? कुमार का चित्त खेल-कूद में रहता है। वैसे लोक में भी देखिए, मूढ अवस्था में बालक माता की गोद का आश्रय अधिक लेता है। बड़ा होकर ही माँ की गोद से पृथक् होता है। यही अवस्था जीव की है। जबतक अज्ञानी है, तभी तक प्रकृति को माता मान रहा है। ज्ञानोन्मेष होने पर यह प्रकृति की गोद छोड़ देता है।

६०. प्राण आत्मा को चमकाते हैं

ओ३म् । तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम् ।
पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम् ॥ —ऋ० ५।३।३

शब्दार्थ—हे रुद्र आत्मन् ! **मरुतः** प्राण **तव** तेरी **श्रिये** शोभा के लिए तुझे **मर्जयन्त** चमकाते हैं, शोधते हैं **यत्** जो **ते** तेरा **चारु** मनोहर, सुन्दर **चित्रम्** विचित्र, अद्भुत **जनिम** उत्पन्न होना है, आविर्भाव है और **यत्** जो **विष्णोः** विष्णु के **उपमम्** समान **पदम्** पद, स्थान **निधायि** तूने धारण किया है **तेन** उसके द्वारा तू **गोनाम्** गौओं के, इन्द्रियों के **गुह्यम्** गुप्त **नाम** नाम को, सामर्थ्य को **पासि** रक्षित करता है ।

व्याख्या—आत्मा अमर है, शरीर मर्त्य है । आत्मा अविनाशी है, शरीर विनाशी है किन्तु वासना के कारण—**'अमृतो मर्त्येन सयोनिः'** अमृत आत्मा मर्त्य के साथ एक ठिकानेवाला हो रहा है । शुद्ध, पवित्र, विमल, उज्ज्वल जीव अशुद्ध, अपवित्र, समल, अँधेरे शरीर में आ फँसा है । यही आत्मा का **चारु चित्रं जनिम**=सुन्दर अद्भुत जन्म है । आत्मा विष्णुसमान बना हुआ है । संसार में रहता हुआ वह संसार का सञ्चालन कर रहा है । शरीर में बैठा आत्मा शरीर का सञ्चालन कर रहा है । यही बात उत्तरार्द्ध में कही गई है—

पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम् ।

विष्णु के समान पद को धारण कर रहा है, इसी से तू इन्द्रियों के गुप्त सामर्थ्य की रक्षा करता है । संसार के पदार्थों में जो अद्भुत सामर्थ्य है, वह सारी भगवान् की देन है । इसी प्रकार आँख में देखने की शक्ति, कान में सुनने की शक्ति तथा अन्य इन्द्रियों के बल सभी आत्मा के बल हैं । कठोपनिषत् [२।१।३] में ठीक ही कहा है—**येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् । एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥'** जिसके द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द और संयोगजन्य स्पर्शों को जानता है, उसी के द्वारा ही विशेष जानता है । वह क्या शेष रहता है ? वह यह है । आँख-नाक के द्वारा जो काम करता, जो दिखाई नहीं देता और इन सबका सञ्चालन करता है । ये इन्द्रियाँ तथा देह तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु वह नहीं मरता, शेष रहता है । यही आत्मा है ।

जगत्सञ्चालक जगत् का सञ्चालन करता हुआ साधारण जनों को इन आँखों से नहीं दीखता, ऐसे ही यह आत्मा भी देहरूप ब्रह्माण्ड को धारण करता हुआ इन आँखों से नहीं दीख पाता है । दोनों में कैसा सादृश्य है ! इस सादृश्य के दिखाने का प्रयोजन है कि हे जीव ! तू भी छोटा-सा ईश्वर है । तुझे अपनी महिमा को भुलाना नहीं चाहिए । संसार के सभी पदार्थ भगवान् की महिमा का बखान कर रहे हैं । शरीरगत प्राण आत्मा की महत्ता का व्याख्यान कर रहे हैं । जबतक आत्मा शरीर में रहता है, तबतक प्राणों की क्रिया भी रहती है; ज्यों ही आत्मा ने प्रयाण किया, कूच किया, तभी प्राण भी प्रयाण कर जाते हैं । प्रश्नोपनिषत् २।४ में इसका बहुत सुन्दर वर्णन है । वहाँ आता है कि आँख-नाक को यह अभिमान हो गया कि हम ही इस शरीर के धारक हैं । आत्मा ने उन्हें कहा, ऐसे अज्ञान में मत फँसो, मैं ही प्राण का पाँच प्रकार से विभाग करके इस शरीर को धारण करता हूँ । उन्हें विश्वास न हुआ । तब—

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव, तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ॥

वह थोड़ा-सा ऊपर को निकला। उसके बाहर निकलने पर सभी निकलने लगे; उसके ठहर जाने पर सभी ठहर गये। जैसे रानी मक्खी के उड़ने पर सभी मक्खियाँ उड़ पड़ती हैं, ठहरने पर ठहर जाती हैं। ऐसा ही वाणी, मन, आँख, कान का हाल हुआ, किन्तु इतना शक्तिशाली, भगवान् की समानतावाला, भगवान् के समान निष्काम न होने से मैला हो गया है। इसकी शोभा पर, इसकी चमक पर परदा पड़ गया है, उसे हटाने के लिए प्राणायाम किया जाता है—**'तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त।'** तेरी शोभा के लिए प्राणशोधन करते हैं। आत्मा को जब अपने दोषों का ज्ञान होता है, तब वह सभी साधनों का अनुष्ठान करता है। प्राणायाम एक सरल साधन है। ऋषि लोग भी वेद के इस मन्त्र को सम्मुख रखकर प्राणायाम का उपदेश करते हैं, जैसाकि मनुजी ने कहा है—**'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'** प्राणायामों के द्वारा दोषों को जलाये। ऋषि ने भी लिखा है—"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।" (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

प्राणायाम से शरीर और आत्मा दोनों की शुद्धि होती है। मल दूर होने से आत्मा चमकता है।

६१. तत्त्वदर्शी तेरी शोभा से अमृत धारते हैं

ओ३म् । तव श्रिया सुदृशो देव देवाः पुरू दधाना अमृतं सपन्त ।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्दशस्यन्त उशिजः शंसमायोः ॥ —ऋ० ५।३।४

शब्दार्थ—देव हे देव! दिव्यगुणयुक्त आत्मन् ! **सुदृशः** भली प्रकार देखनेवाले, भलाई को देखनेवाले, तत्त्वदर्शी **देवाः** विद्वान् **तव** तेरी **श्रिया** शोभा से **पुरू** बहुत-कुछ **दधानाः** धारण करते हुए **अमृतम्** मोक्ष को **सपन्त** प्राप्त करते हैं । **मनुषः** मननशील **उशिजः** मोक्षाभिलाषी **आयोः** मनुष्य के **शंसम्** गुणों का **दशस्यन्तः** उपदेश करते हुए **होतारम्** महादानी **अग्निम्** जगन्नायक भगवान् के पास **निषेदुः** निरन्तर बैठते हैं ।

व्याख्या—इस मन्त्र में मुक्ति-प्राप्ति तथा उसके साधनों का थोड़ा-सा संकेत है । वेद कहता है मुक्ति से पूर्व बहुत-कुछ धारण करना होता है—**'पुरू दधाना अमृतं सपन्त'**=बहुत-कुछ धारण करते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं । शास्त्र में मुमुक्षा=मोक्ष की इच्छा से पूर्व विवेक, वैराग्य और षट्कसम्पत्ति की प्राप्ति आवश्यक बतलाई गई है ।

विवेक—सत्यासत्य के भेद-ज्ञान, आत्मा-अनात्मा के भेद-ज्ञान को कहते हैं, तीनों शरीरों, पाँचों कोषों से आत्मा को भिन्न जानना विवेक है । विवेक के कारण शरीर के विषयों से विरक्ति का नाम वैराग्य है । षट्कसम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान का नाम है । अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर धर्म्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना 'शम' है । श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्म्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्म्मों में प्रवृत्त रखना 'दम' है । दुष्ट कर्म्मवाले मनुष्यों से सदा दूर रहना 'उपरति' है । चाहे निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक छोड़ मुक्ति-साधनों में सदा लगे रहना 'तितिक्षा' है । वेदादि सत्य शास्त्रों और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना 'श्रद्धा' है । चित की एकाग्रता 'समाधान' है । इनके बाद मुमुक्षा का स्थान है । इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा दर्शन भी मुक्ति-प्राप्ति के आवश्यक साधन हैं ।

विद्वानों तथा वेदादि शास्त्रों के उपदेश सुनना तथा पढ़ना 'श्रवण' है । उसमें भी विशेष ब्रह्म-विद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिए, क्योंकि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है । सुनकर एकान्त स्थान में बैठकर विचार करना और यदि कोई शंका हो तो उसका निवारण करना 'मनन' है । जब सुनने और मनन करने से निस्सन्देह हो जाए तब समाधिस्थ होकर उस बात को देखना-समझना कि जैसा सुना था, विचारा था, वैसा ही है वा नहीं । ध्यान-योग से देखना 'निदिध्यासन' है । जैसा पदार्थ का स्वरूप, गुण और स्वभाव हो वैसा याथातथ्य जान लेना 'दर्शन' या 'साक्षात्कार' है । इसी प्रकार प्रतिदिन कम-से-कम दो घण्टा ईश्वरोपासना भी आवश्यक है । इसी प्रकार के अनेक शुक्ल कर्म्मों को धारण करने के बाद कहीं मुक्ति मिलती है ! इस बात को वेद ने कहा—**'पुरू दधाना अमृतं सपन्त'**—बहुत-कुछ धारण करते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं । यह सब-कुछ होकर भी मुक्ति-सुख तो परमात्मा के बिना नहीं मिलता, जैसाकि वेद में कहा है—**'न ऋते त्वदमृता मादयन्ते'** (ऋग्वेद ७।११।१)—तेरे बिना मुक्तों को आनन्द नहीं मिलता । इसीलिए उत्तरार्ध में कहा है—मननशील लोग महादानी, जगन्नायक भगवान् की उपासना करते हैं । ऋषि ने खोलकर कहा—"ब्रह्म-लोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्ष-सुख को भोगते हैं, और इसी परमात्मा की, जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है, उपासना मुक्ति प्राप्त करनेवाले विद्वान् लोग करते हैं ।" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास)

ऐसे तत्त्वदर्शी महात्मा—**'दशस्यन्त उशिजः शंसमायोः'**—मुक्ति के अभिलाषी होकर मनुष्य के [अथवा मनुष्य को] गुणों का उपदेश करते हैं अर्थात् मनुष्य को उसके अल्प सामर्थ्य आदि धर्म्मों का बोध कराके समझाते हैं कि 'वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता तथा सबका स्वामी है और कि जीव कर्म्मानुसार सुख-दुःख का भोक्ता है। जबतक जीव बन्धन में है, तबतक अनेक सुख-दुःखों तथा नाना दुरवस्थाओं तथा दुर्गतियों में ग्रस्त रहता है। जब बन्धन से छूटता है, तभी चमकता है। महात्माओं में जो तेज और चमक होती है, वह बाह्य शरीर की नहीं, वरन् अन्दर के आत्मा की होती है, अतः मन्त्र के प्रारम्भ में कहा है—**'तव श्रिया देव सुदृशो देवाः'**—'हे आत्मदेव ! तत्त्वदर्शी तेरी शोभा के द्वारा—अथवा हे आत्म-देव ! देव=इन्द्रियाँ तेरी शोभा से ही—सुदर्शी अच्छी प्रकार देखने-सुनने का काम करते हैं। आओ, इस आत्मा की शोभा के दर्शन करें !

६२. भगवान् अपूर्व सर्वाधिक याज्ञिक

ओ३म् । न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान्न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः ।
विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद्देव मर्त्तान् ॥ —ऋ० ५।३।५

शब्दार्थ—हे **अग्ने** ज्ञानस्वरूप ! यज्ञ-साधक प्रभो ! **त्वत्** तुझसे **पूर्वः** पूर्ववर्त्ती, कोई भी **होता** दाता **न** नहीं है और न ही कोई **यजीयान्** अधिक याज्ञिक है । हे **स्वधावः** अपनी शक्ति से सुरक्षित भगवन् ! और **न** न ही **काव्यैः** काव्यों के द्वारा, क्रान्त-दर्शनों के द्वारा कोई **परः** मुखिया **अस्ति** है । **च** और **यस्याः** जिस **विशः** प्रजा का तू **अतिथिः** आत्मा **भवासि** हो जाता है, हे **देव** देव ! भगवन् ! **सः** वह **यज्ञेन** यज्ञ के द्वारा **मर्त्तान्** मनुष्यों को **वनवत्** निरन्तर भक्तियुक्त कर देता है ।

व्याख्या— ईश्वरविश्वासी सभी आस्तिक मानते हैं कि जब यह जहान न था, तब भी भगवान् था । वेद भी कहता है—**'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** [ऋ० १०।१२१।१] सूर्य्यादि सभी प्रकाशकों का आधार परमात्मा इस संसार से पूर्व विद्यमान रहता है । जब भगवान् सबसे पूर्व विद्यमान था, उससे पूर्व किसी की सत्ता नहीं थी, तब फिर उसकी महत्ता में क्या सन्देह ? संसार-रचना करके सारा संसार जीवों के अर्पण कर दिया, इससे बड़ा दान और दानी कहाँ और कौन हो सकता है ? कैसी अद्भुत रचना है ! आग पानी को सुखा देती है, पानी आग को बुझा देता है । इन परस्पर-विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थों की संगति करके कैसी विचित्र रचना रची है । सचमुच उससे बढ़कर मेल करानेवाला कोई नहीं है—**'न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् ।'** संसारी जन समान गुणोंवाले पदार्थों को मिलाकर कुछ बनाया करते हैं, किन्तु उसकी रचना देखो ! मित्र और वरुण को=आक्सीजन तथा हाइड्रोजन को विद्युत् के द्वारा मिलकर जल बना देता है। आक्सीजन जलाती है, हाइड्रोजन जलता है, विद्युत् के द्वारा मिलाकर शीतलता देनेवाला जल बनता है। प्रभु की इस अनुपम लीला को देखकर ब्राह्मणग्रन्थों ने कहा—**'अग्नीषोमीयं जगत्'** यह संसार आग-पानी का मेल है, अग्नि-जल का खेल है ।

पदार्थरचना से पूर्व पदार्थों के गुणधर्म्मों का ज्ञान आवश्यक है, उनसे कार्य्य लेने की योग्यता तथा क्षमता भी चाहिए, इस गुण में भी भगवान् का स्थान प्रधान है—**'न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः'**—हे स्वशक्ति से सुरक्षित ! काव्यों के द्वारा, ज्ञानों के द्वारा भी और कोई मुखिया नहीं है ।

मनुष्य अपने कार्य्य के लिए सदा परमुखापेक्षी रहता है । कोई छोटे-से-छोटा कार्य्य ऐसा नहीं, जिसे वह दूसरों की रंचमात्र सहायता लिये बिना कर सके, किन्तु परमात्मा 'स्वधावः' है—अपनी शक्ति से सब-कुछ कर लेता है ।

कवियों ने मनु की सन्तान की महिमा का गान करते हुए कहा—**'स्ववीर्य्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः'** (रघुवंश २।४)—मनु की सन्तान अपने सामर्थ्य से सुरक्षित है । कवियों की इस युक्ति में अतिशयोक्ति है । किन्तु मनु के पितरों का पिता तो सचमुच स्वधावः=स्ववीर्य्यगुप्त है । भगवान् की शक्ति का वर्णन कौन कर सकता है ? अनन्त-अपार उसकी शक्ति है । वह सबमें रह रहा है, किन्तु दीख नहीं रहा । मानव के अन्तस्तल में वह विराजता है, किन्तु मानव उससे विमुख है । किसी भाग्यवान् साधनासम्पन्न के हृदय में, आत्मा में अचानक उसका चमकारा हो जाता है । इस बात को वेद ने अपने सुन्दर शब्दों में कहा—**'विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि'**—जिस प्रजा का तू अतिथि हो जाता है ।

अतिथि के आने की कोई तिथि नहीं । जाने कब आ खड़ा हो ! किन्तु मनुष्य को अतिथिसत्कार

के लिए तो सदा तय्यार रहना चाहिए। ऐसा न हो कि अतिथि आये और सत्कार पाये बिना चला जाए। लौकिक अतिथि के सम्बन्ध में यम ने कहा—

आशा प्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्त्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥—कठो० १।१।८

जिस मन्दभागी गृहस्थ के घर ब्राह्मण अतिथि भूखा रहता है, उस मन्दमति की आशा, प्रतीक्षा, संगति, मधुरवाणी, यज्ञयाग, दानपुण्य, सन्तान, हैवान [पशु] सभी नष्ट-से हो जाते हैं। अरे लौकिक—सांसारिक—अतिथि के सत्कार न करने का यह कुफल है, तो ब्राह्मणों के ब्राह्मण, परम ब्राह्मण के सत्कार न करने का कितना बड़ा कुफल होगा? जो भाग्यशील उस अनुपम, निराले अतिथि को पहचान लेता है और उसका करता है सत्कार तो—**'स यज्ञेन वनवद्देव मर्त्तान्'** वह भगवान्, यज्ञ के द्वारा, अतिथियज्ञ के द्वारा मनुष्य को भक्तियुक्त कर देता है। यह अतिथियज्ञ निराला है।

दयामय अतिथे! आओ! अपना यज्ञ सिखाओ!

६३. हृदय से तेरा भजन

ओ३म् । यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् ।।—ऋ० ५।४।१०

शब्दार्थ—**यः** जो **मर्त्यः** मैं मरणधर्म्मा **त्वा** तुझ **अमर्त्यम्** अविनाशी को **मन्यमानः** मानता हुआ **कीरिणा** स्तुतिपूर्ण **हृदा** हृदय से **जोहवीमि** बार-बार पुकारता हूँ । हे **जातवेदः** सर्वज्ञ ! हृदय के मर्मज्ञ ! **प्रजाभिः** प्रजाओं के साथ, अथवा प्रजाओं के द्वारा **अस्मासु** हममें **यशः** यश **धेहि** डाल । हे **अग्ने** सबको ऊपर उठानेवाले ! हम **अमृतत्वम्** मोक्ष **अश्याम्** प्राप्त करें ।

व्याख्या—जब कोई ज्ञानी प्रतिदिन प्राणियों को मृत्यु का ग्रास होते देखता है, तो उसे निर्वेद तथा चिन्ता आ घेरते हैं । निरन्तर चिन्तन से उसे बोध होता है कि मैं मर्त्य हूँ, मेरे आत्मा और देह का वियोग अवश्यम्भावी है । उसे दीखता है—**'वियोगान्ताः हि संयोगाः'**—संयोग का अन्त वियोग है; शरीर का परिणाम राख है—**'भस्मान्तँ शरीरम्'** [य० ४०।१५] । तब उसका देहविषयक अभिमान नष्ट हो जाता है, इस देह की ममता उसे नहीं पकड़ती । उसे इस शरीर से पृथक् कोई ऐसा तत्त्व दीख़ता है जो इस मरणधर्म्मा देह में रहता हुआ भी मृत्यु का ग्रास नहीं होता । उसे वह अमर्त्य समझता है । उसे भासता है कि वास्तविक वह 'यह' है, किन्तु इसका मरणधर्म्मा के साथ संग उसे अकुला देता है, बेचैन कर देता है । तेरी शरण में आता है । तेरे गुण से उसका हृदय भर जाता है । भूल जाता है वह संसार को, बार-बार तुझे पुकारता है, दिल से पुकारता है, हृदय से पुकारता है । वह कहता है—

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।

मैं अपने-आपको मर्त्य और तुझको अमर्त्य मानता हुआ तेरे अनुराग से पूर्ण हृदय से तुझे बार-बार पुकारता हूँ । केवल पुकारता ही नहीं, तुझसे कुछ माँगता हूँ—**'जातवेदो यशो अस्मासु धेहि'** सबमें रहनेवाले ! हमें यश दो । मुझे ? नहीं, हमें । पुकारता मैं हूँ, किन्तु माँगता सबके लिए हूँ, तूने ही सिखाया है । तूने अपनी वेदवाणी में फरमाया है—**'केवलाघो भवति केवलादी'** [ऋ० १०।११७।६]—अकेला खानेवाला पाप खाता है । पापी तो यशरहित=या अपयशवाला होता है । मुझे अपयश नहीं चाहिए, अतः हम सबको यश दे । हम सभी यशस्वी हों—**'बाहुभ्यां यशोबलम्'**—भुजाओं से यशोयुक्त बल मिले ।

तू तो बड़ा कृपालु है । वेद ने मुझे बतलाया है—

यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम् ।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति ।।—ऋ० ५।४।११

जातवेद ! जिस सुकृति के लिए तू छोटा-सा भी सुखकारी सूराख=छिद्र कर देता है, वह संसार के सभी सुखों, ऐश्वर्यों को आराम से प्राप्त करता है । प्रभो ! जातवेद ! सूराख को थोड़ा-सा चौड़ा कर दे । मुझे घोड़े नहीं चाहिएँ, मुझे पुत्रकलत्र नहीं चाहिएँ । मुझे चाहिए अमृत=मृत्युरहित जीवन । कीर्ति तो नाशवान् है, अनित्य है, अतः हम इस कीर्ति के चक्र में न पड़े रहें । हमारी कामना इससे बड़ी है । हमारी हार्दिक भावना यह है—**'अग्ने अमृतत्वमश्याम्'**—ज्ञानिन् ! हम मुक्ति प्राप्त करें । धनधान्य, पुत्रकलत्र, भूसम्पत्ति सब यहीं रह जाती हैं, सब विमुख हो जाते हैं, अतः मैं ज्ञानपूर्वक इससे छूटना चाहता हूँ । अकेला ? नहीं, नहीं, नहीं ! ! ! मैं ? नहीं ! हम । हम सभी दुःखी हैं, मृत्यु से त्रस्त हैं । अमृत का प्याला पिला और हमें मृत्यु से छुड़ा ।

६४. यज्ञ का संचालन कौन कर सकता है ?

ओ३म् । नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः । कविर्हि मधुहस्त्यः ॥ —ऋ० ५।५।२

शब्दार्थ—**नराशंसः** मनुष्यों से प्रशंसनीय ग्रतः **ग्रदाभ्यः** किसी से न दबनेवाला **मधुहस्त्यः** मिठास-भरे हाथोंवाला **कविः** क्रान्तदर्शी **हि** ही **इमम्** इस **यज्ञम्** यज्ञ को **सु+सूदति** ग्रच्छी प्रकार सञ्चालित कर सकता है ।

व्याख्या—यज्ञ क्या है ? देवपूजा, संगतिकरण तथा दान यज्ञ हैं । देवों की, दिव्यगुणवालों की पूजा, देनेवालों की पूजा, तेजस्वियों की पूजा, प्रकाशकों की पूजा देवपूजा है । यथायोग्य उपकार-ग्रहण ग्रौर व्यवहार का नाम पूजा है । संगतिकरण—सं—गति—विगतिक पदार्थों को सं—गतिवाला करना, उलटी चालवालों को सुलटी चाल पर ले ग्राना, विरुद्ध दिशा में गति करनेवाले को ग्रविरुद्धगतिक बनाना, विविध चालवालों को एक चालवाला बनाना संगतिकरण है । ग्रपने पदार्थ पर से ग्रपना स्वत्व=ग्रधिकार छोड़कर उसे पराये ग्रधिकार में दे डालना दान है । ये सब मिलकर यज्ञ हैं ।

पूजा करने के लिए पूज्यों को जानना ग्रनिवार्य्य है । संगति करने ले लिए सङ्गमनीय पदार्थों के गुणधर्म तथा उनके मेल की चाल, युक्ति का ज्ञान ग्रावश्यक है । दान से पूर्व देय वस्तु, तथा ग्रपने स्वत्व एवं लेनेवाले की पात्रता का ज्ञान होना प्रयोजनीय हैं । इन तीनों कार्य्यों के लिए सामान्य ज्ञान से कार्य्य नहीं चल सकता । इन कार्य्यों के लिए पैनी दृष्टि चाहिए, जो परले पार तक जाती हो, ग्रतः वेद ने कहा कि इस यज्ञ का करनेवाला **कविः**=क्रान्तदर्शी होना चाहिए ।

यज्ञ के इस संक्षिप्त भाव पर थोड़ा विचार कीजिए, कितना विशाल है यह ! वेद में तो यज्ञ करने के लिए तन तक लगा देने की बात कही है—**'बृहस्पति यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्'** [ऋ० १०।१३।४]—बृहस्पति ऋषि यज्ञ को करता है ग्रौर यम=संयमी, दूसरों को संयम में रखनेवाला ग्रपने प्यारे मन को रिक्त कर देता है, ग्रर्पण कर देता है ग्रर्थात् यज्ञ ग्रल्प नहीं है । ग्रारम्भ में भले ही वामन हो, ग्रन्त में तो बृहस्पति है, बड़ों का पालक है, ग्ररे यह तो ऋषि है, राह दिखाता है ।

यज्ञ को कौन करे ? जो यम हो, स्वयं संयमी हो, दूसरों को संयम से रखता हो । यम मौत हो । मर चुका हो । संसार के लोभ से परे हो चुका हो । यम सबको दबाता है, उसे कौन दबाये ! वह **'ग्रदाभ्यः'** है । यज्ञार्थ यम ने तन दे दिया है । धन देना सरल है । तननाश ग्रौर धननाश में चुनाव के समय बुद्धिमान् धननाश स्वीकार कर तन की रक्षा करता है, किन्तु यम ग्रपना तन भी दे रहा है, त्याग की यह है परकाष्ठा ! दूसरों का तन नहीं वरन्—**'प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्'** ग्रपने प्यारे तन को ग्रर्पण कर देता है । जिसने तन दिया, उसने धन तो पहले ही दे दिया था । मन के बिना तन-धन किसने दिया । जिसने तन, धन, मन दे डाला, वह हो गया **नराशंसः** । सभी मनुष्य उसकी स्तुति करते हैं, सभी उसका यशोगान करते हैं । यह यज्ञ लोकोपकार है । उपकारी की वाणी तो मीठी होती ही है, ग्रपितु उसके हाथों से भी मिठास बहता है । वह मधुहस्त्य है । वह जो कुछ यज्ञ में डालता है वह मधुर बन जाता है, क्योंकि वह है मधुहस्त्य ।

६५. सत्य को जान

ओ३म् । ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः ।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः ॥ —ऋ० ५।१२।२

शब्दार्थ—हे **ऋतं+चिकित्वः** सत्यज्ञानाभिलाषिन् ! **ऋतम्+इत्** ऋत् को ही, सत्य को ही **चिकिद्धि** बार-बार-जान । **ऋतस्य** ऋत की, सत्य की **पूर्वीः** पुरातन, सनातन से चली ग्राई **धाराः** धाराग्रों को **ग्रनु+तृन्धि** ग्रनुकूलता से फोड़ । **ग्रहम्** मैं **यातुम्** यातु=राक्षस को **न** न तो **सहसा** बल से ग्रौर **न** न ही **द्वयेन** दोगली चाल से प्राप्त होता हूँ, वरन् मैं **ग्ररुषस्य** रोषसहित **वृष्णः** सुखवर्षक भगवान् के **ऋतम्** ऋत्=सत्य-सृष्टिनियम को **सपामि** धारण करता हूँ ।

व्याख्या—मनुष्य को सम्बोधन करते हुए भगवान् ने उसे **'ऋतं चिकित्वः'** सत्यज्ञानाभिलाषी कहा है । जो मनुष्य इस मनुष्य-तन को पाकर सत्य का ग्रनुसन्धान नहीं करता, वह मनुष्य कहलाने का ग्रधिकारी नहीं है । मनुष्य के सामने सत्यासत्य दोनों ग्राते हैं, जैसा कि वेद कहता है—**'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते'** [ऋ० ७।१०४।१२]—उत्तम ज्ञान के ग्रभिलाषीजन के सामने सत्य ग्रौर ग्रसत्य वचन एक-दूसरे को दबाते हुए ग्राते हैं । समझदार मनुष्य ग्रसत्य को ग्रमङ्गल मान त्याग देता है । **तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्'** [ऋ० ७।१०४।१२]—उनमें जो सत्य है, जो ग्रधिक सरल है, शान्ति का ग्रभिलाषी उसे पसन्द करता है ग्रौर ग्रसत्य को त्याग देता है । सत्य की पहचान भी भगवान् ने बता दी । सत्य ऋजु होता है, सरल है, ग्रर्थात् ग्रसत्य टेढ़ा होता है, कुटिल होता है ।

इस ग्रशान्ति के सागर में जिसे शान्ति की कामना हो वही सुविज्ञान का ग्रभिलाषी है । सुविज्ञान के ग्रभिलाषी को, शान्ति की कामनावाले को सत्य पसन्द करना चाहिए । पसन्द से पूर्व सत्य का ज्ञान भी तो होना चाहिए, ग्रतः प्रकृत मन्त्र कहता है—**'ऋतमिच्चिकिद्धि'** ऋत को ही, सत्य को ही बार-बार जान । सत्य ग्राज की वस्तु नहीं है, यह सनातन है, सदा से चला ग्राता है, ग्रतः वेद कहता है—**'ऋतस्य धारा ग्रनुतृन्धि पूर्वीः'** ऋत की सनातन धाराग्रों को ग्रनुकूलता से फोड़, ग्रर्थात् ऋत का रहस्य जान, सत्य का मर्म पहचान । वेद नीतियुक्त, ग्रसत्यमिश्रित सत्य का विरोधी है ग्रौर नितान्त निर्भ्रान्त सत्य का प्रचारक है, ग्रतः ऋत शब्द का प्रयोग करता है । ऋत=सृष्टिनियम सदा से है ग्रौर एकरस है । धार्मिक-जन कभी भी दोरुखी चाल नहीं चला करते, वरन् वे सदा सत्य का ग्रनुगमन करते हैं । इसी बात को ग्रतीव सुन्दर शब्दों में उत्तरार्ध में कहा गया है—

नाहं यातुं सहसा न द्वयेन, ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः ।

न मैं हठ से ग्रौर न दोरुखी चाल से, राक्षस को ग्रपनाता हूँ, वरन् मैं तो रोषरहित सुखवर्षक के ऋत को धारण करता हूँ । भगवान् सुखवर्षक हैं, वे रोषरहित हैं । उनका ऋत भी सुखवर्षक तथा रोषरहित है । इस ऋत को, ग्रबाधित सत्य को जानना, पहचानना, मानना तथा धारना चाहिए ।

६६. शत्रु-मित्र की पहचान

ओ३म् । के तें अग्ने रिपवे बन्धनासः के पायवः सनिषन्त द्युमन्तः ।
के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः ॥

—ऋ० ५।१२।४

शब्दार्थ—हे **अग्ने** अग्ने ! **रिपवे** शत्रु के लिए **ते** तेरे **के** कौन-से **बन्धनासः** बन्धन हैं और **के** कौन-से **द्युमन्तः** प्रकाशमय **पायवः** रक्षक **सनिषन्त** सत्कृत होते हैं और सत्कार करते हैं। हे **अग्ने** प्रकाशक ! शत्रु-मित्र का ज्ञान करानेवाले ! **के** कौन लोग **अनृतस्य** अनृत के, झूठ के **धासिम्** बन्धन को, धारण को **पान्ति** रक्षा करते हैं और **के** कौन **आ+सतः** सर्वथा सत्य **वचसः** वचन के **गोपाः** रक्षक **सन्ति** हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में शत्रु-मित्र की पहचान का संकेत है। शत्रुओं के लिए बन्धन का विधान है, मित्र के लिए सत्कार का आदेश है। संसार में जो किसी की हानि करे, वह उसका रिपु=शत्रु कहाता है और जो किसी से स्नेह करे, प्रीति करे, वह मित्र कहाता है। हानिकर को हानि से रोकने का उपाय प्रतिबन्ध है, बन्धन है, उसकी गतिविधि में रुकावट उसे हानि करने से रोक सकती है। मित्र तो रक्षक के रूप में आता है, अतः यहाँ उसे पायु=रक्षक कहा है। मारनेवाले से बचानेवाले को सभी श्रेष्ठ मानते हैं। बिगाड़ने में किसी चतुराई की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु बनाने में तो असीम बुद्धि-कौशल चाहिए, अतः रक्षक प्रायः प्रीतिभाजन होता है। इसी भाव को लेकर कहा है—**'के पायवः सनिषन्त द्युमन्तः'** कौन-से प्रकाशमय रक्षक सत्कृत होते हैं ?

अथवा—के पायवः ? रक्षक कौन हैं ? इसका उत्तर है—**'सनिषन्त द्युमन्तः'** जो दीप्तिमान सत्कृत हो रहे हैं। हिंसक से रक्षक का तेज अधिक उज्ज्वल होता है। दीक्षा लेते हुए यजमान कहता है—**'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि'** [य० १।५]—मैं अनृत=झूठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होता हूँ। अनृतत्यागपूर्वक सत्यग्रहण मनुष्य-जीवन का ध्येय है, किन्तु अविद्या के कारण कई लोगों को असत्य से प्रीति होती है। संसार में यथायोग्य व्यवहार के लिए इनका [असत्य-प्रेमियों का] ज्ञान होना आवश्यक है, अतः वेद ने कहा—**'के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति'** कौन झूठ की धारणा की रक्षा करते हैं ?

थोड़ा-सा विचार करने से प्रतीत होता है कि मन्त्र केवल सांसारिक शत्रु-मित्रों की चर्चा नहीं कर रहा, वरन् किसी गहरे तत्त्व का संकेत कर रहा है। सांसारिक शत्रु-मित्र तो अदलते-बदलते रहते हैं। आज जो मित्र है, कल वह शत्रु हो सकता है। सांसारिक शत्रुता और मित्रता तो प्रयोजन के अधीन होती है। वेद यहाँ आत्मा के शत्रु-मित्रों की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। विषय-वासना, संसार के प्रलोभन आकर आत्मा को मोह लेते हैं। इसका नैसर्गिक और नैमित्तिक—दोनों प्रकार का ज्ञान हर लेते हैं। इसे फिर कुछ सूझता नहीं। सूझता भी है तो विषय-वासना का अन्धकार कुछ करने नहीं देता। वे कुत्सित भाव इस आत्मा को अनृत के धासि=संसार की रक्षा में तत्पर कर देते हैं, इससे यह जन्ममरण के चक्कर में पड़ जाता है। इससे बचना हो तो अनृत-रक्षकों का कुसंग त्यागकर जानना होगा कि—**'क आसतो वचसः सन्ति गोपाः'** कौन सत्यवचन के रक्षक हैं ? श्रुतिभगवती माता की भाँति कल्याणी है, वह जीव को अन्धकार में भटकने नहीं देती, वरन् अंगुली पकड़कर कहती है—

'यस्ते अग्ने नमसा यज्ञमीट्ट ऋतं स पात्यरुषस्य वृष्णः ।'—ऋ० ५।१२।६

हे ज्ञानस्वरूप, सर्वोन्नतिसाधक प्रभो ! जो नमस्कार द्वारा तेरे यज्ञ को पूजता है, चाहता है,

वह तुझ रोषरहित सुखवर्षक के ऋत की रक्षा करता है अर्थात् परम आस्तिक, ईश्वरभक्त, ईश्वर के रचे यज्ञ का याज्ञिक ही सत्य का रक्षक है। ऐसे महापुरुष के सङ्ग से आत्मकल्याण हो सकता है, अतः सत्यरक्षक तथा अनृतपालक का विवेक करो। सत्यरक्षक मित्र है; असत्यपालक शत्रु है। शान्ति के अभिलाषी को इसका विवेक अवश्य होना चाहिए। वेद में कहा है—**'न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति'** [ऋ० ७।१०४।१३]—सचमुच शान्ति का अभिलाषी पाप नहीं करता है। वृजिनं=वर्जनीय=त्यागने योग्य=पाप का ज्ञान होगा, तभी उसे त्याग सकेगा।

६७. मित्र शत्रु बन जाते हैं

ओ३म् । सखा॑यस्ते॒ विषु॑णा अग्न ए॒ते शि॒वास॒: सन्तो॒ अशि॑वा अभूवन् ।
अधू॑र्षत स्व॒यमे॒ते वचो॑भिर्ऋजूय॒ते वृ॑जि॒नानि॑ ब्रु॒वन्त॑: ॥ —ऋ० ५।१२।५

शब्दार्थ—हे **अग्ने** प्रकाशकों के प्रकाशक ! **ते+एते** ये तेरे **सखायः** सखा **शिवासः+सन्तः** मङ्गलमय होते हुए भी **विषुणाः** विषमता के कारण **अशिवाः** अमङ्गल **अभूवन्** हो जाते हैं । **ऋजूयते** ऋजुता के अभिलाषी के प्रति **वृजिनानि** वृजिन=वर्जनीय **ब्रुवन्तः** बोलते हुए **एते** ये **स्वयम्** अपने-आप ही **वचोभिः** वाणियों से **अधूर्षत** हिंसित होते हैं ।

व्याख्या—मन्त्र के पहले भाग में लोकप्रसिद्ध तत्त्व का उपदेश किया है । मित्र होता ही कल्याणकारी है । दुःख से तरानेवाले को मित्र कहते हैं—**'सखा सखायमतरद् विषूचोः'** [ऋ० ७।१८।६]—सखा सखा को विषम दशा से बचाता है । वेद में दूसरे स्थान पर आया है—**'सखा सख्युर्नः प्र मिनाति संगिरम्'** [ऋ० ९।८६।१८]—मित्र मित्र के वचन की हिंसा नहीं करता, अर्थात् मित्र मित्र की मर्यादा भंग नहीं होने देता, वरन् उसकी मानमर्यादा की रक्षा करता है, किन्तु ये भाव स्थायी नहीं होते; क्षणिक होते हैं, किसी कारण से विषमता आई और ये 'शिवसखा' 'अशिव' हो जाते हैं । अशिव को सखा कौन मानता है ?

बाहर के व्यवहारमय संसार से अन्दर के विचारमय संसार में चलिए । बाहर कब मैत्री होती है; नीतिकार कहते हैं—**'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'**—जिनका एकसमान स्वभाव हो अथवा जिनपर एकसम विपत्ति हो, उनमें परस्पर मैत्री होती है । सखा का अर्थ करते हुए यास्काचार्यजी कहते हैं—**समानख्यानो भवति**=जिनका ख्यान address पता एक-सा हो । साधारण दशा में मनुष्य अपने आत्मा और इन्द्रियों को एक-सा समझता है । 'मेरी आँख' कहकर भी आँख में विकार आने पर मैं अन्धा हूँ, मैं काणा हूँ, ऐसा लोग कहते हैं । आत्मा तो काणा नहीं है, काणापन तो आँख में है । आँख को सखा ही नहीं, अपना-आपा मानकर यह व्यवहार हो रहा है । आँख, नाक, कान आदि आत्मा के सखा हैं । आत्मा का ठिकाना भी शरीर है और इन्द्रियों का अधिष्ठान भी शरीर ही है, अर्थात् दोनों का पता एक है । दोनों का ज्ञान शरीर में ही होता है, अतः ये सखा हैं । यदि ये इन्द्रियाँ आत्मा के कार्य्यसाधन में सहायक हों, तब तो ये आत्मा के सहायक हैं और यदि ये आत्मा से विमुख हो जाएँ [यह विमुखता भी आत्मा की मूर्खता के कारण होती है] तब ये—

शिवासः सन्तो अशिवा अभूवन्—मङ्गलमय होते हुए अमङ्गल हो जाते हैं । आत्मा के पतन का कारण हो जाते हैं ।

वेद ने उत्तरार्ध में एक अद्भुत बात कही है—**'अधूर्षत स्वयमेते ··· ब्रुवन्तः'** पाप की बातें बोलते हुए ये स्वयं अपनी वाणी से हिंसित होते हैं । पहले ये मित्र मीठी-मीठी बातें करते थे । अपने मित्र के पसीने के स्थान में अपने प्राण देने को उद्यत थे, अब ये मित्र प्राणों के ग्राहक बन गये हैं, यह कैसा उलट-फेर ? जो बातें नहीं कहनी चाहिएँ, उनको ये कह रहे हैं, मानो अपना खण्डन आप कर रहे हैं । जो मनुष्य पहले कुछ कहे बाद में कुछ, वह अपनी बात का खण्डन करने के कारण विश्वापात्र नहीं हो सकता । विश्वास खो जाने से मनुष्य का मान नहीं रहता । मान खोने से तो मृत्यु ही भली है—**'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'** सम्मानित के मान का न रहना मौत से भी अधिक दुःखदायी है, अतः मित्र बनकर पीछे शत्रु बनना अपने हाथों अपना विनाश करना है । विषयों में जब मनुष्य अत्यधिक फँस जाता है तो उनमें अरुचि होने लगती है । मानो वे एक वाणी से अपना तिरस्कार कह रहे हैं ।

६८. सत्य त्रिकालाबाधित

ओ३म् । स हि सत्यो यं पूर्वे चिद् देवासश्चिद्यमीधिरे ।
होतारं मन्द्रजिह्वमित्सुदीतिभिर्विभावसुम् ॥ —ऋ० ५।२५।२

शब्दार्थ—हि सचमुच **सः** वह **सत्यः** सत्य है **यम्** जिस **होतारम्** महादानी **मन्द्रजिह्वम्** वाणी को मस्त कर देनेवाले **विभावसुम्** प्रकाश-सम्पत्तिवाले को **इत्** ही **पूर्वे**+**चित्** पूर्ववर्त्ती विद्वान् भी **सुदीतिभिः** उज्ज्वल प्रकाशों के द्वारा **ईधिरे** प्रकाशित करते हैं और **यम्** जिसको **देवासः**+**चित्** निष्काम विद्वान् भी प्रदीप्त करते हैं ।

व्याख्या—इस मन्त्र में भगवान् को सत्य=त्रिकालाबाधित कहा गया है । वेद कहता है—**'स हि सत्यः'**=वही सत्य है । प्रकृति सत्य है, सदा रहती है । किन्तु परिणामिनी है, शक्लें बदलती है । बहुरूपिये की भाँति नानारूप धारण करती रहती है । अभी एक रूप में है, दूसरे क्षण में दूसरा रूप है । मुग्ध [मूर्ख] जन धोखा खा जाते हैं, वे समझते हैं, पहले रूपवाली और थी, यह और है । मानो तीनों कालों में एक न रही । दार्शनिकों ने प्रकृति को धर्म्म, लक्षण, अवस्था परिणामवाली माना है । मिट्टी ले लो, इसे कूट-पीट-कर घड़ा बनाया । मिट्टी का ढेलापनरूपी धर्म्म दूर हुआ और घड़ारूपी धर्म्म आया । ढेले में और घड़े में भेद है । बालक ढेले और घड़े को एक नहीं मान सकता । कोई ज्ञानी ही जानता है कि ढेले और घड़े दोनों से मिट्टी जुदा नहीं है ।

जीव अभी सुखी है । पुत्र-कलत्र-मित्र के संग बैठा मौजे मार रहा है । अब वही रो रहा है । सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से अभिभूत होने के कारण अन्य होता हुआ भी जीव अनन्य प्रतीत हो रहा है । भगवान् तो कूटस्थ है । उसमें धर्म्म, लक्षण और अवस्था के परिणाम होते ही नहीं । वह सदा एकरस रहता है । वह आप्तकाम है, अकाम है । कामनाओं से आक्रान्त ही क्लान्त हुआ करता है । प्रभु अथर्ववेद के शब्दों में **'कुतश्चनोनः'**—कहीं से भी त्रुटिवाला नहीं है । कोई कामना न होने से उसे हर्ष-शोक व्यापते ही नहीं, अतः **वही सत्य है**=सदा 'एकरस' है । वह सत्यस्वरूप, सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकारी है । वह सत्यस्वरूप ऐसा है कि—**'यं पूर्वे चिद् देवासश्चिद्यमीधिरे'**—जिसे पूर्ववर्त्ती विद्वान् तथा निष्काम ज्ञानी प्रकाशित करते हैं । सदा-सर्वत्र-सर्वथा विद्यमान भगवान् प्राकृत मनुष्य को प्रतीत नहीं हो रहा । वह इन आँखों से उसे देखना चाहता है । जो उसके दृष्टिगोचर न हो, उसकी सत्ता मानने को वह तय्यार नहीं । बेचारा भटक रहा है । कारुणिक ब्रह्मनिष्ठ आता है और उसे समझाता है—ओ भोले ! क्यों भटक रहा है ? आँखों का जो विषय नहीं, इन्द्रियों से जो गृहीत नहीं हो सकता, उसे क्यों कोई इन्द्रियों द्वारा जानने का हठ कर रहा है । अरे भाई ! वह तो—**'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्'** [कठो० १।३।१५]—शब्दरहित है, अतः वह कान का विषय नहीं हो सकता; उसमें स्पर्श-गुण नहीं है, वह त्वगिन्द्रिय से कैसे प्रतीत हो; वह रूपरहित है, अतः आँख उसे कैसे देखे; रसना कैसे चखे; गन्ध की सत्ता वहाँ है नहीं, नाक से कैसे ज्ञान हो ? वह सदा एकरस है ।

देख ! आँख से सभी रूपी पदार्थों को लोग देखते हैं, किन्तु क्या आँख को भी देख पाते हैं ? तथापि आँख की सत्ता का अपलाप कोई नहीं करता । उसे ज्ञानी-ध्यानी ही देख पाते हैं—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।—मु० १।१।६

उस नित्य सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अत्यन्त सूक्ष्म, अविकारी, वस्तुमात्र के अधिष्ठान भगवान् को धीर ही सर्वथा देखते हैं । धीर=धी+र=बुद्धिमान् कहो, विद्वान् कहो, देव कहो, एक ही बात है । विद्वान् ही उसे जानते और उसका प्रकाश करते हैं ।

६९. त्रिकालज्ञ

ओ३म् । अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति । कृतानि या च कर्त्वा ॥

—ऋ० १।२५।११

शब्दार्थ—**अतः** इस कारण, वह सबसे स्वीकरणीय भगवान् **विश्वानि** सभी **अद्भुता** अद्भुत, अभूतपूर्व पदार्थों को **चिकित्वान्** जानता हुआ **कृतानि** किये हुए पदार्थों को **च** और **या** जो **कर्त्वा** किये जाते हैं उन सबको **अभि+पश्यति** सम्मुख देखता है ।

व्याख्या—जितनी सृष्टि है भगवान् उसे जानता है, जो थी उसे भी जानता था और जानता है। भावी सृष्टि का भी उसे ज्ञान है, इसका एक हेतु इसी मन्त्र में दिया है—**'विश्वान्यद्भुता चिकित्वान्'** वह सम्पूर्ण अद्भुत विलक्षण पदार्थों को जानता है अर्थात् वह सर्वज्ञ है। 'सर्व' से भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान तीनों आते हैं । ईश्वर की दृष्टि में तो कोई भूत, भविष्यत् आदि नहीं है । ईश्वर का ज्ञान सदा रहता है । ऋषि दयानन्द ने बहुत ही सुन्दर कहा है—"ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और न होके होवे वह भविष्यत्काल कहलाता है । क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है ? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित वर्त्तमान रहता है । **भूत, भविष्यत् जीवों के लिए है** । हाँ ! जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं ।" [स० प्र० सप्तम समुल्लास] मन्त्र में त्रिकालज्ञता का जो निरूपण है, वह जीवों की अपेक्षा से है। चूंकि वह सबको जानता है, अतः **अभि पश्यति कृतानि या च कर्त्वा**—जो किये जा चुके और जो किये जाने हैं, उन सब पदार्थों को सम्मुख ही देखता है । इस सम्मुखदर्शन का हेतु इससे पूर्वमन्त्र में कहा गया है—

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा । साम्राज्याय सुक्रतुः ।—ऋ० १।२५।१०

नियमों का धारक, श्रेष्ठकर्म्मा, वरणीय भगवान् साम्राज्य के लिए=एकरस प्रकाश के लिए प्रजाओं में, प्रकृति तथा जीवों में पूर्णरूप से निरन्तर और नितरां रहता है । सभी स्थानों में रहता है, ज्ञानवान् है, सर्वत्र है और साथ ही है 'सुक्रतु'=उत्तम कारीगर, श्रेष्ठकर्त्ता । सीधा-सीधा भाव निकला कि वही सृष्टिकर्त्ता है । तब उसे अपनी कृति का ज्ञान क्यों न होगा ? वह कालातीत है । नित्य में काल की कल्पना ? असम्भव ! किन्तु शरीरस्थ जीव की अपेक्षा तो भूत, भविष्यत् काल हैं । शरीरस्थ जीव के तीन काल और उसका एक काल या वह अकाल । 'सुक्रतु' शब्द तो एक रहस्य का भण्डार है । भगवान् श्रेष्ठ, उत्तम, भले कर्म्म ही करता है । उसकी कृति में, रचना में कोई दोष नहीं हो सकता । हमारे दृष्टिदोष के कारण ही इसमें दोष प्रतीत होते हैं । वह भगवान् **धृतव्रत है** । नियमों का निर्माता ही नहीं, वरन् वह नियमों का धारण करनेवाला भी है, अतः वह वरुण है, चाहने योग्य है, आदर्श है ।

७०. अभिमानी भगवान् को नहीं दबा पाते

ओ३म् । न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम् । न देवमभिमातयः ॥

—ऋ० १।२५।१४

शब्दार्थ—दिप्सवः दबाने की इच्छावाले **यम्** जिसको **न** नहीं **दिप्सन्ति** दबा सकते, और **न** न ही **जनानाम्** लोगों के **द्रुह्वाणः** द्रोही उसे दबा पाते हैं और **न** न ही **देवम्** उस भगवान् को **अभिमातयः** अभिमानी जन दबा सकते हैं ।

व्याख्या—संसार में शक्ति का तारतम्य दीखता है। प्रबल दुर्बलों को दबाते दीखते हैं, जड़-चेतन सभी पदार्थों में यह दृश्य देखने को मिलता है । धनवान् निर्धन को दबाता है, सताता है । राजा प्रजा को दबाता है । ज्ञानी अज्ञानी को दबाता है । सूर्य्य पृथिवी को अपने आकर्षण-विकर्षण के बल से दबाकर रखे हुए है । चन्द्र को पृथिवी अपने आकर्षण से अपने चारों ओर घूमने पर विवश कर रही है । चन्द्र समुद्र को क्षुब्ध करता रहता है । समुद्र तीर को तोड़ता रहता है । आग पानी को सुखाती रहती है । पानी आग को बुझाता रहता है । आँधी का रूप धर वायु वृक्षों को उखाड़ता, गिराता रहता है । चट्टान नदी के प्रवाह को रोक रही है । नदी का जल चट्टान से टकराकर उसे टुकड़े-टुकड़े कर रहा है ।

विचारने से प्रतीत होता है, इस संसार में सर्वत्र द्वन्द्व मचा हुआ है । बल के अभिमान में चेतन जीव महा बलवान् भगवान् से भी होड़ लेने लगता है । वेद कहता है—**'न यं दिप्सन्ति दिप्सवः'** दबाने की इच्छावाले जिसे नहीं दबा पाते । कैसे दबा पाएँ ? वह सबसे अधिक बलबान् है, उस **'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि'** [ऋ० १।२४।१०]—वरुण=आदर्श भगवान् के व्रत=नियम अटल हैं । तभी **'विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति'** [ऋ० १।२४।१०]—विविध प्रकाश करता हुआ चन्द्रमा रात को आता है ।

है किसी का सामर्थ्य, जो चन्द्रमा से दिन में प्रकाश कराए ? सारा बल लगा लो, चन्द्रमा रात्रि में ही उदय होगा । इस छोटे-से नियम को नहीं बदल सकते हो तो उसे कहाँ दबा पाओगे ? अतएव—**न द्रुह्वाणो जनानाम्**=जनता के द्रोही भी उसे नहीं दबा सकते । जब सृष्टिनियम तोड़ने के साहसी उसे नहीं दबा पाते, तो साधारण जनता के, उत्पन्न हुए हुओं के विरोधियों की क्या मजाल ? जिसको नहीं दबा पाते, वह देव कैसा है—

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत् । प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥—ऋ० १।२५।१२

वह सुक्रतु आदित्य=अखण्ड भगवान् हमारे लिए सुपथ=सुमार्ग बनाता है । वही हमारे ज्ञान और आयु को बढ़ाता है । जो आदित्य है, अखण्ड है, उसका खण्डन कौन कर सकता है ? उसने तो वेदरूप सुपथ बना दिया । चलना न चलना या उससे उलटा चलना मनुष्य के हाथ में है । अभिमानी क्या अभिमान करके इसका अनादर करता है ?

७१. तू परम धन देता है

ओ३म् । त्वमग्न उरुशंसाय वाघते स्पार्हं यद्रेक्णः परमं वनोषि तत् ।
आध्रस्य चित्प्रमतिरुच्यसे पिता प्र पाकं शास्सि प्रदिशो विदुष्टरः ॥

—ऋ० १।३१।१४

शब्दार्थ—हे **अग्ने** सर्वोन्नतिसाधक परम पिता परमेश्वर ! **यत्** जो **स्पार्हम्** चाहने योग्य **परमम्** परम, सबसे अच्छा **रेक्णः** धन है, **तत्** वह **त्वम्** तू **उरुशंसाय** अत्यन्त प्रशंसनीय **वाघते** उपासक को **वनोषि** सम्मानसहित देता है । तू **आध्रस्य** दुर्बल का **चित्+प्रमतिः** निश्चित चितानेवाला **पिता** रक्षक **उच्यसे** कहा जाता है, तू **विदुःतरः** अधिक ज्ञानी **पाकम्** पवित्रात्मा को **प्र+दिशः** उत्तम उपदेश ईश्वरादेश **प्र+शास्सि** अच्छी तरह सिखाता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में भगवान् की उपासना का, पूजा का फल बताया है । प्राणिमात्र संग्रह में तत्पर है । पिपीलिका से लेकर बुद्धिमद्वरिष्ठ मनुष्य तक सभी संचय में निमग्न हैं । सभी को धन की आशा है । धन के बिना सभी को निधन=मृत्यु दिखाई देता है । धन को तृप्ति का साधन समझा जाता है । अन्न, वस्त्र, पशु, गृह तथा अन्य सम्पत्ति धन हैं । पिपीलिका अन्नकण-चयन में लीन है; ऐसे ऋतु में जब बाहर निकलना असम्भव-सा हो जाएगा, उसके लिए प्रबन्ध करने की चिन्ता में वह दिन-रात घूमती है । मनुष्य को भी अपनी वृद्धावस्था, आतुरावस्था एवं परिवार-परिजन के रक्षण की व्यग्रता है । आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि जन्तुओं की अपेक्षा मनुष्यों की आवश्यकताएँ भी अधिक हैं, अतः मनुष्य का संचय भी अधिक और विलक्षण होता है । जो धन तृप्ति का साधन होना चाहिए था, जिसके अभाव में निधन प्रतीत होता था, उसके प्राप्त होने पर तृप्ति न होकर लालसा बढ़ जाती है और अब मनुष्य के लिए धन नहीं रहता, वरन् धन के लिए मनुष्य हो जाता है । कितनी भयङ्कर विडम्बना है ! किन्तु ज्ञानी मनुष्य तो इसको निधनवान् मानकर इनसे ऊपर उठता है, क्योंकि उसके मत में—

या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥

—बृहदा० ४।४।२२

जो पुत्रैषणा=पुत्र की कामना है, वही वित्तैषणा=धन की लालसा है, जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा=सांसारिक मान-बड़ाई की इच्छा है । ये दोनों पुत्रैषणा तथा लोकैषणा एषणा ही हैं । पुत्र-कलत्र भी मनुष्य तृप्ति के लिए ही चाहता है । उनमें घटती-बढ़ती का तारतम्य देखकर, जब उनसे तृप्ति नहीं होती, तब उनसे निर्विण्ण होकर उस धन की कामना करता है, जिसमें वृद्धि-ह्रास नहीं होते, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥—बृहदा० ४।४।२३

ब्राह्मण के धन की यह बड़ाई है कि न वह कर्म से बढ़ता है और न घटता है, उसी को ही यह प्राप्त समझना चाहिए जो प्राप्त करके पापकर्म से लिप्त न हो । वही स्पार्ह परम रेक्ण=चाहने योग्य परम धन है ।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति ॥

—बृहदा० ४।४।२२

ब्राह्मण लोग इसी को वेद के अनुवचन द्वारा, यज्ञ के द्वारा, दान और तप के द्वारा जानना चाहते हैं। जो इसे जान लेता है, वह मुनि हो जाता है, चुप हो जाता है। वेद स्पष्ट कह रहा है कि यह धन—**'उरुशंसाय वाघते'**=अत्यन्त प्रशंसनीय उपासक को मिलता है। जब मनुष्य अपने-आपको दुर्बल मानकर उसकी शरण में जाता है, तब वह पिता की भाँति उसकी सार-सँभाल करता है—**'आध्रस्य चित्प्रमतिरुच्यसे पिता'**=तू दुर्बल का तो रक्षा करने, चितानेवाला पिता कहाता है। इतना ही नहीं, जो अनन्यभाव से उसे प्राप्त करता है, उस—**'प्र पाकं शास्सि प्रदिशो विदुष्टरः'**=पवित्रात्मा को तू अतिज्ञानी सब उत्तम आदेशों का उपदेश कर देता है अर्थात् ज्ञान की गहराइयों तक ले-जाकर उसे सब आत्मिक, जागतिक विधानों का ज्ञान करा देता है। इससे बढ़कर और क्या धन हो सकता है?

७२. ऋषि बनानेवाला

ओ३म् । इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात् ।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम् ॥

—ऋ० १।३१।१६

शब्दार्थ—हे **अग्ने** ज्ञानदातः ! **नः** हमारी **इमाम्** इस **शरणिम्** त्रुटि को **मीमृषः** सहन ही कर जा, **यम्+इमम्** जिस इस **अध्वानम्** मार्ग को हम **दूरात्** दूर से, कठिनता से **अगाम** प्राप्त हुए हैं । तू **आपिः** प्राप्त करने योग्य बन्धु **पिता** पिता **सोम्यानाम्** शान्ति के अभिलाषियों का **प्रमतिः** चितानेवाला, सार-सँभाल करनेवाला तथा **भृमिः** संसार-चक्र को चलानेवाला और **मर्त्यानाम्** मरणधर्म्माओं को **ऋषिकृत्** ऋषि बनानेवाला **असि** है ।

व्याख्या—अल्पज्ञता के कारण प्रकृति के मोहक जाल में फँसकर जीव परमात्मा से दूर चला जाता है । जिस लालसा से जाल में फँसा था, वह पूरी न हुई; प्रकृति का मोहक जाल इन्द्रजाल, मृगमरीचिका ही प्रमाणित हुआ । अपने बन्धु को भूल चुका था । सुकृत जागे, ज्ञानी गुरु से मेल हुआ, उसने बताया, अरे ! तुम बहुत दूर जा पड़े । **तद् दूरे** [य० ४०।५] वह बहुत दूर है । घबराया, किन्तु शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्ष और समाहित हुआ, चल पड़ा । गिरता-पड़ता भगवान् के द्वार पर पहुँचा और कहने लगा—'**इमामग्ने शरणिं मीमृषो नः**'=हे गुरो ! हमारी इस भूल को सहन करो । क्यों ? '**इममध्वानं यमगाम दूरात्**'=इस रास्ते पर हम दूर से आये हैं ।

दूर के मार्ग से आने में अनेक कष्टों एवं भूलों का होना स्वाभाविक है । हमसे भी भूलें हुई हैं, उनके लिए हमें पश्चात्ताप है । प्रभो ! तू बल दे, हम फिर वैसी भूल न करें, तेरा सङ्ग न छोड़ें । तेरी शरण में इसलिए आये हैं कि—'**आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानाम्**' शान्ति के अभिलाषियों का तू ही प्राप्तव्य बन्धु तथा सुध लेनेवाला पिता है । शान्ति की खोज में हम बहुत भटके हैं । ऐसे भटके हैं कि शान्ति के स्थान में उलटा अशान्ति का आगार बन गये हैं । ज्ञानीगुरु ने बताया—जगत्पिता की शरण में जाओ, क्योंकि पिता से बढ़कर सन्तान का रक्षक और कौन हो सकता है ? अतः हम तेरी शरण में आये हैं, क्योंकि तू—**भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्**' संसार-चक्र का चलानेवाला तथा मनुष्यों को ऋषि बनानेवाला है । '**साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः**' (नि०)—पदार्थों के धर्म्मों का जिन्हें साक्षात्कार होता है, वही ऋषि होते हैं । जो तेरी शरण में आता है, उसका अज्ञानान्धकार हटाकर तू उसे ऋषि बना देता है । हम तेरी शरण में आये हैं । हमें भी ऋषि बना और अपना-आपा दिखा । प्रभो ! तूने स्वयं कहा है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥—१०।१२५।५

मैं स्वयं ही विद्वान् और साधारणजनों के प्रीतिसाधक इस वचन को कहता हूँ कि जिस-जिसको चाहता हूँ उस-उसको उग्र, उसको वेदवेत्ता, उसको ऋषि तथा उसको सुमेधाः=उत्तम मेधावी बना देता हूँ । पिता ! तू मुझे भी चाह, और ऋषि बना, तू जिस तरह मुझे चाहने लगे, मुझे वह राह बता और उसपर चला ।

७३. दौड़कर भगवान् को मिलता हूँ

ओ३म् । उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि ।
इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन् ॥—ऋ० १।३३।२

शब्दार्थ—न जिस प्रकार **श्येनः** श्येनपक्षी=बाज **जुष्टाम्** प्रीतिपूर्वक सेवित **वसतिम्** ठिकाने को [उड़कर जाता है तद्वत्] **अहम्** मैं **इत्** भी **धनदाम्** प्रीतिसाधनों के दाता **अप्रतीतम्** इन्द्रियों से प्रतीत न होनेवाले, अप्रति-इतम्=अनुपम, अजातशत्रु **इन्द्रम्**+**उप** अज्ञाननाशक भगवान् के पास **उपमेभिः** उपमा-योग्य **अर्कैः** वेदमन्त्रों के द्वारा **नमस्यन्** नमस्कार करता हुआ **पतामि** उड़कर जाता हूँ, **यः** जो भगवान् **स्तोतृभ्यः** स्तोताओं के लिए **यामन्** प्रतिदिन **हव्यः** पुकारने योग्य **अस्ति** है ।

व्याख्या—श्येनादि पक्षी किसी वृक्ष पर अपना ठिकाना बना लेते हैं । प्रयोजनवश ठिकाने से बाहर जाते हैं, फिर उड़कर उसी अपने-अपने ठिकाने पर आ जाते हैं । जीवों का ठिकाना परमात्मा है, कहा है—**'वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये'** [ऋ० १।५९।१]—दूसरे अग्नि=जीव, हे परम अग्ने ! तेरे वयः =आश्रित ही हैं । **'तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः'** [अ० १०।७।३५]—सभी देव तुझमें ही आश्रित हैं । भगवान् सबसे महान् है, यह समस्त-का-समस्त जगत् उसी के आश्रय रहता है, किन्तु अज्ञान के कारण वैसा समझता नहीं ।

संसार में आने से पूर्व उसी परमाश्रय ब्रह्म में ही मैं रहता था, क्योंकि तब तो प्रकृति से किसी भी प्रकार का मेरा सम्बन्ध नहीं था, मैं ब्रह्मानन्द में निमग्न था । ऋषियों का कहना ऐसा ही है—

"जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार पर भोगता है वैसे परमेश्वर के आधार से मुक्ति के आनन्द को जीव भोगता है । वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता—! (स० प्र० नवम समुल्लास)। "मुक्त जीव स्थूल-शरीर छोड़कर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं ।" (स० प्र० नवम समुल्लास) । "शरीररहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है ।" (स० प्र० नवम समुल्लास) । "जो ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति [अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं] विज्ञान आनन्द-पूर्वक स्वच्छन्द विचरता है ।" (स० प्र० नवम समुल्लास) । मुक्ति से छूटकर संसार में आया था पुनः मुक्ति के साधन करने, किन्तु लग गया भुक्ति=बन्धन के साधन जुटाने । ऋषि कहते हैं—'जहाँ भोग, वहाँ रोग' (स० प्र० नवम समुल्लास) ।

विरक्त भर्तृहरि ने भी कहा है—**'भोगे रोगभयम्'** भोग में रोग वा शोक का भय लगा हुआ है । मैं भोग में फँसकर रोग-शोक के जंजाल में पड़ गया । भूल गया मैं अपने असल ठिकाने को, सच्चे देश को । जब सुध आई स्वदेश की तब—**'उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि'**—मैं श्येन की भाँति अपने प्यारे ठिकाने, इन आँखों से दिखाई न देनेवाले धनदाता के पास उड़कर जाता हूँ । अब तो व्यग्रता है, धीरे-धीरे चलने से काम नहीं बनता दीखता, अतः उड़कर जाता हूँ । वह मेरी **'जुष्टा वसति'** है—अनेक बार प्रेमपूर्वक उस ठिकाने का मैंने सेवन किया है । अब भी वहीं जाऊँगा । वहाँ जाने का उपाय—**'इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैः'**=उपमायोग्य स्तावक वेदमन्त्रों से उस अज्ञानवारक को नमस्कार करता हुआ उड़ता हूँ । भगवान् को भूलने से भवभय बाधा देता है । उसका स्मरण-चिन्तन-ध्यान सब बाधाओं के बाँध तोड़ देता है । वही—**'स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन्'** इस मार्ग में स्तोताओं के लिए पुकारने योग्य है दूसरा नहीं; तभी तो उपनिषत् ने कहा—**'अन्या वाचो विमुञ्चथ** [मु० २।२।५] दूसरी बातें छोड़ो । आओ । दूसरी बातें छोड़ ही दें ।

७४. देवत्व का साधक

ओ३म् । आदित्ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद् यद्देव जीवो जनिष्ठाः ।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः ॥ —ऋ० १।६८।२

शब्दार्थ—हे **देव** देव ! **विश्वे** सभी **आत्+इत्** अवश्य ही **ते** तेरे **क्रतुम्** कर्म्म का, यज्ञ का **जुषन्त** सेवन करते हैं **यत्** चूँकि तूने **शुष्कात्** सूखे से, नीरस प्रकृति से **जीवः** जीवन **जनिष्ठाः** उत्पन्न किया है। अथवा **यत्** चूँकि तू **शुष्कात्** इस सूखे से **जीवः** जीता **जनिष्ठाः** प्रकट हुआ है । **विश्वे** सभी देव **एवैः** उत्तमाचारों से **ऋतम्** सृष्टिनियम तथा **अमृतम्** मोक्ष का **सपन्तः** सेवन करते हुए **देवत्वं+नाम** देवत्व नाम को **भजन्त** प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या—इस मन्त्र में देवत्वप्राप्ति के सुन्दर और अमोघ साधन बताये गये हैं, जिनका मनन एवं आचरण सचमुच मनुष्य को देव बना देता है । यजुर्वेद १।५ की व्याख्या करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में एक बात कही है—**'सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः'**=देव सत्य होते हैं, मनुष्य अनृत=अन-ऋत हैं अर्थात् जबतक मनुष्यपन रहता है, ऋत से विपरीत आचरण हो ही जाता है । देवत्व-प्राप्ति की पहचान ही यही है कि उस अवस्था में अनृत=ऋत के विरुद्ध आचरण होता ही नहीं । देवत्व-प्राप्ति ही मनुष्य-जन्म का परम लक्ष्य है, परम उद्देश्य है । उस देवत्व-प्राप्ति के साधनों का निर्देश इस मन्त्र में है—

१. **आदित्ते विश्वे क्रतुं जुषन्त**=सभी (देवत्वाभिलाषी) तेरे कर्म्म का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं । भगवान् परम देव है । देवत्वप्राप्ति का अर्थ है भगवान् के गुणों को अपने अन्दर धारण करना, अतः उस परम देव के कर्म्मों को जानना-पहचानना अत्यन्त आवश्यक है । जाने-पहचाने बिना अनुकरण कैसे होगा ? गुण जानकर केवल उन गुणों का कीर्त्तन=नाममात्र कथन पर्य्याप्त नहीं है, वरन् उनको अपने जीवन में ढालना आवश्यक है । भगवान् को दयालु कहते रहना, किन्तु स्वयं दीनों पर दया न करना; भगवान् को न्यायकारी मानना, किन्तु स्वयं अन्याय में रत रहना—इससे देवत्वप्राप्ति नहीं होगी । वरन् देवत्व के इच्छुक सभी—**'ते विश्वे क्रतुं जुषन्त'**=तेरे कर्म्मों को प्रेम से करते हैं अर्थात् जिन गुणों की अभिलाषा है, उनको अपने जीवन में धारण करते हैं । मनुष्य जैसे कर्म्म करता है, वैसा बन जाता है । जैसाकि उपनिषत् में कहा है—

> **यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः—'काममय एवायं पुरुषः' इति । स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदेव भवति ॥**—बृ० ४।४।५॥

अर्थात् मनुष्य का जैसा कर्म्म तथा आचरण होता है वह वैसा ही हो जाता है; भला करनेवाला भला हो जाता है, पाप करनेवाला पापी हो जाता है । पुण्य-कर्म्म से पवित्र होता है, पाप-कर्म्म से मलिन । कहते भी हैं—'यह जीव काममय है' जैसी कामनावाला होता है वैसी बुद्धिवाला हो जाता है, जैसी बुद्धि से युक्त होता है वैसा कर्म्म करता है, जैसा कर्म्म करता है वैसा बन जाता है ।

वेद के **'क्रतुं जुषन्त'** की कैसी मनोरम व्याख्या है ! तात्पर्य स्पष्ट है—जैसा चाहो बन जाओ । भगवान् के कर्म्मों का अनुसरण क्यों करे ? क्योंकि **'शुष्काद् यद्देव जीवो जनिष्ठाः'**=इस नीरस संसार से तू जीवनमय प्रकट हुआ है अर्थात् इस सूखी प्रकृति में जीवन डालनेवाला जीवनाधार परमात्मा ही है । देव बनना चाहते हो, तो सूखे जगत् में तुम भी जीवन डालनेवाले बनो ।

२. **भजन्ते······ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः**—वे ज्ञान-कर्म्म द्वारा ऋत और अमृत का सेवन करते हैं। जब देव सत्य हैं, तब वे अवश्य ऋत का सेवन करेंगे ही। कहा भी है—**'ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः'** [ऋ० १।६५।२]—देव ऋत के व्रतों=नियमों के अनुकूल चलते हैं। उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना, आहार-व्यवहार सब ऋत के अनुसार होता है। ऋत के अनुसार चलने से वे अमृत=मुक्ति प्राप्त करते हैं और देवत्व नाम धारण करते हैं।

प्रसङ्ग से यहाँ यह बात सुझाना परमावश्यक है कि 'देव' कोई विलक्षण योनि नहीं। यास्काचार्य के **'देवो दानात्'** [देनेवाला देव होता है] वचन को कभी नहीं भूलना चाहिए। इस दृष्टि से ब्रह्म से तुच्छ तृणपर्य्यन्त सभी पदार्थ देव हैं, किन्तु यहाँ मनुष्यों में सर्वोच्च कोटिवाले देव कहलाते हैं।

७५. कर्म्म की मुख्यता

ओ३म् । शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः पप्रा समीची दिवो न ज्योतिः ।
परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्रः सन् ॥

—ऋ० १।६९।१

शब्दार्थ—उषः+जारः न उषा को समाप्त करनेवाले सूर्य की भाँति **शुक्रः** शुक्र ने **शुशुक्वान्** सब-कुछ सुखा दिया और **दिवः+ज्योतिः+न** सूर्य्य के प्रकाश की भाँति **समीची** द्यावापृथिवी को **पप्राः** तूने भर दिया । तू **क्रत्वा** कर्म्मों के कारण **परि** सर्वज्ञ **प्रजातः** उत्तमरीति से प्रकट, प्रकाशित, प्रसिद्ध **बभूथ** होता है **पुत्रः+सन्** पुत्र होता हुआ **देवानाम्** देवों का, इन्द्रियों का **पिता** पालक **भुवः** है ।

व्याख्या—सूर्य्य उषा को समाप्त कर देता है । शुक्र=शुद्ध-कर्म्म-परायण जीव शुक्र=अपने सामर्थ्य से पापों को सुखा देता है । सूर्य्य अपने प्रकाश से द्यावापृथिवी को भरपूर कर देता है, जीव भी अपनी यशोज्योति से दोनों को प्रकाशित कर देता है । जन्म होना कर्म्माधीन है । **परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ**= वह कर्म्मों के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध हो रहा है । कर्म्म की इस प्रबलता को चौथे चरण में खोलकर कहा है—**'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्'**=पुत्र होता हुआ भी देवों का पिता हो गया है । शरीर के साथ सम्बन्ध होना जन्म लेना है । सामान्य रीति से जन्म लेने पर जीव किसी का पुत्र बनता ही है । आत्मा का जन्म हुआ, वह पुत्र बना; किन्तु उसके कर्म्मों की महिमा देखो, वह देवों का=इन्द्रियों का पिता बन गया है : इन्द्रियों की रक्षा जीव ही करता है । यदि आत्मा शरीर को छोड़ जाए, तो आँख, नाक, कान आदि कोई भी इन्द्रिय वहाँ नहीं रहेगी । वेद में कहा भी है—

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ।—य० ११।६

जिस देव=आत्मदेव के प्रयाण=शरीरत्याग के साथ दूसरे देव=इन्द्रियाँ मानो हठात् प्रयाण कर जाती हैं ।

कर्म-सिद्धान्त वैदिक धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है । वेद का कर्म्म-सिद्धान्त मनुष्य-मात्र के लिए सान्त्वना का हेतु होता है । इससे उसे अपने ऊपर भरोसा करना आता है और वह पुरुषार्थमय जीवन बिताने में आनन्द मानता है । जो पुत्र को देवों का बाप बना दे, वह अवश्य उपादेय और अनुष्ठेय है । वेद में कर्म्म की मुख्यता इसी से समझ लीजिए कि मरणोन्मुख मनुष्य को भगवान् कर्म्म स्मरण करने का आदेश कर रहा है—**कृतं स्मर** [य० ४०।१५]=मरनेवाले ! अपने किये को याद कर । मरते समय तड़प रहा है, हाथ-पैर पटक रहा है । कोई-कोई भगवान् को उपालम्भ भी देते हैं । भगवान् कहते हैं, मुझे उपालम्भ मत दो । अपने कर्म्म को स्मरण करो । पुत्र, मित्र, कलत्र सर्वत्र साथ नहीं देते । मृत्यु में इनमें से कोई भी साथ नहीं चलता । सभी यहीं रह जाते हैं । तब जीव को अकेले जाना होता है । हाँ, सर्वथा अकेला नहीं होता, कर्म्म साथ होते हैं । वैदिक कहते हैं—**'कर्म्मानुगो गच्छति जीव एकः'** कर्म्म से अनुगत जीव परलोक में अकेला चल रहा है ।

यात्रा में साथी का होना अच्छा । अकेला होने में डर लगता है, किन्तु साथ भी अच्छा होना चाहिए । साथ जाते हैं कर्म्म । कर्म्म यदि बुरे हुए, तो भय लगा रहेगा, अतः उत्तम कर्म्मों, ऋतु=यज्ञों को साथ ले-चलने का प्रबन्ध करना चाहिए, फिर निर्भय यात्रा होगी ।

७६. देवत्व के कारण अग्नि सबका अधिकारी

ओ३म् । पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत् ।
विशो यदह्वे नृभिः सनीळा अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्याः ॥ —ऋ० १।६९।३

शब्दार्थ—**पुत्रः+न** पुत्र की भाँति **जातः** प्रकट होकर **दुरोणे** घर में **रण्वः** आनन्द देनेवाला है, अग्नि **वाजी+न** वेगवान् ज्ञानी की भाँति **प्रीतः** प्रसन्न हुआ वह **विशः** प्रजाओं को **वि+तारीत्** विशेषरूप से तार देता है, **सनीळाः** समान स्थानवाली **विशः** प्रजाओं को **यत्** चूँकि **नृभिः** नेताओं के साथ वह **अह्वे** चाहता है, इस **देवत्वा** दिव्य गुण के कारण **अग्निः** अग्नि **विश्वानि** सबको **अश्याः** प्राप्त करता है।

व्याख्या—इस मन्त्र में विद्वान् की महिमा का बखान है। किसी के घर में पुत्र की उत्पत्ति पर जो हर्ष होता है, राष्ट्र में विवेकीजनों को किसी विद्वान् के आगमन से, उसकी यश-कीर्ति-श्रवण से वही उल्लास होता है, क्योंकि वह आपद्-विपद् में पड़ी प्रजा को तार देता है। उसका सबसे बड़ा गुण यह होता है कि वह—**'विशो यदह्वे नृभिः सनीळा'** नेताओं के साथ सारी प्रजाओं से प्रेम करता है। केवल प्रजा से प्रेम करे तो नेता बिगड़े और नेताओं ही के साथ गोष्ठी करता रहे तो प्रजा रुष्ट हो जाती है। सचमुच नरपतिहितकर्त्ता और प्रजाप्रेमी कोई विरला ही होता है, किन्तु जो नेताओं और प्रजाओं दोनों से प्रेम करे, वह **अग्निः**=वास्तविक अग्रणी=नेता=है। इसके नियमों की व्यवस्थाओं को कोई नहीं तोड़ता—**'नकिष्ट एता व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः श्रुष्टिं चकर्थ'** [ऋ० १।६९।४]—चूँकि वह इन नेताओं का भी भला करता है, अतः वे इनके नियमों का उल्लंघन नहीं करते।

साधारण प्रजा तो प्रायः शान्तस्वभाव होती है। अग्रणी नेता का कर्त्तव्य है कि वह इनका भी कल्याण करे, अन्यथा उसके कार्य्य में विघात होगा। ऐसा—**'अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्याः'**—अगुआ दिव्यगुणों के कारण सभी का अधिकारी होता है। तभी मनु ने कहा है—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥—मनु० १२।१००

वेदशास्त्र जाननेवाला सेनापति का कार्य्य, राज्य, दण्डव्यवस्था, सम्पूर्ण संसार के आधिपत्य के अधिकार के योग्य है। हमारे यहाँ नेतृत्व वेदवेत्ताओं का ही माना गया है, जैसाकि मनुजी कहते हैं—

एकोपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥—मनु० १२।११३

अकेला भी वेदवेत्ता संन्यासी जिसे धर्म्म कहे, उसे परम धर्म्म मानना चाहिए, न कि हजारों मूर्खों के कथन को।

ऐसा वेदवेत्ता ही अग्नि=अग्रणी=नेता होता है, क्योंकि वह सबको धर्म्मपथ पर ले चलता है।

७७. जिनकी वाणी गण्या

ओ३म् । जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवमुत ब्रध्नस्य शासने रणन्ति ।
दिवोरुचः सुरुचो रोचमाना इळा येषां गण्या माहिना गीः ॥

—ऋ० ३।७।५

शब्दार्थ—वे **अरुषस्य** अहिंसक **वृष्णः** सुखवर्षक के **शेवम्** आनन्द को, निधि को **जानन्ति** जानते हैं **उत** और **ब्रध्नस्य** उस महान् के **शासने** शासन में **रणन्ति** आनन्द करते हैं, वे **सुरुचः** अत्यन्त कान्तिमान्, सुरुचिपूर्ण हैं और **दिवः** ज्ञान के **रुचः** प्रकाश से **रोचमानाः** देदीप्यमान होते हैं **येषाम्** जिनकी **गीः** वाणी **माहिना** महत्त्व के कारण **गण्या** गण्य, मान्य और **इळा** प्रशंसनीय है।

व्याख्या—संसार में कुछ मनुष्य ऐसे हैं कि सारा-सारा दिन चिल्लाया करते हैं किन्तु उनकी बात की ओर कोई भी कान नहीं देता। दूसरे वे हैं जिनकी बात सुनने को संसार सदा लालायित रहता है, उत्सुक रहता है। उनके एक-एक वचन को सावधानता और ध्यान से सुना जाता है और गम्भीरतापूर्वक उसकी गहराई तक पहुँचने का यत्न किया जाता है। सचमुच ऐसों की वाणी ही वाणी है। तभी वेद कहता है—**'इळा येषां गण्या माहिना गीः'**—जिनकी वाणी महत्त्व के कारण गण्या तथा प्रशस्या है। वे सदा सावधान रहते हैं कि उनकी वाणी से किसी को हानि न हो। वे सत्य तो बोलते हैं और सत्य ही बोलते हैं, किन्तु उनका सिद्धान्त है कि—**'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्'** [मनु० ४।१३८]—सत्य बोले, प्रिय बोले, किन्तु अप्रिय सत्य कभी न बोले। उन्हें ज्ञात है, तलवार का घाव ठीक हो जाता है, किन्तु **'वाक्क्षतं न प्ररोहति'**=वाणी का घाव नहीं भरता है। उन्होंने योगियों से सुन रखा है—

एषा सर्वभूतोपकारधिया प्रवृत्ता न भूतोपघाताय।
यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात् न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत् ॥

—यो० द० २।३० व्यासभाष्य

यह वाणी सब प्राणियों के उपकार के लिए प्रयुक्त की जाती है न कि प्राणियों की पीड़ा के लिए और यदि यह इस भाँति कही जाकर प्राणियों की पीड़ा का कारण हो, तो वह सत्य नहीं है, पाप ही है अर्थात् सत्य बोलने का प्रयोजन प्राणियों का हित है। यदि वह सिद्ध नहीं होता, तो मौत का अवलम्बन करना चाहिए। परापकार अथवा पराये अनिष्ट से उच्चारण किये वचनों का परिणाम बोलनेवाले को भी कभी-न-कभी भोगना ही पड़ता है, अतः बोलने से पूर्व तोलना चाहिए। सत्यवादिता के अहङ्कार में पापोच्चारण हो जाया करता है। इसका सदा ध्यान रखना चाहिए।

इनकी वाणी के महत्त्व का कारण है, क्योंकि वे—**'जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवम्'**=सुखवर्षक अहिंसक भाव के आनन्द को जानते हैं। सचमुच अहिंसा में जो रस है, आनन्द है, वह हिंसा में कहाँ? हिंसक को सदा प्रतिहिंसा का भय सताता रहता है और वे—**'ब्रध्नस्य शासने रणन्ति'**—महान् भगवान् के शासन में, आज्ञा-पालन में आनन्द मनाते हैं। भगवान् के उपदेश तथा सृष्टि-नियम के अनुकूल चलकर वे अपना तथा पराया कल्याण साधते हैं और इसी कारण—**'दिवो रुचः सुरुचो रोचमानाः'**—ज्ञानप्रकाश से उत्तम कान्तियुक्त होकर देदीप्यमान रहते हैं। अहिंसक की दीप्ति और तेज अवर्णनीय होते हैं। पशु तक उनके प्रभाव में आकर वैर छोड़ देते हैं। प्रेम की=अहिंसा की महिमा ही ऐसी है। इसीलिए—वेद में मीठा बोलने का बार-बार विधान है—**'वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषम्'** [अ० ५।७।४]=मैं प्रीतियुक्त मीठी वाणी बोलता हूँ।

अतः साधक ! आ तू भी अपनी वाणी को गण्या बना। मीठे बोल से लोगों को अपना बन। उसके लिए वेदोक्त प्रेमपथ=अहिंसक मार्ग को अपना और उससे पूर्व अहिंसक भगवान् के शासन मे चलना अपने को सिखा। नम्र और अहिंसक बनकर तेरा ओज और तेज घटेगा नहीं, बढ़ेगा ही। वह तेरा ओज सर्वाभिभावी होता हुआ भी जनमनहारी होगा।

७८. इन्द्रियाँ एक-दूसरी की सहायता करती हैं

ओ३म् । अध्वर्युभिः पञ्चभिः सप्त विप्राः प्रियं रक्षन्ते निहितं पदं वेः ।

प्राञ्चो मदन्त्युक्षणो अजुर्या देवा देवानामनु हि व्रता गुः ॥—ऋ० ३।७।७

शब्दार्थ—सप्तविप्राः सात विप्र=ज्ञानेन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एक मन तथा सातवीं बुद्धि, **पञ्चभिः** पाँच **अध्वर्युभिः** अध्वर्युओं=कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर **वेः** परमात्मा के **निहितम्** गुप्त **प्रियम्** प्रिय **पदम्** पद की, प्राप्तव्य की, अधिष्ठान की **रक्षन्ते** रक्षा करते हैं। **उक्षणः** सुखवर्षक ये **प्राञ्चः** अत्यन्त गतिशील होकर **मदन्ति** उन्मत्त होती हैं, **हि** क्योंकि **अजुर्याः** हिंसित न हुई **देवाः** इन्द्रियाँ **देवानाम्** इन्द्रियों के **व्रता+अनु** व्रतों के अनुकूल ही **गुः** चलती हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में चार बातें कही गई हैं जो अत्यन्त सावधानता से मनन करने योग्य हैं—

(१) इस शरीर में पांच अध्वर्यु हैं। अध्वर्यु उस ऋत्विक् को कहते हैं जो यजुर्वेद के द्वारा कर्म्म करता है। यजुर्वेद कर्म्मप्रधान वेद है, अतः यहाँ अध्वर्यु का अर्थ है कर्मेन्द्रियाँ। मनुष्य-जीवन भी एक यज्ञ है। **'पुरुषो वाव यज्ञः'** (छा०)—मनुष्य-जीवन सचमुच यज्ञ है। यजमान यज्ञानुष्ठान के लिए अध्वर्यु आदि ऋत्विजों की अपेक्षा करता है। इस यज्ञ में पाँच अध्वर्यु—कर्मेन्द्रियाँ हैं और सात दूसरे विप्र=ऋत्विक्। सात विप्र हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि। यजुर्वेद में इनको सप्त ऋषि कहा है—**'सप्त ऋषयः प्रहिताः शरीरे'** [य० ३४।५५]—सात ऋषि शरीर में रख दिये गये हैं।

(२) इनका काम है ये **'प्रियं रक्षन्ते निहितं पदं वेः'**—आत्मा के गुप्त प्रियपद की रक्षा करते हैं। 'वि' का अर्थ है इच्छावाला। इच्छा चेतन जीव में सम्भव है; अचेतन, जड़ करणों—आँख, नाक आदि में इच्छा नहीं हो सकती। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर आत्मा के अभीष्ट की सिद्धि कर रही हैं। वह अभीष्ट गुप्त है। कौन इसे पहचानता है? 'रक्षन्ति' के स्थान में 'रक्षन्ते' कहकर वेद एक अद्भुत सूचना दे रहा है। आत्मा के अभीष्ट की रक्षा से ही इनकी रक्षा होती है। इनकी सफलता भी तो इसी में है कि आत्मा के अभीष्ट की सिद्धि हो। वास्तव में वेद ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व संकेत-संकेत में सुझाया है। दूसरे की भलाई करने से वास्तव में अपनी भलाई होती है, अतः दूसरे की भलाई का अवसर मिलने पर भलाई करने से चूकना नहीं चाहिए। जिसका समस्त समय परहित में लगता है, उसके कल्याण की कल्पना तो करो।

(३) **'प्राञ्चो मदन्त्युक्षणः'**=उत्तम गतियुक्त होकर सुखवर्षक इन्द्रियाँ उन्मत्त होती हैं। यदि ये बहिर्मुख कर दी जाएँ तो बाह्य विषयसुख का हेतु बनती हैं। यदि अन्तर्मुख कर दी जाएँ तो अन्तरात्मा का रस पिलाती हैं।

(४) **अजुर्या देवा देवानामनु हि व्रता गुः'**—जब ये ठीक-ठाक होती हैं तो एक-दूसरी के कार्य्य की साधिका बनती हैं। आत्मा का करण होने से ही ये एक-दूसरी की सहायक होती हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।२१) में इस तत्त्व को बहुत सुन्दर रीति से सुलझाया है—

अथातो व्रतमीमांसा। प्रजापतिर्हि कर्म्माणि ससृजे। तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त, वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे। द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः। श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्। एवमन्यानि कर्म्माणि यथाकर्म्म। तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे, तान्याप्नोत् तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्धत्। तस्मात् श्राम्यत्येव वाक्, श्राम्यति चक्षुः, श्राम्यति श्रोत्रम्। अथेममेव नाप्नोत्, योऽयं मध्यमः प्राणः। तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठ यः संचरँश्चासंचरँश्च न व्यथते, अथो न रिष्यति। हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति, एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति। तेन ह व तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति॥

अब इन्द्रियकर्म्म विचार का आरम्भ करते हैं। प्रजापति ने इन्द्रियाँ बनाईं। वे बनकर एक-दूसरी से स्पर्धा करने लगीं। वाणी ने निश्चय किया कि मैं केवल बोलूँगी ही। आँख ने निश्चय किया—मैं देखूँगी ही। कान ने धारण की; मैं सुनूँगा ही। इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों ने अपने-अपने कर्म्म का निश्चय किया। मृत्यु ने थकावट का रूप धारण करके उनको पकड़ा। वह उनके पास पहुँचा। उनके पास पहुँचकर मृत्यु ने उन्हें घेर लिया। इस वास्ते वाणी थकती है, आँख थकती है, कान थकता है। किन्तु मृत्यु इस मध्यम प्राण [सबका मध्यस्थ जीवनहेतु आत्मा] को प्राप्त न हो सका। इन्द्रियों ने उसे जानना चाहा—अरे! यह हमसे श्रेष्ठ है। गति करता हुआ और गति न करता हुआ यह दुःखित नहीं होता, नष्ट नहीं होता। अरे! हम सब इसका रूप बनें। वे सभी उसका रूप बन गईं। इसी कारण इन इन्द्रियों को प्राण कहते हैं। इसलिए जिस कुल में कोई होता है उसको उसी कुल का कहते हैं।

आत्मा का रूप बनने का अभिप्राय है इसकी भाँति कार्य्य करना, सचेष्ट होना। जो जिसका रूप होता है वह उसका विरोधी और परस्पर-विरोधी नहीं हो सकता। आत्मा के कारण आत्मा के देखने, सुनने, बोलने की शक्ति से युक्त होकर इन्द्रियाँ आत्मा का रूप बन रही हैं और इसी कारण अज्ञानी जन इन्हें आत्मा मानकर आत्मा के वास्तविक स्वरूप से वञ्चित हो जाते हैं।

७९. यज्ञ दव-प्राप्ति का साधन है

ओ३म् । अयं यज्ञो देवया अयं मियेध इमा ब्रह्माण्ययमिन्द्र सोमः ।
स्तीर्णं बर्हिरा तु शक्र प्र याहि पिबा निषद्य वि मुचा हरी इह ॥

—ऋ० १।१७७।४

शब्दार्थ—**अयम्** यह **यज्ञः** यज्ञ **देवयाः** देव तक पहुँचानेवाला है । **अयम्** यह **मियेधः** पवित्र करनेवाला है । हे **इन्द्र** इन्द्र ! **इमा ये ब्रह्माणि** मन्त्र, अन्न तथा **अयम्** यह **सोमः** सोम है, हे **शक्र** शक्तिमन् ! **बर्हिः** आसन **स्तीर्णम्** बिछा रखा है तू **तु** तो **आ+प्र+याहि** आ ही ! **निषद्य** बैठकर **पिब** पी । **इह** यहीं **हरी** हरियों को=घोड़ों को **वि+मुच** खोल दे ।

व्याख्या—यज्ञ रचा जा रहा है । आसन बिछा दिया गया है और बुलाया जा रहा है इन्द्र को । इन्द्र चला देव की खोज में । उसे कहते हैं, आ, इस यज्ञ में सम्मिलित हो । देख—**'स्तीर्णं बर्हिरा तु शक्र प्रयाहि'**=आसन बिछा है, तू तो इसपर आ बैठ । देव से मिलने के लिए पवित्रता चाहिए, यह यज्ञ तेरे सारे मल धो देगा, तुझे विमल कर देगा, क्योंकि **'अयं यज्ञो देवया अयं मियेधः'**=यह यज्ञ देव तक ले-जानेवाला तथा यह पवित्र है और पवित्र से मेल कराता है । पवित्र की संगति से ही पवित्रता आएगी । देव से तू क्यों मिलना चाहता है ? शान्ति के लिए, सोमरस पान के लिए, तो **'पिबा निषद्य'**=बैठकर पी ।

बैठना चञ्चलता हटाने का द्योतक है । खाना-पीना बैठकर ही होना चाहिए । वैद्य लोग कहते हैं जल बैठकर पीना चाहिए और यह तो है सोम । किन्तु एक नियम भी है—**'विमुचा हरी इह'**=संकल्प-विकल्प रूप दो घोड़ों को यहीं खोल दे । मनुष्य के चित्त की चञ्चलता का मूल सङ्कल्प और विकल्प हैं । यही मनुष्य को नाना स्थानों में हरण करते हैं, ले-जाते हैं, अतः इन्हें हरि=घोड़े कहते हैं । सभी भाषाओं में संकल्प को घोड़ा कहा गया है । 'विचार के घोड़े पर सवार' 'अस्पे ख़याल' आदि प्रयोग इसके प्रमाण हैं । जबतक तू घोड़े छोड़ेगा नहीं, संकल्प-विकल्प से रहित होगा नहीं, तबतक सोम-पान का लाभ नहीं होगा । स्वास्थ्यशास्त्री कहते हैं, खान-पान का समय निश्चित होना चाहिए । उस समय चिन्ता करने से खाया-पिया अंग नहीं लगता, तो परम भोजन—सोम—का पान करते समय संकल्प-विकल्प का होना कितना अनिष्ट कर सकता है, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है । सहसा संकल्प-विकल्प का छोड़ना असम्भव प्रतीत होता है, अतः—

ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः ।
तां आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे ॥—ऋ० १।१७७।२

जो तेरे सुखकारी अत्यन्त पुष्ट, सुखमय रथ-[शरीर]-वाले, ब्रह्मयुक्त=ब्रह्म से मिलानेवाले घोड़े हैं उनपर सवार हो, उनके साथ आ । हम सोम के तय्यार होने पर तुझे बुला रहे हैं । संकल्प नहीं छूटते, तो उन्हें ब्रह्ममय बना दो । फिर तुम्हें सोम मिलने में विलम्ब न होगा । संकल्प-विकल्प छुड़ाने की कितनी सुन्दर युक्ति वेद ने बताई है ! संकल्प करना ही है तो ब्रह्ममय का कर । मन एक समय एक ही संकल्प करता है । ब्रह्ममय संकल्प से प्रकृतिमय विकल्प विलीन हो जाएँगे ।

८०. युवावस्था में गृहस्थ धर्म्म

ओ३म् । पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः ।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ॥

—ऋ० १।१७९।१

शब्दार्थ—**अहम्** मैंने **दोषावस्तो**+**उषसः** दिन-रात और उषाओं को **जरयन्तीः** समाप्त करनेवाली **शश्रमाणाः** श्रान्त करनेवाली, थका देनेवाली **पूर्वीः** पहले की **शरदः** सरदियाँ, शरदृतुओं [वर्षों] को बिता दिया है। **जरिमा** बुढ़ापा **तनूनाम्** शरीरों की **श्रियम्** शोभा को **मिनाति** नष्ट कर देता है **उ** और **पत्नीः** पत्नियाँ **अपि** भी **नु** तो **वृषणः** वीर्य्यसेचनसमर्थ पुरुषों को **जगम्युः** प्राप्त करती हैं।

व्याख्या—आयु का पहला भाग विद्याध्ययनादि तप में लगाया जाता है। विद्याध्ययन के परिश्रम से शरीर श्रान्त हो जाता है। विद्याध्ययन में लगा हुआ न दिन देखता है न रात, न सूझे उसे रात और न सूझे प्रभात। उसका शरीर ब्रह्मचर्य्य, विद्याध्ययनरूप तपश्चर्य्या और कष्ट से दुर्बल है। उस अवस्था में यदि विवाह किया जाए, तो न तो शरीर के धातु परिपक्व हुए हैं, न मन, बुद्धि आदि का विद्या से परिपाक हुआ है। बुढ़ापे में भी विवाह अयोग्य है, क्योंकि—**'मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम्'**—बुढ़ापा शरीरों की शोभा का नाश कर देता है। विवाह के समय रूप की भी परख होती है। दाँत नहीं रहे, आँखें धँस गई हैं, हाथ हिलते हैं, टाँगें लड़खड़ाती हैं। ऐसी दशा में कौन लड़की उसे पसन्द करेगी ? हाँ, लकड़ियों से उसका विवाह हो सकता है। लड़कियाँ तो जवान वीर्यसेचनसमर्थ को चाहती हैं—**अप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः**=पत्नियाँ भी तो वीर्य्यसेचनसमर्थ को चाहती हैं, अतः जिन्हें गृहस्थ-धर्म्म-पालन करना हो, उन्हें इस वेदोक्त नैसर्गिक नियम को सामने रखते हुए युवावस्था में ही यह कार्य्य करना चाहिए। मनुजी ने इसी भाव से कहा है—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥—मनु० ३।२

चारों, तीनों, दो अथवा एक वेद को क्रमानुसार पढ़कर, अखण्डित ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

वेद ने **'वृषणः'**=वीर्य्यसेचनसमर्थ कहा। मनु ने **'अविप्लुतब्रह्मचर्य्य'** कहा, दोनों का भाव एक ही है। खण्डित ब्रह्मचारी की शरीरशोभा तो बुढ़ापे के बिना ही मारी जाती है। विवाह का अधिकारी अविप्लुत ब्रह्मचारी है, न कि बूढ़ा और व्यभिचारी। वेद के **'वृषणः'** पद में जो स्वारस्य है, वह पूरी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता। किस सुन्दर युक्ति से बाल व वृद्ध-विवाहों का निषेध और युवाविवाह का समर्थन किया है ! विवाह के लिए अनुभव, ज्ञान, परिपक्वज्ञान होना आवश्यक है। बालक में वह है नहीं, अतः वह विवाह का अधिकारी नहीं। वृद्ध में अनुभव, ज्ञान आदि सब-कुछ है किन्तु **'मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम्'**—बुढ़ापा शरीर की शोभा को मार देता है, अतः शरीरशोभारहित वृद्ध भी विवाह के अयोग्य है। सुतराँ जवान ही विवाह का अधिकारी सिद्ध हुआ। वेद में कहा भी है—**'ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'** [अ० ११।५।१८]—ब्रह्मचारिणी कन्या जवान ब्रह्मचारी पति को प्राप्त करती है।

८१. भगवान् प्यासे के लिए जल समान

ओ३म् । यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मय इवापो न तृष्यते बभूथ ।
तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥

—ऋ० १।१७५।६

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** इन्द्र ! अज्ञानवारक परमेश्वर ! **यथा** जैसे तू **पूर्वेभ्यः** पूर्ववर्त्ती **जरितृभ्यः** स्तोताओं के लिए **तृष्यते** प्यासे के लिए **आपः+न** जल के समान **मयः+इव** सुख के समान **बभूथ** होता है, मैं **त्वा** तुझको **ताम्+निविदम्+अनु** उस भक्ति-भाव के अनुकूल **जोहवीमि** बार-बार पुकारता हूँ, जिससे हम **इषम्** अन्न, बल **वृजनम्** पापवारण सामर्थ्य तथा **जीरदानुम्** जीवनदानविज्ञान को **विद्याम** जान पाएँ, प्राप्त कर सकें।

व्याख्या—प्यास सता रही है। जल मिलते ही वह शान्त हो जाती है। प्यासे को तो जल ही अमृत है। प्यासे को वस्त्र दो, नहीं लेगा। प्यासे को भोजन दो, नहीं लेगा। वस्त्र और भोजन अवश्य उपयोगी हैं, किन्तु ये प्यास नहीं बुझा सकते, अतः प्यासे के लिए ये सुखदायी नहीं। प्यास से सूखकर जीभ काँटा हो रही है, मौत सामने दीखती है, किसी ने आके एक-दो बूंद जल मुख में टपका दिया, आँखें खुल गईं। जाता जीवन फिर वापस आता प्रतीत हुआ। तभी तो संस्कृत भाषा में जल को जीवन, अमृत कहा जाता है—**'जलं जीवनमुच्यते'**=जल जीवन कहाता है। **कीलालममृतं पयः'** (कोष)=कीलाल, अमृत और जल पर्याय हैं। इसी प्रकार संसार-ताप से झुलसे हुए, क्लान्त आत्मा के लिए परमात्मा **'मय इवापो न तृष्यते बभूथ'**=प्यासे के लिए जल के समान सुखदायी होता है। उसके सारे ताप मिट जाते हैं। जल से भी अधिक निर्मल से मेल करके सब क्लान्तियों की शान्ति हो जाती है। किन्तु उसके मिलने की विधि का ज्ञान ही नहीं है, अतः साधक भगवान् ही से कहता है कि सकल क्लेश-नाशक प्रभो ! जिनकी क्लान्ति तूने शान्त की थी, जिनकी प्यास बुझाई थी उनकी—**'तामनु त्वा निविदं जोहवीमि'**=उस भक्तिभावना के अनुकूल ही तुझे पुकारता हूँ। मैं व्याकुल हूँ, मुझे शान्ति चाहिए। शान्तिधाम ! पूर्वों की भाँति मुझे भी शान्ति दे। मेरी भी प्यास बुझा। मेरे लिए भी जल बन जा।

प्रभो ! मैं अकेला नहीं हूँ। केवल अपने लिए नहीं माँगता हूँ। मैं इस समस्त जगत् को तृषाकुल, प्यास से त्रास में देखता हूँ। हम अज्ञानी हैं, जीवन-विज्ञान से अज्ञान हैं। तू जीवनधन है। सभी को जीवन दान देता है। हम केवल अपनी प्यास बुझाकर अपने लिए जीवन नहीं माँगते। हम माँगते हैं जीवन-दान-विज्ञान। हमें वह प्रदान कर। हम तेरी प्रजा को, मरणोन्मुख सन्तान को पुनः जीवन-दान कर सकें, किन्तु हम तो स्वयं निर्जीव-से हुए जा रहे हैं ! अतः पहले हमें जीवन दे, हमारी प्यास बुझा।

८२. भगवान् अतिशय क्रियावान् है

ओ३म् । अयं देवानामपसामपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशंभुवा ।
वि यो ममे रजसी सुक्रतूययाऽजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे ।।

—ऋ० १।१६०।४

शब्दार्थ—**अयम्** यह महान् भगवान् **अपसाम्** कर्म्मशील **देवानाम्** देवों में से **अपस्तमः** अतिशय क्रियाशील है, **यः** जिस भगवान् ने **विश्वशंभुवा** सबके लिए शान्तिकारी **रोदसी** द्यावापृथिवी को **जजान** उत्पन्न किया है और **यः** जो **रजसी** दोनों लोकों के **सुक्रतुयया** उत्तम बुद्धि और श्रेष्ठक्रिया से **वि+ममे** विशेष रूप से निर्माण करता है, और **अजरेभिः** जीर्ण न होनेवाले **स्कंभनेभिः** रोक रखनेवाली शक्तियों के द्वारा **समानृचे** एकरस रचना करता है ।

व्याख्या—वेद परमेश्वर को क्रियाशील बताता है, क्रियाशीलता के प्रमाण भी देता है । यदि भगवान् है और कुछ नहीं करता तो उसका होना न होना एक-समान । कुछ न करनेवाले भगवान् की सत्ता का प्रमाण ? यदि वह कुछ नहीं करता, तो उसके मानने से लाभ ? यदि कहा जाए कि उपासना के लिए उसका मानना आवश्यक है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उपासना का फल है उपास्य से कुछ लेना । उपास्य तो निष्क्रिय है, वह तो कुछ करता नहीं । निष्क्रिय कुछ देगा कैसे ? देने के लिए भी क्रिया करनी पड़ती है । वेद कहता है कि भगवान् तो—**'देवानामपसामपस्तमः'**=क्रियाशील देवों में सबसे अधिक क्रियाशील है । सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, हवा, पानी सभी देव क्रियावान् हैं । सूर्य्य क्रिया छोड़ दे, तो आप भी गिर पड़े और संसार के संहार का कारण बने । हवा क्रिया बन्द कर दे, तो प्राणियों के प्राण प्रयाण कर जाएँ । पानी में क्रिया न रहे तो यह पानीय=पीने योग्य ही न रहे, किन्तु इन सबमें क्रिया भगवान् की देन है, वह इन सबसे अधिक क्रियावान् है । ये सभी क्रियावान् क्रिया के कारण थककर क्रिया छोड़ देते हैं । जीव प्रतिदिन थककर क्रिया छोड़ देता है । उसका शरीर भी एक दिन सङ्ग छोड़ देता है । जगत् भी एक दिन समाप्त हो जाता है, किन्तु भगवान् सतत क्रियावान् है । उपनिषत् ने ठीक ही कहा है—**'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'**=भगवान् का ज्ञान, बल तथा क्रिया स्वाभाविक हैं ।

अन्यों की क्रिया नैमित्तिक है, भगवान् की क्रिया नैसर्गिक है, उसकी क्रिया का एकाध उदाहरण लीजिए—**'वि यो ममे रजसी सुक्रतूयया'**=जो दोनों लोकों को उत्तम बुद्धि तथा श्रेष्ठ क्रिया से विभिन्न प्रकार का रचता है ।

वह प्रकृति से सारी सृष्टि बनाता है किन्तु कितनी विशेषता और विभिन्नता है उसकी रचना में ! सूर्य्य स्वतःप्रकाश होने के साथ कितना उग्र है, पृथिवी प्रकाशहीन है । कहीं नदी-नाले हैं, कहीं जल का सागर है, कहीं बालू का सागर है । इस वैविध्य में उसकी सुक्रतूयया=उत्तम प्रज्ञा तथा उत्तम क्रिया दोनों कार्य्य कर रही हैं । जैसी आवश्यकता समझता है, वैसी सृष्टि रच देता है । संसार-रचना में उसका अपना कोई भी प्रयोजन नहीं, न ही क्रीड़ा करने के लिए उसने संसार बनाया है, क्योंकि इससे वह अज्ञानी सिद्ध होगा । क्रीड़ा अज्ञानियों का, बालकों का कार्य है, बालक खेला करते हैं, अतः संसार-रचना का कोई अन्य प्रयोजन है । वेद कहता है—**'यो जजान रोदसी विश्वशंभुवा'**=जिसने दोनों लोकों को सबका कल्याणकारी बनाया है अर्थात् सम्पूर्ण जीवों के कल्याण के लिए भगवान् ने इस जगत् का निर्माण किया है । किसी एक के लिए सुखकारी नहीं, वरन् विश्व=सबके लिए यह सृष्टि शम्भु=कल्याणकारिणी है । विश्वशम्भु ने यह संसार विश्वशम्भु बनाया है । अपनी मूर्खता से हम इसे दुःखभूः बना रहे हैं ।

उसकी चतुराई देखो। संसार के विशाल पिंडों को वह—'अजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे'=जीर्ण न होनेवाले स्कम्भों से एकरस रचता है अर्थात् उसकी स्कम्भन-शक्ति जीर्ण नहीं होती। अतः आज भी वह वैसी बनी है। देखिए न, जब से सृष्टि बनी है, सूर्य्य निरन्तर ताप और प्रकाश दे रहा है, उसके ताप-प्रकाश में कोई न्यूनता नहीं दिखाई देती। सागर से सूर्य्य प्रतिदिन जल सुखाकर भाप बना रहा है, किन्तु सागर की परिधि=बेला घटी नहीं, सरकी नहीं; सभी जीव-जन्तु पृथिवी से सदा से आहार पा रहे हैं, मनुष्यों की संख्या प्रतिदिन बढ़ ही रही है, किन्तु पृथिवी माता ने किसी सन्तान को जीवन-सामग्री देने से नकार नहीं किया। कोई भूखा मरता है तो अपनी मूर्खता से। वायु सदा से प्राण व साधन दे रहा है। कहाँ तक गिनाएँ! थककर कहना पड़ता है उसकी धारक, रोधक शक्तियाँ अजर-अमर ही हैं। काकू से वेद ने उपदेश कर दिया कि अकर्मण्यता भगवान् को इष्ट नहीं है। सदा कर्म्म में लगे रहनेवाले को अकर्मण्यता कैसे पसन्द आ सकती है!

८३. भक्त और ज्ञानी तेरी शरण में

ओ३म् । उभयासो जातवेदः स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि ।
वस्वो रायः पुरुश्चन्द्रस्य भूयसः प्रजावतः स्वपत्यस्य शग्धि नः ॥

—ऋ० २।२।१२

शब्दार्थ—हे **जातवेदः** सर्वज्ञ ! हे **अग्ने** आगे ले-जानेवाले परमात्मन् ! हम **उभयासः** दोनों **स्तोतारः** स्तोता, भक्त **च** तथा **सूरयः** ज्ञानी **ते** तेरी **शर्मणि** शरण में **स्याम** हों । **नः** हमें तू **वस्वः** बसानेवाले **पुरुश्चन्द्रस्य** अत्यन्त आह्लाद देनेवाले **प्रजावतः** प्रजायुक्त **सु+अपत्यस्य** उत्तम सन्तानयुक्त **भूयसः** बहुत अधिक **रायः** धन का **शग्धि** शासक बना ।

व्याख्या—वेद की यह अद्‌भुत विशेषता है कि इसमें सबके कल्याण की कामना है । भक्त=वेद का भक्त केवल अपने लिए कुछ नहीं चाहता, वह सबको साथ लेकर चलता है । वेद का ज्ञानी अभिमानी नहीं है, वह भी अकेला ज्ञान की खान नहीं बनना चाहता । वह भी अपने ज्ञान को बाँटता है । भक्ति की सफलता इसी में है कि भक्त अनन्य भाव से भगवान् की आराधना से भरपूर हो । ज्ञान भी तभी सफल है जब वह ज्ञान का अन्तिम ज्ञेय जान ले । अन्यथा वे—**'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः'** [य० ४०।१२]—उससे भी अधिक अन्धकार में हैं जो विद्या में रत हैं । इसीलिए वेद कहता है—

उभयासो जातवेदः स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि ।

भक्त और ज्ञानी दोनों तेरी सुखदायी शरण में रहें ।

भगवान् की शरण सचमुच सुखदायी है । सारे मनुष्य उसी का दिया खाते हैं—**'त्वया मर्त्तासः स्वदन्त आसुतिम्** [ऋ० २।१।१४] । मनुष्य तेरे कारण ऐश्वर्य का स्वाद लेते हैं । ज्ञानी इस बात को जानकर भक्तों को अपनी सम्पत्ति देते हैं—**'ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः'** [ऋ० २।१।१६]—विद्वान् लोग गौ-आदि प्रधान, तथा सुन्दर पदार्थों का दान स्तोताओं—भक्तों को करते हैं ।

ऐसों को सब प्रकार का धन मिलता है । धन का पहला गुण 'वसु' बसाने की योग्यता होना चाहिए । उजाड़ना धन का काम नहीं । धन पुरुश्चन्द्र=अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला हो । धनी निस्सन्तान देखे जाते हैं, किन्तु ऐसे भक्तों और ज्ञानियों की सन्तान भी विपुल धनवाली होती है, क्योंकि परमेश्वर—**'रयिर्बहुलो विश्वतस्पृथुः'** [ऋ० २।१।१२]—सब प्रकार से महान् विशाल धन है । भगवान् की संदृष्टि में सब धन है—**'संदृशि श्रियः'** [ऋ० २।१।१२]—जो स्वयं धन है, जिसकी नज़रेमिहर में ज़र है, उसकी शरण में रहनेवाले बे-ज़र व बेघर कैसे होंगे ! वेद का भाव स्पष्ट है । जन चाहते हो, भगवान् की शरण जाओ । धन माँगते हो, उस रयिपति के पास जाओ । जीवन की कामना भी वहीं से पूरी होगी । समस्त आशाओं और प्रतीक्षाओं का वह केन्द्र है ।

८४. धन-तन-वचन से यज्ञ करो

ओ३म् । यज्ञेन वर्धते जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा ।
समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम् ॥

—ऋ० २।२।१

शब्दार्थ—जातवेदसम् जातवेदाः **अग्निम्** अग्नि को **यज्ञेन** यज्ञ द्वारा **वर्धत** बढ़ाओ । **हविषा** हवि, धन **तना** तन अथवा सन्तान और **गिरा** वाणी से **समिधानम्** एकरस देदीप्यमान **सुप्रयसम्** उत्तम प्रयासी **स्वर्णरम्** मनुष्यों के सुखदाता **द्युक्षम्** प्रकाशवासी तथा **वृजनेषु धूर्षदम्** पापों में डरा के बिठानेवाले **होतारम्** महादानी का **यजध्वम्** यज्ञ करो ।

व्याख्या—वैदिक धर्म्म यज्ञप्रधान धर्म्म है । यज्ञ को निकाल दो, तो वैदिक धर्म्म निष्प्राण हो जाएगा । पूर्वमीमांसा दर्शनवाले तो धर्म्म का अर्थ ही यज्ञ करते हैं अर्थात् धर्म्म और यज्ञ एक ही पदार्थ हैं । वेद में भी कुछ ऐसी ही बात कही गई है—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'** [य० ३१।१६]—अध्यात्मतत्त्ववेत्ताओं ने यज्ञपुरुष की यज्ञ के द्वारा पूजा की, और यही मुख्य धर्म्म हुए । यज्ञ करना जब धर्म्म हुआ, तो प्रश्न है—यज्ञ है क्या ? इसके सम्बन्ध में किसी दूसरे मन्त्र की व्याख्या में लिख चुके हैं । उसको सामने रखते हुए कहा जा सकता है कि यज्ञ का प्रधानभाव आत्मसमर्पण है । तब—**'यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निम्'** का अर्थ हुआ 'आत्मसमर्पण' के द्वारा सर्वज्ञ भगवान् को बढ़ाओ अर्थात् उसकी महिमा का विस्तार करो । यद्यपि भगवान् की महिमा अक्षुण्ण है, नित्य है, वृद्धि व ह्रास से परे है, किन्तु नास्तिकों को आस्तिक बनाना मानो उसकी महिमा को बढ़ाना है । वेद का अभिप्राय प्रतीत होता है कि दस्यु को, नास्तिक को, अमन्तु को यज्ञ से, आत्ससमर्पण से, प्रीति से आस्तिक बनाओ, अत्याचार और क्रूरता से नहीं । यज्ञ में क्या-क्या सामग्री चाहिए ? इसमें—**'यजध्वं हविषा तना गिरा'** हवि से, तन से, सन्तान से और वाणी से यज्ञ करो । जो वस्तु दी-ली जाए, उसे हवि कहते हैं । धन ही लिया-दिया जाता है, इसलिए हवि वास्तव में धन है ।

परोपकार के कार्य्यों में धन देना यज्ञ है । धर्म्मप्रचार, विद्याप्रचार में धन का व्यय करना यज्ञ है । संसार में प्रायः धन का मोह बहुत होता है, अतः यज्ञ में सबसे पहले धन का त्याग करो । मीमांसक कहते हैं—**'देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागो यागः**—देवता को लक्ष्य करके द्रव्य का देना याग है अर्थात् याग में त्याग की भावना प्रधान है । सबसे पहले सांयोगिक पदार्थों को ही सरलता से त्यागा जा सकता है, अतः यहाँ सबसे पहले धनत्याग की बात कही है । सांयोगिक—स्थूल सांयोगिक—घर, घोड़ा, गौ, रुपया, वस्त्र, पात्र, सम्पत्ति का मोह जब टूटता है तब आत्मा और देह के भेद का भान होने लगता है, यह भी एक प्रकार का धन ही है, अतः इसे भी धर्म्ममार्ग में लगा देने की भावना जागती है । वाणी का त्याग बहुत कठिन है । मनुष्य त्याग करता है किन्तु उसकी चर्चा का त्याग नहीं करता । इस चर्चा को बन्द कर देना, नेकी करना और दरिया में डाल देना—यह है वाणी का त्याग । जब इस प्रकार इन तीनों से याग किया जाएगा, तो वह याग पूर्ण होगा ।

८५. भगवान् का ऐश्वर्य्यं शरीरधारी के लिए

ओ३म् । अध ग्मन्ता नहुषो हवं सूरेः श्रोता राजानो अमृतस्य मन्द्राः ।
नभोजुवो यन्निरवस्य राधः प्रशस्तये महिना रथवते ॥ —ऋ० १।१२२।११

शब्दार्थ—अध अब **नहुषः** मनुष्य **सूरेः** विद्वान् की **हवम्** पुकार पर **ग्मन्त** जाते हैं। **राजानः** प्रकाशमानो ! **अमृतस्य** जीवन के, मोक्ष के **मन्द्राः** मस्त करनेवाले गानों को **श्रोत** सुनो कि **यत्** जो **नभोजुवः** प्रकाश के गतिदाता **निरवस्य** परमेश्वर का **राधः** ऐश्वर्य है वह **महिना** महत्त्व के साथ **प्रशस्तये** प्रशंसनीय **रथवते** रथवान् शरीरधारी के लिए है।

व्याख्या—ज्ञानी तो सदा से प्रकाश करते हैं किन्तु उनकी कोई सुना नहीं करता। कदाचित् कोई विरला ही उनकी पुकार पर कान देता है। यदि उसके वचनों को लोग अनायास सुन लिया करते तो व्यासजी क्यों कहते—**'ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे'** भुजाएँ ऊपर उठाकर मैं पुकारता हूँ किन्तु कोई नहीं सुनता है। ठोकर खाकर अज्ञानी विद्वान् के पास जाता है—**'अध ग्मन्ता नहुषो हवं सूरेः'** अब मनुष्य विद्वान् की पुकार पर जाते हैं। अब कब ? जब धक्के खा चुके। भगवती श्रुति प्यार से कहती है—**'श्रोता राजानो अमृतस्य मन्द्राः'** मेरे राजाओ, राजा बच्चो ! जीवन के मधुर गान सुनो। जीवन का एक मधुर गान यह है—**'नभोजुवो···रथवते'** भगवान् का सारा ऐश्वर्य्य शरीरधारी के लिए है। जितना अच्छा रथ=शरीर, उतनी अच्छी सामग्री। तभी कहा—**'प्रशस्तये महिना रथवते'** महत्त्व के साथ, प्रशस्त रथवान् के लिए है।

देख लो। तुम्हारा रथ अच्छा है या नहीं। योगियों ने इस श्रुतिवाक्य की पुष्टि अपने अनुभव से की और कहा—**'तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा'** [यो० द० २।२१]—आत्मा के लिए ही इस दृश्य=जगत् का स्वरूप है। जीवों को मुक्ति और भुक्ति देने के लिए ही संसार की रचना हुई है, अतः सारा संसार, जो वास्तव में भगवान् का धन है, जीव के लिए है। यह जीव की अपनी इच्छा है कि भोग की भावना से इसी में फँस जाए, या इसका सार जानकर इसे अपवर्ग का साधन बनाये।

जो भी हो, यह स्पष्ट है कि यह सारा संसार जीव के लिए है। इस मन्त्र में एक बड़ी भारी समस्या का समाधान हो जाता है। दार्शनिक संसार=रचना का प्रयोजन स्थिर करने में नित्य नई-नई युक्तियाँ लड़ाया करते हैं। जीव की सत्ता न मानने से इसका समाधान नहीं होता। वेद ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में इसका समाधान कर दिया है—**'राधः प्रशस्तये महिना रथवते'** अपनी सारी महत्ता के साथ यह धन प्रशस्त रथवान्=शरीरवान् के लिए है। प्रशस्त शरीरवान्=उत्तम कर्म्म के फलस्वरूप उत्तम शरीरवाला। उत्तम कर्म्म करो। समस्त ऐश्वर्य्य लो।

८६. दाता का महत्त्व

ओ३म् । स व्राधतो नहुषो दंसुजूतः शर्धस्तरो नरां गूर्तश्रवाः ।
विसृष्टरातिर्याति बाळ्हसृत्वा विश्वासु पृत्सु सदमिच्छूरः ॥

—ऋ० १।१२२।१०

शब्दार्थ—**सः** वह **व्राधतः** उपासक **नहुषः** मनुष्यों के **दंसुजूतः** तेज से प्रदीप्त हुआ **शर्धस्तरः** अतिशय बलवान् **नराम्** मनुष्यों में **गूर्तश्रवाः** प्रसिद्ध यशवाला **विसृष्टरातिः** खुला दान देनेवाला **शूरः** शूर **बाळ्हसृत्वा** प्रबल वेगवान् होकर **विश्वासु** सभी **पृत्सु** युद्धों में **सदम्**+**इत्** सदा ही **याति** जाता है ।

व्याख्या—वैदिकधर्म्म में दान का बहुत माहात्म्य है । दान न देनेवाले कंजूस को वेद में अराति कहते हैं । लौकिक संस्कृत में अराति का अर्थ शत्रु है । सचमुच जो दान नहीं देता, वह समाज का शत्रु है । दान यज्ञ का अङ्ग है, धर्म्म का एक स्कन्ध है । जो धर्म्म का=सामाजिक नियम का उल्लंघन करता है, वह सचमुच सामाजिक समता में आघात पहुँचाने के कारण समाज का शत्रु है ।

दान के कई सोपान हैं । पीछे एक मन्त्र की व्याख्या में लिख चुके हैं कि धन-दान, तन-दान, वाणी-दान करने से यज्ञ की सफलता होती है । दान का अर्थ जैसे कि बता चुके हैं—अपनी अधिकृत वस्तु पर से अपना अधिकार हटाकर दूसरे का अधिकार स्वीकार करना दान है । मनुष्य सब-कुछ दे सकता है, शरीर तक दूसरों के लिए उत्सर्ग कर सकता है, किन्तु अहंकार-ममकार त्यागना बहुत कठिन है । अहंकार-ममकार त्यागकर जब भक्त अपने आपको भगवान् के अर्पण करता है, तब भगवान् उस अपने उपासक को अपने तेज से तेजस्वी कर देता है । शास्त्र में उस तेज का नाम 'ब्रह्मवर्चस' है । वेद कहता है, दानी मनुष्य—**'व्राधतो नहुषस्य दंसजूतः'** उपासक मनुष्य के तेज से तेजस्वी होता है अर्थात् निष्काम-भाव से दान करने-वाला, आत्मसमर्पण करनेवाले उपासक के समान तेजस्वी होता है । अतएव वह **शर्धस्तरः बलवत्तर**=अत्यन्त बलवान् होता है और **'नरां गूर्तश्रवाः'**=मनुष्यों में उसकी कीर्ति की चर्चा होती है । ऐसे दानी के लिए वेद में आदेश है कि वह **'उतापरीषु कृणुते सखायम्'** [ऋ० १०।११७।३]—विपत्तियों के समय के लिए मित्र बना लेता है । दाता को मित्रों की कमी नहीं रहती अतएव वह **'विसृष्टरातिर्याति बाळ्हसत्वा विश्वासु पृत्सु सदमिच्छूरः'** यह दानी शूर महावेगवान् होकर सभी युद्धों में सदा जाता है । अकेला वही नहीं, उसके साथी, मित्र, सहायक पर्याप्त हैं, अतः वह पूर्ण वेग से संग्रामों में घुस जाता है । जिसने अपना दान दे दिया, उसे तो सबसे महान् सखा मिल गया है, उसे तो भय रहा ही नहीं । इस महत्त्व को समझकर दान करो ।

८७. पूर्वानुसार जन्म

ओ३म् । अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित् ।
तं मा व्यन्त्याध्यो३ वृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

—ऋ० १।१०५।७

शब्दार्थ—**अहम्** मैं **सः** वही **अस्मि** हूँ **यः** जो **पुरा** पहले **सुते** जन्म में **था** । अब मैं **कानि+चित्** कुछ-कुछ **वदामि** कहता हूँ । **तम्** ऐसे **माम्** मुझको **आध्यः** मानसिक दुःख **व्यन्ति** प्राप्त हो रहे हैं **न** जिस प्रकार **वृकः** भेड़िया **तृष्णजम्** प्यासे **मृगम्** मृग को प्राप्त होता है। हे **रोदसी** द्यावापृथिवी, माता-पिता, **मे** मेरी **अस्य** इस अवस्था को **वित्तम्** जानो ।

व्याख्या—मृग प्यासा था, व्याकुल होकर सामने दौड़ा । चमचमाती बालू में सूर्य्य-किरणों ने मिलकर जल की झिलमिलाहट उत्पन्न कर दी । उस मृगमरीचिका को मृग ने समझा जल । प्यासा मृग दौड़ा; जितना दौड़ता था, जल उतना ही दूर भागता जाता था । मृग भाग-भागकर थक गया । प्यास से व्याकुल होकर गिर पड़ा । जीभ बाहर निकल आई, फिर भी जीवन की आस थी । इस आशा और निराशा की द्वन्द्व-अवस्था में उसे भेड़िये ने आ पकड़ा । आह ! ! बेचारा मृग प्यासा मर रहा है । उसे चारों ओर जल दीखता है किन्तु पीने को नहीं मिलता । यही दशा जीव की है । जीव प्यासा है, भोग की प्यास ने—विषय की लालसा ने—इसे व्याकुल कर दिया है । इसे मिटाने के लिए यह संसार में दौड़ लगाता है । जब किसी पदार्थ को मुँह लगाता है, समझता है इससे प्यास मिटेगी, किन्तु प्यास उलटी बढ़ जाती है । शायद व्यास ने इसी कारण कहा था—'**भोगाभ्यासाद् विवर्धन्ते रागाः (रोगः)**' भोग के अभ्यास से राग=वासनाएँ बढ़ती हैं (रोग बढ़ते हैं) ।

भोग के भूखे-प्यासे प्राणी ने सारे संसार में मृग की दौड़ लगाई, किन्तु प्यास न बुझ पाई । व्याकुल है कि मृत्युवृक=मौत-भेड़िये ने आन दबोचा है । इस सुन्दर ऋतवृत्त को वेद ने थोड़े-से शब्दों में कहा है—**तं मां व्यन्त्याध्यो वृको न तृष्णजं मृगम्**' प्यासे मृग को भेड़िये की भाँति, मुझको व्याधियों ने आ दबोचा है । कैसा मैं ? '**अहं सो अस्मि पुरा सुते**' अर्थात् मेरी आत्मा वही है, जैसे पूर्वजन्म में कर्म्म किये थे वैसे सामान अब मिले । पिछले संस्कारों के चक्चर में फँसकर अपने-आपको पहचानने का यत्न न किया, अतः भगवान् को न जान सका । परोक्ष ब्रह्म को प्रत्यक्षवादी कैसे माने ? वह तो दीखता नहीं, उससे फरियाद न करके आकाश और भूमि को कहता है—'**वित्तं मे अस्य रोदसी**' मेरी इस अवस्था को द्यावापृथिवी जानें । हाँ, वही जानेंगे । तूने ऊपर उठने का यत्न न किया, इन्हीं में जो विचरता रहा ।

८८. बहुपत्नीनिषेध

ओ३म् । सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
मूषो न शिश्ना व्यदन्तिः माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

—ऋ० १।१०५।८

शब्दार्थ—**पर्शवः** संसार के शूल **अभितः** चारों ओर से **मा** मुझको ऐसे **सं+तपन्ति** सन्ताप दे रहे हैं, **इव** जैसे **सपत्नीः** सौकिनें । **मूषः+न** चूहों की भाँति **शिश्नाः** शिश्न, भोग के साधन मुझको सता रहे हैं । हे **शतक्रतो** सैकड़ों कर्म्म करनेवाले ! **ते** तेरे **स्तोतारम्** स्तोता **मा** मुझको **आध्यः** मानसिक पीड़ाएं **व्यदन्ति** खाये जा रही हैं । हे **रोदसी** द्यावापृथिवी ! **मे** मेरी **अस्य** इस अवस्था को **वित्तम्** जानो ।

व्याख्या—वेद पतिव्रत तथा पत्नीव्रत का उपदेशक है । एक समय में एक पति को एक ही पत्नी और एक पत्नी का एक ही पति होना चाहिए । जो मनुष्य एक समय में एक से अधिक पत्नियाँ करता है, उसकी दुर्दशा का थोड़ा-सा चित्र यहाँ खींचा गया है । स्वभावोक्ति का यह मन्त्र बहुत सुन्दर उदाहरण है ।

एक निर्विण्ण जिज्ञासु संसार के व्यवहार से व्याकुल हो उठा है । सांसारिक भोग उसे शत्रु के समान दीखते हैं । वह देखता है कि एक मनुष्य आज विषयों में आसक्त है, विषयों के अतिरिक्त उसे कुछ सुझाई नहीं देता । थोड़े दिनों के पश्चात् किसी भयंकर व्याधि में ग्रस्त हो जाता है । विषयों का परिणाम विचारकर वह व्याकुल हो उठता है, उसे जरा, मृत्यु सामने खड़ी दीखती है । उसे दीखता है कि संसार में द्वेष, लोभ और मोह का साम्राज्य है । भाई भाई से द्वेष कर रहा है । पराये पदार्थों की ओर लोगों ने गृद्ध-दृष्टि लगा रखी है । इससे संसार तप रहा है । संस्कार मनुष्यों को परेशान कर रहे हैं । आग-पानी के वैर के समान वह सारी सृष्टि में वैर-विरोध देखकर संसार के पदार्थों को ही दुःखमय समझने लगता है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।—यो० द० २।१५

परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख तथा सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के पारस्परिक विरोधी स्वभाव के कारण विवेकी की दृष्टि में सभी दुःख है । जब विवेकी की दृष्टि में सभी दुःख है, तो वह इससे व्याकुल हो उठेगा, यह स्वाभाविक ही है । उसकी व्याकुलता का दिग्दर्शन मन्त्र में किया गया है—**'सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः'** सपत्नियों की भाँति संसार-शूल मुझे सन्तप्त कर रहे हैं । एक पत्नी की इच्छाओं, आवश्यकताओं और आदेशों को पूरा करना कठिन-सा होता है, जब अनेक हों, और हों भी परस्पर विरुद्ध, तब पति का जीना सचमुच दूभर हो जाता है । सपत्नी की सपत्नी से ईर्ष्या है, किन्तु उनका वेग तो पति पर प्रकट होता है । कभी-कभी मिलकर सपत्नियाँ पति की मरम्मत भी कर देती हैं । जैसे सौकिनों के कारण पुरुष व्याकुल हो जाता है, ऐसे ही संसार की वासनाएँ मनुष्य को कलविहीन कर रही हैं । उनके कारण पुरुष चिन्ता-चिता में पड़ जाता है और जल-जल मरता है—**'व्यदन्ति माध्यः स्तोतारम्'**=मुझ भक्त को मानस दुःख खा रहे हैं । संसार की यह प्रतिकूल दशा प्रत्येक को प्रतीत नहीं होती, वरन् विचारवान् विद्वान् ही को सूझती है ।

८६. संसार भगवान् की कीर्ति

ओ३म् । अस्य श्रवो नद्यः सप्त बिभ्रति द्यावाक्षामा पृथिवी दर्शतं वपुः ।
अस्मे सूर्य्याचन्द्रमसाभिचक्षे श्रद्धे कमिन्द्र चरतो वितर्तुरम् ॥

—ऋ० १।१०२।२

शब्दार्थ—अस्य इस भगवान् के **श्रवः** यश को **सप्त+नद्यः** सात नदियाँ **बिभ्रति** धारण कर रही हैं, **द्यावाक्षामा** द्यौ, पृथिवी और **पृथिवी** अन्तरिक्ष **दर्शतम्** देखने योग्य **वपुः** निर्माण सामर्थ्य=शरीर को **बिभ्रति** धारण कर रहे हैं। हे **इन्द्र** अनन्त बल-पराक्रमवाले भगवन्! **सूर्य्याचन्द्रमसा** सूर्य्य और चन्द्र **अस्मे** हमें **अभिचक्षे** दिखाने तथा **श्रद्धे** तुझपर श्रद्धा कराने के लिए **कम्** सुखपूर्वक **वितर्तुरम्** परस्पर विरुद्ध मार्ग में **चरतः** चल रहे हैं।

व्याख्या—अपने उद्गम-स्थान से निकलकर कलकल ध्वनि करती हुई नदियाँ भगवान् का यशोगान कर रही हैं। उसका रूप देखना चाहते हो तो यह विशाल द्यौ, विस्तृत अन्तरिक्ष और महती मही उसका शरीर ही है, जैसा कि 'अथर्ववेद' में कहा है—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्य्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

—१०।७।३२-३४

भूमि जिसका पादतल है और अन्तरिक्ष पेट। जिसने द्यौ को सिर बनाया, उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार! सूर्य्य और प्रतिदिन नूतन प्रतीत होनेवाला चन्द्रमा जिसकी आँख हैं और अग्नि को जिसने मुख बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार! वायु जिसके प्राण-अपान हैं, किरणें जिसकी आँख हैं, दिशाओं को जिसने प्रज्ञानी=ज्ञान करानेवाली या कान बनाया है उस सर्वोत्तम ब्रह्म को नमस्कार।

रूपक अलङ्कार से संसार के पदार्थों को भगवान् का शरीर-निरूपण किया है। इस विशाल, अनन्त-अपार संसार को देखकर किस बुद्धिमान् का भमवान् के आगे सिर नहीं झुकेगा! सूर्य्य पूर्व से उदय होता है, चन्द्रमा का उदय पश्चिम से प्रारम्भ होता है, दोनों विपरीत दिशा से उदय होकर भी प्राणियों के सुख के हेतु बनते हैं। परस्पर विरुद्ध दिशा में चलकर भी ये दोनों मनुष्य का हित-साधन करते हैं। क्या ये अपने-आप करते हैं? कदापि नहीं। ये किसी के आदेश में बँधे हुए ऐसा कर रहे हैं और इस भाँति उसकी सत्ता का पता दे रहे हैं—**'अस्मे…श्रद्धे कमिन्द्र चरतो वितर्तुरम्'** ये सूर्य्य-चन्द्र हमें उसके दर्शनीय तेज का दर्शन कराने के लिए, और उसपर श्रद्धा कराने के लिए सुखपूर्वक परस्पर विरुद्ध चलते हैं। सूर्य्य, चन्द्र, विशाल संसार भी भगवान् पर यदि श्रद्धा नहीं करा सकते तो कौन कराएगा? कार्य्य कर्त्ता की सूचना देता है। यह अद्भुत सुन्दर संसार उस अपार की महिमा का सार है।

भगवान् का यश बहुत बड़ा है, सबसे बड़ा है—**उत्ते शतान्मघवन्नुच्च भूयस उत्सहस्राद्रिरिचे कृष्टिषु श्रवः** [ऋ० १।१०२।७]। प्रभो! प्रजाओं में तेरा यश सैकड़ों से बड़ा है, हज़ारों से अधिक है और बड़ों से भी बड़ा है। यह समूचा संसार विकार के द्वारा, परिवर्तन के द्वारा, वृद्धि-ह्रास के द्वारा, उत्पत्ति-विनाश के द्वारा, इशारा कर रहा है कि यह कार्य्य है। कार्य्य कर्त्ता की सूचना देता है। जैसी सुन्दर रचना होगी, वैसी कर्त्ता की योग्यता समझी जाती है। संसार के पदार्थों पर विचार किया जाए, तो

ये चक्कर में डाल देते हैं। पृथिवी को ही देखा जाए, क्या कोई बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक कहने का साहस कर सकता है कि उसने पृथिवी का सब-कुछ जान लिया है? मिट्टी का ढेला जल में डालो, वह जल में घुल जाएगा। यह नैसर्गिक नियम है। पृथिवी के चारों ओर जल है और और उससे तिगुना, पृथिवी पर और इसके भीतर भी जल है, किन्तु पृथिवी नहीं घुलती। अग्नि जलाता है, किन्तु शरीर के भीतर का अग्नि जिलाता है। एक पत्ते को देखिए, किस प्रकार की सूक्ष्म रचना है! मानव-तन कितना अद्भुत है! कोई सबसे बड़ा वैज्ञानिक इस शरीर का पूर्ण रहस्य नहीं जान पाया। संसार के पदार्थ एक-से-एक बढ़कर विलक्षण और अद्भुत हैं। इनका बनानेवाला कितनी अद्भुत बुद्धि का धनी होगा, इसकी तो मनुष्य पूरी कल्पना भी नहीं कर सकता; यहाँ आकर वह कुण्ठित हो जाता है।

९०. यज्ञ और उत्सवों में भगवान् का भजन

ओ३म् । इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे ।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु ॥ —ऋ० १।१०२।१

शब्दार्थ— **अस्य**+**ते** इस तेरी **इमाम्** यह **महः**+**महीम्** बड़ी-से-बड़ी **धियम्** स्तुति **स्तोत्रे** भक्त के लिए **प्र**+**भरे** देता हूँ, **यत्** जो **धिषणा** बुद्धि **ते** तुझसे **आनजे** व्यक्त हुई है । **देवासः** विद्वान् ज्ञानी **उत्सवे** उत्सव में **च** और **प्रसवे** प्रसव में, यज्ञ में **तम्** उस **सासहिम्** अत्यन्त बलवान् **इन्द्रम्**+**अनु** भगवान् को लक्ष्य करके **शवसा** यथाशक्ति **अमदन्** मस्त होते हैं ।

व्याख्या—सब ज्ञानों की खानि भगवान् है। वही मनुष्य को स्तुति-प्रार्थना-उपासना का उपदेश करता है, जिस भाग्यवान् को प्रभु-कृपा से भगवान् की महती स्तुतिविद्या का ज्ञान हुआ है, वह उसे छिपा न रखे, वरन् वह इसे दूसरों में बाँटे—**'इमा ते धियं प्रभरे महो महीमस्य स्तोत्रे'**=भगवान् की महती-से-महती स्तुति को उसके भक्त के प्रति देता हूँ । उससे बढ़कर भाग्यवान् कौन है, जिसे घर-बैठे ज्ञानी गुरु भगवद्भक्ति सिखाने आया है ? विद्वान् सदा उसी का यशोगान करते हैं—

तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु ।

विद्वान् शक्तिभर उत्सवों और यज्ञों में उस शक्तिमान् भगवान् को लक्ष्य करके मस्त होते हैं ।

संसार का निरीक्षण करने से विद्वानों को भगवान् के इस महान् निर्माण-विधान का भान हुआ है। उन्हें प्रतीत होता है कि जो कुछ उनके पास है, वह सब भगवान् का दान है। जब-जब उनके जीवन में कोई हर्ष का समय आता है, उस समय को, हर्ष को, वे भगवान् की कृपा समझते हैं, अतएव वे ऐसे प्रत्येक समय में भगवान् का यशोगान करते हैं, उसका धन्यवाद करते हैं । वे तो सदा कहते हैं—**त्वां देवेषु प्रथमं हवामहे** [ऋ० १।१०२।९]—हम देवों में मुख्य तुझको पुकारते हैं, क्योंकि—**त्वं बभूथ पृतनासु सासहिः** [ऋ० १।१०२।९]—तू ही शक्तिमान् हमारे जीवन-संग्रामों में सहायक है ।

दुर्बल मनुष्य विकट संकट के प्रकट होने पर विह्वल हो जाता है । उसकी विह्वलता, व्याकुलता को परमेश्वर ही दूर करता है। भगवान् की इस कृपा का अनुभव करके वे चाहते हैं—**विश्वाहेन्द्रो अधिवक्ता नो अस्तु** [ऋ० १।१०२।११]—सदा इन्द्र=सर्वज्ञ भगवान् ही हमें बतानेवाला हो और हम—**अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम्** [ऋ० १।१०२।११]—कुटिलतारहित होकर उसके उपदेश का सेवन करें। भगवान् की कृपा का पात्र बनने के लिए प्रत्येक हर्ष के अवसर पर उसका धन्यवाद अवश्य देना चाहिए। आस्तिकों की तो यही प्रबल कामना है कि—**अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव** [अ० ५।८।९]—हे प्रभो ! हम तुझे लक्ष्य करके कार्यारम्भ करें, ताकि सदा तेरी सुमति में रहें ।

६१. वेदशब्देभ्यो निर्ममे

ओ३म् । स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥

—ऋ० १।९६।२

शब्दार्थ—**सः** वह **पूर्वया** पूर्ववाली **निविदा** युक्ति से अथवा ज्ञान करानेवाली वेदवाणीरूपी **कव्यता** परम कवि की कविता के द्वारा **आयोः** अनादिकारण से **मनूनाम्** मनुष्य के लिए **इमाः** इन **प्रजाः** प्रजाओं को और **चक्षसा** दर्शनसाधन **विवस्वता** सूर्य्य के साथ **द्याम्** द्यौ **च** और **अपः** अन्तरिक्ष को **अजनयत्** उत्पन्न करता है । **देवाः** विद्वान् इस **द्रविणोदाम्** धनदाता **अग्निम्** अग्नि को, ब्रह्म को **धारयन्** धारण करते हैं ।

व्याख्या—वेद में यह बात बार-बार कही गई है कि भगवान् ने इस सृष्टि का निर्माण जीवों के कल्याण के लिए किया है । यहाँ भी कहा **'इमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्'**=मनुष्यों के लिए इन पदार्थों को पैदा किया है । पदार्थ उत्पन्न करके उनके नामादि अपनी सनातन निवित्=वेदवाणी से रखता है । मनु ने भी यह बात कही है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक्पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥—मनु० १।२१

सबके नाम और कर्म्म, और सारी रचनाएँ वेदशब्दों के अनुसार ही आरम्भ में निर्माण कीं । अथवा इनकी रचना वह **'पूर्वया निविदा'** पुरानी रीति से करता है—**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्** धाता=जगद्विधाता ने सूर्य्य और चन्द्र को यथापूर्व=पूर्वकल्प की भाँति बनाया । 'पूर्वया निविदा' और 'यथापूर्व' ने एक और सूचना भी दी कि यह सृष्टि अपूर्व और अनुत्तर नहीं है, इस सृष्टि से पूर्व भी सृष्टि थी, और इस सृष्टि के बाद भी सृष्टि होगी । सृष्टि का चक्र चलता रहता है । सृष्टि के पीछे प्रलय, प्रलय के पीछे सृष्टि, इस प्रकार यह प्रवाह चलता है । सृष्टि का प्रवाह अनादि है, तब स्रष्टा की निवित्=निर्माणज्ञान भी अनादि है । ज्ञान की सफलता निर्माण में=अनुष्ठान में है, इसपर वेद का बहुत आग्रह है । इस प्रवाह का प्रवाहयिता भगवान्—**'नू च पुरा च सदनं रयीणाम्'** [ऋ० १।९६।७]—आज भी और पहले भी धनों का ठिकाना था और है । इतना ही नहीं, वह तो—

रायो बुध्नः संगमनो वसूनां यज्ञस्य केतुर्मन्मसाधनो वेः ।—ऋ० १।९६।६

धन का वर्धक, धनों का प्राप्त करानेवाला, यज्ञ का केतु तथा आत्मा के ज्ञान का, मनन का प्रधान साधन है । मनुष्य धन का अभिलाषी है, वह धन का ठिकाना है, केवल ठिकाना ही नहीं वरन् बढ़ानेवाला भी है, और साथ ही धन प्राप्त करानेवाला भी वही है । इससे बढ़कर आत्मा के मूल धन=ज्ञान का साधन भी वही है । अतः **'देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्'**=देव उस धनदाता भगवान् को धारण करते हैं । जब धन का ठिकाना है ही वही, तो उसे ही धारण करना योग्य है । यह मत समझना कि विद्वान् लोग भी धन की कामना में लिप्त होकर लक्ष्य को भूल गये । न, न; वे तो—**'अमृतत्वं रक्षमाणासः'** [ऋ० १।९६।६] =अमृत की, जीवन की रक्षा करते हुए, मोक्ष को बचाते हुए, धन की कामना करते हैं । जीवन-निर्वाह के लिए धन की कुछ आवश्यकता होती है, किन्तु इतनी नहीं कि इसी में लिप्त हो जाए । वरन् धन के द्वारा वह अपने मोक्ष की, मोक्ष-साधन की रक्षा करे ।

तनिक और विचार लो। विद्यार्थी के लिए प्राप्तव्य धन विद्या है। गृहस्थ का प्राप्तव्य धन अन्न, वस्त्र, गौ, घोड़ा, घृतदुग्ध, घर, बाड़ी आदि है। जिससे प्रयोजन सिद्ध होकर प्रीति की प्राप्ति हो, उसे धन कहते हैं। मोक्षाभिलाषी को किससे प्रीति हो सकती है? सभी मानेंगे कि मोक्ष-साधनों से, अतः सिद्ध हुआ कि मोक्षाभिलाषी मोक्ष के साधनों का संग्रह करता है, क्यों? उसे मोक्ष की रक्षा करनी है। कई बार मोक्ष से आना पड़ा और कई बार मोक्ष सामने आता दिखाई देता हुआ भी प्राप्त नहीं होता; उस समय की मुमुक्षु की वेदना को वही कुछ-कुछ समझ सकता है, जिसे किसी अभीष्ट वस्तु से वियुक्त होना पड़ा हो और कई बार प्राप्त होती प्रतीत होने पर भी वस्तु प्राप्त न हुई हो।

६२. ज्ञानी तेरे परम सामर्थ्यं को धारण करते हैं

ओ३म् । तत्त इन्द्रियं परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम् ।
क्षमेदमन्यद् दिव्य१न्यदस्य समीं पृच्यते समनेव केतुः ॥

—ऋ० १।१०३।१

शब्दार्थ—**कवयः** क्रान्तदर्शी विद्वान् **ते** तेरे **तत्** प्रसिद्ध **इदम्** इस **परमम्** परम, अतिमहान् **इन्द्रियम्** सामर्थ्य को **पुरा** पहले की भाँति **पराचैः** प्रकट उपायों के द्वारा **अधारयन्त** धारण करते हैं। **अस्य** इसका **इदम्** यह सामर्थ्य **क्षमा** पृथिवी में **अन्यत्** पृथक् है, और **दिवि** आकाश में **अस्य** इसका सामर्थ्य **अन्यत्** और ही है। **केतुः** इसका केतु=ज्ञान **समना+इव** समानता से **समी+पृच्यते** एकरस सबमें मिल रहा है।

व्याख्या—भगवान् की महिमा का बखान कौन करे ? यदि वह स्वयं सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को अपनी महिमा का पता न देता तो कदाचित् मनुष्य भी पशुवत् ज्ञान से वञ्चित रहते। किसी ने ठीक ही कहा है—**'जन्तूनां नरजन्मदुर्लभम्'**=प्राणियों में मनुष्य-जन्म सचमुच दुर्लभ है। मनुष्य-जन्म पाकर फिर भगवान् का ज्ञान होना तो और ही शान की बात है। जिन्हें भगवान् की शक्ति का ज्ञान हो जाता है, वे उसकी शक्ति को धारण करने का प्रयत्न करते हैं—

तत्त इन्द्रियं परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम् ।

कवि लोग तेरी इस प्रसिद्ध परम शक्ति को विविध उपायों से पहले धारण करते हैं। शक्ति-धारणा ही उपासना है। अथवा यों कहा जा सकता है कि उपासना के द्वारा=पास बैठने से शक्ति आती है। आग के समीप बैठने से=उपासना से अग्नि की शक्ति, ताप आदि प्राप्त होते हैं। उसकी शक्ति अनेक प्रकार की है। ऋषि श्वेताश्वतर कहते हैं—**'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'** [६।८]=उसकी परम शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है। यह न समझना कि वह केवल सृष्टि का रचयिता, पालयिता, एवं मारक है; इससे भी उसकी शक्ति कुछ विलक्षण है। रचना, पालना, मारना तो साधारण मनुष्यों को भी ज्ञात है। इस शक्तिभेद का निर्देश मन्त्र में भी किया है—**'क्षमेदमन्यद् दिव्यन्यदस्य'**=पृथिवी में इसकी शक्ति अन्य प्रकार की है, द्यौ में दूसरे ही प्रकार की। विचारने से यह भेद उत्तम रीति से प्रतीत होने लगता है। पदार्थों का निरीक्षण कीजिए तो ज्ञात होगा कि पृथिवी तो सबको सहारे का कार्य्य देती है, अतः पर्वत-वृक्षादि इसपर स्थित हैं, किन्तु द्यौ ने किसी सहारे के बिना सूर्य्य-चन्द्रादि थाम रखे हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में इसकी शक्ति की विविधता स्पष्ट दिखाई देती है। उसकी शक्ति का वर्णन संक्षेप में करना हो तो कह सकते हैं—

यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् ।—ऋ० २।१२।९

जो सम्पूर्ण संसार का निर्माता है और जो न गिरनेवालों को भी गिरा देनेवाला है। इस विशाल संसार की रचना और संहार के लिए कितना बल चाहिए ? इसके रचनासामर्थ्य को अनुभव करके भक्त के मुख से सहसा भगवद्वाक्य निकलता है—**'इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री'** [ऋ० १।३२।१]—भगवान् के बलों का वर्णन करूँ, जिनका उपयोग उस पापवारक ने सृष्टिरचना में किया। 'उसके करने का बल और मारने का बल हमें नहीं दीखता', ऐसा तर्क करनेवाले अर्द्धसन्दिग्ध, अर्द्धश्रद्धालु को वेद कहता है—**'तस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्य्याय'** [ऋ० १।१०३।५]—

अरे ! उसके इस महान् पालन को देखो और इन्द्र की शक्ति पर विश्वास करो। मारने से रक्षा करना बहुत बड़ा और कठिन कार्य्य है। चींटी से कुञ्जर तथा पामर से ज्ञानी तक सभी की पालना करनेवाले के सामर्थ्य पर विश्वास करो, भरोसा करो और उसे अपने अन्दर धारो। उसके पालन में एक अद्भुत विशेषता है, वह अपने न माननेवालों, निन्दकों, नास्तिकों की भी पालना करता है !

नास्तिक ! विचार, तुझे कैसे आँख मिली ? क्या जड़ प्रकृति की देन है ? ऐसा मानकर तू हृदय की अन्धता को व्यक्त करता है। रसना जिससे तू सब-कुछ खाता है, किसने प्रदान की ? न होती रसना, कैसे भोजन करता ? अवश्य भूखों मरता। जीवन-साधन देनेवालों को न मानना बड़ा अज्ञान है। किन्तु भगवान् महान् है। वह इसे भी पालता है। धन्य हो प्रभो ! धन्य हो !

९३. वह सबको मार्ग दिखाता है

**ओ३म् । ओ त्ये नर इन्द्रमूतये गुर्नू चित्तान्सद्यो अध्वनो जगम्यात् ।
देवासो मन्युं दासस्य श्चम्नन्ते न आ वक्षन्त्सुविताय वर्णम् ॥**

—ऋ० १।१०४।२

शब्दार्थ—**ओ** अरे ! **त्ये** वे **नरः** मनुष्य **ऊतये** रक्षा के लिए **इन्द्रम्** इन्द्र के पास **गुः** गये **नू**+**चित्** ताकि वह **तान्** उनको **सद्यः** तत्काल **अध्वनः** मार्गों पर **जगम्यात्** पहुँचा दे । **देवासः** निष्काम ज्ञानी **दासस्य** दुर्बल के, क्षीण के **मन्युम्** क्रोध को **श्चम्नन्ते** पी जाते हैं और **सुविताय** कल्याणोपदेश करने के लिए **वर्णम** क्रोध के रंग को **न** नहीं **आ**+**वक्षन्** धारण करते हैं अथवा हमारे कल्याण के लिए चुने पदार्थ लाते हैं।

व्याख्या—मनुष्य भटक रहे हैं, उन्हें सत्य मार्ग सुझाई नहीं देता । प्रत्येक अपने-अपने मार्ग की प्रशंसा कर रहा है । नवागन्तुक मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है, किसका अनुसरण करे और किसका न करे ? साधक के सामने विभिन्न कर्त्तव्य आते हैं, जो परस्पर विरुद्ध हैं, किस कर्त्तव्य को पूरा करे और किसको छोड़े ? गृहस्थ को वैराग्य हुआ है । संकीर्ण गृह से निकलकर विशाल संसार में आना चाहता है । निकलने की तैयारी की है कि पुत्र-कलत्र का मोह आ पड़ता है, माता-पिता की ममता और प्यार भी सवार हो जाते हैं। नया वैरागी सोच में पड़ जाता है क्या करे और क्या न करे ? ऐसी विषम परिस्थिति अबोधों को तो क्या, कभी-कभी सुबोधों को, महाबोधों को भी बुद्धू बना देती है । विवेकी जन ऐसे अवसर पर **'इन्द्रमूतये गुः'**=रक्षा के लिए, प्रयोजन-सिद्धि के लिए इन्द्र के पास, सर्वाज्ञाननिवारक, मार्गप्रदर्शक भगवान् के पास जाते हैं ।

उन्हें विश्वास है कि वह—**'नूचित्तान्सद्यो अध्वनो जगम्यात्'**=तत्काल उन्हें मार्ग पर पहुँचा देगा । इन्द्रदेव की शरण में जाकर ये भी देव हो आये हैं और **'देवासो मन्युं दासस्य श्चम्नन्ते'**—दास के क्रोध को देव पी जाते हैं । देखते हैं, प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि महान् भगवान् पापियों के अपराध पी रहा है, सहन कर रहा है । वह तो है ही 'सासहि'—बार-बार सहन करनेवाला । भगवान् जीव का कल्याण करते हुए उसके पुराने अपराधों के कारण कभी भी अपना रङ्ग नहीं बदलता, वरन्, उसके कल्याण के लिए चुन-चुनकर उसे साधन देता है, अतः उसके संग से बने देव भी—**'न आवक्षन्त्सुविताय वर्णम्'**—कल्याण-प्रेरणा के लिए रंग नहीं बदलते, अथवा कल्याणोपदेश के लिए हमारे लिए उत्तम चुने हुए पदार्थ लाते हैं ।

ब्राह्मण और क्षत्रिय के सुधार-प्रकार का सुन्दर भेद है । क्षत्रिय दण्ड देता है, ब्राह्मण प्यार करता है । प्यार और मार में जो सार है, उसे ग्रहण करना चाहिए । प्यार में ही सार है, अतः भगवन् ! **'श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय'** (ऋ० १।१०४।६) तेरे महान् सामर्थ्य पर भरोसा किया है । तू ही मार्ग दिखा और उसपर चला ।

९४. बल के लिए उसपर श्रद्धा करो

ओ३म्। तदस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्य्याय।
स गा अविन्दत्सो अविन्दद्श्वान्त्स ओषधीः सो अपः स वनानि ॥
—ऋ० १।१०३।५

शब्दार्थ—अस्य उस भगवान् का **तत्+इदम्** वह, यह **भूरि** महान् **पुष्ठम्** पोषणविधान **पश्यत** देखो और **वीर्य्याय** बल के लिए **इन्द्रस्य** भगवान् पर **श्रत्+धत्तन** श्रद्धा करो। **सः** वह **गाः** गौएँ, पृथिवियाँ **अविन्दत्** प्राप्त कराता है, **सः** वह **अश्वान्** घोड़े, सूर्य्य, इन्द्रियाँ **अविन्दत्** प्राप्त कराता है, **सः** वह **ओषधीः** ओषधियाँ, ओषधि-वनस्पति आदि अथवा दोषनाशक सामर्थ्य प्राप्त कराता है, **सः** वह **अपः** जल प्राप्त कराता है और **सः** वही **वनानि** वनों को प्राप्त कराता है।

व्याख्या—बल चाहिए बल। खोज हो रही है, बल किससे मिलेगा? **'बलमसि बलं मे दाः स्वाहा** (अ० २।१७।३)। प्रभो! सत्य कहता हूँ, तू बल है, मुझे बल दे! **'भूरि त इन्द्र वीर्यम्'** (ऋ० १।५७।५) हे इन्द्र! तेरा बल बड़ा है। अतः भक्तो! ज्ञानियो! साधारण जनो! **श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्य्याय**=बल के लिए इन्द्र का भरोसा करो। कितना बड़ा बल है उसका? सुनो—**'अनु ते द्यौर्बृहती वीर्य्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे'** (ऋ० १।५७।५)—इस विशाल द्यौ ने तेरा बल मापना चाहा और इस पृथिवी ने भी, किन्तु तेरे बल के आगे झुक गये।

अहो! कितना बल है! हो सकती है कुछ कल्पना? तभी तो वेद कहता है—**'तस्येदं पश्यता भूरि पुष्ठं'** उसका यह महान् पालनविधान देखो। कितना विस्तृत यह जगत् है! अरबों सौर-मण्डल इस ब्रह्माण्ड में हैं। पूरी संख्या न कोई मनुष्य जान सका, और न आगे जान पाएगा। वेद का कहना सर्वथा ठीक है कि—**'सप्त दिशो नाना सूर्य्याः'** (ऋ० ९।११४।३)=इन सात दिशाओं में अनन्त सूर्य्य हैं। इन अनन्त सौर-मण्डलों में से हमारे सौरमण्डल के अवकाश Space का आज तक पूरा पता नहीं चला। इस अनन्त-पार ब्रह्माण्ड में कितने प्राणी होंगे, यह किसी एक बिल की चीटियों की संख्या का विचार करने से ज्ञात हो सकता है। जो इस कल्पनातीत असंख्य प्राणियों का पालन कर रहा है, उसका पालन-सामर्थ्य अवश्य अति महान् है।

अधिक क्या कहें! प्राणियों की जितनी आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति भी वही करता है—**'स गा अविन्दत्सो······वनानि'** पशु आदि जीवनोपयोगी जल तथा वन सभी वही प्राप्त करता है। इतने पदार्थों के देने-दिलानेवाला कितना महान् है? भगवान् का बल देख—**'तदिन्द्र प्रेव वीर्य्यं चकर्थ यत्ससन्तं वज्रेणाबोधयोऽहिम्'** (ऋ० १।१०३।७)—इन्द्र! तू बड़े बल-कार्य्य करता है, तू निवारण-प्रेरणा से सोये पापी को जगा देता है। सचमुच भगवान् ही पाप से हटा सकता है। पाप से हटाना साधारण कार्य्य नहीं है।

९५. दूर देश में तथा समानगुणवाले विवाह

ओ३म् । अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेना परावतः ।
इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय सुन्वते ॥—ऋ० १।६२।३

शब्दार्थ—न जिस प्रकार **विष्टिभिः** अन्नादि सत्कारों से **अपसः** कर्मशीलों का **अर्चन्ति** सत्कार करते हैं, वैसे **विश्वा+इत्+अह** सदा ही **सुकृते** उत्तमकर्मा **सुदानवे** श्रेष्ठ दानी **यजमानाय** यज्ञ करनेवाले **सुन्वते** सोम सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिए **इषम्** अन्न-रस **वहन्तीः** धारण करनेवाली **परावतः** दूर देश से लाई गई **नारीः** नारियों का **समानेन+योजनेन** समान गुण-कर्म्म-स्वभाव के मेल से **अर्चन्ति** सत्कार करते हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में विवाहसम्बन्धी कुछ तत्त्व वर्णित हुए हैं—

(१) **'अर्चन्ति नारीः'**=नारियों का सत्कार करते हैं अर्थात् घर में स्त्रियों का सत्कार होना चाहिए। मनुजी कहते हैं—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा । पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् । न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥
—मनु० ३।५५, ५७-५९

अत्यन्त कल्याणाभिलाषी पिता, भाई, पति, देवर इनका सत्कार करें और इन्हें भूषित करें। जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ सभी सद्‌गुण विराजते हैं; जहाँ इनका आदर नहीं होता वहाँ की सभी क्रियाएँ निष्फल होती हैं। जहाँ स्त्रियाँ शोक से सन्तप्त रहती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है; जिस कुल में ये प्रसन्न रहती हैं, वह सदा बढ़ता है। इसलिए भूषण वसन, और भोजन के द्वारा सत्कार के अवसरों और उत्सवों में ऐश्वर्य्याभिलाषी इनकी सदा पूजा, सत्कृति अवश्य करें। वेद और तदनुसार मनुजी के कथन से सिद्ध होता है कि स्त्रियों का निरादर व ताड़न वेदविरुद्ध अतएव पाप है।

(२) विवाह के समय वर-वधू दोनों के गुण-कर्म्म-स्वभाव समान होने चाहिएँ। **'समानेन योजनेन'** दोनों का मेल समान हो। इसी भाव को मनुजी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च । अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ॥
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ विन्देत सदृशं पतिम् ॥—मनु० ९।८८-९०

श्रेष्ठ, सुन्दर तथा समान गुणवाले वर के प्रति ही बुद्धिमान् मनुष्य कन्या देवे। गुणहीन को तो कन्या कभी न देवे। कन्या सदृश पति को प्राप्त करे। यदि स्वभाव समान न होगा, तो प्रतिदिन कलह बढ़ेगा और गृह नरक बन जाएगा।

(३) नारी **'परावतः'** दूर देश की हो। कन्या को वेद में दुहिता भी कहते हैं। दुहिता शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य्यजी लिखते हैं—**'दुहिता दुर्हिता दूरे हिता वा'** [निरु ३।४]—दुहिता इसलिए कहते हैं कि यह दुर्हित है, और दूर में ही जिसका हित है। दूर देश के विवाह के लाभ 'सत्यार्थप्रकाश' चतुर्थ समुल्लास में देखिए।

(४) नारियाँ **'इषं वहन्तीः'** हों। पुरुष यज्ञ करता है, उसके लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करना, भोजनादि तैयार करना स्त्री का कार्य है। मनुजी [९।२८] कहते हैं—

अपत्यं धर्म्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥

सन्तान, धर्मकार्य्य, सेवा, उत्तम प्रीति, माता-पिता का तथा अपना सुख सब स्त्री के अधीन है। विवाहिता स्त्री को पत्नी कहते हैं। यज्ञ-सम्बन्ध से वह पत्नी कहलाती है। अपना यज्ञ-सम्बन्ध अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पत्नी को याज्ञिक पति के कार्य्य में पूरा सहयोग देना चाहिए।

(५) पति भी सुकृत=शुभ कर्म्म करनेवाला, उत्तम दानी, याज्ञिक तथा परिश्रमी हो।

९९. हमें अकृत घर न दे

ओ३म् । अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय ।
मा नो अकृते पुरुहूत योनाविन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः ॥

—ऋ० १।१०४।७

शब्दार्थ—**अध** अब, मैं **मन्ये** मानता हूँ, तेरी सत्ता और महत्ता स्वीकार करता हूँ **अस्मै**+**ते** इस तुझपर **श्रत्**+**अधायि** श्रद्धा करता हूँ। तू **वृषा** सुखवर्षक होकर **महते** महान् **धनाय** धन के लिए **चोदस्व** प्रेरित कर, उत्साहित कर। हे **पुरुहूत** अनेकों से पूज्य ! **नः** हमें **अकृते** बिन बने, बिना सजाये **योनौ** घर में **मा** न स्थापित कर और हे **इन्द्र** ऐश्वर्य्यवन् ! **क्षुध्यद्भ्यः** भूखों को **वयः** अन्न और **आसुतिम्** पान **दाः** प्रदान कर।

व्याख्या—भगवान् पर श्रद्धा होना बड़े भाग्य की बात है। पूर्वसुकृतों के परिणाम से यह उत्तम भाव जागता है। अन्यथा लोग अपने पालनकर्त्ता से विमुख ही रहते हैं। बहुत धक्के खाकर ही कोई कह सकता है—**'अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा'** अब मैं मानता हूँ, तुझपर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ कि तू वृषा है, सुखवर्षक है। मुझे सुख चाहिए। तेरे भक्त कहते हैं—**'भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति'** भूमा ही सुख है, थोड़े में सुख नहीं है, अतः—**'चोदस्व महते धनाय'** महान् धन के लिए प्रेरित कर, उत्साहित कर।

तेरे पास आकर भी, तुझपर विश्वास रखकर भी, तेरा श्रद्धालु बनकर भी मैं थोड़े में तृप्त होऊँगा, कदापि नहीं। धन-सम्पत्ति लूँगा तो महान्। धन—निधन—लूँगा तो वह भी महान्, अर्थात् व्यर्थ न मरूँ धर्म्ममार्ग में जान दूँ। जब मेरी आकांक्षा ऊँची हो गई है तो—**'मा नो अकृते पुरुहूत योनौ'** टूटे-फूटे, उजड़े घर में न स्थापित कर। घर मिले, तो परिष्कृत, भूषित, सजा हुआ। योनि मिले तो परिष्कृत, जिसमें परिष्कार के सब साधन प्रस्तुत हों। घर दिया, किन्तु खाने को न दिया, तो घर व्यर्थ है। अतः—**'क्षुध्यद्भ्यो वयः आसुतिं दाः'** भूखों को 'वयः'=कमनीय अन्न, जीवनप्रद अन्न तथा पान दे। वेद कंगाली के जीवन का विरोधी है। वेद में एक स्थान पर आया है—**'मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्'** [ऋ० ७।८९।१] हे राजन् ! वरुण ! मैं मिट्टी के घर को प्राप्त न होऊं। पक्का सहस्रस्थूण=हजारों खम्भोंवाला घर चाहिए।

९७. आयु का प्रथम भाग सुकृत से बिताने का फल

ओ३म् । आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया ।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ।।

—ऋ० १।८३।४

शब्दार्थ—ये जो **अङ्गिराः** अङ्गारों के तुल्य **इद्धाग्नयः** प्रदीप्त है अग्नि जिनकी ऐसे होते हुए **प्रथमम्+वयः** आयु के प्रथम भाग को **शम्या** शान्तिदायक **सुकृत्यया** उत्तम क्रिया के साथ **आत्** सर्वथा **दधिरे** धारण करते हैं। वे मनुष्य **नरः** अगुआ बनकर **पणेः** पणि के, व्यवहारकुशल के **अश्वावन्तम्** अश्वादि युक्त, **गोमन्तम्** गौ आदि तथा **पशुम्** देखने-भालने योग्य अन्य पदार्थ और **पणेः** पणि के, व्यवहार-कुशल, प्रशंसनीय मनुष्यों के योग्य **सर्वम्** सभी **भोजनम्** भोजसामग्री को **समविन्दन्त** प्राप्त करते हैं।

व्याख्या—सामान्यरूप से शास्त्रों में आयु के चार भाग किये हैं। आयु का प्रथम भाग शरीर, मन, बुद्धि आत्मा के विकास, पुष्टि, वृद्धि तथा शुद्धि के लिए नियत है। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य शान्ति-प्राप्ति है। यदि आरम्भ से उसके साधनों का अनुष्ठान किया जाए, तो अन्तिम अवस्था में शान्ति का प्राप्त होना अवश्य सम्भव है। यदि आरम्भ में कुटिलता, कदाचार आदि शान्तिविघातक दुर्व्यसनों में व्यस्त हो गये, तो फिर उनको हटाना अत्यन्त कठिन है। फारसी में एक कहावत है जिसका भाव यह है कि 'जब स्थपति [घर आदि बनानेवाला शिल्पी] ने नींव की पहली ईंट ही टेढ़ी रखी, तो चाहे मकान को आकाश तक ले जाओ, दीवार टेढ़ी ही रहेगी'—यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त वेद से ही अन्यत्र गया। इस सिद्धान्त को सम्मुख रखकर वेद जीवन के प्रथम भाग के सम्बन्ध में कहता है—

आदंगिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया ।

जीवनाग्नि को प्रदीप्त रखते हुए जो तेजस्वी जीवन के प्रथम भाग को शान्तिदायक सुकर्मों के साथ धारण करते हैं अर्थात् जीवन के प्रथम भाग में अग्नि खूब प्रदीप्त रखना चाहिए। ब्रह्मचर्य्य द्वारा शरीरस्थ वीर्य्याग्नि, ज्ञानाग्नि आदि को प्रदीप्त रखना चाहिए। अच्छे कर्म्म हों, जिनका परिणाम शान्ति हो। अच्छे कर्मों की यही पहचान है। शान्तिदायक सुकर्म्मों से अग्नि को प्रदीप्त करने से ही अङ्गिरा=अंगार बनेगा।

मन्त्र के उत्तरार्ध में सदाचार का फल वर्णित हुआ है। जीवन की सब सामग्री सच्चरित को प्राप्त होती है। मनुजी ने [४।१५६ में] कदाचित् इसी उत्तरार्ध का अनुवाद करते हुए कहा है—

आचाराल्लभते ह्यायुरचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।

आचार से सचमुच आयु (दीर्घायु) प्राप्त करता है, आचार से अभीष्ट, श्रेष्ठ सन्तान तथा आचार से अक्षय्य धन प्राप्त करता है और आचार के द्वारा समग्र दुष्ट लक्षणों का नाश करता है। ऋषि दयानन्द ने आचार का अर्थ 'ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता' किया है। है भी ठीक। यही आचरण करने की वस्तु है।

इसके विपरीत मनुजी ने [४।१५७ में] दुराचारी की दुर्दशा का दिग्दर्शन भी करा दिया है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ।।

दुराचारी मनुष्य की लोक में निन्दा होती है, वह सदा दुःखी और रोगी रहता है और उसकी आयु भी थोड़ी होती है, अतः, जीवन के आरम्भ से ही सदाचार का अभ्यास करना चाहिए।

९८. प्रभो ! अपने ज्ञान से हमें शिक्षा दे

ओ३म् । सनादेव तव रायो गभस्तौ न क्षीयन्ते नोप दस्यन्ति दस्म ।
द्युमाँ असि क्रतुमाँ इन्द्र धीरः शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः ॥

—ऋ० १।६२।१२

शब्दार्थ—हे **दस्म** दुःखनाशक **इन्द्र** ऐश्वर्य्यप्रदातः प्रभो ! **सनात्+एव** सनातन से ही, अनादि काल से ही **रायः** धन **तव** तेरे **गभस्तौ** अधिकार में हैं, जो **न** न तो **क्षीयन्ते** घटते हैं और **न** न ही **उपदस्यन्ति** नष्ट होते हैं । हे प्रभो ! तू **द्युमान्** प्रकाशवान्, ज्ञानवांन् **क्रतुमान्** क्रियावान् एवं **धीरः** धीर **असि** है । हे **शचीवः** बुद्धिदातः ! तू **नः** हमें **तव** अपनी **शचीभिः** बुद्धियों से, शक्तियों से **शिक्ष** शिक्षा दे, सिखा ।

व्याख्या—अनादि भगवान् का भग=ऐश्वर्य्य भी अनादि है । जब से भगवान् है, तब से उसका भग है, और वह उसके अधिकार में है । संसारस्थ प्राणियों के धन घटते-बढ़ते रहते हैं, क्योंकि—

ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥—ऋ० १०।११७।५

अरे ! धन तो रथ के पहियों के समान दूसरे-से-दूसरे के पास जाते रहते हैं । धन का संभालकर रखना एक विशेष कला है । जो उस कला को नहीं जानता, सम्पत्ति उसका त्याग कर देती है । भगवान् से बढ़कर नीतिमान् कौन है ? वह 'प्रणीति' सर्वोत्कृष्ट नीतिमान् है । अतएव धन उसके वश में रहते हैं । भगवान् के धन का विनाश या ह्रास नहीं होता । वेद में कहा है—**उतो रयिः पृणतो नोप दस्यति** (ऋ० १०।११७।१)—दाता का धन नष्ट नहीं होता । भगवान् सबसे बड़ा दानी है । वेद में आता है—**'भूरिदा ह्यसि श्रुतः'** (ऋ० ४।३२।२१)—तू बड़ा दानी प्रसिद्ध है । **'भूय इन्नु ते दानं देवस्य'** तुझ भगवान् का दान सचमुच महान् ही है । जहाँ दान के कारण भगवान् का धन अक्षय्य है, वहाँ वह स्वभाव से ही अनन्त है । **'नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा'** (ऋ० ८।४६।११)—दुःखविनाशक परमेश्वर ! तेरे धन का अन्त मैं कभी नहीं पाता हूँ । अनन्त का धन अनन्त ही होना चाहिए । भगवान् जड़निधि नहीं है, वरन्—**'द्युमाँ असि क्रतुमां इन्द्र धीरः'** हे ऐश्वर्य्यप्रदातः ! तू द्युमान्, क्रतुमान् और धीर है । तु द्युमान् है अर्थात् तुझे अपने धन-ऐश्वर्य्य का ज्ञान है । धन के अर्जन, रक्षण का ज्ञान न हो तो धन नष्ट हो जाए । अच्छा, अर्जन की भगवान् को आवश्यकता नहीं, किन्तु रक्षण की तो होगी ? नहीं, वह स्वभाव से धनवान् है, अतः उसका धन रक्षण की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्वभाव अनपायी—अविनाशी होता है । द्युमान् होने के साथ ही वह क्रतुमान् है=यज्ञवान् है । यज्ञ करने से, परोपकारार्थ धन लगाने से धन का नाश नहीं होता । भगवान् के धन के नाश न होने का, सदा रहने का जो भी कारण हो, हम तो उससे प्रार्थना करते हैं—**'शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः'** बुद्धिमद्वरिष्ठ ! बुद्धि के प्रेरक ! हम अल्पज्ञ हैं, हमारी बुद्धि में भ्रम की सम्भावना है, विकार का डर है; तू अपनी बुद्धियों से, अपनी युक्तियों से शिक्षा दे ।

९९. हम तेरे हैं

ओ३म् । भूरि त इन्द्र वीर्यं१ तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण ।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ।।

—ऋ० १।५७।५

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** महाबलपराक्रमेश्वर ! **ते** तेरा **वीर्य्यम्** सामर्थ्य **भूरि** महान् है। हम **तव** तेरे **स्मसि** हैं। हे **मघवन्** पूजित धनवान् भगवन् ! **अस्य** इस **स्तोतुः** स्तोता की **कामम्** कामना को **आ+पृण** पूर्ण कर। **बृहति** विशाल **द्यौः** द्युलोक **ते** तेरे **वीर्य्यम्+अनु** बल के अनुसार ही **ममे** बना है **च** और **इयम्** यह **पृथिवी** अन्तरिक्ष या पृथिवी **ते ओजसे** तेरे ओज के सामने, बल के सामने **नेमे** झुक रही है।

व्याख्या—भगवान् के बल का पार कौन पा सकता है ? जिसने यह समस्त जगत् बनाया है उसकी महत्ता की इयत्ता कैसे कोई जान सकता है ? निर्बल प्राणी को जड़-चेतन सभी से भय लग रहा है। वह रक्षक की खोज में है। संसार में महान् और बलवान् समझकर जब किसी के पास जाता है तो उसे भयभीत पाता है। खोजते-खोजते प्रभु के पास पहुँचता है और उसे न केवल स्वयं भयरहित वरन् दूसरों को भी भयरहित करनेवाला पाता है----

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी । वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ।।

—अ० १।२१।१

कल्याणप्रदाता, पापनाशक, दुष्टों को वश में रखनेवाला, सुखवर्षक, शान्तिपालक, प्रजापालक, **अभयंकर**=अभय करनेवाला भगवान् हमारा आदर्श हो। निर्बल, भयभीत दूसरे को क्या भय-रहित करेगा ! परन्तु 'भगवान् बलवान् है' यह अनुभव करके भक्त उसकी शरण में जाता है और कहता है—**'भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मसि'** प्रभो ! तेरा बल महान् है। हम तेरे हैं। **'तव स्मसि'** हम तेरे हैं। अभिमान छूट गया। अपने बल की निर्बलता या भूल का ज्ञान होते ही मुख से निकलता है—**'तव स्मसि'**—हम तेरे हैं।

हम तेरे हैं, तुझ ही से माँगते हैं—**'अस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पूर्ण'**—हे वसो ! सबको बसानेवाले ! इस भक्त की कामना-भावना पूरी कर। भक्त की कामना भी सुन ले—

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे । उत त्वमस्मयुर्वसो ।।—ऋ० ३।४१।७

हे इन्द्र ! हम तुझे चाहते हुए श्रद्धा-भक्ति से तेरी स्तुति करते हैं—हे वसो ! सबको बसानेवाले ! तू भी हमें चाहनेवाला हो। प्रभो ! जब तेरी चाहना हमारी ओर होगी तो हम सचमुच ही तेरे हो जाएँगे। तेरे सामर्थ्य का परिचय यह विशाल द्यौ और पृथिवी दे रहे हैं। दोनों तेरे बल के आगे झुक रहे हैं। तेरे बल को जानकर हम तेरे पास आये हैं और निवेदन करते हैं—

इन्द्र तुभ्यमिन्मघवन्नभूम वयं दात्रे हरिवो मा वि वेनः ।।—ऋ० ६।४४।१०

हे पूजित धनपते ! धनदातः ! हम तुझ दाता के लिए जीते हैं। हमारी उपेक्षा न कर। प्रभो ! शरणागत की उपेक्षा न कर। तुझे छोड़कर जाएँ भी कहाँ ? तू ही बता।

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ।।—ऋ० १।८४।१९

मैं तो तुझे कहता हूँ कि हे पूजित धनपते ! दाता ! तेरे बिना और कोई सुखदाता, तृप्तिप्रदाता नहीं है। जब तुझ बिन सुखदाता और कोई नहीं, तब मैं क्यों अन्यत्र जाऊँ ?

१००. धनी-दरिद्र दोनों उसके याचक

**ओ३म् । अस्य शासुरुभयासः सचन्ते हविष्मन्त उशिजो ये च मर्त्ताः ।
दिवश्चित्पूर्वो न्यसादि होताऽऽपृच्छ्यो विश्पतिर्विक्षु वेधाः ॥**

—ऋ० १।६०।२

शब्दार्थ—**ये** जो **हविष्मन्तः** जीवन-सामग्री-सम्पन्न धनी हैं, त्यागी हैं **च** और जो **मर्त्ताः** मनुष्य **उषिजः** धनाभिलाषी हैं, धनकामी हैं वे **उभयासः** दोनों प्रकार के मनुष्य **अस्य** इस **शासुः** शासक के **सचन्ते** शरणागत होते हैं । वह **होता** दानी **आपृच्छ्यः** जिज्ञास्य, जानने योग्य **विश्पतिः** प्रजा-पालक **वेधाः** विधाता, महान् ज्ञानी **दिवः** द्यौ से, सूर्य्य से **चित्** भी **पूर्वः** पूर्व **विक्षु** प्रजाओं में **न्यसादि** रहता है ।

व्याख्या—संसार में कोई ऐसा धनी नहीं मिलता, जो तृप्त हो । अपार-सा ऐश्वर्य्य होते हुए भी उसे धन की लालसा लगी रहती है । किसी मनुष्य को अपने से अधिक धनी न देखकर वह प्रभु से ही याचना करता है । अमीरों को उससे माँगने पर लाज नहीं आती । दरिद्र तो उससे माँगते ही हैं । वास्तव में सम्पत्ति का भाव और अभाव, धनिकता तथा दरिद्रता हृदय से, मन से सम्बन्ध रखती है; जिसके हृदय में जितनी अधिक लालसा, उतना ही वह दरिद्र । किसी ने कहा भी है—**'को हि दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला'** संसार में कङ्गाल कौन है ? जिसकी तृष्णा, लालसा विशाल है । चाहे अभाव के कारण हो और चाहे लालसा के कारण, माँगना पड़ता है । इसलिए **'अस्य शासुरुभयासः सचन्ते'**=दोनों—धनी-दरिद्र; त्यागी-कामी उस शासक की शरण में जाते हैं, क्योंकि वह—**'ईक्षे हि वस्व उभयस्य'** [ऋ० ६।१९।१०]=दोनों प्रकार के धनों का स्वामी है ।

धनी को जो धन चाहिए, वह भी भगवान् के पास है, कङ्गाल को जो चाहिए, वह भी भगवान् के पास है । त्यागी जो कुछ चाहता है, उसका अधिष्ठाता भी वही है, और काम-कामी को जो चाहिए, उसका अधिपति भी वही है । जब सब प्रकार के धनों का स्वामी वही है तो वह ही—**आपृच्छ्यः**=पूछने योग्य है, सवाल करने योग्य है । उसको ही जानना चाहिए । वेद ने कहा भी है **'तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या'** [ऋ० १०।८२।३] उसी संप्रश्न=आपृच्छ्य=जिज्ञास्य को सम्पूर्ण भुवन प्राप्त हो रहे हैं । तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगुवल्ली के प्रथमानुवाक में कहा है—

**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म ॥**

जिससे ये सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए जिससे जीते हैं, मरते हुए जिसमें जाते हैं, उसके सम्बन्ध में पूछ, जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है । यह वेद के **'आपृच्छ्यः और संप्रश्नं'** की व्याख्या है । वही आपृच्छ्य दानी है, वही प्रजापालक है । वह लौकिक राजा की भाँति प्रजा के पश्चात् उत्पन्न नहीं होता । वरन् वह—**'दिवश्चित्पूर्वो न्यसादि विक्षु'**=सूर्य्य से भी पूर्व प्रजाओं में रह रहा है । इस संसार में—सौरमण्डल में सबसे पूर्व सूर्य्य उत्पन्न होता है । शेष सृष्टि उसके पश्चात् होती है । किन्तु भगवान् उससे भी पूर्व अपनी शाश्वत प्रजाओं—जीवों और परमाणुओं में विद्यमान रहता है । हुआ जो वह **'पुरःस्थाता'** [ऋ० ८।४६।१३]=सबसे पहले रहनेवाला ।

प्रभो ! जब तू सबसे पूर्व विद्यमान है और सभी तुझसे माँगते हैं तो हमारी भी माँग सुन ले—**'यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर'** [ऋ० ५।३९।२] जिस धन को तू सर्वश्रेष्ठ मानता है, वह हमें दे ।

१०१. जितेन्द्रिय गृहस्थ धनियों का धनी

ओ३म् । उशिक् पा॑व॒को वसु॒र्मानु॑षेषु॒ वरे॑ण्यो॒ होता॑धायि वि॒क्षु ।
दमू॑ना गृ॒हप॑तिर्दम॒ आँ अ॒ग्निर्भु॑वद्रयि॒पती॑ रयी॒णाम् ॥ —ऋ० १।६०।४

शब्दार्थ—**उशिक्** कामनाओंवाला **पावकः** पवित्र **वसुः** वास देनेवाला **मानुषेषु+वरेण्यः** मनुष्यों में श्रेष्ठ **होता** दाता **विक्षुः** प्रजाओं में **अधायि** लाया गया है। ऐसा **दमूनाः** दान्त, जितेन्द्रिय **गृहपतिः** गृहस्थ **दमे** घर में, अथवा दमन के कारण **रयीणां+रयिपतिः** सब धनियों का धनी तथा **अग्निः** नेता, श्रेष्ठ **आ+भुवत्** सब प्रकार से होता है।

व्याख्या—इस मन्त्र में श्रेष्ठ पुरुष को ही गृहस्थाश्रम का अधिकार दिया गया है और जितेन्द्रिय गृहस्थ की महिमा वर्णन की गई है। गार्हस्थ्य का अधिकारी '**उशिक्**' कामनावाला होना चाहिए, क्योंकि अकाम—कामनारहित की कोई क्रिया नहीं हो सकती। संसार में जो कुछ हो रहा है, सब कामना के कारण हो रहा है। जैसा कि मनुजी [२।४] कहते हैं—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥

निष्काम की कहीं कोई क्रिया नहीं दिखाई देती; जहाँ कहीं भी कोई क्रिया है, सब कामना से है।

गार्हस्थ्याभिलाषी को पवित्र होना चाहिए। अपवित्र दुराचारी को इस आश्रम का अधिकार नहीं। मनुजी ने कहा है—'**अधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः**'—दुर्बल इन्द्रियवालों को गृहस्थाश्रम धारण करने का अधिकार नहीं और '**अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्**' अखण्डित ब्रह्मचर्य्यवाला गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो। वह दाता और वसु भी होना चाहिए—

यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥—मनु० ३।७८

चूँकि तीनों ही आश्रमियों—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—को गृहस्थ ही दान और अन्न के द्वारा प्रतिदिन पालता है, इसलिए गृहस्थाश्रमी ज्येष्ठ है। ब्रह्मचारी गृहस्थ से उत्पन्न होता है, वानप्रस्थ और संन्यासी भी सामान्यतः गृहस्थ से होते हैं, अतः गृहाश्रम ज्येष्ठ है। वेद ने इसको इन शब्दों में कहा है—'**वसुर्मानुषेषु वरेण्यो होताधायि विक्षु**'=बसानेवाला, मनुष्यों में श्रेष्ठ दाता प्रजाओं में लाया गया है।

गृहस्थ=गृहपति को दान्त=जितेन्द्रिय होना चाहिए। कइयों का भ्रम है कि गृहस्थ होने से उन्हें ब्रह्मचर्यभंग का आदेशपट्ट मिल गया है। अतिप्रसक्ति से मनुष्य हीनवीर्य्य और दुर्बलेन्द्रिय हो जाता है। दुर्बलेन्द्रिय मनुष्य से गार्हस्थ्य का निर्वाह नहीं हो सकता। मनुजी [३।७९] कहते हैं—

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥

अक्षय सुख और संसारसुख के अभिलाषी को यह गृहस्थाश्रम प्रयत्न से धारण करना चाहिए, क्योंकि दुर्बलेन्द्रिय मनुष्य इसको धारण नहीं कर सकते। गृहस्थाश्रम एक छोटा-सा संसार है। इस संसार को पालने के लिए बड़ी शक्ति चाहिए। शक्ति ब्रह्मचर्य्य और इन्द्रियदमन से प्राप्त होती है, अतः मनुजी [३।४५,५०] कहते हैं—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा । ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥

गृहस्थ यदि ऋतुकालाभिगामी हो और अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी से रत न हो, जिस-किस स्थान में रहता हुआ ऐसा गृहस्थ ब्रह्मचारी ही होता है। ऐसा जितेन्द्रिय गृहस्थ सचमुच—**'भुवद्रयिपती रयीणाम्'**—धनियों का भी धनी होता है। ब्रह्मचर्य्य-धन के समान और कोई धन नहीं है। अन्तिम वाक्य से ऐसी ध्वनि निकलती प्रतीत होती है कि दरिद्र को विवाह का अधिकार नहीं है। है भी ठीक, जिसके पास भरण-पोषण का सामान नहीं है, वह इस व्ययसाध्य आश्रम का अधिकारी कैसे हो सकता है? विवाह के समय वधू को वर कहता है—**'ममेयमस्तु पोष्या'** तेरा पालन मैं करूँगा।' दरिद्र का ऐसा कहना विडम्बना ही है।

१०२. (गृहस्थ) कार्य्यारम्भ की सामग्री

ओ३म् । समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाऽश्वावत्या रभेमहि ॥

—ऋ० १।५३।५

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! हम **राया** धन से **सं+रभेमहि** आरम्भ करें, **इषा** अन्न से **सम्** आरम्भ करें **वाजेभिः** ज्ञान-बलादिकों से **सम्** आरम्भ करें **पुरुः+चन्द्रैः** अत्यन्त प्रसन्न करने तथा **द्युभिः** यशों के साथ **अभि** सम्मुख हो आरम्भ करें **देव्या** दिव्यगुणयुक्त **वीरशुष्मया** वीरों के बलवाली **गोअग्रया** गवादि दूध देनेवाले साधन मुख्य हैं जिसमें ऐसी और **अश्वावत्या** अश्वादि भार ढोनेवाले साधनों से युक्त **प्रमत्या** उत्तम बुद्धि से **सं+रभेमहि** आरम्भ करें ।

व्याख्या—गृहस्थाश्रम के लिए कुछ आवश्यक सामग्री का निर्देश इस मन्त्र में है—

१. **रै**=धन । गृहस्थाश्रम धन के बिना चल नहीं सकता ।

२. **इट्**=अन्न । धन का प्रयोजन जीवन-सामग्री सम्पादन करना है । जीवन-सामग्री में अन्न का प्रधान स्थान है, अतः धन के पश्चात् अन्न का उपादान किया है ।

३. **वाज**=बल । अन्न से बल होता है । कहा है—**'अन्नं वै प्राणिनां प्राणः'**=अन्न तो प्राणियों का प्राण है । अन्न से ही जगत् जीता है । धन से ऐसा अन्न उपार्जन करना चाहिए, जो बल दे । वेद ने 'बल' शब्द का प्रयोग न करके 'वाज' का प्रयोग विशेष अभिप्राय से किया है । वाज का अर्थ गति देनेवाला बल, तथा ज्ञान है । जहाँ **रै** [राया] और **इट्** [इषा] एकवचनान्त हैं, वहाँ वाज [वाजेभिः] बहुवचनान्त है । बल अनेक प्रकार का होता है—शरीरबल, इन्द्रियबल, हृदयबल, मनोबल, बुद्धिबल, आत्मबल, अध्यात्मबल, ज्ञानबल, ध्यान-बल, कर्म्म-बल, धर्म्म-बल, राज्य-बल, समाज-बल, राष्ट्र-बल आदि अनेक बल हैं । इसलिए एकवचनान्त 'वाजेन' न कहकर 'वाजेभिः' का प्रयोग किया है । दुर्बल, अज्ञानी को गृहस्थाश्रम का अधिकार नहीं है ।

४. **पुरुचन्द्र द्यु**—यश भी आवश्यक है । ऐसा यश जिससे आनन्द, बहुत आनन्द प्राप्त हो । दुष्कीर्तिवाला गृहस्थ आदर का पात्र नहीं होता ।

इनसे बढ़कर **'प्रमति'**=उत्तम बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है । मूर्ख किस प्रकार गृहस्थ-व्यवहार चलाएगा ? बुद्धि में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिएँ—

(क) **वीरशुष्मा**—वीर=सन्तानों में बल बढ़ानेवाली हो, अर्थात् गृहस्थ को उन उपायों का ज्ञान होना चाहिए, जिनसे सन्तान बलवान्-गुणवान् बनती है ।

(ख) **गोअग्रा**—गृहस्थ को भोजन तथा यज्ञ के लिए दूध, घृत, दधि आदि पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है । दुधारू पशुओं में गौ सबसे उत्तम है । गृहस्थ के दिमाग में गौ-सेवा होनी चाहिए । **गौ** के बिना दूधादि उत्तम खाद्य पदार्थ न मिलने से गृहस्थाश्रम नरकधाम-सा हो जाता है ।

(ग) **अश्ववती**—भार उठाने के साधनों का उपाय भी होना चाहिए ।

(घ) **देवी**—वह प्रमति देवी=दिव्यगुणयुक्त होनी चाहिए, आसुर-भाववाली नहीं ।

यह थोड़ी-सी आवश्यक सामग्री है, जिसके बिना गृहस्थाश्रम का आरम्भ नहीं करना चाहिए ।

१०३. परमेश्वर स्वभूत्योजाः

ओ३म् । त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः ।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥

—ऋ० १।५२।१२

शब्दार्थ—हे **धृषन्मनः** सबके मनों का धर्षण करनेवाले भगवन् ! **त्वम्** तू **अस्य** इस **रजसः** लोक और **व्योमनः** आकाश के **पारे** परे भी, **स्वभूत्योजाः** स्वसत्ता से ओजस्वी होता हुआ, अपने कार्य्यों में दूसरों से निरपेक्ष होता हुआ **अवसे** रक्षा के लिए समर्थ है । तूने **भूमिम्** भूमि को **ओजसः** अपने बल का **प्रतिमानम्** अनुमान करानेवाला **चकृषे** बनाया है और **परिभूः** सर्वव्यापक होता हुआ **अपः** जल तथा अन्तरिक्ष **स्वः** प्रकाश, आनन्द और **दिवम्** द्युलोक में **आ+एषि** सर्वतः प्राप्त है ।

व्याख्या—भगवान् की शक्ति कितनी बड़ी है इसको व्यक्त करने के लिए इस मन्त्र में 'धृषन्मनः' पद का प्रयोग हुआ है । मनुष्य का मन बड़ा प्रबल है । यह **'वात इव ध्रजीमान्'** (वेद)=वायु की भाँति वेगवान् है, किन्तु भगवान् उससे भी बलवान् है । मानुष-मन भगवान् के सामने हार मानता है । इसी लिए भगवान् को **'धृषन्मनः'** कहा है । वेद में कहा है—**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** [य० ३१।२]—यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड मानो उसके एक अंश में है । शेष वह अविनाशी स्वप्रकाश में स्थित है । इसका अर्थ हुआ कि इस विशाल संसार से परे भी वह है । तो वहाँ उसकी रक्षा कौन करेगा ? इसका उत्तर है—**'त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः······अवसे'** इस अपार संसार के पार (परे) तू ही रक्षक है ।

क्योंकर ! तू—**'स्वभूत्योजाः'** है, स्वकार्य्यों में परनिरपेक्ष है । कैसे मानें कि वह **'स्वभूत्योजाः'** है ? **'चक्रे भूमिं प्रतिमानमोजसः'**=वह भूमि को अपने बल का प्रतिमान=अनुमापक बनाता है ।

छोटी-सी बारीक सुई देखकर सुई बनानेवाले की महिमा गाने लग जाते हो, किन्तु लोहा बनानेवाले को भूल जाते हो ! नहर खोदनेवाले की प्रशंसा के पुल बाँधते हो किन्तु **अहन्नहिमपस्ततर्द** (ऋ०) बादल तोड़कर जल बहानेवाले की बात नहीं करते हो ! इन तुच्छ पदार्थों में तुम्हें बुद्धि तथा शक्ति का उपयोग दीखता है, किन्तु वसुन्धरा, धरा, महती मही को किसी का बनाया नहीं मानते हो ! अरे यह उसी ने बनाई है । अगले मन्त्र में तो स्पष्ट कर दिया—**'त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः'** [ऋ० १।५२।१३]=तू पृथिवी का रचनेवाला है । भूमि के रचनेवाले ने अपना अनुमान कराने का साधन तो दे दिया । न देखो तो—**'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'** यह स्तम्भ का अपराध नहीं यदि उसे अन्धा न देखे । वरन्—**'पुरुषापराधः सः'**=वह मनुष्य का अपराध है ।

रची पृथिवी को देखकर भी जो रचनेवाले को न माने तो रचनेवाले का क्या अपराध ?

वह **'अपः स्वः परिभूरेष्या दिवम्'** जल, प्रकाश, आकाश में सर्वव्यापक होकर सर्वत्र प्राप्त है । अगले मन्त्र में स्पष्ट ही तो बता दिया—**'विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा'** विश्व और सारे अन्तरिक्ष को अपनी महिमा से व्याप रहा है । **'सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्'** [ऋ० १।५२।१३]=सचमुच तेरे जैसा और कोई नहीं है ! जो अनुपम है, वह अपने ही ओज से रहता है, उसे दूसरे से रक्षित होने की अपेक्षा नहीं होती ।

१०४. वन में भजन

ओ३म् । स इद्वने नमस्युभिर्वचस्यते चारु जनेषु प्रब्रुवाण इन्द्रियम् ।
वृषा छन्दुर्भवति हर्यतो वृषा क्षेमेण धेनां मघवा यदिन्वति ॥

—ऋ० १।५५।४

शब्दार्थ—**जनेषु** लोगों में **चारु** मनोहर **इन्द्रियम्** इन्द्रशक्ति, इन्द्रप्रेम का **प्रब्रुवाणः** उपदेश करने-वाला **सः+इत्** वही प्रभु **नमस्युभिः** नमस्कार करनेवाले भक्तों के द्वारा **वने+इत्** वन में ही, एकान्त में ही अथवा अभिलाषी के प्रति **वचस्यते** विवक्षित होता है, कहने को अभीष्ट होता है। वह **वृषा** सुखवर्षक प्रभु **हर्यतः** अभिलाषी का, भक्त का **छन्दुः** रक्षक **भवति** होता है। **यत्** जब वह **मघवा** पूजित धनवान् भगवान् भक्त के लिए **वृषा** सुखवर्षक होता है **क्षेमेण** कुशलता के साथ, प्राप्त की रक्षा के साथ **धेनाम्** वाणी को **इन्वति** प्रेरित करता है।

व्याख्या—भक्त लोग एकान्त में ही भगवान् का भजन करना चाहते हैं, एकान्त में ही उसका उपदेश करते हैं, इसका भी एक कारण है—**'चारु जनेषु प्रब्रुवाण इन्द्रियम्'**=लोगों में सुन्दर ईश्वरप्रेम का उपदेश करता है। एकान्त में ही भगवान् का, अन्तर्यामी भगवान् का उपदेश सुनाई देता है। भीड़-भड़क्के में रहने से वृत्ति बहिर्मुख हो जाती है, अन्दर की बात सुनाई नहीं देती, अतः **'स इद्वने नमस्यु-भिर्वचस्यते'**=भक्त लोग वन में ही उसकी बातचीत=चर्चा करना चाहते हैं। अपने-जैसों के साथ ही बातचीत हो सकती है। जैसाकि महर्षि गौतमजी ने कहा है—**'ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः'** [न्याय द० ४।२।४७]=अध्यात्मविद्या का ग्रहण, धारण, अभ्यास यह सब-कुछ अध्यात्मविद्या-वेत्ताओं के साथ संवाद करने से बन पड़ते हैं। अज्ञानी के साथ बातचीत का लाभ ? जो भगवान् की कामना करता है, भगवान् भी उसका **'वृषा छन्दुर्भवति हर्यतः'**=सुखवर्षक होकर रक्षक होता है।

वेद में कहा है—**मा···जरितुः काममूनयीः** [ऋ० १।५३।३] वह भक्त की कामना अधूरी नहीं रहने देता। भगवान् एकान्त में केवल अपनी भक्ति की शक्ति का ही उपदेश नहीं करता, वरन्—**'क्षेमेण धेनां मघवा यदिन्वति'**=क्षेम के साथ वाणी भी देता है, अर्थात् भक्त के कुशल-कल्याण का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेता है। वह तो **'प्र वीर्येण देवताति चेकिते'** [ऋ० १।५५।३]=शक्ति के कारण सब देवों से, दानियों से, दिव्य गुणवालों से बढ़कर जाना जाता है। इस लिए—**'अधा चन श्रद्दधति त्विषीमत इन्द्राय'** [ऋ० १।५५।५]=अब तो उस तेजस्वी भगवान् पर श्रद्धा करो, और एकान्त में जाकर उसके भजन के द्वारा अपने अन्दर बल, वीर्य्य, पराक्रम, ज्ञान, ध्यान, समाधान का आधान करो।

१०५. इन्द्र ! तेरे शरीर में अनेक कर्म्म हैं

ओ३म् । अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोरषाळ्हं सहस्तन्वि श्रुतो दधे ।
आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः ॥

—ऋ० १।५५।८.

शब्दार्थ—हे इन्द्र इन्द्र=ऐश्वर्याभिलाषिन् ! तू **हस्तयोः** हाथों में **अप्रक्षितम्** अखुट **वसु** धन **बिभर्षि** धारण करता है । **श्रुतः** सर्वत्र प्रसिद्ध होता हुआ **तन्वि** शरीर में **अषाळ्हम्** असह्य **सहः** बल **दधे** धारण करता है । **ते** तेरे **तनूषु** शरीरों में, विस्तारों में **अवतासः+न** रक्षितों की भाँति, निधियों की भाँति **कर्तृभिः** रक्षकों से **आवृतासः** आवृत, आच्छादित **क्रतवः** कर्म्म **भूरयः** बहुत हैं ।

व्याख्या—हे ऐश्वर्य्याभिलाषिन् ! कहाँ भटकता है ? धन की खोज में ? देख, तू तो—**'अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोः'**=हाथों में अखुट धन धारण करता है । तेरे जैसे किसी का कहना है—**'अयं मे हस्तो भगवान्'** [ऋ० १०।६०।१२]=यह मेरा हाथ भगवान्=ऐश्वर्य्यवान् है, अतः हाथ हिला, धन बरसने लगेगा । कहता है—हाथ कैसे हिलाऊँ, शक्ति नहीं । अरे—**'अषाळ्ह सहस्तन्वि श्रुतो दधे'**=यह प्रसिद्ध है कि तू शरीर में असह्य बल धारे हुए है । असह्य बल, जिसके सामने दूसरा न ठहर सके । देख ! अपना शरीर तो देख, यहाँ तो—**'आवृतसोऽवतासो न कर्तृभिरतनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः'**=अनेक बड़े कार्य्य-कर्त्ता दीख रहे हैं, मानो किसी कोष की रक्षा में लगे हुए हों । देखो ! आँख शरीर में कार्य्य कर रही है, खुली रहती है । कान खड़े रहते हैं । नाक सदा खुली रहती है । स्पर्श क्षण-क्षण के ऋतु का परिचय दे रहा है । रसना रस की मीमांसा में लगी है । प्राण निरन्तर चल रहे हैं । मन अपनी उधेड़-बुन में लगा है । विचारकर देखो, ये सारे-के-सारे कार्य्य में लगे हैं । इन्हीं के सम्बन्ध में कहा है—**'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्'** [य० ३४।५५]=शरीर में सात ऋषि बिठा रखे हैं, वे सातों प्रमाद-रहित होकर घर की रक्षा कर रहे हैं । केवल कर्त्ता ही नहीं, वे ऋषि हैं; द्रष्टा=देखनेवाले तथा दिखाने-वाले भी हैं । ऋषियों से रक्षित होकर भी तू यदि रक्षित नहीं है, तो कब रक्षित होगा ? **'तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः'** का भाव यह भी है कि हे इन्द्र ! शरीरों में, तेरे बहुत कार्य्य हैं, अतः इसे सँभालकर रख, बिगाड़ मत इसको । इससे तेरे अनेक प्रयोजन सिद्ध होने हैं । भोग का साधन यह प्रसिद्ध है ही । मानवतन को मोक्ष का द्वार भी सभी स्वीकार करते हैं, अतः सावधान होकर इसका प्रयोग, उपयोग कर ।

१०६. प्राणों की कोई सुनता है ?

ओ३म् । यद्ध यान्ति मरुतः सं ह ब्रुवतेऽध्वन्ना । शृणोति कश्चिदेषाम् ॥

—ऋ० १।३७।१३

शब्दार्थ—**यत्+ह** जभी **मरुतः** प्राण **यान्ति** चलते हैं, **ह** सचमुच **अध्वन्** मार्ग को **आ** सब ओर से **सं+ब्रुवते** भली प्रकार बताते जाते हैं। **कश्चित्** कोई विरला ही **एषाम्** इनकी, प्राणों की बात को **शृणोति** सुनता है।

व्याख्या—यह विश्व वैचित्र्य का भण्डार है। छोटा-सा संसार—हमारा शरीर—भी एक अच्छा-खासा अद्भुतालय है। शरीर में आँख, नाक, कान आदि को किसी के साथ आसक्ति है। आँख रूप की प्यासी है, कान शब्द के भूखे हैं, रसना रस की रसिया है, नाक को गन्धमाल्य से प्रेम है, त्वगिन्द्रिय को छूत की बीमारी है। रूप आदि आँख आदि को लुभाकर इनको कर्त्तव्य से च्युत कर देते हैं, किन्तु प्राणों को किसी की आसक्ति नहीं; सुन्दर-से-सुन्दर रूप, मधुर-से-मधुर शब्द, मीठे-से-मीठे रस, कोमल-से-कोमल स्पर्श, और भीनी-से-भीनी सुगन्ध भी इसके कार्य्य में प्रतिबन्ध नहीं डाल सकती। यजुर्वेद [३४।५५] में बहुत सुन्दर कहा है—**'तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ'** उस शरीर में स्वप्न के वश में न होनेवाले जीवनयज्ञ को चलानेवाले देव (प्रायः) जागते रहते हैं। आँख झपक जाती हैं, मुँद जाती हैं। जीभ भी ऊब जाती है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों पर क्लान्ति-भाव आक्रान्त हो जाता है, किन्तु प्राण सदा जागते रहते हैं। बड़े पक्के पहरेदार हैं। ये ऐसे हितकर हैं कि—**यद्ध यान्ति मरुतः सं ह ब्रुवतेऽध्वन्ना**= जब ये चलते हैं तो अपना मार्ग पूरा बताते हैं।

किसी नन्हे बालक को सुप्त दशा में देखो, उसके प्राण कहाँ-से-कहाँ तक जा रहे हैं। स्पष्ट नाभि तक जाते और वहाँ से वापस ऊपर को आते हैं। तनिक बालक के तालु पर हाथ रखो, वहाँ जो पिलपिला-सा स्थान है, उसपर ध्यान से हाथ धरो। प्राण की प्रबल ठोकर लगती दीखेगी। प्राण इस प्रकार अपना मार्ग बता रहे हैं कि हमारा मार्ग नीचे से ऊपर को जाना है। ऐसा प्रबन्ध करो कि प्राण ऊपर को पहुँच जाएँ। प्राण सदा चलते हैं, अतः सदा अपना सन्देश देते रहते हैं। किन्तु—**शृणोति कश्चिदेषाम्**=इनकी सुनता कोई विरला ही है। जो सुनता है, वह—**'नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे। जिहीत पर्वतो गिरिः'** [ऋ० १।३७।७] मनुष्य का बच्चा तुमको पहरभर के लिए भी यदि उग्र विचार के लिए रोक देता है तो गाँठोंवाला गिरि=पहाड़ भी काँप जाता है। पहरभर प्राणों की बात सुनो, उनको रोको, तुम्हारा अन्तःपर्वत=मेरुदण्ड हिल जाएगा। सुषुम्णा जाग पड़ेगी। अधिक क्या कहें, सुषुम्णा को जगाने के लिए समय की अवधि का विधान भी कर दिया। एक पहरभर अडोल आसन, निरुद्ध प्राण सुषुम्णा को जगा देते हैं। अनुभवी अपने अनुभव से इसकी पुष्टि करते हैं।

१०७. मेरी बुद्धि का लक्ष्य भगवान् है

ओ३म् । परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु । इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ॥

—ऋ० १।२५।१६

शब्दार्थ—गावः गौएँ **न** जिस प्रकार **गव्यूतिः+अनु** बाड़े को लक्ष्य करके जाती हैं, ऐसे ही **मे** मेरी **धीतयः** बुद्धियाँ, **उरुचक्षसम्** महान् द्रष्टा तथा दर्शयिता के विशाल दर्शन को **इच्छन्तीः** चाहती हुई **अनु+परा+यन्ति** उसको लक्ष्यकर दूर तक जाती हैं ।

व्याख्या—भगवान् के पास जाते डर लगता है, अतः साधक डरकर कहता है—**'प्र देव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यविद्यवि'** [ऋ० १।२५।१]—हे वरणीय भगवन् ! प्रतिदिन हम तेरा नियम तोड़ते हैं किन्तु—**'मा नो वधाय हत्नवे······रीरधः'** [ऋ० १।२५।२]—हमें वध और हत्या का लक्ष्य न बना । कितना डर है ! किन्तु उसकी दया देखकर कहा—**'अश्वं न सन्दितम् । गीर्भिर्वरुण सीमहि'** [ऋ० १।२५।३]—बँधे घोड़े की भाँति, वरुण ! तुझे हम अपनी वाणियों से बाँधते हैं ।

अहह !!! क्या अद्भुत तमाशा है ! कहाँ तो डर रहा था, अपराधों के कारण मृत्युदण्ड से घबरा रहा था, और कहाँ अब उसे वाणियों से बाँधने की तय्यारी ! घोड़े को बाँधने के लिए रस्सी चाहिए । इसे बाँधने के लिए वाणी ही बाँधनू का काम देती है । सस्ता सौदा है, कर ले ! मत चूक ! इसे बाँध लिया है । सारथि बार-बार अपने घोड़े को देखता है । यह भी अपनी वाणी से बँधे वरुण को देख रहा है, और कह रहा है—**'परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु'**=जैसे गौएँ अपने स्थान को भागती हैं, वैसे मेरी बुद्धियाँ उसको लक्ष्यकर दूर तक भाग रही हैं । कहाँ-से-कहाँ आ पहुँचे ! अब बुद्धि विषयों की ओर नहीं जाती । संसार से विमुख हो चुकी है । गौ अपने स्थान पर घास तथा बछड़े आदि की लालसा से जाती है और मेरी बुद्धि—**'इच्छन्तीरुरुचक्षसम्'** विशाल दर्शन को चाहती है । इसी सूक्त के चौथे मन्त्र में कहा है—**'परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये । वयो न वसतीरुप'**=जिस प्रकार पक्षी अपने वास-स्थान को उड़कर जाते हैं, उसी प्रकार मेरे विचार सेवनीय इष्ट-प्राप्ति के लिए दूर तक उड़कर जाते हैं । इष्ट के लिए उड़ रहे हैं, किन्तु अधिक ज्ञान होने पर पता लगता है कि वही वस्य=सेवनीय और वही इष्ट है, अतः उसी उरुचक्षा की चाह हो जाती है, अन्य सब चाहें मिट जाती हैं । अब उसी की चाह है, अतः उसकी ओर बुद्धि दौड़ रही है । ऐसा बुद्धिमान् विश्वास से कहता है—

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय । त्वामवस्युराचके ॥—ऋ० १।२५।१९

हे वरुण ! मेरी इस पुकार को सुन और आज ही कृपा कर । [देर मत लगा, जाने कल क्या हो जाए !] मैं तेरा अभिलाषी होकर स्तुति करता हूँ ।

अब तो बात भी सुनाने लग गये, और उसे मनवाने के लिए मानो विवश भी करने लगे ।

१०८. परमात्मा जीव को गुहा में मिलता है

ओ३म् । पूषा राजानमाघृणिरपगूळ्हं गुहा हितम् । अविन्दच्चित्रबर्हिषम् ।

—ऋ० १।२३।१४

शब्दार्थ—आघृणिः सब प्रकार से प्रकाशमय **पूषा** पुष्टिकारक, मार्गप्रदर्शक भगवान् **अप+गूळ्हम्** अत्यन्त गुप्त **गुहा हितम्** हृदय-गुफा में रहनेवाले **चित्रबर्हिषम्** कमनीय आसनवाले **राजानम्** राजा आत्मा को **अविन्दत्** प्राप्त होता है।

व्याख्या—अनेक मनुष्य परमात्मा की खोज में लगे हैं किन्तु परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। किसी विरले के भाग्य में यह कृतकृत्यता होती है। कहा भी है—**'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'** [गीता ६।४५]—अनेक जन्म यत्न करने पर कहीं सफलता मिलती है, तब कहीं जाकर परा गति मिलती है। परमात्मा का मिलन ही परा गति है। **'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः'** [कठ० १।३।११]—पूर्ण परमात्मा से परे कुछ नहीं है, वही सीमा है, वही परा गति है।

परमात्मा किसको मिलता है? आत्मा को। कैसे आत्मा को? जो अपगूढ है, अत्यन्त गुप्त है। आत्मा तो सभी गुप्त हैं। आज तक किसी को आँखों द्वारा आत्मा के दर्शन नहीं हुए। सामान्य जन तो आत्मा की सत्ता के विषय में ही सन्दिहान रहते हैं। उन्हें तो आत्मा के होने का भी निश्चय नहीं होता। इसलिए सभी आत्मा अपगूढ हैं, अत्यन्त छिपे हैं, यदि हैं तो!

आत्मा है, किन्तु गुहाहित=हृदय-गुफा में रहता है। सभी आत्मा हृदय-गुफा में रहते हैं। गुहाहित का विशेष अभिप्राय क्या?

जो आत्मा बहिर्मुख न हो, जिसकी विषयरति हट चुकी है, जो अपने अनुशीलन में लगकर अन्तर्मुख हो चुका है, अर्थात् जिसने चित्तवृत्ति का निरोध कर लिया है, वह गुहाहित=अन्तर्मुख है। अन्य आत्मा गुहाहित न होकर विषयहित होते हैं, बर्हिहित=बहिर्मुख होते हैं।

आत्मा में, जिसे परमात्मा आ मिलता है, एक और गुण भी होना चाहिए। वह क्या?

आत्मा **'चित्रबर्हिः'** होना चाहिए। चित्रबर्हि क्या? चित्र है आसन जिसका। आसन क्या? हृदय को आसन कहते हैं। जिसका हृदय-आसन भगवान् के भावों से चित्रित हो चुका हो। जिसमें अन्य भाव उठने रुक चुके हों, वह 'चित्रबर्हि' है।

एक बात और भी अपेक्षित है। क्या? आत्मा राजा होना चाहिए। किसका राजा? अपनी इन्द्रियों और शरीर का। इस समय आत्मा इनका दास हो रहा है। इन्द्रियों की वृत्तियों के पीछे दौड़ रहा है। जब यह भली-भाँति जान लेता है कि मैं इन्द्रियों और शरीर का स्वामी हूँ, ये मेरे प्रयोजन के साधक हैं, तब यह राजा होता है; किन्तु परमात्मा को यह कैसे देख पाएगा, क्योंकि यह अँधेरी गुफा में रहता है?

परमात्मा **'आघृणिः'**=सर्वतः प्रकाशमान है, अर्थात् परमात्मा स्वयं इसकी गुफा को प्रकाश से भर देंगे और परमात्मा पूषा है, पथिकृत् हैं, मार्ग बतानेवाले हैं। स्वयं मार्ग बता देंगे। एक बार सच्चे दिल से आत्मा परमात्मा को मिलना चाहे, परमात्मा स्वयं इससे आ मिलेंगे। इतना ही नहीं, अपितु वह कृपालु—**'उतो स मह्यमिन्दुभिः षड् युक्ताँ अनुसेषिधत्'** [ऋ० १।२३।१५] सुख से युक्त छहों को—आँख, नाक, कान, रसना, त्वग् और मन को—मेरे लिए अनुकूल चलाता है। इससे अधिक और क्या चाहिए?

१०६. सोमपान का फल

ओ३म् । इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि । ताँ इन्द्र सहसे पिब ।

—ऋ० १।१६।६

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** इन्द्र ! **इमे** ये **इन्दवः** आनन्द देनेवाले **सोमासः** सोम **बर्हिषि**+**अधि** आसन पर **सुतासः** कूटकर रखते हैं, **तान्** इनको **सहसे** बल के लिए **पिब** पान कर।

व्याख्या—'सोम' एक ओषधि का नाम है। इसके सम्बन्ध में सुश्रुत के चिकित्सास्थान में लिखा है कि इसके सेवन करने से कायाकल्प हो जाता है, वृद्ध पुनः युवा हो जाता है, किन्तु वेद में एक और सोम की भी चर्चा है, जिसके सम्बन्ध में लिखा है—**'सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन'** [ऋ० १०।८५।३]=ब्राह्मणों को जिस सोम का ज्ञान है, उसे कोई नहीं खाता। ब्राह्मण के सोम की महिमा इन शब्दों में है—**'अपाम सोमममृता अभूम'** [ऋ० ८।४८।३]—हमने सोमपान किया और हम अमृत हो गये, या जी उठे।

कोई प्राकृत मनुष्य इसका उपयोग नहीं कर सकता। वेद कहता है—**'न ते अश्नाति पार्थिवः'** [ऋ० १०।८५।४]=पृथिवी-वासी, मिट्टी में लोट-पोट होनेवाला [प्राकृतिक विषयों का उपासक] उसका उपभोग नहीं कर सकता। सोम-बूटी की भी वेद में चर्चा है—**'सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिषन्त्योषधिम्'** [ऋ० १०।८५।३] ये ओषधि—बूटी कूटते-पीसते हैं, उसे सोम का पिया जाना मानते हैं। इस मन्त्र में दोनों प्रकार के सोमों के पान का आदेश है। बूटी-सोम बाहर-आसन पर—विशेषकर कुशासन पर बैठकर कूटा, पीसा, छाना जाता है और आध्यात्मिक सोम ब्राह्मणों के हृदय में छनता है। सोमपान की जो विधि सुश्रुत-चिकित्सास्थान में लिखी है, उससे प्रतीत होता है कि वह बड़े परिश्रम से तय्यार किया जाता है। ब्राह्मणज्ञेय सोम की दुःसाध्यता तो वेद ने ही बतला दी है। सामान्य जन इसका पान नहीं कर सकते।

सोम बूटी को सुश्रुत में चौबीस प्रकार का बताया गया है। इधर जीव की शक्ति भी चौबीस प्रकार की ऋषि बताते हैं—

'बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भाषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान—इन चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है।"

[स० प्र० नवम समुल्लास]

संसार के सभी पदार्थ वेद की परिभाषा में सोम हैं। भगवान् कहते हैं—हमने इस संसार में सोम तैयार किये हैं, जो वास्तव में सुखदायी हैं।

आनन्दघन प्रभु दुःखद पदार्थों का निर्माण क्यों करेगा ? तू—**ताँ इन्द्र सहसे पिब**=उनको बल के लिए पी। बूढ़े को जवान बनानेवाला अवश्य ही बलदायक होगा। अमृत करनेवाला निस्सन्देह बहुत बलवान् होना चाहिए।

११०. वेद शान्तिप्रद है

ओ३म् । अ॒यं ते॒ स्तोमो॑ अग्रि॒यो हृ॑दि॒स्पृग॑स्तु॒ शंत॑मः । अथा॒ सोमं॑ सु॒तं पि॑ब ॥

—ऋ० १।१६।७

शब्दार्थ—अयम् यह **अग्रियः** सबसे पहला, पूर्वजों का भी हितकारी **स्तोमः** स्तुतिसमूह=वेद-ज्ञान **हृदिस्पृक्** हृदय को स्पर्श करता हुआ **ते** तेरे लिए **शन्तमः** अत्यन्त शान्तिदायक **अस्तु** हो । **अथः** इसके पश्चात् अर्थात् वेदज्ञान प्राप्त करके **सुतम्** तय्यार किया गया **सोमम्** संसार का ऐश्वर्य **पिब** पान कर ।

व्याख्या—पक्षपातरहित सभी विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि वेद संसार में सबसे पुराना ग्रन्थ है । इसीलिए इसे **'अग्रिय'** कहा है । यह अग्रों का, पहलों का भी हितकारी है । सबसे पहला ज्ञान भगवान् से मिलना चाहिए, वह वेद है । कणाद महर्षि तो इसी कारण वेद की प्रामाणिकता मानते हैं—**'तद्वचना-दाम्नायस्य प्रामाण्यम्'** ईश्वरवचन होने से वेद की प्रमाणता है ।

यह वेद **'स्तोम'** है, स्तुतिसमूह है । तृण से ब्रह्मपर्य्यन्त सभी पदार्थों की स्तुति—गुण-गाथा—इसमें है । उदाहरण के लिए जीव के सम्बन्ध में कहा है—**'अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्'**—मैंने अविनाशी और गोप=इन्द्रियों के स्वामी को देखा है ।[1] आत्मा को इन्द्रियों से पृथक् तथा अविनाशी कहा है । इसी प्रकार परमात्मा के सम्बन्ध में कहा है **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्'** [य० ३१।१८]= मैंने उस महान्, सूर्यों के प्रकाशक, अज्ञान-अन्धकार से विरहित सर्वव्यापक के दर्शन किये हैं । प्रकृति का निरूपण इन शब्दों में हुआ है—**'एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव'** [अ० १०।८।३०]= यह सदा रहनेवाली प्रकृति सदा से ही विद्यमान है, यह पुराणी=पुरानी होती हुई भी नई सब कार्य्यों में विद्यमान है । इसी भाँति जीवोपयोगी सभी पदार्थों का ज्ञान वेद में कराया गया है, और यह **शन्तमः** अत्यन्त शान्ति प्रदान करता है । शान्ति तो परमात्मा के दर्शन से होती है, जैसा कि कठोपनिषत् में है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥५।१२॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥५।१३॥

जो सब पदार्थों का अन्तरात्मा, सबको नियन्त्रण में रखनेवाला, अकेला ही एक प्रकृतिरूपी बीज को अनेक प्रकार का बना देता है, आत्मा में रहनेवाले उस परमात्मा के जो ध्यानी दर्शन करते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख मिलता है, दूसरों को नहीं । वह नित्यों में नित्य, अर्थात् सदा एकरस और चेतनों का चेतन अर्थात् सर्वज्ञ है, वह अकेला अनेकों की कामनाएँ पूरी करता है । उस आत्मस्थ के, जो धीर दर्शन करते हैं, उन्हें ही अखण्ड शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं ।

ठीक है, शान्ति परमात्मा के दर्शन से मिलती है किन्तु परमात्मा के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान वेद से ही मिलता है । तभी तो औपनिषद् महर्षियों ने कहा है—**'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'**=वेद न जानने-वाला उस महान् भगवान् का मनन नहीं कर पाता, अतः वेद का श्रवण, अध्ययन, मनन, चिन्तन, धारण प्रत्येक शान्ति के अभिलाषी का कर्त्तव्य है । इस भाव को लेकर कहा है—हृदिस्पृक्=हृदय को स्पर्श करने-वाला; केवल वाणी से ही वेदमन्त्र को न रटे, हृदय में उनका स्पर्श भी हो । वेद तो है ही परमात्मा का

---

१. इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या पृष्ठ ३ पर द्रष्टव्य है ।

वर्णन करने के लिए—**'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** [ऋ० १।१६४।३९]—वेद सर्वव्यापक, अविनाशी परमात्मा का ज्ञान कराने के लिए हैं। भगवान् का आदेश है कि जब इस प्रकार तू इस 'अग्रिय' ज्ञान को हृदयस्पर्शी कर ले, **'अथा सोम सुतं पिब'**=तब निष्पादित सोम का—ऐश्वर्य का—पान कर। बहुत सुन्दर बात कही है। पहले ज्ञान, पीछे अनुष्ठान। पहले पदार्थों को जान, पश्चात् उनका यथायोग्य उपयोग कर। ऋषि इसीलिए ज्ञान को कर्म्म से पूर्व स्थान देते हैं।

ध्वनि निकलती है कि यतः वेद तुझे पदार्थों का ज्ञान कराने के लिए तथा तदनुसार कर्म्म करने के लिए दिया गया है, अतः तू वेद का अध्ययन करके उसके अनुसार जीवन बना और बिता। इसी में सफलता है।

१११. हे कानोंवाले ! मेरी पुकार सुन

ओ३म् । आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद् दधिष्व मे गिरः ।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम् ॥ —ऋ० १।१०।९

शब्दार्थ—हे **आश्रुत्कर्ण** सब ओर से सुनने की शक्ति से सम्पन्न कानोंवाले ! **मे** मेरे **हवम्** उपदेश, पुकार, ललकार को **श्रुधी** सुन ! **नू+चित्** निश्चयपूर्वक **मे** मेरी इन **गिरः** वेदवाणियों को **दधिष्व** धारण कर, मत भुला । हे **इन्द्र** ज्ञानसम्पन्न जीव ! अज्ञाननाश के अभिलाषिन् ! **इमम्** इस **मम** मेरे **स्तोमम्** पदार्थज्ञानोपदेश को **युजः** समाधि के द्वारा, सावधानता से, चित्त की एकाग्रता से **अन्तरम्** अपने भीतर **कृष्व** कर ।

व्याख्या—संसार में आकर जीव प्रमादी बन जाता है, भगवान् को भुला देता है । संसार के मोहक पदार्थों में फँसकर अपने-आपको भुला देता है और नाना कष्ट पाता है । वह संसार के विषयों में ऐसा लिप्त होता है कि अपने अन्दर उठती हुई भगवान् की वारणा=वारक-ध्वनि को भी नहीं सुनता, अथवा सुनी को अनसुनी कर देता है, तब मानो भगवान् उसे सावधान करते हुए कहते हैं—

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्=ओ सब ओर सुनने में समर्थ कानोंवाले, मेरी बात सुन । भगवान् की रचना की विचित्रता देखिए । आँख तो सामने के ही पदार्थ को देख सकती है, कान सब दिशाओं के शब्दों को सुन सकते हैं । इसीलिए भगवान् ने जीव को **'आश्रुत्कर्ण'**=सब ओर सुनने में समर्थ कानोंवाला कहा है—मेरी बात सुन । केवल सुन ही नहीं अपितु—

नू चिद् दधिष्व मे गिरः=इसके साथ मेरे शब्दों को धारण कर, मत भुला ।

धारण का अर्थ है आचरण में लाना । आचरण में लाने से पूर्व मनन करना होता है अर्थात् श्रुति-वचनों का श्रवण, मनन करो । किसी ने कहा भी है—

'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः । मत्वा वै सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥'

श्रुति-वाक्यों के द्वारा तत्त्व का श्रवण करना चाहिए और युक्तियों के द्वारा, तर्क के द्वारा मनन करना चाहिए । मनन के बाद निरन्तर ध्यान करना चाहिए । ये दर्शन के साधन हैं । भगवान् स्वयं धारण का उपाय बतलाते हैं—

इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्—हे अज्ञाननाश के इच्छुक ! मेरे इस उपदेश को योगसमाधि द्वारा अन्दर कर, आत्मसात् कर ! स्पष्ट ही योग-समाधि का उपदेश भगवान् कर रहे हैं । अन्दर करने का अभिप्राय है अपने ज्ञान का प्रधान अंग बनाना अर्थात् भगवान् का यह कल्याणसाधक, अमङ्गलघातक तत्त्व-उपदेश केवल बातचीत का विषय ही न रहे, अपितु जीवन में ओत-प्रोत और अनुस्यूत हो जाए । इस मन्त्र में साथ ही वेद का यथार्थ तात्पर्य्य हस्तामलक करने के लिए योगसमाधि के अनुष्ठान का संकेत भी कर दिया गया है । इतने गहन तत्त्व, जीव के उपयोगी सभी ज्ञानतत्त्व जिसमें उपदिष्ट हैं उनको स्वायत्त करना समाधि-भावना के बिना कैसे सम्भव है ?

वेद मनुष्य-जीवन का अन्तिम और वास्तविक लक्ष्य प्राप्त करने का साधन अनेक प्रकार से और बार-बार बताने में क्षुण्ण नहीं होता, जिस प्रकार माता सन्तान के कल्याण की बात बार-बार कहती नहीं थकती । इसीलिए वेद को वेदमाता कहा जा सकता है ।

११२. तू प्राणों का ऋषि है

ओ३म् । त्र्यर्यमा मनुषो देवताता त्री रोचना दिव्या धारयन्त ।
अर्चन्ति त्वा मरुतः पूतदक्षास्त्वमेषामृषिरिन्द्रासि धीरः ॥ —ऋ० ५।२९।१

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** इन्द्र ! **मनुषः** मननशील **देवताता** दिव्यगुणों के विस्तार के लिए **त्री** तीनों—श्रवण, मनन निदिध्यासन—कार्य्यों में **अर्यमा** न्याययुक्त व्यवहार को, न्यायकारी परमेश्वर को धारण करते हैं, और **त्री** तीन प्रकार के **दिव्या** दिव्य **रोचना** प्रकाशों को **धारयन्त** धारण करते हैं। **पूतदक्षाः** पवित्र क्रियावाले **मरुतः** प्राण **त्वा** तुझको **अर्चन्ति** पूजते हैं **त्वम्** तू **धीरः** परम ध्यानी **एषाम्** इनका **ऋषिः** ऋषि **असि** है ।

व्याख्या—परमात्मा परम देव है, उसमें सभी दिव्य गुणों का अवसान=पराकाष्ठा है। मनुष्य यदि दिव्य गुणों का विस्तार करना चाहें तो **'त्र्यर्यमा मनुषो धारयन्त'**—श्रवण, मनन, निदिध्यासन—तीन प्रकार से अर्यमा को, न्यायकारी भगवान् को अपने आगे रखें अर्थात् भगवद्भक्ति के मार्ग में पग धरनेवाले को सबसे पूर्व अपने व्यवहार की शुद्धि करनी चाहिए, क्योंकि—**'युक्ताहारविहारस्य योगो भवति दुःखहा'**—उचित आहार-व्यवहारवाले के लिए ही योग दुःखनाशक हुआ करता है, अतः अपना व्यवहार न्याययुक्त करना अत्यन्तावश्यक है, इसीलिए योगी लोग सबसे पूर्व यम-नियम का उपदेश करते हैं। जो इस प्रकार व्यवहार शुद्ध करके श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हैं, वे—**'त्री रोचना दिव्या धारयन्त** तीन दिव्य प्रकाशों को धारण करते हैं। उन्हें मनःप्रकाश, आत्मप्रकाश, तथा परमात्मप्रकाश—इन तीनों प्रकाशों की प्राप्ति होती है। प्रकाश प्राप्त करने से आत्मा पूजनीय बन जाता है, क्योंकि प्रकाश की सभी पूजा करते हैं। भगवान् जीव से कहते हैं—इन्द्र ! तू पूज्य बन गया है, अतः **'अर्चन्ति त्वा मरुतः पूतदक्षाः'**—पवित्र कर्म्मवाले प्राण तुझे पूज रहे हैं। प्राणों का व्यवहार बड़ा पवित्र है। ये तो सबको पवित्र कर देते हैं। जैसाकि मनुजी कहते हैं—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥—मनु० ६।७१

जैसे अग्नि से धौंकायी जाती हुई [तपाई जाती हुई] धातुओं के मल=मैल जल जाते हैं, वैसे ही प्राण के संयम से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं अर्थात् अग्नि के तपाने से जैसे सुवर्ण आदि धातुओं के दोष नष्ट होकर वे शुद्ध हो जाते हैं, वैसे प्राण को वश में करने से मन आदि इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। योगिराज दयानन्द महाराज ने भी लिखा है—

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो जाए, आत्मा का ज्ञान बढ़ता जाता है।" [स० प्र० तृतीय समुल्लास]

"प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र, सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा।" [स० प्र० तृतीय समुल्लास]

'प्राण पवित्र होकर इन्द्र की पूजा करते हैं।' इससे एक उपदेश और निकलता है कि पूजा करने

के लिए पूजा करनेवाले को पहले अपने-आपको पवित्र करना चाहिए। अपवित्र मनुष्य पूजा कर ही नहीं सकता। इन्द्र! तेरा महत्त्व और भी है—**'त्वमेषामृषिरिन्द्रासि धीरः'**=तू धीर=ध्यानी होने पर इनका ऋषि है, द्रष्टा है, गति-दाता है। आत्मा न रहे तो प्राण की गति बन्द हो जाए। प्राणों की क्रिया तभी तक चलती है जबतक देह में आत्मा का निवास है। आत्मा ने देह छोड़ा नहीं कि रानी मक्खी के पीछे मधु-मक्खियों की भाँति प्राण भी आत्मा के पीछे प्रयाण कर देते हैं। सामान्य जनों को प्राणों के गमनागमन का ज्ञान ही नहीं हो पाता। ध्यानी को इनकी गतिविधि का केवल ज्ञान ही नहीं होता, प्रत्युत ये इनको तथा सब क्रियाओं, व्यवहारों को हस्तामलकवत् साक्षात् करता है। इसके मनन करने की आवश्यकता है।

११३. तेरी पूजा कैसे करूँ ?

**ओ३म् । कथो नु ते परि चराणि विद्वान् वीर्य्या मघवन् या चकर्थ ।
या चो नु नव्या कृणवः शविष्ठ प्रेदु ता ते विदथेषु ब्रवाम ॥** —ऋ० ५।२९।१३

शब्दार्थ—हे **मघवन्** पूजितधनवाले भगवन् ! तुझ **विद्वान्** सर्वज्ञ ने **या** जो **वीर्य्या** पराक्रम **चकर्थ** किये हैं **च** और **या+उ+नु** जो भी **नव्या** नये **कृणवः** किये हैं, हे **शविष्ठ** सबसे अधिक बलवन् ! **ते** तेरे **ता** उन कार्यों को उ तो, हम **विदथेषु** ज्ञानसत्रों में, जीवनसंग्रामों में **प्र+ब्रवाम+इत्** भली-भाँति कहें ही, वर्णन करें, **नु** किन्तु **कथो** कैसे **नु** तो **ते** तेरी **परिचराणि** पूजा करूँ, सेवा करूँ ?

व्याख्या—भगवान् सर्वज्ञ है, अतः वह सबकी आवश्यकता और कर्म्मों को जानता है । जीवों को भुक्ति-मुक्ति देने के लिए वह शतक्रतु प्रभु सदा अद्भुत शक्तियुक्त कार्य्यों को करता है । ऐसे महोपकारी, कृपाकारी, अद्भुतबलधारी महिमामहान् भगवान् की पूजा का क्या विधान है ? कैसे उसकी पूजा की जाए ? एक उपाय छोटा-सा बताया है कि—**'प्रेदु ता ते विदथेषु ब्रवाम'**—उसके उत्तम कार्य्यों का हम सत्रों में—सभाओं में वर्णन करें । भगवान् की पूजा का सादा-सा उपाय है कि उसकी गुणावली का खुलेबन्धों बखान करें । हर एक के सामने भगवान् का यशोगान करना चाहिए । ऋग्वेद ५।१४।१ में कहा है—**'अग्नि स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम्'**—तू स्वयं भली प्रकार प्रकाशित होकर अविनाशी भगवान् को स्तोम द्वारा—स्तुतिसमूह द्वारा जगा । यशोगान का बखान यहाँ भी समान है किन्तु एक बात विशेष कही है, मानो वह **कथो नु ते परिचराणि**—'कैसे तेरी पूजा करूँ' का उत्तर है । वह है 'समिधानः' पद । परमेश्वर की स्तुति कर, किन्तु स्वयं 'समिधान'—प्रकाशमान होकर । मनु [६।६७] ने कहा है—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥

यद्यपि कतक वृक्ष का फल [निर्मली] जल को निर्मल करता है, तथापि उसका नाममात्र लेने से जल निर्मल नहीं हो जाता । इसी प्रकार भगवान् का नाम पावक है, पतितपावन है, किन्तु इतना कहने से मनुष्य पवित्र नहीं बन जाता । इन गुणों से मनुष्य स्वयं **समिधान**=प्रकाशमान होना चाहिए । तात्पर्य्य यह निकला कि उरुक्रम भगवान् के पराक्रम को देखकर जब मनुष्य के मन में उसकी पूजा की भावना उठे तो उसे भी भगवान् के समान महान् कार्य्यों के सम्पादन में यतमान होना चाहिए । अपने अन्दर भगवान् के गण्य गुणों की गणना को प्रतिदिन बढ़ाता जाए, इसी में कल्याण है । ऋषि ने बहुत सुन्दर शब्दों में इस तत्त्व का वर्णन किया है—

"जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्तमान करना चाहिए अर्थात् जैसी सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है उसके लिए जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना करे अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है···जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है वैसे धर्म्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है······इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म्म में नहीं । जो कोई 'गुड़ मीठा है' ऐसा कहता है उसको गुड़ प्राप्त वा स्वाद कभी नहीं होता, और जो यत्न करता है उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है ।" [स० प्र० सप्तम समुल्लास]

भाव यह निकला कि जैसे पदार्थों के गुण-धर्म्म जाननेमात्र से मङ्गल नहीं होता, वरन् उनके उपयोग से लाभ होता है, वैसे परमात्मा के गुण-गण-ज्ञान अथवा गुणगण-गणनमात्र से कल्याण की उतनी सम्भावना नहीं, जितनी उन गुणों को जीवन में धारण करने से है ।

११४. इन्द्र स्वाभाविक शक्ति से अकेला सारे कार्य्यं करता है

ओ३म् । एता विश्वा चकृवाँ इन्द्र भूर्य्यपरीतो जनुषा वीर्येण ।
या चिन्नु वज्रिन् कृणवो दधृष्वान् न ते वर्त्ता तविष्या अस्ति तस्याः ॥

—ऋ० ५।२९।१४

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** बल-पराक्रम के भण्डार सर्वाधार ! तूने **अपरीतः** अकेले **एता+विश्वा** ये सब कार्य्य **जनुषा+वीर्य्येण** स्वाभाविक शक्ति से **भूरि** अनेक प्रकार से **चकृवान्** किये हैं और **या+चित्** जो भी कार्य्य तू, हे **वज्रिन्** वज्रयुक्त ! वारणसामर्थ्यसम्पन्न ! **नु** शीघ्र **कृणवः** करता है **ते** तेरी **तस्याः** उस **तविष्याः** शक्ति का **दधृष्वान्** दबानेवाला तथा **वर्त्ता** पूर्णरूप से अपनानेवाला **न+अस्ति** नहीं है ।

व्याख्या—भगवान् ने अद्भुत अचिन्त्यपार संसार की रचना की है और प्रतिदिन नये-नये पदार्थों का निर्माण कर रहा है । ये सारे कार्य्य वह अपरीत=अकेला, दूसरे की सहायता लिये बिना कर रहा है । उसमें इस विश्व के निर्माण का स्वाभाविक सामर्थ्य है । उसका सामर्थ्य ऐसा है कि कि उसे कोई दबा नहीं सकता, अपना सकने की तो बात ही कौन कहे ! भगवान् के बल-सामर्थ्य का वर्णन एक स्तुतिमन्त्र में बहुत ही सुन्दर रीति से हुआ है—

तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते । आ पप्राथ महित्वना ॥—ऋ० ८।६८।२

हे महाबल ! हे महाकर्मन् ! महाबुद्धे ! हे मते ! तूने अपनी महत्ता से संसार को पसारा है। भगवान् में बल महान्, कर्म्म महान्, ज्ञान महान्, सब-कुछ महान् है। दूसरे स्थान पर कहा गया है—**'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः'** [ऋ० १०।८६]=भगवान् सबसे महान् है, अतः—**'दधृष्वान् न ते वर्त्ता तविष्या अस्ति तस्याः'**=उसकी उस शक्ति को न कोई दबा सकता और न अपना सकता है । सचमुच—

नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम् । नकिर्वक्ता न दादिति ॥—ऋ० ८।३२।१५

इस भगवान् की सच्ची मीठी शक्तियों का न कोई नियन्ता है, न कोई वक्ता है, न कोई दाता है । उसकी शक्तियाँ सच्ची हैं अर्थात् त्रिकालाबाधित हैं, किसी समय उसकी शक्ति में विघ्न या रुकावट नहीं आ सकती । अबाधित होने के कारण उनका नियन्ता कोई नहीं हो सकता । अनन्त होने के कारण उनका कोई वक्ता भी नहीं है । जब अनन्त शक्तियाँ हैं, तो उनका वर्णन कौन करे ? जीव सारे अल्पज्ञ, सान्त, उस अनन्तशक्ति की शक्तियों का कथन कैसे करें ? जो कही ही न जा सकती हो, उसके देने की बात तो दूर रही ! भगवान् का बल कोई भी नहीं दबा सकता—**'न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये'** [ऋ०]=जिस व्रत को मैं धारण करता हूँ, महत्त्व के कारण न दास और **न** आर्य्य उस व्रत को मार सकते हैं । भला, बुरा, कोई भी भगवान् के कार्यों को नहीं कर सकता, उनको वह स्वयं ही करता है । वेद में कहा ही है—**'न तत्ते अन्यो अनुवीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः'** [अ० २०।१७।५] मघवन् ! नया-पुराना कोई भी तेरी शक्ति का अनुकरण नहीं कर सकता । भगवान् सदा से अनुपम शक्तिमान् है । जब वेद यह कहता है कि भगवान् के सामर्थ्य को कोई अपना नहीं सकता, तो इसका गहरा अभिप्राय है । इसका अभिप्राय यह नहीं कि भगवान् के धारणीय दया आदि गुणों को भी हम धारण न करें, प्रत्युत इसका भाव यह है कि भगवान् का सामर्थ्य अनन्त है, सान्त जीव अनन्त के सामर्थ्य को कैसे धारण कर सकता है । सृष्टि-रचना आदि भगवान् के विशिष्ट कर्मों के करने की शक्ति तो जीव में आ ही नहीं सकती । व्यास मुनि ने, 'वेदान्त दर्शन' में इसी आशय को लक्ष्य में रखकर कहा—**'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च'** [४।४।२१]=मुक्त जीव तथा भगवान् में आनन्द-भोग की समता है।

प्रश्न यह है कि मुक्त जीव जब सब साधनों से मुक्त हो गया, छूट गया, तो वह भगवान् या भगवान् के समान क्यों न माना जाए ? महर्षि व्यास उत्तर देते हैं कि यह सत्य है कि मुक्ति प्राप्त करने पर जीव बन्धनरहित हो गया, किन्तु बन्धनशून्यता का आरम्भ होने के कारण उसके अन्त की सम्भावना भी है । अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्य जीव परमात्मनिष्ठ हो जाने के कारण परमात्मा के आनन्दगुण के उपभोग का अधिकारी तो हो जाता है, किन्तु उसकी अनन्तता तथा सृष्टिरचनादि गुण उसको कभी प्राप्त नहीं होते ।

११५. आत्मा कहाँ है ? उसे कौन देखता है ?

ओ३म् । क्व१स्य वीरः को अपश्यदिन्द्रं सुखरथमीयमानं हरिभ्याम् ।
यो राया वज्री सुतसोममिच्छन् तदोको गन्ता पुरुहूत ऊती ॥

—ऋ० ५।३०।१

शब्दार्थ—स्यः वह **वीरः** वीर **क्व** कहाँ है ? **कः** किसने **सुखरथम्** सुखकारक शरीरवाले **हरिभ्याम्** प्राण-अपान, अथवा ज्ञान-कर्मरूप दो घोड़ों से **ईयमानम्** गति करनेवाले **इन्द्रम्** इन्द्र को, आत्मा को **अपश्यत्** देखा है ? **यः** जो आत्मा **वज्री** वज्रसम्पन्न होकर तथा **पुरुहूतः** अत्यन्त प्रशस्त होकर **सुतसोमम्** बने-बनाये ऐश्वर्य्य को **इच्छन्** चाहता हुआ **राया** ऐश्वर्य्य से युक्त होकर **ऊती** रक्षा और प्रीति के साथ **तत्** उस **ओकः** घर को **गन्ता** जानेवाला है ।

व्याख्या—मैं-मैं सभी करते हैं किन्तु 'मैं' को कितनों ने देखा है ? वेद का प्रश्न सीधा किन्तु तीखा है—**'क्व स्य वीरः'**=कहाँ है वह वीर ? **'कः अपश्यदिन्द्रम्'**—इन्द्र को किसने देखा है ? सचमुच आत्म-दर्शन अतिदुर्लभ है । आत्मा के बाह्य स्वरूप की थोड़ी-सी झलक इस मन्त्र में दिखाई है । वह इन्द्र कैसा है—**'सुखरथमीयमानं हरिभ्याम्'** जिसे यह शरीर सुख के लिए मिला है और जो दो घोड़ों के साथ आता-जाता है । कदाचित् कठोपनिषत् में इन्हीं पदों की व्याख्या में ये वाक्य हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३।३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥३।४॥

तू आत्मा को रथी समझ और शरीर को रथ, बुद्धि को कोचवान जान और मन को लगाम मान । इन्द्रियों को घोड़ा कहते हैं और विषयों को उनका घास । आत्मा, इन्द्रिय तथा मन—इनके संघात को ज्ञानी लोग भोक्ता कहते हैं ।

उपनिषद् के रथ और रथी से 'सुखरथ' अधिक स्पष्ट है । सुखरथ से शरीर का प्रयोजन भी स्पष्ट हो जाता है । आत्मा के शरीरधारण के प्रयोजन को अधिक स्पष्ट करके कहा है—**'सुतसोममिच्छन् तदोको गन्ता'**=निष्पादित ऐश्वर्य्य की चाहना करता हुआ उस घर को जाता है । अगला मन्त्र मानो इसका उत्तर है—

अवाचचक्षं पदमस्य सस्वरुग्रं निधातुरन्वायमिच्छन् ।
अपृच्छमन्याँ उत ते म आहुरिन्द्रं नरो बुबुधाना अशेम ॥—ऋ० ५।३०।२

मैंने इस शरीरधारक के गुप्त तथा उग्र ठिकाने को बार-बार देखा है, और उसकी चाहना करता हुआ उसके पास आया हूँ । [अपने ज्ञान के शोधन के विचार से] मैंने दूसरों से पूछा है, उन्होंने भी मुझे कहा है "हम मनुष्यों ने निरन्तर ज्ञान से इन्द्र को—आत्मा को प्राप्त किया है ।" निरन्तर ज्ञानध्यान करने से आत्मा की प्राप्ति हो सकती है अर्थात् विवेक का अभ्यास सदा होना चाहिए ।

११६. अविद्वान् सुने, जाने

ओ३म् । प्र नु वयं सुते या तें कृतानीन्द्र ब्रवाम यानि नो जुजोषः ।
वेददविद्वाञ्छृणवच्च विद्वान् वहतेऽयं मघवा सर्वसेनः ॥ —ऋ० ५।३०।३

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** इन्द्र ! **सुते** इस संसार के निमित्त **या** जो **ते** तेरे **कृतानि** कृतकर्म्म हैं और **यानि** जिनको तू **नः** हमारे लिए **जुजोषः** प्रीतिपूर्वक करता है, उन सबको **वयम्** हम **नु** तत्काल **प्रब्रवाम** कहें, बखान करें। **वेदद्** समझदार **च** और **अविद्वान्** विद्यारहित मनुष्य **शृणवत्** सुनें, अथवा **अविद्वान्** विद्यारहित मनुष्य **वेदद्** जानने का यत्न करे **च** और **शृणवत्** सुने **अयम्** यह **विद्वान्** ज्ञानी **सर्वसेनः** सब सेनाओं=साधनोंवाला **मघवा** विद्याधन का धनी **वहते** विद्या प्राप्त कराता है।

व्याख्या—आत्मा के कर्म्मों का सदा विवेचन करना चाहिए। किन-किन पूर्वकर्म्मों के फल से यह देह प्राप्त हुआ है, कौन-से ऐसे कर्म्म हो सकते हैं, जिनसे भावी कल्याण का सामान जुट सकता है ? विद्वान् मनुष्य के पास सब सामान, साधन होते हैं, अतः वह **'विद्वान् वहते ऽयं मघवा सर्वसेनः'**=सब साधनों-वाला महाधनी विद्या को प्राप्त कराता है। जिनके पास न हो, वह दूसरों को क्या देगा ? विद्वान् ही दूसरों को ज्ञान दे सकता है। अज्ञानी बेचारा क्या करे ? वेद का उसके लिए आदेश है—**वेददविद्वाञ्छृण-वच्च'**=विद्यारहित मनुष्य जानने का यत्न करे और सुने। विद्या के दो उपाय इसमें बताते हैं—(१) जो अविद्वान् है, वह विद्वानों की क्रिया, चेष्टा आदि देखकर वैसा करे और धारे। (२) सुनना दूसरा उपाय है। बड़े-बड़े विद्यावान् विद्वान् जब आकर व्याख्यान दें, वह उनको सुने।

पढ़ना सुनने के अन्तर्गत-सा हो जाता है। गुरु बोलता है, शिष्य सुनता है, इसका नाम पढ़ना-पढ़ाना है। सुने बिना पढ़ना लगभग असम्भव है। वेद में दूसरे स्थान में कहा है—**'अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट्'** (ऋ० १०।३२।७)—अज्ञानी ज्ञानी से पूछता है। पूछना सुनने का मूल्य है। लगे हाथों विद्वान् का कर्त्तव्य भी बता दिया है—**'विद्वान् वहते'** विद्वान् विद्या प्राप्त कराता है अर्थात् सच्चे विद्वान् के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अज्ञानियों को ज्ञान दे। ऋषि लिखते हैं—

"विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्या-सत्य का स्वरूप समर्पित कर दें" (स० प्र० भूमिका) क्योंकि विद्वान् **सर्वसेनः**—सब साधनोंवाला होता है।

इस मन्त्र में विद्वान् के साथ मघवा और सर्वसेन ये दो विशेषण यह संकेत करते प्रतीत होते हैं कि धनी और क्षत्रिय का भी विद्या-प्रचार कर्त्तव्य है, अथवा विद्वान् के लिए बलहीन और धनहीन होना कोई गौरव की बात नहीं है। विद्या के साथ शारीरिक बल तथा सम्पत्ति-बल भूषण है, दूषण नहीं। वेदधर्म्म के ह्रास के साथ लोगों में यह कुसंस्कार घर कर गया कि विद्वान् निर्बल और निर्धन होता है। आवश्यकता है कि संसार में, विशेषतः भारत में इस वैदिक तत्त्व का प्रचुर प्रचार किया जाए।

११७. मन स्थिर कर

**ओ३म् । स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित् ।
अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतो वि विदो गवामूर्वमुस्रियाणाम् ॥**

—ऋ० ५।३०।४

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** योगैश्वर्य्येच्छुक ! यदि तू **जातः** समर्थ होकर **मनः** मन को **स्थिरम्** स्थिर **चकृषे** करे, तो तू **एकः+इत्** अकेला ही **भूयसः+चित्** बहुतों को भी **युधये** युद्ध के लिए **वेषि** प्राप्त हो सकता है, जीत सकता है, पर्य्याप्त है । **अश्मानम्** पत्थर को **चित्** भी **शवसा** बल से **दिद्युतः** चमका दे और **उस्रियाणाम्** सुख वर्षानेवाली **गाम्** किरणों, इन्द्रियों के **ऊर्वम्** विघातक को **वि+विदः** विचार ।

व्याख्या—मन बहुत चञ्चल है, इसको वश में करना बहुत कठिन है । गीता [६।३४] में कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण ! मन बहुत चञ्चल है, उधेड़बुन करनेवाला, बलवान् तथा हठी है । वायु को वश में करने के समान उसका निग्रह अत्यन्त दुष्कर है, कठिन है । चञ्चलता का दृश्य वेद ने दिखाया है—**'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति'** [य० ३४।१]=जागते हुए का मन बहुत दूर चला जाता है, वैसे ही सोये हुए का चला जाता है अर्थात् न सोते चैन, और न जागते कल, ऐसा वह मन चञ्चल और विकल है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि नाना शत्रु आत्मा पर प्रहार कर रहे हैं । आत्मा अकेला, और उसके शत्रुओं की विशाल सेना ! कैसे पार पाएगा आत्मा ? वेद कहता है—

स्थिरं मनः चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित्=हे इन्द्र ! यदि तू मन को स्थिर कर सके तो तू अकेला ही बहुतों से भी लड़ने को पर्य्याप्त है । मन के द्वारा युद्ध तो तभी हो सकता है, जब मन किसी एक स्थान पर ठहरे, अतः मन को स्थिर करो । संसार के सभी व्यवहारों के लिए मन की स्थिरता अपेक्षित होती है । मन की शक्ति के सम्बन्ध में वेद में कहा है—**'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'** [य० ३४।३]—जिसके बिना कोई भी कार्य्य नहीं किया जाता । आँख देखती है किन्तु मन के सहयोग से; कान सुनता है मन के सहयोग से । जिस इन्द्रिय के साथ मन का सहयोग न हो, वह कार्य्य नहीं कर सकती, अतः ऐसे महाबली मन को ठहराना चाहिए । मन वश में हो जाए तो अज्ञान का पत्थर भी फूट जाता है—**'अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतः'** पत्थर को भी बल से चमका देता है । पत्थर चमक उठा तो पत्थर ही न रहा । स्थिर मनवाला ज्ञान-प्रतिबन्धकों को भी जान लेता है । धारणा, ध्यान, तथा समाधि के द्वारा मन ठहराया जा सकता है । धारण, ध्यान, समाधि—इस त्रिक् को संयम कहते हैं । इसका फल [योगदर्शन ३।५] में यह बताया है—**'तज्जयात्प्रज्ञालोकः'**—संयम के जीतने से बुद्धि-प्रकाश होता है । प्रकाश होने पर सभी रुकावटों का प्रत्यक्ष भान होने लगता है ।

११८. आत्मा परम है, इन्द्रियाँ उससे डरती हैं

ओ३म् । परो यत्त्वं परम आजनिष्ठाः परावति श्रुत्यं नाम बिभ्रत् ।
अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवा विश्वा अपो अजयद्दासपत्नीः ॥

—ऋ० ५।३०।५

शब्दार्थ—**परावति** दूरदेश में **श्रुत्यम्** प्रसिद्ध **नाम** नाम **बिभ्रत्** धारण करता हुआ **यत्** जो **त्वम्** तू **परः** पर, उत्कृष्ट होता हुआ **परमः** अत्यन्त उत्कृष्ट **आजनिष्ठाः** हुआ, **अतः+चित्** इसलिए भी **इन्द्रात्** तुझ इन्द्र से, आत्मा से **देवाः** देव, इन्द्रियगण **अभयन्त** मानो डरते-से हैं, क्योंकि यह **विश्वाः** सम्पूर्ण **दासपत्नीः** पापपालक **अपः** कर्मों को **अजयत्** जीत लेता है ।

व्याख्या—यह बात सभी मानते हैं कि शरीर और इन्द्रिय आत्मा के लिए हैं । शरीर आत्मा का भोगाधिष्ठान—सुख-दुःख भोगने का ठिकाना है । इन्द्रियाँ आत्मा का करण=हथियार हैं, अतः आत्मा इनसे श्रेष्ठ है । कठोपनिषद् [६।७-८] में इस तत्त्व का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् । सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च । यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि=अहंकार उत्कृष्ट है । अहंकार से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अव्यक्त=प्रकृति उत्कृष्ट है । अव्यक्त से पुरुष पर=उत्तम है । वह व्यापक=व्यापक सामर्थ्यवाला तथा अलिङ्ग=किसी का उपादानकारण नहीं है । प्रकृति विकृति-दशा को प्राप्त हो रही है, उसके विकार उसके अनुमापक हैं, किन्तु आत्मा का इस प्रकार का कोई विकार या कार्य्य नहीं, अतः ऋषि ने आत्मा को अलिङ्ग कहा है । आत्मा की शक्तियाँ सारे देह में कार्य्य कर रही हैं, अतः उसे व्यापक कह दिया है ।

इस प्रकार का उत्कृष्ट आत्मा जब सत्कर्मों के कारण कीर्ति पाता है और सर्वत्र उसका नाम सुनने को मिलता है, तब यह पर=केवल उत्कृष्ट न रहकर परम=उत्कृष्टतम हो जाता है । मन आदि देव मानो इसी कारण आत्मा से भय खाते हैं कि यह हमसे श्रेष्ठ है । हम उसके कारण ही इस देह में रहते हैं । यह यदि इस शरीर से चला गया तो हमें भी यहाँ से चलना होगा । मानो, उन्हें बेठिकाना होने का भय सता रहा है । इन इन्द्रियों में जो शक्ति है, वह भी तो आत्मा की है । आत्मा की स्तुति करती हुई इन्द्रियाँ कहती हैं—

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥—प्रश्नो० २।१२

जो तेरा विस्तार वाणी में है, जो कान में और जो आँख में है और जो मन में फैल रहा है उसे कल्याणकारी बना, इस शरीर से तू मत निकल, क्योंकि यदि आत्मा शरीर से निकल गया तो इन्द्रियाँ इसमें न रह पाएँगी । आँख, नाक आदि की अपनी कोई शक्ति नहीं है, जो है; वह आत्मा की है । दूसरा कारण यह भी है कि जिस प्रकार सूर्य्य जल को रोकनेवाले मेघों को छिन्न-भिन्न करके जल बरसाता है, इसी प्रकार आत्मा आत्मप्रकाश को रोकनेवाली समस्त शक्तियों को छिन्न-भिन्न कर देता है । इससे भी मानो इन्द्रियाँ घबड़ाती हैं कि कहीं हमारी प्रवृत्तियों का ही अवसान न हो जाए । सार यह निकला कि शरीर और इन्द्रियों की सत्ता, सामर्थ्य तभी तक है जबतक कि आत्मा शरीर में वास कर रहा है । इन्द्रियों तथा शरीर की महत्ता एवं सामर्थ्य का विचार करो तो आत्मा के गुण, सामर्थ्य समझे जा सकते हैं । ऐसे परमोत्तम आत्मा को जानना चाहिए ।

११९. आत्मा अहि = पाप का नाश करता है

ओ३म् । तुभ्येदेते मरुतः सुशेवा अर्चन्त्यर्कं सुन्वन्त्यन्धः ।
अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः ।।

—ऋ० ५।३०।६

शब्दार्थ—(हे इन्द्र !) **एते ये सुशेवाः** अत्यन्त सुखकारी **मरुतः** प्राण **तुभ्य+इत्** तेरी ही **अर्चन्ति** पूजा करते हैं और **अर्कम्** प्रशंसनीय **अन्धः** अन्न **सुन्वन्ति** उत्पन्न करते हैं। तू **इन्द्रः** सूर्य्यसमान आत्मा **ओहानम्** सुमार्ग त्यागनेवाले **अपः+आशयानम्** कर्म्मों में रहनेवाले **मायिनम्** हिंसक स्वभाववाले **अहिम्** पापभाव को **मायाभिः** बुद्धि से **सक्षत्** ताड़ देता है।

व्याख्या—मरुत् शब्द का मूल अर्थ है मरने-मारनेवाला। लाक्षणिक अर्थ प्राण, ऋत्विक्, सिपाही, वायु आदि अनेक हैं। आत्मा को पाप से शुद्ध करना है, उसे सेना चाहिए, वेद कहता है प्राण ही तेरी सेना है और **'तुभ्येदेते मरुतः सुशेवाः अर्चन्ति'**=ये सुखकारी प्राण तेरी ही पूजा करते हैं। प्राण आत्मा ही की सेवा के लिए हैं। प्राण सारी भोग-सामग्री आत्मा के लिए लाते हैं। **'अर्कं सुन्वन्त्यन्धः'**=प्रशंसनीय अन्न-भोग-सामग्री को निष्पन्न करते हैं। जो कुछ हम खाते-पीते हैं, उसको शरीर का अंश बनने की योग्यता प्राण उत्पन्न करते हैं। इसी भाव को प्रश्नोपनिषत् [दूसरे प्रश्न] में बहुत मनोहारी शब्दों में कहा गया है—

तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ।।७।।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ।।११।।

प्राणाधार आत्मन् ! जब तू प्राणों के साथ शरीर में प्रतिष्ठित होता है, तब ये सारी प्रजाएँ तेरे लिए भेंट लाती हैं। हम तो भोग के देनेहारे हैं, हे जीवनाधार ! हमारा पालक पिता तू ही है। जबतक आत्मा और प्राण मिलकर शरीर में रहते हैं, तभी तक उसे भोग-भेंट मिलती है।

प्राणों का साथ छूटने पर प्राण=जड़ प्राण बेकार हो जाते हैं। पाप-भावना प्रायः मनुष्य के कर्म्मों में घुसी रहती है। हमारी प्रत्येक चाल में कुचाल होती है। संसार का व्यवहार विचित्र है। प्रायः सभी लोग अहिंसा को मुख्य धर्म्म मानते हैं, किन्तु मारक सामग्री का संग्रह भी करते हैं। पूछने पर कहते हैं—संसार में शान्ति-स्थापना करने के लिए यह अशान्ति का सामान आवश्यक है। अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए हिंसा अनिवार्य है तो अहिंसा परम धर्म्म कैसे ? फिर तो **'हिंसा तु परमो धर्म्मः'** मानना पड़ेगा। पापभाव मायी है ठग है, पुण्य का रूप धरके आता है। इसको आत्मा ही मार सकता है—**'अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः'**=सुमार्ग छोड़नेवाले, कर्म्मों में व्यापक, ठग, पापभाव को बुद्धियों से ताड़ता है। पाप को हटाने का उपाय योगदर्शन में 'प्रतिपक्षभावना' कहलाता है। **'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्'** [यो० २।३३] सूत्र के भाष्य में व्यासदेवजी लिखते हैं—

"एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत्—घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपगतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्म्मः; स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत्। यथा श्वावान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति।"

इस प्रकार उलटे मार्ग की ओर ले-जानेवाले अत्यन्त तीव्र वितर्कज्वर से पीड़ित होता हुआ उसके प्रतिपक्षों का चिन्तन करे। भयंकर संसार के अंगारों में जलते हुए मैंने सब भूतों को अभय प्रदान करनेवाले

योगधर्म्म की शरण ली है। उसको छोड़कर उन वितर्कों को फिर ग्रहण करने से 'मेरा कुत्ते का-सा स्वभाव होगा' ऐसा विचारे। जैसे कुत्ता वमन किये पदार्थ को चाटता है, छोड़े हुए को फिर ग्रहण करनेवाला भी वैसा ही है। इस तरह हिंसा, ग्रसत्य, स्तेय, व्यभिचार, ग्रहंकार, ग्रपवित्रता, ग्रसंतोष, विलास, बकवास ग्रौर नास्तिकता रूपी वितर्कों को लेकर एक-एक के दोष सोचे। विचार से ग्राचार बनता है। ग्रात्मा का काम है विचारना, ग्रतएव **'मायिनं सक्षदिन्द्रः'**=कुटिल पाप-भावना को ग्रात्मा ही ताड़ता है।

१२०. बलवान् भगवान् से बल पाकर आत्मा अन्धकार का नाश करता है

ओ३म् । उद्यत्सहः सहस आजनिष्ट देदिष्ट इन्द्र इन्द्रियाणि विश्वा ।
प्राचोदयत्सुदुघा वव्रे अन्तर्वि ज्योतिषा संववृत्वत्तमोऽवः ॥

—ऋ० ५।३१।३

शब्दार्थ—इन्द्रः आत्मा **सहसः** महान् बलवान् भगवान् से **यत्** जो **सहः** बल **उत्+आजनिष्ट** उत्पन्न करता है उससे **विश्वा** सम्पूर्ण **इन्द्रियाणि** इन्द्रियों को, आत्मा की शक्तियों को **देदिष्टे** दिशा दिखलाता है और उनको **प्राचोदयत्** उत्तम प्रेरणा करता है, कार्य्य में प्रवृत्त करता है तथा **सुदुघा** उत्तम फल देनेवाली क्रियाओं को **वव्रे** स्वीकार करता । हे आत्मन् ! **अन्तः** भीतर, अपने अन्दर विद्यमान **संववृत्वत्** प्रबलरूप से ढकनेवाले **तमः** अन्धकार को **ज्योतिषा** प्रकाश से **वि+अवः** विशेष रूप से हटा ।

व्याख्या—बल के लिए जब बलपति की शरण में जाकर आत्मा बल पाता है, तब—**'देदिष्टे इन्द्र इन्द्रियाणि विश्वा'**=सभी इन्द्रियों को उपदेश करता है अर्थात् मानो वह इन्द्रियों से कहता है कि यह बल मेरा नहीं है, वरन् महान् भगवान् का है ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः [य० २५।१३]—जो जीवनदाता और बलप्रदाता है, सभी जिसकी उपासना करते हैं, विद्वान् लोग जिसके आदेश का पालन करते हैं ।

बलप्रदाता की सभी उपासना करेंगे ही, क्योंकि—

"बलं वाव विज्ञानाद्भूयः, अपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवति, अथोत्थाता भवति । उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति । परिचरन्नुपसत्ता भवति । उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्त्ता भवति, विज्ञाता भवति । बलेन वै पृथिवी तिष्ठति, बलेनान्तरिक्षं, बलेन द्यौः, बलेन पर्वताः, बलेन देवमनुष्याः, बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकं, बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्स्व ।

—छान्दोग्योपनिषत् ७।८।१

सचमुच बल विज्ञान से बड़ा है। सैकड़ों विज्ञानियों को एक बलवान् कँपा देता है। जब बलवान् होता है, तो उत्साही होता है। उत्साही होने से सेवा करता है। सेवा करने से समीपता लाभ करता है। समीपता प्राप्त करने में देखता, सुनता, विचारता है तथा ज्ञाता और कर्त्ता बनता है। बल के सहारे ही पृथिवी ठहरी है, बल के सहारे अन्तरिक्ष, बल के आधार पर द्यौ, बल पर ही पर्वत, बल पर ही विद्वान् तथा सामान्य मनुष्य, बल के सहारे ही पशु-पक्षी, घास-पात, हिंसक, कीट, पतंग, पिपीलिका और बल के आधार पर संसार ठहरा है, अतः बल की उपासना कर।

किसी गुरु आदि से कुछ प्राप्त करना हो, तो गुरु की सेवा, शुश्रूषा, परिचर्य्या करनी होती है। निर्बल मनुष्य में सेवा-सामर्थ्य भी नहीं होता, वह सेवा के मेवा से वञ्चित रहता है, अतः बल प्राप्त करना चाहिए।

बल का परम धाम ब्रह्म है, अतः **'बलमुपास्स्व'** का अन्तिम भाव है—बलप्रदाता ब्रह्म की उपासना करो। बल पाकर **'देदिष्टे इन्द्र इन्द्रियाणि विश्वा'**=आत्मा सभी इन्द्रियों को दिशा दिखाता है अर्थात् जिधर चाहता है, इन्द्रियों को ले जाता है। निर्बल को इन्द्रियाँ घसीटती रहती हैं। बली बनकर

आत्मा उनके बुरे मार्ग में नहीं चलता। वरन्—**प्रचोदयत्सुदुघा ववे'**—उन्हें उत्तम प्रेरणा करता है और उत्तम फलप्रदायी क्रियाओं को स्वीकार करता है, पसन्द करता है अर्थात् भगवान् से बल पाकर मनुष्य उत्तमोत्तम कार्य्यों को करे और अन्त में—**'अन्तर्वि ज्योतिषा संववृत्वत्तमोऽवः'**=अन्दर फैले अन्धकार को प्रकाश से दूर करे। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य ही प्रकाश-प्राप्ति है, तभी तो हम सन्ध्या में प्रतिदिन पढ़ते हैं—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

हम अन्धकार का परित्याग करते हुए, उससे श्रेष्ठ ज्योति को प्राप्त करते हुए प्रकाशकों के प्रकाशक विश्वात्मा-रूप उत्तम प्रकाश को प्राप्त करें। प्रकाश बहुत बड़ा बल है। अन्धकार में मनुष्य को भय लगता है, प्रकाश में वह निर्भय रहता है, अतः प्रकाश बल है। प्रकाशों में ज्ञान-प्रकाश श्रेष्ठ है, और ज्ञान-प्रकाशों में आत्मज्ञानज्योति श्रेष्ठ है। मनुष्य शरीर-दृष्टि से कैसा ही बलवान् क्यों न हो, यदि उसमें ज्ञानबल नहीं, तो वह सचमुच निर्बल है। हाथी एवं सिंह जैसे महाबली पशुओं से मनुष्य अपने ज्ञानबल द्वारा यथेष्ट कार्य लेता है, खेल तक कराता है। इसी भाँति आत्मज्ञानबल का बली लाखों मनुष्यों को अपने पीछे लगा लेता है। भाव यह कि मनुष्य सब प्रकार के बलों का संचय करे और उसके लिए बलधाम भगवान् के शरण में जाए।

१२१. जो तुझे चाहते हैं वे ही तृप्त होते हैं

ओ३म् । ये चाकनंन्त चाकनंन्त नू ते मर्त्तां अमृत मो ते अंह आरंन् ।
वावन्धि यज्यूँरुत तेषुं धेह्योजो जनेषु येषुं ते स्याम ॥ —ऋ० ५।३१।१३

शब्दार्थ— हे **अमत** जीवनाधार प्रभो ! **ये** जो **चाकनन्त** तुझे चाहते हैं **ते मर्त्ता** वे मनुष्य **नू** ही **चाकनन्त** सदा तृप्त होते हैं । **ते** वे **अंहः** दोष को **मो** मत **आरन्** प्राप्त हों । तू ऐसे **यज्यून्** याज्ञिकों को, भक्तों को, **वावन्धि** चाह, सम्मानित कर । **उत** और **तेषु** उन **जनेषु** जनों में **ओजः** ओज, शक्ति **धेहि** दे, डाल, **येषु** जिनमें [सम्मिलित होकर] हम **ते** तेरे **स्याम** हों, हो जाएँ ।

व्याख्या—दीनबन्धो करुणासिन्धो ! संसार के समस्त पदार्थ देख लिये । किसी में नितान्त और स्थिर रस नहीं है । मुझे तेरे प्यारों ने बताया है, **रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति** [तै० २।७]—मनुष्य रस प्राप्त करके आनन्दमग्न हो जाता है । वह रस मैं कहाँ पाऊँ ? उन्हीं तेरे प्यारों ने बताया—**रसो वै सः** [तै० २।७] वह परमात्मा ही रस है । प्राण से प्यारे, प्राण के भी प्राण ! तू रस, और मैं नीरस ! यह क्या बात है ? मुझे रस चाहिए रस । क्या कहते हो ? **'ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते'** जो चाहते हैं, वे ही तृप्त होते हैं । तो क्या मेरे अन्दर चाह नहीं ? नहीं । क्योंकि—**'ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते'** जो चाहते हैं वे ही चाहते हैं । मैं चाह तो रहा हूँ, किन्तु संसार को । कृपा करके संसार की चाह मिटा । प्रभो ! **'चाह गई, चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह ।'** संसार की सब कामना समाप्त कर दी है । नहीं ! तूने मन को बेपरवाह कर दिया है । मन को मेरी चाह में लगा और फिर रस पा ।

प्रभो ! अच्छा ! मेरा एक विनय सुन—**'मो ते अंह आरन्'** वे तेरे अभिलाषी पाप को प्राप्त न हों । पाप का फल दुःख होता है । प्रभो ! उनके दुःखमूल का उन्मूलन कर । प्रभो ! और भी—**'वावन्धि यज्यून्'** ऐसे भक्तों को बाँध रख, तू भी इनको चाह । वे तेरा संग न छोड़ें । तेरे मार्ग से न बिदकें । तू भी उन्हें चाह । तेरे प्रेम से बँधे वे पाप से बचे रहेंगे । अन्त में प्रभो ! एक स्वार्थ भी—**'तेषु धेह्योजो जनेषु येषु ते स्याम'**=शक्ति उनको देना, जिनमें जाकर हम तेरे हो जाएँ । अमृत ! जीवनाधार ! मेरी कामना है कि मैं तेरा बन जाऊँ, तुझे ही ध्याऊँ, तेरा ही यश गाऊँ, अतः प्रभो ! उनको अवश्य बल दे, जो मुझे तेरा बना दें । तेरा तो व्रत ही है शरणागत की लाज रखना ।

१२२. दिन-रात सोम-सवनवाला द्युमान्

ओ३म् । यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह ।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः ॥—ऋ० ५।३४।३

शब्दार्थ—यः जो मनुष्य **अस्मै** इस आत्मा के लिए **घ्रंसे** दिन में **सोमम्** सोम को **सुनोति** कूटता है, तैयार करता है **उत वा** अथवा **यः** जो **ऊधनि** रात्रि में, सोम निष्पादन करता है, वह **द्युमान्+अह** तेजस्वी ही **भवति** होता है । **यः** जो **शक्रः** समर्थ **मघवा** धनवान् **कवासखः** ज्ञानी मित्रोंवाला **ततनुष्टिम्** विस्तार को और **तनूशुभ्रम्** शरीर की शुद्धि को **ऊहति** विचारता है, वह **अप+अप** दुःख से अत्यन्त दूर रहता है ।

अथवा **यः** जो **मघवा** धनवान् तथा **कवासखः** ज्ञानियों का मित्र है, वह **शक्रः** शक्तिशाली **ततनुष्टिम्** विस्तार को तथा **तनूशुभ्रम्** शरीर-शुद्धि-मात्र को **अप+अप+ऊहति** अत्यन्त बुरा मानता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में दिन-रात सोम-निष्पादन करने का बहुत बड़ा माहात्म्य दिखाया है । जो दिन-रात **'सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह'**=सोम-सम्पादन करता है, वह तेजस्वी होता ही है । आत्मा के लिए जो दिन-रात शान्ति के उपाय करने में लगा रहता है, वह तेजस्वी अवश्य होता है । अशान्त मन चञ्चल होता है । चञ्चल होने के कारण उसकी शक्ति बिखरी रहती है, किसी एक केन्द्र पर केन्द्रित न होने से उसकी शक्ति का पूरा पता नहीं चलता । जब कोई मन को किसी एक केन्द्र पर केन्द्रित करने में सफल हो जाता है, तब उसका मुख सुदीप्त होने लगता है । वायुसमान निरन्तर चञ्चल मन को वश में करने के लिए थोड़ा बल नहीं चाहिए, वरन् बहुत बल चाहिए । ऐसे महाबल को वेद की परिभाषा में 'शक्र' कहते हैं । सोमपान करने से आत्मा शरीर की चिन्ता और संसार-व्यापार से ऊब जाता है । अतः—**'अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रम्'**=शक्र संसार-विस्तार के तथा शरीरशुद्धि मात्र के विचार को दूर—बहुत दूर—भगा देता है ।

प्रातःकाल स्नान करता है, मल-मलकर देह को माँजता है, धोता है, किन्तु थोड़ी देर बाद फिर देह मलिन प्रतीत होने लगती है । देह की इस मलिनता को देखकर वह शरीरशुद्धिमात्र को तुच्छ समझता है । बिज्जू नाम का पशु अपना स्थान अत्यन्त स्वच्छ रखता है, इतना कि यदि उसके भठ के पास मलमूत्र फेंक दिया जाए, तो वह स्थान छोड़ देता है । बाहर से इतना स्वच्छ रहनेवाला बिज्जू खाता है मुरदे । बताओ, बाहर की सफाई से क्या बना ? अतः केवल शरीरशुद्धि ऐसे ज्ञानी के जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता । उसके जीवन का लक्ष्य बहुत ऊँचा होता है । दिन-रात सोमसम्पादन करने का फल द्युमान्=तेजस्वी होना बतलाया है । शरीरशुद्धिमात्र से तेज नहीं आता । सोमपान से तेज आता है, जैसा कि वेद [ऋ० ८।४८।३] में कहा—**'अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्'**=हमने सोमपान किया और हम अमृत हो गये, प्रकाश मिला और मिले दिव्य गुण । प्रकाश के बिना तेज कहाँ ? सोमपान से जीवन्मुक्ति मिलती है । मुक्ति का अभिलाषी तो काया को बह्वपाय मानता है, वह उसकी चिन्ता में क्यों रहेगा ?

१२३. उद्योगरहित मनुष्य हानि उठाता है

ओ३म् । न पञ्चभिर्दशभिर्वष्ट्यारभं नासुन्वता सचते पुष्यता चन ।
जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा देवयुं भजति गोमति व्रजे ॥

—ऋ० ५।३४।५

शब्दार्थ—जो **असुन्वता** पुरुषार्थहीनता से **पञ्चभिः** पाँच इन्द्रियों के द्वारा **दशभिः** दशों प्राणों के द्वारा **आरभम्** कार्य्य का आरम्भ **न** नहीं **वष्टि** चाहता है वह **पुष्यता+चन** फूलने-फलने के साथ भी **न** नहीं **सचते** मिलता, वरन् वह **जिनाति** हानि उठाता है, अपमानित होता है । **वा** और **धुनिः** हलचल करनेवाला **अमुया** उसे **हन्ति+इत्** मार ही देता है **वा** और **देवयुम्** देवाभिलाषी को **गोमति** गौओंवाले **व्रजे** बाड़े में **भजति** पहुँचाता है ।

व्याख्या—भगवान् ने यह संसार इसलिए रचा है कि जीव पुरुषार्थ करके अपने लिए भोग और मोक्ष कमाये । धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष का ज्ञान कराने के लिए भगवान् ने वेदज्ञान प्रदान किया, साथ ही उससे कार्य्य लेने के लिए शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि साधन भी दिये । जो इन साधनों के होते पुरषार्थ नहीं करता, वेद कहता है वह—**'न सचते पुष्यता चन'**=वह फूलते-फलते के साथ नहीं मिलता, अथवा पुष्टिकारक साधन के साथ उसका मेल नहीं हो पाता । वेद में स्पष्ट उपदेश है—**'इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तम्'** [ऋ० ८।२।१८]=देव=विद्वान् या सद्गुण पुरुषार्थी को पसन्द करते हैं । आलसी को संसार में कभी सफलता नहीं मिलती । **जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिः**=वह इस आलस्य से हानि उठाता है। हलचल करनेवाला (agitator) उसे मार देता है । इस भाव को दूसरे शब्दों में यों कहा है—**'न स्वप्नाय स्पृहयन्ति'** [ऋ० ८।२।१८] देव सोये रहनेवाले को, प्रमादी को नहीं चाहते । सोने से मुसाफिर को है खतरा । जो जागत है सो पावत है । इसके विपरीत जो पुरुषार्थी है, विजयाभिलाषी है उसे सब प्रकार के साधन मिल जाते हैं—**'आ देवयुं भजति गोमति व्रजे'**—देवयु=देवाभिलाषी, विजयाभिलाषी को गौओं के बाड़े में पहुँचा देता अर्थात् पुरुषार्थी को सभी पदार्थ मिल जाते हैं । पुरुषार्थ करते समय कष्ट अवश्य होता है किन्तु उसका फल मीठा होता है—**'यन्ति प्रमादमतन्द्राः'** [ऋ० ८।२।१८]=तन्द्रारहित, उद्योगी आनन्द को प्राप्त करते हैं । कहा भी तो है—**'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः'**=उद्योगी नरव्याघ्र को लक्ष्मी प्राप्त होती है । सांसारिक तुच्छ धन से लेकर मोक्षलक्ष्मी तक सभी पुरुषार्थी की वस्तुएँ हैं, अतः आलस्यादि छोड़कर उद्योग को अपनाना चाहिए ।

१२४. जीव ! तू सिद्धि क लिए पैदा हुआ है

ओ३म् । वृषा ह्यसि राधसे जज्ञिषे वृष्णि ते शवः ।
स्वक्षत्रं ते धृषन्मनः सत्राहमिन्द्र पौंस्यम् ॥ —ऋ० ५।३५।४

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** ऐश्वर्य्याभिलाषिन् जीव ! तू **हि** सचमुच **वृषा** बलवीर्य्ययुक्त, समर्थ **असि** है, तू **राधसे** सिद्धि के लिए, ऐश्वर्य्य के लिए **जज्ञिषे** उत्पन्न हुआ है, **ते** तेरा **शवः** बल **वृष्णि** सुखवर्षक है **ते** तेरा **स्वक्षत्रम्** घाव भरने का अपना सामर्थ्य है, अपनी त्रुटियों को पूरा कराने का अपना बल है । **ते** तेरा **मनः** मन **धृषत्** प्रौढ़ है और **पौंस्यम्** पुंस्त्व, शौर्य्य **सत्राहम्** सत्याचरणादि है ।

व्याख्या—संसार में प्रायः मतमतान्तर जीव को निर्बल, हीनवीर्य्य मानते हैं । वेद जीव का वास्तविक स्वरूप बताता है । निस्सन्देह भगवान् की रचना अत्यन्त अद्भुत है, परन्तु जीव की कृति भी बहुत विलक्षण है । आग जलाना, कूप खोदना, नदियों से नहरें निकालना, कृषि करना, मकान बनाना आज साधारण-से कार्य्य प्रतीत होते हैं; किन्तु सोचिए, जब पहले-पहल ये कार्य्य किये गये होंगे, तब ये कितने कष्टसाध्य, मस्तिष्क को थका देनेवाले हुए होंगे ! रेल, तार, जहाज, वायुयान, बेतार का तार, बिजली के प्रदीप, वनस्पति तैल, घृत, अन्न से भोजन पकाना, गुड़, शक्कर, खाँड, चीनी, फलों के अचार-मुरब्बे, सुवर्ण आदि धातु के आभूषण, मोटर, पैट्रोल, मिट्टी का तेल, पीतल, ताम्र आदि के पात्र, लोहा आदि के उपकरण, शस्त्र-अस्त्र तथा अन्य उपयोगी पदार्थ, विविध धातुओं के भस्म, पानी से बर्फ, सीमेंट से पत्थर बनाना आदि, कार्य्य कहाँ तक गिनाएँ ! युद्ध के उपयोगी आयुध इनसे पृथक् हैं । मनुष्य ने इतने पदार्थों की सृष्टि कर डाली है कि उसे छोटा-मोटा विधाता मानने में कोई दोष नहीं है । प्रतिदिन हमारे व्यवहार में आनेवाले विद्युत्प्रदीप आदि आज सरल प्रतीत होते हैं किन्तु इनके निर्माण में मनुष्यों को कितना परिश्रम करना पड़ा, इसकी कल्पना भी करना आज कठिन है ।

ये सारे-के-सारे पदार्थ जीव ने अपने और अपने-जैसों के सुख के लिए बनाये हैं, अतः वेद कहता है—**'हि असि वृषा'**=सचमुच तू वृषा है, सुख बरसानेवाला है । तेरा स्वभाव तो सुखी होने तथा सुखी करने का है । तू संसार के लिए सुख के साधन जुटा, सबको सुखसम्पन्न बना । यदि मनुष्य केवल अपने सुखसाधन को ही जीवन का लक्ष्य मान लेता है तो भयंकर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है । जब वह दूसरे के सुखों का भी विचार करता है तब उसका परिवार बढ़ता है और उससे उसकी समृद्धि की वृद्धि होती है । मनुष्य के लिए यह आवश्यक ही है कि वह सिद्धि के साधनों का अवलम्बन करे, क्योंकि वेद में उसे सम्बोधन करके कहा है कि तू—**'राधसे जज्ञिषे'**=सिद्धि के लिए उत्पन्न हुआ है । तुझे नरतन मिला ही इसलिए है कि तू संसार की सुख-सामग्री उत्पन्न कर और बढ़ा । पूर्वजों के बुद्धि-वैभव तथा हस्तकौशल का लाभ हमने उठाया है । हमारी सफलता इसी में है कि आगे आनेवाली सन्तान के लिए पूर्व की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति छोड़ जाएँ । मनुष्य और पशु में यह भारी भेद है, पशु में सामाजिक जीवन की झलक अवश्य होती है किन्तु जिस प्रकार मनुष्यों में एक-दूसरे के सुख-दुःख में सम्मिलित होने और सन्तान के लिए सुख-सामग्री छोड़ जाने की स्वाभाविक भावना है, पशुओं में उसका सर्वथा अभाव है ।

मनुष्य-जन्म सिद्धि के लिए हुआ है, असफलता के लिए नहीं हुआ है । वैदिक तो दृढ़ विश्वास से कहता है—**'अजैष्माद्य'** [अ० १६।६।१]=आज ही हमारा विजय है । कल तक की प्रतीक्षा सह्य नहीं है । जाने कल क्या हो जाए ? सिद्धि के लिए, कार्य्यसिद्धि के लिए, बल चाहिए । बलाभिलाषी को वेद कहता

है—**'वृष्णि ते शवः'**=तेरा बल भी प्रबल है, सुखदायी है। यदि कोई विघ्न आये तो घबराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि तेरा बल जहाँ **वृष्णि** है, वहाँ **स्वक्षत्र** अपनी त्रुटि पूरा करने में समर्थ है। तेरा मन भी **धृषत्** =प्रौढ़ है, और—**'सत्राहं पौंस्यम्'**=वीरता सदाचरण आदि है। इस अन्तिम वाक्य में जीव के सामर्थ्य का मूल बताया गया है। इसे कभी विस्मरण न करना चाहिए। सत्यस्वरूप आत्मा यदि सत्य से विरहित हो जाता है, तो अपने स्वरूप का आप विघात करता है। सत्य से भ्रष्ट होने पर पापसर्प उसे डस लेता है, और उसकी आत्मिक मृत्यु हो जाती है। जिस लक्ष्य के लिए जीव जगत् में आया था, उससे वञ्चित हो जाया करता है। कितने हैं जिन्हें तत्त्व का ज्ञान है!

१२५. सब काव्य-वचन उसी के लिए.

ओ३म् । अस्मा इत्काव्यं वचं उक्थमिन्द्राय शंस्यम् ।
तस्मा उ ब्रह्मवाहसे गिरो वर्धन्त्यत्रयो गिरः शुम्भन्त्यत्रयः ॥

—ऋ० ५।३६।५

शब्दार्थ—अस्मै इस **इन्द्राय** इन्द्र के लिए **इत्** ही **काव्यम्** कवियों का कमनीय **उक्थम्** प्रशस्त तथा **शंस्यम्** प्रशंसनीय **वचः** वचन है। **तस्मै+उ** उस ही **ब्रह्मवाहसे** ब्रह्मधारक, वेदधारक, ब्रह्मनिष्ठ के लिए **अत्रयः** त्रिदोषरहित, मिथ्या-परुष-असम्बद्ध दोषों से शून्य **गिरः** वाणियाँ **वर्धन्ति** बढ़ती हैं और **अत्रयः** भोजनसामग्री देनेवाली **गिरः** वाणियाँ **शुम्भन्ति** शुभाचरण कराती हैं।

व्याख्या—वेद काव्य है। भगवान् को **'कविर्मनीषी'** [य० ४०।८] बुद्धिमान् कवि कहा गया है। उसके दो काव्य हैं : एक वेद, जो वचः=वचनात्मक है, दूसरा उसकी कृति जगत्। ये दोनों ही **अस्मै इत् इन्द्राय** इसी जीव के लिए हैं। यह काव्य **'वचः'** वेदवचन **'उक्थ'** कहने योग्य है अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने योग्य है। यह **'शंस्यम्'** प्रशंसा के योग्य है। जो इस उक्थ, शंस्य काव्य=वचन को आत्मसात् कर लेता है, अपना जीवन उसके अनुसार बना लेता है—**'तस्मा उ ब्रह्मवाहसे गिरो वर्धन्त्यत्रयः'**=उस ब्रह्मधारक, ब्रह्मनिष्ठ, वेदानुयायी के लिए ही त्रिदोषरहित वाणियाँ बढ़ती हैं। वेद सब वाणियों का मूल है, सबसे पहले वेद ही मनुष्य को प्राप्त हुआ। वेद द्वारा ही वाणी तथा ज्ञान संसार में फैले। जिसने समस्त वाणियों के मूल पर अपना अधिकार कर लिया, समस्त संसार की स्तुतियों का वह अधिकारी हो जाता है। लोग उसकी महिमा का बखान करने के लिए नित्य नये-नये काव्य रचते हैं। दूर-दूर तक उसकी कीर्ति का कीर्त्तन करते हैं। आस्तिकों की वाणी में भी कभी-कभी तीन—अनृत, कठोर तथा अप्रासङ्गिक भाषणरूप—दोष आ जाया करते हैं, किन्तु ब्रह्मनिष्ठों की सच्ची स्तुतियाँ की जाती हैं। वेदवाणियाँ—अत्रयः—त्रिदोषरहिता होती हैं। उनकी कोरी प्रशंसा ही नहीं होती, वरन् उन्हें अन्नादि खाद्यसामग्री की कमी भी नहीं रहती।

जिनके पास ज्ञान की खान हो, वह उसके द्वारा धन-धान्य अर्जन कर सकता है। यह ठीक है, ब्रह्मवित् महात्मा धन में आसक्त नहीं होता, धन को—प्राकृतिक धन-सम्पत्ति को—अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाता; वह ब्रह्म को ही परम धन मानता है। उसको यदि ब्रह्मधन तथा लोकधन दो में से चुनने को कहा जाए, तो निस्सन्देह वह ब्रह्मधन का वरण करेगा। किन्तु उसे यह भी ज्ञान है कि यह सम्पूर्ण ऐश्वर्य भी उसी के लिए है। शरीरयात्रा के लिए सांसारिक धन की अपेक्षा होती है, अतः वह उसकी उपेक्षा नहीं करता। यह ठीक है वह उसके पीछे भागता भी नहीं है। इस बात को कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि वेद सरस्वती और लक्ष्मी का विरोध नहीं मानता। इस मन्त्र में भी उसकी ओर संकेत है।

१२६. किनका धन भाग्यवान् ?

ओ३म् । तवो॒तिभि॒: सच॑माना॒ अरि॑ष्टा॒ बृह॑स्पते म॒घवा॑नः सु॒वीरा॑: ।
ये अ॑श्व॒दा उ॒त वा॒ सन्ति॒ गो॒दा ये व॑स्त्र॒दाः सु॒भगा॒स्तेषु॒ राय॑: ।।

—ऋ० ५।४२।८

शब्दार्थ—हे **बृहस्पते** रत्नधातः, धनदातः, सबसे महान् **तव** तेरी **ऊतिभिः** कृपाओं से **सचमानाः** युक्त होते हुए, **ये** जो **अरिष्टाः** विघ्नबाधारहित, हिंसारहित **सुवीराः** सुवीर **मघवानाः** धनी **अश्वदाः** घोड़ों के दाता **उत वा** अथवा **ये** जो **गोदाः** सुशिक्षित वाणी व गौओं के देनेवाले **वस्त्रदाः** वस्त्रों के दानी **सन्ति** हैं **रायः** धन **तेषु** उनमें **सुभगाः** सुन्दर, भाग्यवान्, सफल हैं ।

व्याख्या—निस्सन्देह मनुष्य के पास जो धनसम्पत्ति आदि है, उसके दाता भगवान् ही हैं । बृहस्पति का अर्थ है बड़ों का पालक । संसार में दो प्रकार के बड़े होते हैं : एक सदाचार, विद्यादि सद्‌गुणों के कारण बड़े होते हैं, दूसरे धन, ऐश्वर्य्य, राज्य आदि से बड़े कहलाते हैं । भगवान् दोनों प्रकार के बड़ों का पालक है । सम्पूर्ण धनों का निर्माता तथा दाता वही है । जैसा कि ऋग्वेद [५।४२।७] में कहा है—**उप स्तुहि प्रथमं रत्नधेयं बृहस्पतिं सनितारं धनानाम्**=उसी बृहस्पति की स्तुति कर, जो सबसे पहला, प्रधान रत्ननिर्माता तथा धनों का दाता, संविभाजक है । संसार में हम देखते हैं, जो दानी हैं, उनका परस्पर प्रेम होता है । जो सचमुच विद्वान् हैं, वे परस्पर अतीव प्रीतिमान् होते हैं । तात्पर्य यह कि समान गुणकर्म्मस्वभाव प्रीति तथा स्नेह के उत्पादक हैं । भगवान् धनदाता है, उचित रीति से धन का संविभाग, पात्रापात्र का विवेक करके यथायोग्य दान करता है, इसी से भगवान् का ऐश्वर्य्य सफल है । इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान् के इस महान् दान को देखकर तदनुसार पात्रों को उनकी अपेक्षित सामग्री देता है, निःसंशय उसे भगवान् की रक्षा तथा प्रीति प्राप्त होती है ।

कोई-कोई कहेंगे, हम कर्म्म करते हैं, भगवान् फल देते हैं, इसमें भगवान् का क्या दान ? उन्हें छोटा-सा उत्तर है, यदि वे आपके कर्म्म का फल न दें, उलटा दें तो आप क्या कर सकते हैं ? अरे ! कर्म्मानुसार फ़ल देना भगवान् का महान् दान है । वह देता ही है न, लेता तो कुछ नहीं ? तुम जो सुकर्म्म करते हो, उससे भगवान् को क्या लाभ ? तुम्हारे दुष्कर्म्म से भगवान् की क्या हानि ? तुम्हारे सुकर्म्म-दुष्कर्म्म उसका कुछ संवारते-बिगाड़ते नहीं, अतः उसका तुम्हारे कर्म्मों के अनुसार फल देना प्रत्युपकार नहीं, प्रत्युपकार तो तब होता जब तुम्हारे किसी कर्म्म से उसका उपकार होता और वह उसके बदले में तुम्हारा उद्धार करता । भगवान् स्वभाव से न्यायकारी और दयालु है; अतः वह—**'यः शंसते स्तुवते शम्भविष्ठः'** [ऋ० ५।४२।७]—स्तुति-प्रार्थना करनेवाले के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है । इतना ही नहीं, वरन् वह—**'पुरूवसुरागमज्जोहुवानम्'** [ऋ० ५।४२।७]—महाधनी बार-बार पुकारनेवाले के पास आ जाता है ।

भगवान् को अपने धन का अभिमान नहीं है; जो उसे बुलाता है, भगवान् उसके पास पहुँच जाता है । धन के अभिलाषियो ! उसे पुकारो, वह **पुरूवसु** है । अश्वदान, गोदान, वस्त्रदान, सभी दानों के उपलक्षण हैं । दूध-दही की प्राप्ति के साधन, यातायात का सामान तथा तन ढकने की सामग्री देना जीवन की रक्षा करना है, अतः इनका नाम लिया । ऐसे दानियों के पास रहनेवाला धनैश्वर्य्य है । शेष तो काष्ठ, लोष्ठ समान है ।

१२७. तुच्छ कामनावाले को अधिकार-भ्रष्ट करो

ओ३म् । य ओहते रक्षसो देववीतावचक्रेभिस्तं मरुतो नि यात ।
यो वः शमीं शशमानस्य निन्दात् तुच्छ्यान् कामान् करते सिष्विदानः ॥
—ऋ० ५।४२।१०

शब्दार्थ—**यः** जो **देववीतौ** देवप्राप्ति के कार्य्य में **रक्षसः** राक्षसों को, दुष्टभावों को, अनुष्ठान-विघ्नों को **ओहते** लाता है, अथवा **यः** जो **वः** तुम में से **शशमानस्य** निरन्तर शान्ति का अनुष्ठान करनेवाले के **शमीम्** शान्तिकारक कर्म्म की **निन्दात्** निन्दा करे, और **सिष्विदानः** निरन्तर स्नेह करनेवाला बनकर **तुच्छ्यान्** तुच्छ पुरुषों की **कामान्** कामनाओं को **करते** करता है, हे **मरुतः** मरुतो ! **तम्** उसको **अचक्रेभिः** चक्रशून्य दण्डों के द्वारा **नि+यात्** निकाल दो ।

व्याख्या—रक्षसः='राक्षस' का अर्थ है जिससे अपना बचाव किया जाए अर्थात् जो विघ्न अथवा विघ्नकारी हैं, चाहे वे भाव हों, कर्म्म हों, मनुष्य हों, कीट-पतंग आदि कोई हों, सभी राक्षस हैं। मनुष्य-समाज की रक्षा के लिए जो मरने-मारने को तत्पर हों, उन्हें 'मरुत्' कहते हैं। दूसरे शब्दों में समाज से विघ्नों का नाश करके शान्ति, समता स्थापित रखनेवालों को 'मरुत्' कहते हैं। इस मन्त्र में मरुतों को प्रेरणा की गई है कि वे उस मनुष्य को निकाल बाहर करें, कि—

१. **य ओहते रक्षसो देववीतौ**—जो भगवान् की प्राप्ति के कार्य्य में, अथवा शुभकार्य्यों में राक्षसों को लाता है। शुभकर्म्म करना, भगवान् की भक्ति करना, ये मनुष्य-जन्म की सफलता के साधन हैं। जो मनुष्य इन शुभकर्म्मों में विघ्न डालना चाहता है, विघ्नकारियों को लाना चाहता है, उसे बाहर कर देना चाहिए। समाज का आधार ही शुभ-गुण-प्राप्ति है। जो उसमें विघ्न डालता है, वह समाज का शत्रु है। ऐसे राक्षस-सहायक से समाज की रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

२. **यो वः शमीं शशमानस्य निन्दात्**—जो तुममें से शान्तिकारक कर्म्मों के करनेवाले के शान्ति-दायक कर्म्मों की निन्दा करे। सम्पूर्ण प्राणियों का यत्न सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए है। वे वास्तव में धन्य हैं जो मनुष्यों को सुखशान्ति पहुँचाने के साधनों का संविधान करते हैं। मनुष्य-समाज के ये महोपकारक वास्तव में समाज का आधार हैं। किन्तु संसार में ऐसे भद्र मनुष्य भी हैं जिन्हें दूसरों की सुख-शान्ति देखकर ईर्ष्या और मत्सर घेर लेते हैं। वे उनकी प्रशंसा को सुन नहीं सकते, सहन नहीं कर सकते। वे स्वयं चूँकि भले कार्य्य करके प्रशंसा प्राप्त नहीं कर सकते, अतः जलन के मारे वे ऐसे शुभकर्म्मा लोगों के कर्म्मों की निन्दा करते रहते हैं और इस प्रकार अपने हृदय की जलन बुझाना चाहते हैं, जो उल्टा और बढ़ जाती है। ऐसे निन्दक, शान्ति भङ्ग करनेवालों को भी समाज से बाहर कर देना चाहिए। और—

३. **तुच्छ्यान् कामान् करते सिष्विदानः**—जो बार-बार प्रेम करता हुआ तुच्छों की कामनाएँ करता है। खाना-पीना, भोग आदि तो पशुओं में भी है। मनुष्य तन-पाकर भी यदि ऐसी ही हीन कामनाओं के चक्कर में मनुष्य पड़ा रहा तो वह मनुष्य कैसा ? उसे तो भगवान् भी मनुष्य-शरीर न देंगे। ऐसे हीन भावोंवाले लोग मनुष्य-समाज में हीनभावों का प्रचार करके मनुष्य-समाज के पतन का कारण बनते हैं। ऐसों से मनुष्य-समाज की हर प्रकार रक्षा करनी चाहिए, ये लोग राक्षस हैं। **'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'**

=जिनका स्वभाव एक-सा है अथवा जिनपर एक-जैसी विपत्ति हो, वे मित्र बन जाते हैं। इसी नीतिवाक्य के अनुसार जो किसी कार्य्य में विघ्नकारियों=राक्षसों की सहायता करता है, वह भी राक्षस ही है। इस दृष्टि से मन्त्र पर विचार किया जाए तो राक्षसों का स्वरूप स्पष्ट समझ में आ जाता है। किसी भी कार्य्य में विघ्न करनेवाला पदार्थ राक्षस है, चाहे वह चेतन हो अथवा अचेतन।

१२८. जैसा देखा जाता है वैसा कहा जाता है

ओ३म् । यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा ।
महीमस्मभ्यमुरुषामुरु ज्रयो बृहत्सुवीरमनपच्युतं सहः ॥ —ऋ० ५।४४।६

शब्दार्थ—उन लोगों से **यादृग्+एव** जैसा ही **ददृशे** देखा जाता है **तादृग्** वैसा **उच्यते** कहा जाता है, जो **ज्रयः** वेगवान् मनुष्य **अप्सु** कर्म्मों **में सिध्रया** सरल, मङ्गलमयी **छायया** छाया के साथ **अस्मभ्यम्** हमारे लिए **महीम्** बहुत बड़ी **उरुषाम्** अति आदर करनेवाली वाणी तथा **उरु** विशाल **बृहत्** महान् **सुवीरम्** शोभन वीरोंवाला तथा **अनपच्युतम्** क्षीण **न** होनेवाला **सहः** बल **आ+सं+दधिरे** धारण करते हैं ।

व्याख्या—विद्वान् धार्मिक सज्जनों की शक्ति मानो छाया बनकर उसके कर्म्मों में विराजती है—**'सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा······सहः'**—वे मङ्गलमयी छाया के साथ, कर्म्मों में शक्ति को धारण करते हैं । ऐसे महापुरुषों के कर्म्मों में बल होता है, उनके वचन में शक्ति होती है । **अमोघास्य वाग्भवति**= इसकी वाणी अवश्य सफल होती है । जिनकी वाणी में इतना बल हो, उनकी क्रिया में आकर्षण-शक्ति का क्या कहना ? किन्तु इनके इस अवर्णनीय बल के साथ इनकी शान्तिदायिनी छाया=छवि भी होती है अर्थात् इनकी प्रत्येक क्रिया पर शान्ति की, मङ्गल की छाप होती है, क्योंकि इनकी वाणी तथा बल **'अस्मभ्यम्'** हमारे लिए होता है । स्वार्थ छोड़कर, लोकोपकार की भावना से प्रेरित होकर जो अपना सारा बल, पराक्रम, तन, मन, धन, जनसेवा में अर्पण कर देते हैं, उनके कर्म्म लोकहित की भावना से प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं, अतः वे **'सिध्रया छायया'** मङ्गलमयी छाया साथ लिये होते हैं ।

जो लोकहित में प्रवृत्त होते हैं, लोक भी उनका साथ देते हैं, अतएव उनका **सहः**=बल **'उरु बृहत् सुवीरमनपच्युतम्'**—विशाल, महान्, सुवीर और क्षीण न होनेवाला होता है । दिन-दिन इनके साथियों की संख्या बढ़ती जाती है, अतः इनका बल उरु और विशाल होता है; उत्तम, श्रेष्ठ, सज्जन, वीर पुरुषों के सहयोग से वह सुवीर और अतएव **अनपच्युत**=क्षीण न होनेवाला होता है । इसका मूल कारण यह है कि—**यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते'**=जैसा दीखता है, वैसा कहा जाता है । ये सत्य के धनी होते हैं; केवल सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास नहीं कर लेते, अपितु बात की तह तक पहुँचकर उसकी यथार्थता जानने का यत्न करते हैं । इतने अनुसन्धान पर जैसी प्रतीति होती है, वैसा कहते हैं । सत्य का स्वरूप भी सुझा दिया गया है । जो मनुष्य सत्य बोलना चाहे, उसे पहले सत्य का ज्ञान भी करना चाहिए । ज्ञान यदि सत्य नहीं तो वचन कैसे सत्य होंगे ? सत्य बहुत बड़ा बल है ।

१२९. पवित्र बुद्धिवाले का मन अडोल होता है

ओ३म् । समुद्रमासामव तस्थे अग्रिमा न रिष्यति सवनं यस्मिन्नायता ।
अत्रा न हार्दि क्रवणस्य रेजते यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी ॥

—ऋ० ५।४४।९

शब्दार्थ—**समुद्रम्** समुद्र वा अन्तरिक्ष **आसाम्** इन प्रजाओं का **अग्रिमा** अगुआ **अव**+**तस्थे** होता है। इनका **सवनम्** सवन, यज्ञ **न** नहीं **रिष्यति** नष्ट होता; **यस्मिन्** जिसमें **आयता** वृद्धि है और **यत्र** जहाँ **पूतबन्धनी** पवित्रता को धारण करनेवाली **मतिः** बुद्धि **विद्यते** रहती है, **क्रवणस्य** क्रियाशील मनुष्य का **अत्र** उस विषय में **हार्दि** हृदय का भाव **न** नहीं **रेजते** काँपता, डोलता।

व्याख्या—इस मृत्तिकामयी भूमि से जलमय सागर बहुत विशाल है। सैकड़ों नदियाँ इसमें पड़ती हैं, किन्तु यह उछलता नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य इस दृष्टान्त को सामने रखता है उसका—**न रिष्यति सवनम्**—यज्ञ नष्ट नहीं होता, पुरुषार्थ अकारथ नहीं जाता। उसके सामने वृद्धि-ही-वृद्धि है। उसे किसी प्रकार की हानि की सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती। यह सब वहाँ सम्भव है—**'यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी'**—जिसमें पवित्रता से बँधी हुई बुद्धि है। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य चाहता है कि उसका उद्योग विफल न हो, उसकी क्रियाएँ सफल हों, उसे सबसे पहले बुद्धि को व्यवसायात्मिका=निश्चयात्मिका बनाने के लिए उसे पवित्र पदार्थ से बाँधना होगा। उच्छृङ्खल या अपवित्र से सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धि चञ्चल होती है, वह किसी विषय का दृढ़ निश्चय नहीं कर पाती। बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है, जैसा कि मनुजी कहते हैं—**बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति**—बुद्धि ज्ञान से पवित्र होती है। महाभारत में कहा है—**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** [गीता, ४।३८]=ज्ञान के समान इस संसार में कोई वस्तु पवित्र नहीं, अतः मनुष्य को लगातार पवित्र ज्ञान के सञ्चय में लगा रहना चाहिए।

ज्ञानार्जन के जितने साधन हैं उन सबसे लाभ उठाना चाहिए। उनमें पवित्रता के अभिलाषी के लिए वेद-शास्त्र सबसे मुख्य साधन है, अतः पवित्रता के अभिलाषी को वेद-शास्त्र का अभ्यास अवश्य और निरन्तर करना चाहिए। ज्ञान से बुद्धि को निर्मल करके जो कार्यक्षेत्र में आता है—**'अत्रा न हार्दि क्रवणस्य रेजते'**—इस संसार में उस क्रियाशील के हार्दिक भाव नहीं काँपते; अडोल रहते हैं। दुर्बलता का मूल हृदय में होता है। कार्य्यारम्भ में वा कार्य्य में किसी समय जब दिल दहल जाए तो कार्य्य बीच में ही रह जाता है। किन्तु जिसने पवित्र बुद्धि से पहले ही कार्य्यसाधकों, बाधकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका चित्त चञ्चल नहीं होता। परलोक की बात जाने दो। संसार-व्यवहार में भी सफलता प्राप्त करने के लिए बुद्धि की नितान्त आवश्यकता होती है, अतः बुद्धि की शुद्धि में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

१३०. शरीर-वर्णन

ओ३म् । इ॒दं व॑पु॒र्नि॒वच॑नं जनास॒श्चर॑न्ति॒ यन्न॒द्य॑स्त॒स्थुराप॑: ।
द्वे यदी॑ बिभृ॒तो मा॒तुर॒न्ये इ॒हेह॑ जा॒ते य॒म्या॒३ सब॑न्धू ॥

—ऋ० ५।४७।५

शब्दार्थ—**यत्** जैसे **आपः** जल **नद्यः** नदियों में **तस्थुः** रहते हैं, ऐसे **जनासः** लोग **इदम्** इस **निवचनम्** विशेष प्रशंसनीय **वपुः** शरीर में **चरन्ति** विचरते हैं । **इह**+**इह** यहीं ही **सबन्धू** समानबन्धु **यम्या** जोड़िये **जाते** उत्पन्न हुए **मातुः** माता से **अन्ये** भिन्न **द्वे** दो **यत्** जिसको **बिभृतः**+**ईम्** धारण करते हैं ।

व्याख्या—'नदी' यहाँ उपलक्षण है समस्त जलाशयों का । जिस प्रकार जल जलाशयों में रहता है, ऐसे ही आत्मा इस शरीर में रहता है, विचरता है । यह शरीर 'निवचन' है । यह शरीर, विशेषकर मनुष्य-शरीर बहुत प्रशंसनीय है । वेद में इसे रथ, कलश, अपराजिता नगरी, अयोध्या, देवपुरी, ब्रह्मपुरी, नौका आदि विविध नामों से पुकारा गया है । ऐतरेय-उपनिषद् में इस शरीर की महिमा एक कथानक के द्वारा वर्णन की गई है । वहाँ कहा गया है कि आत्मा के आगे गौ-आदि पशुओं के शरीर लाये गये, आत्मा को वे पसन्द न आये । जब इसके सामने मानव-देह लाया गया तो आत्मा प्रसन्न हो उठा और कहने लगा **'सुकृतं बत इति'**=यह बहुत अच्छा बना है । निस्सन्देह मानव-शरीर बहुत उत्तम और अद्भुत है । सब इन्द्रियाँ यथायोग्य स्थान पर हैं । मानव-शरीर में एक ऐसी इन्द्रिय है जो अन्य पशु-आदिक के पास नहीं है, वह है वागिन्द्रिय, जिससे मनुष्य अपने मनोगत-भाव दूसरों पर व्यक्त कर सकता है । इस वागिन्द्रिय के कारण मनुष्य **'व्यक्तवाक्'** कहलाता है । दूसरे पशुओं को **'अव्यक्तवाक्'** कहते हैं । यह अपने दुःख-सुख की कहानी कह सकता है, दूसरे पशु नहीं ।

इसी शरीर में प्रकृति माता की दो सन्तानें रहती हैं जो एक-दूसरे से भिन्न हैं और इस शरीर को धारण कर रही हैं । देखिए—ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, दोनों प्रकृति-माता की वर सन्तानें हैं। दोनों का स्वभाव एक-दूसरे से भिन्न है । एक—ज्ञानेन्द्रियवर्ग—बाहर का ज्ञान अन्दर पहुँचा रहा है । दूसरा—कर्मेन्द्रियवर्ग—अन्दर के भावों को बाहर प्रकट कर रहा है । हैं ये दोनों सबन्धू । आत्मा ही इनका बन्धु है और ये जोड़िये हैं । शरीर में आत्मा के प्रवेश के साथ ही इनकी रचना आरम्भ हो जाती है और जब माता के गर्भ से शरीर बाहर आता है तो शरीर में ये दोनों प्रकार के इन्द्रिय उपस्थित होते हैं, अतः वेद इन्हें **यम्या**=जोड़िये कहता है । इसी प्रकार प्राण और अपान एक वायुमाता के दो सन्तान इस देह में कार्य कर रहे हैं । एक बाहर से अन्दर जा रहा है, एक अन्दर से बाहर आ रहा है । ये भी उसी प्रकार सबन्धू और यम्य हैं । ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी शरीर का धारण कर रहे हैं । इसी शरीर में पाप-पुण्य कर्म्म किये जाते हैं । दोनों की माता आकूति=संकल्प=इरादा है । दोनों का परिणाम भिन्न-भिन्न है । इस प्रकार विचारने से सिद्ध होता है कि और भी कई जोड़िये यहाँ काम कर रहे हैं, विस्तार-भय से उनकी यहाँ चर्चा नहीं करते ।

१३१. माताएँ सन्तान के ज्ञान-कर्म्म-वस्त्र का विस्तार करें

ओ३म्। वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।
उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ॥ —ऋ० ५।४७।६

शब्दार्थ—मातरः माताएँ **अस्मै** इस पुत्र के लिए **धियः** बुद्धियों तथा **अपांसि** कर्मों को **वि+तन्वते** विस्तृत करती हैं और **पुत्राय** सन्तान के लिए **वस्त्रा** वस्त्र **वयन्ति** बुनती हैं। **वध्वः** वधुएँ **मोदमानाः** प्रसन्न होती हुई **उपप्रक्षे** सम्पर्क के निमित्त **दिवः+पथा** ज्ञान के मार्ग से **वृषणः** वीर्य्य-सेचन-समर्थ पुरुषों को **अच्छ** भली-भाँति **यन्ति** प्राप्त होती हैं। अथवा **वध्वः** वधुएँ **उपप्रक्षे** सम्बन्ध के निमित्त **मोदमानाः** आनन्द मनाती हुईं **वषणः** वीर्य्यवान् पुरुषों को **दिवः** चाहती हुईं **पथा** धर्म्ममार्ग से **अच्छ+यन्ति** ठीक प्रकार प्राप्त होती हैं।

व्याख्या—सन्तान जो कुछ है वह प्रायः मातापिता के आचार-विचार, व्यवहार-आहार तथा संस्कार का प्रतिबिम्ब है। माता-पिता के आचार-विचार का संस्कार बालक पर अवश्य पड़ता है, और उनमें से भी माता का प्रभाव बहुत अधिक होता है। माता चाहे तो बालक को शूरवीर, धीर-गम्भीर, धर्म्मात्मा-महात्मा, विद्वान्-पण्डित, ज्ञानी-ध्यानी बना दे। माता चाहे तो उसे कायर, भीरु, विक्षिप्त, चञ्चल, पापात्मा, दुरात्मा, मूढ, अज्ञ, विषयी, लम्पट बना दे। बालक का जीवनप्रभात माता की गोद में बीतता है। माता की एक-एक इङ्गित, चेष्टा, भाषण, गमन, आसन, सभी उस बालक के लिए अनुकरणीय होते हैं। उनको देखकर, असमर्थ होता हुआ भी बालक उनका अनुकरण करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहना होगा कि बालक की प्रवृत्ति माता ही बनाती है। वेद कहता है—**'वितन्वते धियो अस्मा अपांसि··· मातरः'**=माताएँ अपनी सन्तान के लिए बुद्धियों तथा कर्म्मों का विस्तार करती हैं।

माता का उत्तरदायित्व बहुत है। माताएँ सन्तान-सम्बन्धी अपने इस उत्तरदायित्व को समझ जाएँ, तो संसार का संकट दूर हो जाए। माताएँ क्षुद्र कौटुम्बिक वा दैशिक दुर्भावनाओं से ऊपर उठकर समस्त संसार को अपना घर समझकर विशाल मानव-समाज की कमनीय कल्याण-कामना से प्रेरित होकर अपना विचार, उच्चार तथा आचार ऐसा बनाएँ कि बालकों के हृदय में **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भव्य भावना उत्पन्न हुए बिना न रहे। तब अवश्यमेव संसार से अशान्ति का निर्वासन होकर शान्ति का साम्राज्य होगा। माताओं का एक और कार्य्य भी यहाँ बताया गया है—**'वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति'**=सन्तान के लिए वस्त्र माताएँ बुनती हैं। यदि यह कार्य्य भी माताएँ सँभाल लें, तो गृहशिल्प की उन्नति होकर व्यापारिक स्पर्धा भी संसार में न्यून हो जाए। मन्त्र के उत्तरार्ध में विवाहाभिलाषिणी स्त्रियों के मनोभावों का संक्षेप में वर्णन है, उसमें इशारे से पुरुष में पुरुषत्व के होने की आवश्यकता भी बतला दी। स्त्री क्यों और कैसे पुरुष को चाहती है, इसको 'उपप्रक्षे' तथा 'वृषणः' दो पद स्पष्ट कर रहे हैं। स्त्री सोच-समझकर पति को चुने, वह उसको **दिवस्पथा'** ज्ञान के मार्ग से चाहे अर्थात् स्त्री को अपने कर्त्तव्य तथा आवश्यकताओं एवं योग्यता का ज्ञान होना चाहिए।

१३२. जीव का लक्ष्य महान् संग्राम

ओ३म् । स वावशान इह पाहि सोमं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सुतं नः ।
जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन् महे भराय पुरुहूत विश्वे ॥

—ऋ० ३।५१।८

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** ऐश्वर्य्याभिलाषी जीवात्मन् ! **सः** ऐसा तू **इह** इस संसार में **वावशानः** निरन्तर कान्तिमान् होता हुआ, अपने **सखिभिः** मित्र **मरुद्भिः** प्राणों के साथ **नः** हमारे **सुतम्** निष्पादित **सोमम्** सोम की **पाहि** रक्षा कर, **यत्** क्योंकि हे **पुरुहूत** अनेकों से स्पर्धनीय ! **विश्वे**+**देवाः** सब देव **जातं**+त्वा प्रकट हुए तुझको **महे**+**भराय** महान् संग्राम के लिए **परि**+**अभूषन्** सब ओर से अलंकृत करते हैं।

व्याख्या—यह मन्त्र जीवन को संग्राम बताता है । संग्राम में विजय पाने के लिए मरने-मारने में तत्पर मित्रों की अत्यन्त आवश्यकता होती है । जीव को ऐसे संग्राम में जूझना है, जिसमें उसे आक्रमण की अपेक्षा रक्षा का कार्य्य अधिक करना है । उस अवस्था में तो मर मिटनेवाले मित्रों की और भी अधिक आवश्यकता है । जीव को भगवान् ने ऐसे साथी दिये हैं जो सदा इसके संग रहते हैं, मुक्ति होने तक साथ बने रहते हैं । वे हैं मरुत्=प्राण । प्राण आत्मा के साथ सदा बने रहते हैं । इन प्राणों को अपना सखा बनाना आत्मा का कार्य्य है । इनको सखा बनाकर प्राप्त की रक्षा करना, और अप्राप्त को प्राप्त करना जीव का कर्त्तव्य है । जीव के सामने एक महान् संग्राम है । भगवान् ने इस संग्राम के लिए इसके चारों ओर देवों को खड़ा कर दिया है । जीवन-संग्राम में ये देव इसके सहायक हैं । इसके सखा प्राणों ने इसके लिए ब्रह्मामृत रस तैयार किया है । उसकी यदि यह रक्षा कर ले, तो अपने साथियों के सहयोग से रक्षित सोम का पान करने से यह अमृत हो जाएगा, अन्यथा जन्ममरण का जञ्जाल सिर पर है ही ।

ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इस जीवन-संग्राम का अनेक बार, विविध प्रकार से वर्णन हुआ है । वहाँ इस संग्राम को देवासुर-संग्राम कहा कहा गया है । देवों और असुरों का सदा ही युद्ध ठना रहता है । अनेक बार ऐसा प्रतीत होता है कि देव हार जाएँगे, किन्तु अन्त में देवों का ही विजय होता है । होना ही चाहिए, क्योंकि देव सत्यपक्षावलम्बी का नाम है । संसार का यह नैसर्गिक नियम है कि **सत्यमेव जयते नानृतम्**=सदा सत्य का विजय होता है, न कि झूठ का । और **'सत्यमेव देवाः'** (शत० १।१।१।४) = देव सत्यस्वरूप ही होते हैं ।

ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ भी देवासुर-संग्राम की चर्चा है, वहाँ सब जगह यह भी लिखा है कि देवों ने **विष्णु को आगे करके** विजय पाया । इन्द्रसमेत देव विष्णु के पास जाते हैं । सचमुच विष्णु=परमदेव भगवान् [**'विष्णुर्वै देवानां परमः'** (शत०)=विष्णु सब देवों में से श्रेष्ठ हैं] के सहयोग के बिना किसी शुभ कार्य्य में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । इस तत्त्व को देवस्वभाव मनुष्य सदा सामने रखते हैं । जीव=इन्द्र देवराज हैं, असुरों=पापभावों से इसे युद्ध करना है । निस्सन्देह देव—दिव्यभाव इसके सहायक हैं, किन्तु जबतक यह परमदेव की सहायता प्राप्त नहीं करता, तबतक विजय सन्दिग्ध है ।

१३३. ज्ञानी ही ज्ञानी को सिखा सकते हैं

ओ३म् । कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः ।
अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः ॥

—ऋ० ४।२।१२

शब्दार्थ—आयोः ज्ञानी मनुष्य के या जीवन की **दुर्यासु** घरों में अथवा दुरवस्थाओं में **निधारयन्तः** नियमों को धारण करते हुए **अदब्धाः** अदम्य **कवयः** क्रान्तदर्शी विद्वान् **कविम्** क्रान्तदर्शी मनुष्य को **शशासुः** शिक्षा देते हैं, **अतः** इसलिए हे **अग्ने** ज्ञानाभिलाषिन् ! **त्वम्** तू **अर्यः** समर्थ होता हुआ **एतान्** इन **दृश्यान्** दर्शनीय, दर्शनयोग्य **अद्भुतान्** अपूर्व, अभूतपूर्व विद्वानों को **पड्भिः** पैरों के द्वारा तथा **एवैः** चालों के द्वारा **पश्येः** देख ।

व्याख्या—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में दो तत्त्व बताये हैं—(१) **'कविं शशासुः कवयः'** ज्ञानी को ज्ञानी सिखाएं । इसमें मनोविज्ञान का एक गम्भीर सिद्धान्त बतलाया है कि जिसे शिक्षा देनी है, वह कवि है, क्रान्तदर्शी है। उसे मूढ़ मत समझो । अध्यापक का कार्य्य केवल प्रतिबन्धों को हटाना है । यदि शिक्षकवर्ग यह समझकर चले, तो फिर संसार में कोई भी मनुष्य अशिक्षित नहीं रह सकेगा । चेतन होने के कारण आत्मा में जानने का सामर्थ्य तो स्वाभाविक है । गुरु भी कवि है, शिष्य भी कवि । एक क्रान्तदर्शी है, दूसरा होने जा रहा है ।

(२) गुरु में क्रान्तदर्शी होने के अतिरिक्त निम्नलिखित गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है—(क) **अदब्ध**—गुरु बननेवाला दब्बू नहीं होना चाहिए । यदि गुरु शिष्य से दबेगा, तो शिष्य पर उसका प्रभाव अच्छा न रहेगा और इससे शिष्य का अमङ्गल होगा । (ख) गुरु स्वयं नियम पालन करनेवाले हों; जिन सद्गुणों का वह शिष्य में आधान करना चाहते हैं, उनको स्वयं उन्होंने धारण किया हो, चाहे कैसी ही विपत्ति में ग्रस्त क्यों न हों । वीरता भी तभी है कि मनुष्य दुरवस्था में भी सद्गुणों का त्याग न करे ।

मन्त्र के उत्तरार्ध में गुरुओं के सम्बन्ध में दो विशेषण और कहे हैं—१. दृश्य और २. अद्भुत । शिक्षक दर्शनीय होना चाहिए । ऐसा न हो, उसे देखकर शिष्य डर जाए । जिसके दर्शनमात्र से भय और उद्वेग हो, वह शिक्षक बनने के योग्य नहीं है । गुरु का सौम्यदर्शन होना अत्यन्त प्रयोजनीय है । (२) अद्भुत का अर्थ है अभूतपूर्व, अर्थात् गुरु ऐसा होना चाहिए जो शिष्य को नूतन शिक्षा दे सके । पहली शिक्षा को दोहरानेवाले गुरु की आवश्यकता नहीं । नित्य नया-नया ज्ञान-विज्ञान सीखने-सिखाने से ही ज्ञान-विज्ञान की उन्नति हो सकती है । उत्तरार्ध में गुरुदर्शन की एक पद्धति लिखी है । गुरु के दर्शन पैरों से करने चाहिएँ, अर्थात् गुरु के चरणों की ओर ध्यान देना चाहिए, इसी प्रकार गुरु की गतिविधि पर दृष्टि रखनी चाहिए । जैसा उसका आचार-व्यवहार है, वैसी अपनी चाल-ढाल बनानी चाहिए । तभी तो औपनिषद्गुरु कहा करते थे—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।—तैत्तिरीयोपनिषत्, शि० ११।२

जो हमारे अनिन्दनीय कर्म हैं, उनका सेवन तू कर, निन्दित कर्मों का नहीं । एक प्रकार से गुरु को भी सावधान कर दिया गया है कि वह भी अपने आचार-व्यवहार पर कठोर नियन्त्रण रखे । अज्ञ बालक उसकी प्रत्येक चेष्टा को आदर्श मानकर अनुकरण करता है । गुरु की कुचेष्टा का शिष्य में आना सम्भव है, अतः शिष्य के हित के लिए गुरु को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए ।

१३४. आत्मयुक्त आकाश के दोहन से अमृत पैदा होता है

ओ३म् । आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पय ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते ।
समीचीनाः सुदानवः प्रीणन्ति तं नरो हितमव मेहन्ति पेरवः ॥

—ऋ० ९।७४।४

शब्दार्थ—**आत्मन्वत्+नभः** आत्मयुक्त आकाश से **घृतम्** दीप्तियुक्त **पयः** अमृत जल **दुह्यते** दोहा जाता है, उससे **ऋतस्य** ऋत का **नाभिः** सम्बन्धी, मूल **अमृतम्** अमृत **वि+जायते** विशेष रूप से उत्पन्न होता है। **समीचीनाः** उत्तम चाल-चलनवाले **सुदानवः** श्रेष्ठ दानी महानुभाव **तम्** उसको **प्रीणन्ति** तृप्त करते हैं। **पेरवः** ज्ञानी **नरः** मनुष्य **हितम्** हित को **अव+मेहन्ति** नीचे बरसाते हैं।

व्याख्या—आत्मयुक्त आकाश से अमृत बरसने की बात को तैत्तिरीयोपनिषत् में संकेत से कहा है—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतो हिरण्मयः।—१।६।१

यह जो हृदय में आकाश है, उसमें यह मनोमय पुरुष=आत्मा है, जो अमृत तथा ज्योतिर्मय है। हृदय के भीतर का आकाश आत्मा का निवासस्थान है, और वही है परमात्मा की उपलब्धि का मन्दिर। छान्दोग्योपनिषत् [८।१।१] में हृदयाकाश के भीतर रहनेवालों की खोज का आदेश दिया है और कहा है कि वह आकाश इतना महान् है कि इसमें समस्त संसार समाया है, और कि यह शरीरनाश के साथ नष्ट नहीं होता। यह आत्मा "**अपहतपाप्मा विजरो** [अजर] **विमृत्युः** [अमर] **विशोको** [शोकरहित] **विजिघत्सो** [क्षुधारहित] **अपिपासः** [प्यास से शून्य] **सत्यकामः** [सत्य संकल्प] है।" हृदय के भीतरी आकाश में रहनेवाले इस आत्मा=परमात्मा का निरूपण करके आत्मज्ञान का माहात्म्य वर्णन किया है। प्रतिदिन प्रतीत होते हुए इस अन्तरात्मा के प्रत्यक्ष न होने का हेतु बताकर कहा—'**अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति**' (८।३।४) और यह जो सम्प्रसाद=जीवात्मा इस शरीर से निकलकर परमज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में निष्पन्न होता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है।

इसी बात को मन्त्र में थोड़े-से शब्दों में कहा है—'**आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पयः**'=आत्मयुक्त आकाश से [हृदयाकाश से] प्रकाशयुक्त अमृत दोहा जाता है। वह अमृत रस का मूल है। कहा है—'**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो अध्यजायत**' (ऋ० १०।१९०।१)=ऋत और सत्य उसके प्रदीप्त उज्ज्वल तप से उत्पन्न हुए। इस अमृत से हर कोई तृप्त नहीं हो पाता, वरन् '**समीचीनाः सुदानवः प्रीणन्ति तम्**'=अच्छे चाल-चलनवाले तथा उत्तम दानी उसे प्रसन्न कर पाते हैं, क्योंकि ऐसे, '**नरो हितमव मेहन्ति पेरवः**'=ज्ञानी नर हित की वृष्टि बरसाते हैं। जिन्हें इस आत्मतत्त्व का बोध नहीं है, ज्ञानी जन उनपर ज्ञानामृत की वृष्टि करते हैं। मन्त्र में साधक की उस अवस्था का वर्णन है, जब वह ब्रह्मामृतरस पान करने लग जाता है।

१३५. ऋतरक्षक नहीं दबता

ओ३म् । ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्य१न्तरा दधे ।
विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान् ।।

—ऋ० ९।७३।८

शब्दार्थ—**ऋतस्य** ऋत=सृष्टिनियम का **गोपाः** रक्षक **सुक्रतुः** सदाचारी **न** नहीं **दभाय** दबता, **सः** वह तो **हृदि+अन्तरा** हृदय में **त्री** तीन **पवित्रा** पवित्रों को **दधे** धारण किये हुए है । **सः** वह **विद्वान्** ज्ञानी **विश्वा** सब **भुवना** भुवनों को, लोकों को **अभि+पश्यति** सम्मुख देखता है । **कर्ते** कर्त्तव्य कर्म में **अव्रतान्** व्रतरहितों और **अजुष्टान्** प्रीतिरहितों को, कर्म न करनेवालों को **अव+विध्यति** बींध देता है, नीचे गिरा देता है ।

व्याख्या—आर्य्य धर्म में ऋत=सृष्टिनियम का बड़ा माहात्म्य है । ऋतज्ञानी, ऋतानुष्ठानी का पद बहुत ऊँचा है । ऋत का विचार हर एक को नहीं रुचता । कोई विरला ही होता है, जो इस परम आवश्यक तत्त्व पर दृष्टि देता है । वेद कहता है **'ऋतस्य धीतिमृषिषाडवीवशत्'** (ऋ० ९।७६।४)=ऋत का चिन्तन ऋषिषाट् [ऋषियों के बलवाला] ही बार-बार चाहता है । वेदाध्ययन, सृष्टिनियम-चिन्तन तथा योगाभ्यास ऋषि बनाते हैं । जो अभी ऋषि नहीं बना, किन्तु ऋषि बनने का मार्ग जिसने पकड़ लिया है, वेदाभ्यास और योगाभ्यास में जो निष्णात हो चुका है, वह लगातार ऋत का चिन्तन करता है, और उसी के अनुसार अपनी दिनचर्य्या बनाता है । ऐसे मनुष्य को किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती । हानि के मार्ग पर तो वह जाता ही नहीं, अतः वेद का यह कथन सर्वथा सत्य है कि—**'ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः'**—ऋत का रक्षक सदाचारी नहीं दबता, क्योंकि—**'त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे'**—वह तीनों पवित्रों को हृदय में धारण किये हुए है । भगवान्, ज्ञान तथा ध्यान तीन पवित्र हैं । ज्ञान, कर्म्म और उपासना तीन पवित्र हैं । पवित्र विचार, पवित्र उच्चार तथा पवित्र आचार तीन पवित्र हैं । इन तीनों पवित्रों को जिसने हृदय में धारण कर लिया, उसे कौन दबा सकता है ! वह भवसागर से पार हो जाता है, जैसा कि वेद स्वयं कहता है—**'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्'** [ऋ० ९।७३।१]—सदाचारी को सत्य की नौकाएँ पार लगा देती हैं । सृष्टि-नियम-चिन्तन के कारण उसे सारे रचनारहस्य का बोध हो जाता है, और मानो वह समस्त लोक-लोकान्तरों को अपने सामने देखता है—**'विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यति'**=वह ज्ञानी सारे लोकों को अपने सम्मुख देखता है । सृष्टिनियम का निरन्तर चिन्तन करने से स्रष्टा का ध्यान आता है, स्रष्टा का ज्ञान होने से सृष्टि का ज्ञान होना कोई अद्भुत बात नहीं है ।

योगदर्शन विभूतिपाद में कहा है—**'भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात्'** ।।२६।। सूर्य्य=चराचर के आत्मा में संयम करने से लोकों का ज्ञान होता है । ऐसा मनुष्य कर्तव्यभ्रष्टों को बींध देता है । उनके हृदय में गहरी चोट लगती है । उन्हें उनकी दुरवस्था का बोध कराके उससे ग्लानि करा देता है ।

१३६. तप की महिमा

ओ३म् । पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥

—ऋ० ९।८३।१

शब्दार्थ—हे **ब्रह्मणस्पते** तपोरक्षक प्रभो ! **ते** तेरा **पवित्रम्** पवित्र नियम **विततम्** सर्वत्र फैला हुआ है । तू **प्रभुः** सर्वसमर्थ **विश्वतः** सब प्रकार से **गात्राणि** शरीरों को **परि+एषि** व्याप्त करता है । **अतप्ततनः** अतपस्वी शरीरवाला [कच्चे तनवाला] **आमः** कच्चा मनुष्य **तत्** उसको **न** नहीं **अश्नुते** प्राप्त करता । **शृतासः** पक्के **इत्** ही **तत्** उसे **वहन्तः** धारण करते हुए **समाशत** उत्तम रीति से भोग रहे हैं ।

व्याख्या—भगवान् के पवित्र नियम सर्वत्र व्याप्त हैं । वह हमारे अङ्ग-अङ्ग में सङ्ग लगा हुआ है, किन्तु उसका दर्शन नहीं हो रहा, क्योंकि—**'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते'**=कच्चे तनवाला, कच्चा मनुष्य उस विस्तृत, सर्वत्र वितत पवित्रता को नहीं पा सकता । सुवर्ण तभी कुन्दन बनता है जब वह आग में तपाया जाता है । जो तप की भट्टी में तपाया नहीं गया, पकाया नहीं गया, वह कैसे उस रस को पाए ? कच्चे घड़े में पानी नहीं डाला जाता । पानी डालने के लिए उसे आवे में पकाना पड़ता है । इसी प्रकार आनन्द भरने के लिए शरीर को तपाना पड़ेगा । आत्मा=आम-आत्मा=कच्चे आत्मा को पक्का करना पड़ेगा, तभी इसमें ब्रह्मानन्द रस डाला जा सकेगा । तप की महिमा में वेद (ऋ० १०।१५४।२) कहता है—

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः । तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।

तप के कारण जो अनाधृष्य=किसी से न धमकाये जानेवाले हैं, तप के कारण जो आनन्द को प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने महान् तप किया है, भगवान् उन्हें प्राप्त होता है ।

ऋग्वेद [१०।१५४।४] में कहा—

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः । पितॄन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।

जो भी ऋत से सम्बन्ध रखनेवाले, ऋत का सत्कार करनेवाले और ऋत को बढ़ानेवाले हैं, जो तपस्वी, ज्ञानी हैं, हे नियन्तः ! तू उन्हें भी प्राप्त हो । इस प्रकार तप की और भी बहुत महिमा वेद-शास्त्र में वर्णित की गई है, जो यथार्थ है । तपस्वी से सभी दबते हैं, कोई भी उसके सामने धृष्टता नहीं कर सकता । तप का अर्थ है ज्ञानपूर्वक कर्म्मों का अनुष्ठान ।

तैतिरीयोपनिषत् [१।९] में लिखा है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्याय-प्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥

ऋत और अध्ययनाध्यापन तप हैं । सत्य और सत्य का पढ़ना-पढ़ाना तप है । तप और तप का करना-कराना तप है । शम और शान्त रहना और रखना तप है । ज्ञानाग्नियाँ और जानना तथा जनाना तप है । अग्निहोत्र और वेद का पढ़ना-पढ़ाना तप है । अतिथियज्ञ और ज्ञानग्रहण तथा

ज्ञानदान तप है। सन्तान, सन्तान की उत्पत्ति तथा सन्तान में उत्कर्ष इन बातों का जानना-जतलाना तप है। सत्यवादी राथीतर के मत में सत्य ही तप है। तपःपरायण पौरुशिष्टि तप को ही तप मानते हैं। मुद्गल के सन्तान नाक का कथन है कि स्वाध्याय-प्रवचन ही तप है। यही तप है, यही तप है।

सत्यवादी राथीतर का मत बताने से पूर्व ऋत आदि सभी तपों के साथ 'स्वाध्याय-प्रवचन' को भी लिया है और अन्त में फिर स्वाध्याय-प्रवचन को ही तप बताया है। इसका मर्म यह है कि स्वाध्याय और प्रवचन के बिना सभी तप अधूरे हैं, स्वाध्याय और प्रवचन से वे पूरे बनते हैं; अतः स्वाध्याय और प्रवचन मुख्य तप है। मनुजी का कहना है कि—जो नित्यप्रति स्वाध्याय करता है, वह नख से शिखा तक तप करता है। ज्ञान ही परम तप है, अतः जो तप की भट्टी में—स्वाध्याय-प्रवचन की ज्वाला में जलकर किल्बिषशून्य हो गये हैं, वे **'ऋतास इद्वहन्तस्तत्समाशत'**=पक्के होकर उसे धारते हुए उसे प्राप्त करते हैं। तप से अपने को उज्ज्वल, विमल, निर्मल बनाकर उसको आत्मसात् करनेवाले ही उस आनन्द को प्राप्त करते हैं।

१३७. देव पतितोद्धारक

ओ३म् । उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

—ऋ० १०।१३७।१

शब्दार्थ—हे **देवाः** लोकोपकारक महापुरुषो ! **उत** और **अवहितम्** नीचे गिरे को, हे **देवाः** पतितोद्धारक विद्वानो ! **पुनः** फिर से **उन्नयथ** ऊपर ले-जाओ, उठाओ, उन्नत करो । **उत** और हे **देवाः** देवो ! **आगः+चक्रुषम्** बार-बार अपराध करनेवाले को हे **देवाः** आनन्दित करनेवालो ! **पुनः** फिर से **जीवयथ** जिलाओ, जीवन दो ।

व्याख्या—अल्पज्ञता और अज्ञान के कारण मनुष्य से अनेक अपराध होते हैं । निस्सन्देह मनुष्य जीव धन्य है, प्राणिमात्र में श्रेष्ठ है । उन्नति के लिए जितने साधन इसे प्राप्त हैं, अन्य किसी प्राणी को प्राप्त नहीं हैं, वरन् अन्य सभी प्राणी तो उन्नति के साधनों से वञ्चित हैं, किन्तु जीव स्वाभाविक अल्पज्ञता तथा अहङ्कार के वश में कई अकरणीय कर्म्म कर बैठता है, जिससे वह गिर जाता है । विद्वानों से पूछते हैं कि ऐसे **अवहित**=पतित का क्या करना है ? पूछकर उनसे ही प्रार्थना की है—**'देवा उन्नयथा पुनः'** देवो ! उसे फिर से उठाओ, उन्नत करो । मार्ग चलते हुए से चूक तो अवश्य होती है, किन्तु—**'हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः'**=दुष्ट पुरुष उसपर उपहास करते हैं किन्तु सज्जन समाधान करते हैं, उसको सान्त्वना देते हैं, उसे उत्साहित करते हैं ।

जब कोई मनुष्य गिर जाता है, तब उससे बार-बार अपराध होते हैं, वह पुनः-पुनः ऐसे कुकार्य्य कर बैठता है जिससे प्रतीत होता है कि उसका आत्मा मानो मर-सा चुका है । ऐसे आत्मसम्मान-विहीन मृतक-प्राय मनुष्य का क्या करना ? वेद आदेश करता है—**'देवा जीवयथा पुनः'**=हे विद्वानो ! उनको फिर से जीवित करो । किसी को गिरा देना तो सरल है, किन्तु उठाना बहुत ही कठिन है । मार देना तो कोई बड़ी बात नहीं है, जीवनदान देना अत्यन्त कठिन और वीरता का कार्य्य है । देवों से ऐसी आशा स्वाभाविक है । वेद [अ० ६।१९।१] में प्रार्थना है—**पुनन्तु मा देवजनाः**=देवजन, विद्वान्जन मुझे पवित्र करें । दोषों की प्रवृत्ति हटाकर किसी को सुमार्ग पर लाना पवित्र करना है । पवित्र आचार-विचार को उन्नत करने में कोई विशेषता नहीं है; विशेषता तो तभी है कि अवहित=नीचे गिरे=पतित का उत्थान किया जाए । जो लोग पतित से घृणा करते हैं, वेद की दृष्टि में उनका कोई मान नहीं, स्थान नहीं । वेद पतितोद्धारकों को माननीय मानता और उन्हें देव पदवी देता है ।

१३८. मित्र के मार्ग से गति-प्राप्ति

ओ३म् । यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा । अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥

—ऋ० ५।६४।३

शब्दार्थ—**यत्** यदि मैं **पथा** मार्ग से, उचित रीति से **यायाम्** जाऊँ, तो **नूनम्** अवश्य **मित्रस्य** उस सर्वस्नेही की **गतिम्** गति को **अश्याम्** पाऊँ । **अस्य** इस **प्रियस्य** प्यारे **अहिंसानस्य** विघ्न दूर करनेवाले के **शर्मणि** शरण में सभी **सश्चिरे** संलग्न हैं, इकट्ठे होते हैं ।

व्याख्या—मनुष्य के मन में सङ्गति की भावना उठती है । अपने-आपको ऊँचा उठाना सभी को अभीष्ट है, किन्तु उन्नति का, ऊपर उठने का मार्ग सुझाई नहीं देता । उसके सामने बार-बार यह प्रश्न आता है—**कः पन्था** ? रास्ता कौन-सा है ? इस विकट परिस्थिति में उसे सर्वमित्र, सहज मित्र, अकारण मित्र का आदेश मिलता है, प्रेमभरा सन्देश मिलता है कि क्यों भटक रहे हो ? आओ । जो मार्ग मैं बतलाता हूँ, उसपर चलो । यह सन्देश पाकर चित्त में उस मार्ग पर चलने की भावना जाग उठती है । इसको मन्त्र के पूर्वार्द्ध में व्यक्त किया गया है—**'यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा'**=यदि मैं मार्ग से चलूँ तो अवश्य मित्र की गति पाऊँ । अथवा यदि मैं मित्र के मार्ग से चलूँ, तो अवश्य गति पाऊँ । इसका एक भाव और भी है—यदि मैं निश्चित रूप से मित्र की गति जान लूँ तो मार्ग से चलूँ ।

जिज्ञासु सन्देह में है । उसे निश्चय नहीं हो पाता कि अन्दर से आती ध्वनि उसके अपने भावों की प्रतिध्वनि है, अथवा अन्तरात्मा का सन्देश है । इस विषय में कई बार बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है । कृष्णजी के मुख से महाभारतकार ने कहलाया ही तो है—**'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'** [गीता, ४।१६]=क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, इस विषय में महाज्ञानी भी मुग्ध हैं । जिसमें महाज्ञानी भी मुग्ध हो सकते हैं, उसमें यदि साधारणजन भ्रम में पड़ जाएँ, संशयशूल से बिंध जाएँ तो आश्चर्य ही क्या है ?

किन्तु एक भरोसा है कि अब ऐसा मित्र मिला है, जो स्वार्थी नहीं, वरन् जो सदा कल्याणपथ का प्रदर्शन करता रहता है । इसीलिए जिज्ञासु की कामना है—**'वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे'** (ऋ० ५।६५।५)=हम उस सर्वस्नेही के सुविशाल रक्षण में रहें । सारे विद्वान् भी यही कर रहे हैं—**'अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे'** इस प्यारे विघ्ननिवारक की कल्याणमय शरण में सभी संलग्न हैं । हम भी उसी की शरण में जाएँ, क्योंकि—**'महाजनो येन गतः स पन्थाः'**=महापुरुष जिस मार्ग से चलें, वही मार्ग है । सभी सज्जन उसके मार्ग पर चलकर कल्याण पा रहे हैं, हमारा भी उसी पर चलने से कल्याण होगा ।

१३६. उपदेश करने का अधिकारी

ओ३म् । यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः । वरुणो यस्य दर्शतो मित्रो वा वनते गिरः ॥

—ऋ० ५।६५।१

शब्दार्थ—**यः** जो **चिकेत** जाने, ज्ञानी होवे, **वरुणः** सबसे श्रेष्ठ भगवान् **यस्य** जिस सुकर्म्मा ज्ञानी का **दर्शतः** दर्शनीय है **वा** और **मित्रः** सर्वस्नेही भगवान् जिसकी **गिरः** वाणियों का **वनते** सत्कार करता है, **सः** वही **सुक्रतुः** उत्तमकर्म्मा हो सकता है, **सः** वही उत्तम ज्ञानी श्रेष्ठकर्म्मा **देवत्रा** देवों के सम्बन्ध में **नः** हमें **ब्रवीतु** बोले, उपदेश करे ।

व्याख्या—वेद आचार पर बड़ा बल देता है। संसार के सभी धर्म्मग्रन्थ विश्वास=ईमान को प्रथम स्थान देते हैं । वेद ही ऐसा धर्म्मग्रन्थ है, जिसमें ईमान का स्थान तो है, किन्तु प्रधान नहीं । प्रधान स्थान आचार का है । वेद की इस भावना की झलक पौराणिक साहित्य में भी मिल जाती है । एक पुराण में लिखा है—**'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'**=आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते । वेद को तो 'पावमानीः'=पवित्र करनेवाला कहा गया है और यह पुराण-वाक्य वेद की इस योग्यता का अपलाप-सा करता दिखाई देता है । बात क्या है ? इसका भाव स्पष्ट है । ऐसे मनुष्य मिलते हैं, जिन्होंने चारों वेद कण्ठ कर लिये हैं, और जो एक-एक मन्त्र का विस्तार से भाव समझा सकते हैं, किन्तु उनका आचार उनके विपरीत है । तब वेद क्या करेगा ? वेद का काम प्रेरणा करना है । मानना न मानना मनुष्य का काम है । इस आशय को समझकर ऋषियों ने कहा—**'आचारः परमो धर्म्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।'**—[मनु० १।१०८] श्रुतिस्मृति में निर्दिष्ट आचार ही मुख्य धर्म्म है । वेद में आचार को यज्ञ कहा जाता है। वहाँ यज्ञ को मुख्यधर्म्म बतलाया गया है ।

इस मन्त्र में उपदेश देने के अधिकारी का वर्णन है—उपदेशक में निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ—

(१) **'यश्चिकेत'**—जो जानता हो । जिस पदार्थ का उपदेश करना है उसका उसे ज्ञान हो। अज्ञानी उपदेशक तो भ्रम में डाल देगा । जो जिसे जानता नहीं वह उसका उपदेश क्या करेगा ? किन्तु आज अनेक उपदेशक ऐसे हैं, जिन्हें अपने उपदेश्य विषय का ज्ञान नहीं है ।

(२) **'सः सुक्रतुः'**—वह सुकर्म्मा हो । उपदेशक के कर्म्म श्रेष्ठ होने चाहिएँ । ज्ञान के अनुसार उसका आचार-व्यवहार हो । उसके विचारों और आचारों में समता हो, न कि विषमता । वह अपने विचार के अनुसार कह और कर सकता हो ।

(३) **'वरुणो यस्य दर्शतः'**—वरुण जिसका दर्शनीय=आदर्श हो । जो अपने प्रत्येक कर्म्म और विचार में भगवान् को समक्ष रखता हो, जिसकी प्रत्येक क्रिया, चेष्टा का लक्ष्य प्रभुदर्शन हो, जो भगवान् को अपना आदर्श समझता हो । भगवान् को आदर्श मानकर चलनेवाला मनुष्य अपने उपदेश में भ्रम या ठगी की कोई बात नहीं कह सकता, क्योंकि भगवान् सदा भ्रमरहित एवं ठगीशून्य है, वह प्राणियों के कल्याण के लिए ही उपदेश करता है ।

(४) **'मित्रो वा वनते गिरः'**—स्नेहमान् भगवान् जिसकी बात का समादर करता हो । वेद में प्रार्थना है—**'सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव'** [ऋ० ६।१०४।५]=हे, प्रभो ! तू मित्र है, अपने मित्र के लिए सबसे अधिक ज्ञानी है अर्थात् तू मित्र की आवश्यकताओं को जानता है । तू उसकी बातें सुनता है और पूरी करता है ।

संक्षेप में, उपदेशक में उपदेश्य विषय का ज्ञान, सदाचार, ईश्वरनिष्ठा, प्रभु की भक्ति, न्यून-से-न्यून इतने गुण अवश्य होने चाहिएँ । इन गुणों से हीन उपदेशक वाह-वाह भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु जनकल्याण नहीं कर सकता ।

१४०. मित्र पाप से बचाता है

ओ३म् । मित्रो अंहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते । मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विधतः ।।

—ऋ० ५।६५।४

शब्दार्थ—**मित्रः** सर्वस्नेही भगवान् **अंहोः**+**चित्** पाप से भी [बचाकर] **क्षयाय** निवास के लिए **उरु** विशाल **गातुम्** पृथिवी **आ**+**वनते** देता है, **हि** क्योंकि **सुमतिः** उत्तम बुद्धि उस **प्रतूर्वतः** अतिशीघ्रकारी **विधतः** विधाता **मित्रस्य** कृपालु प्रभु की देन **अस्ति** है।

व्याख्या—भगवान् के स्नेह को इतनी-सी बात से जान लेना चाहिए कि वह हमें सदा चिताता रहता है। वेद में बहुत ही सुन्दर कहा है—**'अचेतयदचितो देवो अर्यः'** (ऋ० ७।८६।७)=वह सर्वज्ञ स्वामी (मालिक) अचेतों को चिताता है। पापी को जब अपने पाप का और भगवान् के रक्षकत्व का बोध होता है और वह समझता है कि—**'मित्रो अंहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते'**=स्नेहवान् भगवान् पाप से बचाता और निवास के लिए विशाल भूमि देता है, तब वह रो-रोकर कहता है—**'क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित्'** (ऋ० ७।८८।५)=वे हमारी मैत्रियाँ क्या हुईं, जब पहले कुटिलतारहित हम मिलकर रहते थे। पाप करके अपने चिरसंगी, सदा संगी का संग छोड़ दिया, और हम पाप-पंक में धँस गये। जीव तो अज्ञान के कारण पाप करने लगा, उसको पाप से ग्लानि स्वतः ही नहीं हुई, वरन् सर्वरक्षक परमात्मा ने ही उसे वह सुमति दी, जैसाकि वेद कहता है—**'मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विधतः'**=क्योंकि सुमति तो अति शीघ्रकारी, कृपालु विधाता की देन है। ऋषि ने लिखा है—

"जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता, वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय जीव की इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती हैं। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं परमात्मा की ओर से है।" (स० प्र०)

सच्चे मित्र का यह कार्य्य ही है कि मित्र को सुमति=सच्ची मति दे। परमात्मा स्वाभाविक मित्र है—

"जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र है, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता।।" —(स० प्र०, प्रथम समुल्लास)

यदि भगवान् उदासीन हो जाएँ तो जीवों का—विशेषकर पापी जीवों का—निस्तार, उद्धार कभी न हो सके। परमात्मा का स्नेह ही पापियों की रक्षा कर रहा है। सांसारिक मित्र प्रयोजन न होने पर उदासीन या वैरी बन जाते हैं, किन्तु भगवान् तो सहज मित्र है, नैमित्तिक मित्र नहीं, अतः वह कभी उदासीन वा शत्रु नहीं होता।

१४१. स्वराज्यार्थ यत्न

ओ३म् । आ यद्वामीयचक्षसा मित्रं वयं च सूरयः । व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥

—ऋ० ५।६६।६

शब्दार्थ—हे **ईयचक्षसा** प्राप्तव्य ज्ञानवाले **मित्रा** प्रीतियुक्त स्त्री-पुरुषो ! **वाम्** आप दोनों के **सूरयः** विद्वान् **च** और **वयम्** हम मिलकर **व्यचिष्ठे** अति विशाल **बहुपाय्ये** अनेकों से रक्षणीय **स्वराज्ये** स्वराज्य में **आ+यतेमहि** सब ओर से यत्न करें ।

व्याख्या—संसार में क्षुद्र-से-क्षुद्र कोई ऐसा प्राणी न मिलेगा, जो अपनी गतिविधि में प्रतिबन्ध को पसन्द करे । सभी चाहते हैं कि उनकी गति निर्बाध रहे । वेद में मार्ग के सम्बन्ध में प्रार्थना है कि वह **'अनृक्षरः'** काँटों से रहित हो । काँटे मार्ग की बाधा हैं । बाधा से रहित मार्ग प्रशस्त माना जाता है, और प्रशस्त होता भी है । ऐसी स्थिति में स्वराज्य की कामना अस्वाभाविक नहीं, अतएव अपराध भी नहीं । जो दूसरे की गतिविधि में प्रतिबन्ध लगाता है, जब कभी उसकी गतिविधि पर प्रतिबन्ध लगाता है तब उसे ज्ञात होता है कि स्वाधीनता=स्वतन्त्रता=स्वराज्य क्या वस्तु है । वेद स्वराज्य का सबसे अधिक समर्थक है । वेद में एक समूचा-का-समूचा सूक्त [ऋग्वेद १।८०] स्वराज्य-प्रतिपादक है । इस स्वराज्य-सूक्त के प्रत्येक मन्त्र की टेक है—**'अर्चन्ननु स्वराज्यम्'**[1] [स्वराज्य के अनुकूल कार्य्य करता हुआ] । 'स्वराज्य' के सम्बन्ध में दो-एक निर्देश इस मन्त्र में हैं जो मनन करने योग्य हैं—

(१) **'स्वराज्य'** में तथा स्वराज्यप्राप्ति के लिए विद्वानों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है । विद्वानों के बिना स्वराज्य का सँभालना दुष्कर हो जाता है ।

(२) स्वराज्य **'बहुपाय्य'** है । अनेक जन मिलकर ही इसकी रक्षा कर सकते हैं । स्वराज्य तभी स्वराज्य हो सकता है, जब सभी को यह प्रतीत हो कि यह अपना राज्य है । किसी एक का एकछत्र राज्य उसके लिए भले ही स्वराज्य हो, किन्तु उस राज्य में रहनेवाले सभी का वह स्वराज्य नहीं हो सकता । स्वराज्य में सभी स्वराज्य अनुभव करें ।

(३) स्वराज्य **'व्यचिष्ठ'** विशाल होना चाहिए । क्षुद्र स्वराज्य के अपहृत और नष्ट होने की सम्भावना का भय बना रहता है । विशाल स्वराज्य में उसके रक्षक बहुत होंगे, अतः उसके विनाश की सम्भावना भी कम होती है ।

(४) स्वराज्य के लिए जब सबको ममता होगी, तो सभी उसके लिए **'यतेमहि'** पुरुषार्थ करेंगे और सब प्रकार का पुरुषार्थ करेंगे ।

स्वराज्य का महत्त्व ऋषि ने इन शब्दों में लिखा है—

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है । अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है ।" (स० प्र०, अष्टम समुल्लास)

आद्य और आज के ऋषि का भाव कितना समान है ! स्वराज्य की भावना का विरोध अस्वाभाविक है ।

---

१. इस सूक्त की व्याख्या हमारे लिखे 'वैदिक स्वदेशभक्ति' नामक ग्रन्थ में देखिए ।

१४२. सृष्टि से पूर्व संसार की दशा

ओ३म् । गीर्णं भुवनं तमसापगूळ्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ ।
तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य ॥

—ऋ० १०।८८।२

शब्दार्थ—**भुवनम्** संसार **गीर्णम्** निगीर्ण, निगला हुआ-सा और **तमसा** अन्धकार से **अपगूळ्हम्** बुरी तरह ढका था । **अग्नौ+जाते** अग्नि के उत्पन्न होने पर **स्वः** प्रकाश, आनन्द **आविः** प्रकट **अभवत्** हुआ । **तस्य+अस्य** उस इस प्रसिद्ध अग्नि के **सख्ये** सख्य में, मैत्री में, सहयोग में **पृथिवी** पृथिवी **द्यौः** द्यौ **आपः** जल तथा अन्तरिक्ष **उत** और **ओषधीः** ओषधियाँ **अरणयन्** मानो प्रसन्न हो उठीं ।

व्याख्या—सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व क्या था, कैसा था ? ये प्रश्न प्रायः सभी विवेकशील महानुभावों के हृदय में उठते हैं । इन प्रश्नों का जैसा युक्तियुक्त और तर्कपूर्ण समाधान वेद में है, और किसी भी धर्म्म-ग्रन्थ में नहीं है । उत्पत्ति से पूर्व यह—**'गीर्णं भुवनं तमसापगूळ्हम्'** संसार निगला हुआ-सा और अन्धकार से अत्यन्त आच्छादित था । सूर्य्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, तारा आदि, सस्यश्यामला मही, कलकल ध्वनि करके बहते जल, सरसर करता धीर समीर (वायु) आदि पदार्थों का नाम संसार है । सृष्टि से पूर्व सुतराम् यह संसार अपने कारण में विलीन था, इसको वेद ने **'गीर्णं भुवनम्'** कहा है । जब सूर्य्य-चन्द्रादि प्रकाशमय पिण्ड न थे तो अन्धकार ही होगा । इस अवस्था को **तमसापगूळ्हम्**='अन्धकार से अत्यन्त आच्छन्न था' शब्दों में व्यक्त किया गया है । ऋग्वेद [१०।१२९।३] में इसी भाव को अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है—**तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्**=सृष्टि से पूर्व तम=अन्धकार के कारण सब गुप्त था, और यह सारा सरणशील पदार्थ लिंगरहित हो रहा था ।

मनुस्मृति [१।५] में इसका अनुवाद-सा ही है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

यह समस्त संसार तमोभूत=अन्धकाराच्छन्न प्रकृति में था, और प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि का अविषय हो रहा था, क्योंकि वह सर्वथा प्रसुप्त=निश्चेष्ट था । सृष्टि में सबसे पूर्व एक आग्नेय पिण्ड पैदा हुआ, और—**'आविः स्वरभवज्जाते अग्नौ'**=अग्नि के उत्पन्न होने पर प्रकाश हो गया । इस आग्नेय पिण्ड की उत्पत्ति के पीछे सारी सृष्टि क्रमशः उत्पन्न हुई—**'तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य'** इस महान् आग्नेय पिण्ड के सहयोग से पृथिवी, द्यौ, जल और ओषधियाँ रमण करने लगीं । सूर्य्य से पृथिवी-पिण्ड पृथक् हुआ, सहस्रों वर्ष उसपर मूसलाधार वर्षा होती रही । तब कहीं पृथिवी ठण्डी हुई, और उसके पश्चात् ओषधि-वनस्पति आदि की उत्पत्ति हुई । सृष्टि-उत्पत्ति का यह क्रम आजकल के वैज्ञानिक बतलाते हैं, वेद-विज्ञान का सिद्धान्तग्रन्थ है । इसमें ऐसे गम्भीर वैज्ञानिक तत्त्वों को देखकर पश्चिमी विद्वान् चकित रह जाते हैं ।

१४३. अग्नि भूमि को तपाता है

ओ३म् । यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहवुर्भुवनानि विश्वा ।
सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा ॥

—ऋ० १०।८८।६

शब्दार्थ—देवासः देवों ने (Natural Forces) ने **यम्** जिस **अग्निम्** आग्नेय पिण्ड को **अजनयन्त** प्रकट किया और **यस्मिन्** जिसमें **विश्वा** सम्पूर्ण **भुवनानि** भुवनों का **आजुहवुः** वे हवन कर डालते हैं **सः** वह **ऋजूयमानः** ऋजुता से चलता हुआ **महित्वा** अपनी महती शक्ति के कारण **अर्चिषा** तेज से **पृथिवीम्** पृथिवी को **उत** और **इमाम्** इस **द्याम्** द्यौ को भी **अतपत्** तपाता है ।

व्याख्या—सृष्टि के आरम्भ में जब महान् आग्नेय पिण्ड उत्पन्न होता है, तब मानो सारी प्राकृतिक शक्तियाँ सम्पूर्ण भुवनों को उसी में डाल देती हैं, तभी तो उसी से ग्रहों आदि की उत्पत्ति होती है । यदि देव (Natural Forces) उसमें सभी को न डालते तो ये सब उत्पन्न कैसे होते ? मनुस्मृति [१।१८] में इसका अनुवाद-सा ही किया है—

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः । मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥

अपनी-अपनी क्रियाओं के साथ समस्त भूत और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन भी उस सर्व-जगत्कारण में प्रविष्ट होते हैं । वेद में देव हवन कर रहे हैं, मनु में भूत स्वयं प्रवेश कर रहे हैं—यह तो कहने की शैली है; किसी ने कहा 'वह भोजन बनाता है', दूसरे ने कहा 'भोजन बन रहा है' । तात्पर्य दोनों का एक है ।

वह आग्नेय पिण्ड इतना शक्तिशाली है कि—**'सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन् महित्वा'**=वह ऋजुता से गति करता हुआ अपनी शक्ति के कारण प्रकाश से, ज्वाला से पृथिवी और द्यौलोक को तपाता है । सूर्यप्रकाश से यह त्रिलोकी तपती है, इसमें किसी को सन्देह ही नहीं है । करोड़ों मील दूर रहकर पृथिवी को तपाना कम सामर्थ्य नहीं है । द्यौ के परिमाण की कल्पनामात्र मनुष्य की बुद्धि को चकरा देती है, उसको भी तपाना ! कितना महान् है वह आग्नेय पिण्ड ! और कितना महान् है वह जिसने यह सब रचा ! इस आग्नेय पिण्ड को सब देवों ने मिलकर बनाया—**'स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्'** [ऋ० १०।८८।१०]=देवों ने स्तोम=समुदाय के द्वारा त्रिलोकी को भरनेवाले अग्नि को द्यौ में शक्तियों के द्वारा प्रकट किया । प्रकृति का पहला कार्य्य—अग्नि द्यौ में उत्पन्न होता है । आज भी अनन्तलोक—निर्माण-सामग्री आकाश गंगा—द्यौ में विराजती है । अग्नि उत्पन्न होकर सारी त्रिलोकी में भर जाता है । कितनी अद्भुत बात है !

१४४. स्तुति करने पर भगवान् को हृदय में पाते हैं

ओ३म् । हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद् गुहा निषीदन् ।
विदन्तीमत्र नरो धियंधा हृदा यत्तष्टान्मन्त्राँ अशंसन् ।। —ऋ० १।६७।२

शब्दार्थ—वह भगवान् **विश्वानि** सब **नृम्णा** धनों, बलों, मनुष्योपयोगी पदार्थों को **हस्ते** अपने हाथ में, अपने अधीन **दधानः** धारण करता हुआ, रखता हुआ और **गुहा** हृदय-गुहा में **निषीदन्** नितरां रहता हुआ **देवान्** सब देवों को **अमे** भय में, ठिकाने पर **धात्** रखता है । **धियंधाः** ध्यानधारी बुद्धिमान् **नरः** मनुष्य **ईम्** उसको **अत्र** इसी में, अपने हृदय में **विदन्ति** प्राप्त करते हैं, **यत्** जब वे **हृदा** हृदय से **तष्टान्** निकले, विचारे **मन्त्रान्** मन्त्रों के द्वारा **अशंसन्** स्तुति-प्रार्थना करते हैं ।

व्याख्या—ईश्वर को माननेवाले आस्तिक ईश्वर की खोज में हैं । कोई उसे आकाश से ऊपर मानकर वहाँ जाने की अपनी शक्ति न देखकर उसे सदा अदृश्य मान बैठता है । साधारण मनुष्य भगवान् को धनपति मानकर उसकी चाहना करता है । वेद कहता है कि वह—**'हस्ते दधानो नृम्णा विश्वानि'**—सम्पूर्ण धनों को अपने अधीन रखता है । जो वस्तु जिसके अधिकार में होती है, उसका मिलना उसी से सम्भव है, अन्य से नहीं । किसी पदार्थ को प्राप्त करने के लिए अपनी योग्यता का भी प्रदर्शन करना होता है । यदि कोई सोचे कि हम उससे बलात् धन छीन लेंगे, तो उसे समझ लेना चाहिए कि वह भगवान्—**अमे देवान् धात्**=देवों को भी भय में रखता है ।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।

—तैत्ति० २।८।१

इसके भय से वायु चलता है, सूर्य्य मानो इसी के भय से उदय होता है । अग्नि और विद्युत् भी मानो इसी के भय से क्रिया करते हैं । मौत भी मानो इसके डर से दौड़ रही है ।

प्रधानमल्ल-न्याय[1] से सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण प्राकृतिक शक्तियाँ उसी के डर से कार्य्य कर रही हैं, अतः तुम, जो अत्यन्त दुर्बल हो, बलात्कार करके कुछ नहीं छीन सकते । उसे रिझाओ, क्योंकि उसे रिझाकर ही उससे कुछ लिया जा सकता है । उसे रिझाने के लिए, उसे कहीं अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह—**गुहा निषीदन्**=हृदय-गुफा में रहता है; वह सदा अपने पास रहता है । उसका इधर-उधर खोजना क्या ? तभी तो **'विदन्तीमत्र नरो धियंधाः'** बुद्धिमान् ध्यानी मनुष्य उसे यहीं—हृदय में ही पा लेते हैं । जब रहता ही हृदय में है, तो वह वहाँ कैसे नहीं पाया जाएगा ? उसे कैसे पाते हैं ? **'हृदा यत्तष्टान्मन्त्राँ अशंसन्'**—जब हृदय से निकले मन्त्रों द्वारा वे स्तुति करते हैं । हृदय से जबतक आराधना न करोगे, तबतक न तो उसे पा सकोगे और न रिझा सकोगे, चाहे वह इतना समीप है ।

---

१. बड़े पहलवान को गिराकर विजेता पहलवान छोटे पहलवानों से कुश्ती नहीं लड़ता । वे सब पराजित समझे जाते हैं । सूर्य्य आदि महान् देवों को जब भयभीत बता दिया तो तुच्छों की चर्चा अयुक्त है । इसे 'प्रधान-मल्लनिबर्हणन्याय' कहते हैं ।

१४५. सर्वजीवनाधार हृदय से हृदय को प्राप्त होता है

ओ३म् । अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः ।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥—ऋ० १।६७।३

शब्दार्थ—**अजः+न** अज की भाँति **क्षाम्** पृथिवी को **पृथिवीम्** विशाल अन्तरिक्ष को **दाधार** धारण करता है तथा **द्याम्** द्यौ को **सत्यैः** सत्य **मन्त्रेभिः** मन्त्रों, विचारों के द्वारा **तस्तम्भ** थाम रखता है। हे प्रभो ! **पश्वः** इस जीव के **प्रिया** प्रिय **पदानि** ठिकानों की, प्राप्त करने योग्य पदार्थों की **निपाहि** सर्वथा रक्षा कर। हे **अग्ने** सबके आगे रहनेवाले भगवन्! तू **विश्वायुः** सबका जीवन होता हुआ **गुहा** हृदय-गुहा से **गुहम्** हृदय-गुहा को **गाः** प्राप्त होता है अथवा **गुहा+गुहं+गाः** गुप्त-से-गुप्त हो रहा है।

व्याख्या—भगवत्प्राप्ति के प्रयत्न के निमित्त प्रेरणा करने के लिए भगवान् के सामर्थ्य का वर्णन मन्त्र के पूर्वार्द्ध में किया गया है—**'अजो न क्षां दाधार पृथिवीम्'**=अजन्मा परमेश्वर इस पृथिवी और अन्तरिक्ष को धारण करता है और—**'तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः'**=सूर्यों, नक्षत्रों, ग्रहों-उपग्रहों आदि ज्योतिपिण्डों के आधारभूत द्यौ को भी वह अपने अबाध्य निर्देशों के द्वारा धार रखता है। इस महान् भगवान् को प्राप्त करके मनुष्य भी महान् बन जाता है। उस महान् भगवान् से प्रार्थना है कि—**'प्रिया पदानि पश्वो निपहि'**=प्रभो ! जीवात्मा के अभीष्ट पदों की रक्षा करो। जो इतने विशाल संसार को धारण कर रहा है उसके लिए आत्मा के अभीष्ट पदार्थों की रक्षा करना साधारण बात है, अतः उससे अपने अभीष्ट की रक्षा के लिए प्रार्थना करना अत्यन्त उपयुक्त है।

जीव के पद=ठिकाने—शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि हैं। इनकी रक्षा के लिए प्रार्थना का विशेष प्रयोजन है। इन्द्रियों की अद्भुत रचना से भगवान् का अनुमान द्वारा ज्ञान होता है, अन्तःकरण में उसका साक्षात्कार होता है। शरीर इन इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का आश्रय है। ये यदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ या विकल हो जाएँ तो भगवान् के ज्ञान का कोई साधन शेष नहीं रहता, मन के अविकसित होने के कारण पशु आदि भगवान् के ज्ञान और ध्यान के अयोग्य हैं। भगवान् के ज्ञान-ध्यान का साधन मानवदेह है, अतः इसकी रक्षा के लिए प्रार्थना है। भगवान् के ध्यान के लिए बहुत सामग्री की आवश्यकता नहीं। वह हृदय में रहता है. जिस महापुरुष ने अपने हृदय में इसका साक्षात्कार किया है, वह अपने हृदय से दूसरे के हृदय में उसका प्रकाश दिखा सकता है, अतः वेद कहता है—**'विश्वायुरग्ने गुहं गाः'**=सबका जीवनाधार ज्ञानस्वरूप परमात्मा हृदय से हृदय को प्राप्त होता है अर्थात् किसी महात्मा के दिल से अपना दिल मिलाओ, वह तुम्हें तुम्हारे हृदय में छिपे प्रियतम की झाँकी दिखला देगा।

१४६. त्यागी को धन बताता है

ओ३म् । य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य ।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद्वसूनि प्र ववाचास्मै ॥ —ऋ० १।६७।४

शब्दार्थ—यः जो **ईम्** इस भगवान् को **गुहा** हृदय-गुफा में **आ+भवन्तम्** सर्वथा रहता हुआ **चिकेत** जानता है और **यः** जो **ऋतस्य** ऋत की, सृष्टिनियम की **धाराम्** धारा को **ससाद** प्राप्त करता है, उसके अनुकूल चलता है और **ये** जो **ऋता** सृष्टिनियमों का **सपन्तः** पालन करते हुए **वि+चृतन्ति** बन्धन को तोड़ डालते हैं । **आत्+इत्** तत्काल ही वह प्रभु **अस्मै** ऐसे मनुष्य को **वसूनि** वास्तविक धनों का **प्र+ववाच** उत्तम रीति से उपदेश करता है ।

व्याख्या—भगवान् को वाचिकतया तो सभी मानते हैं, किन्तु हृदय से माननेवालों की संख्या बहुत थोड़ी है । वेद एक कसौटी बताता है जिससे ईश्वर को मानने तथा न माननेवालों की परख हो जाती है । वह परीक्षा यह है—**'य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य'**=जो उसे गुहा में रहनेवाला जानता है और जो ऋत की धारा को प्राप्त करता है । जिसे यह ज्ञान हो कि समस्त जगत् में व्यापक भगवान् उसके हृदय में रहा रह है, वह तो समझेगा कि भगवान् उसकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा को देख रहे हैं; उससे कुछ भी छिप नहीं सकता । ऐसा मनुष्य निस्सन्देह पाप से छूट जाएगा । उसकी पापप्रवृत्ति निवृत्त हो जाएगी । तब वह भगवान् के नियम=ऋत का ज्ञान करके उसके अनुसार आचरण बनाएगा । ऋत का बहुत बड़ा बल है—**'देवो देवान् परिभूर्ऋतेन'**—(ऋ० १०।१२।२)=भगवान् ऋत के कारण सब देवों में व्यापक और इनका अध्यक्ष है, अतः ऐसा ऋतज्ञानी ऋतधारा को प्राप्त करता है । भगवान् को माननेवाला अवश्य ऋतानुसार अपना आचार रखता है । भगवान् की सत्ता तो स्वीकार की, किन्तु भगवान् के नियमों की अवहेलना की, तो भगवान् के मानने का क्या लाभ ? मानने और न मानने में क्या भेद रहा ? जो ऋताधार की धार प्राप्त करते हैं, वे—**'वि ये चृतन्त्यृता सपन्तः'**=ऋत का पालन करते हुए वे बन्धनों को तोड़ डालते हैं ।

फिर काल्पनिक बन्धनों का कोई लाभ नहीं होता । ऋत के नियमपालन का अर्थ है अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर देना । जब भक्त अपने-आपको भगवान् के हवाले कर देता है, तब वह—**'आदिद्वसूनि प्रववाचास्मै'** सब ओर के धन इसे बता देता है । इसी को कहते हैं—**'ऋतेन सत्यमृतसाप आयन्'** (ऋ० ७।५६।१२)=ऋत का पालन करनेवाले ऋत के द्वारा सत्य को प्राप्त करते हैं । यह सारी सृष्टि भगवान् का ज्ञान करा रही है । ऋत के पालन से जब भगवान् की प्राप्ति हो गई, तो प्रभु इसपर अपने सब खजाने खोल देता है ।

१४७. भगवान् धन के द्वार खोल देता है

**ओ३म् । पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन्ये अस्य शासं तुरासः ।
वि राय और्णोद् दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः ॥**

—ऋ० १।६८।५

शब्दार्थ—ये जो **अस्य** इस हृदयविहारी भगवान् के **शासम्** शासन को **श्रोषन्** सुनते हैं तथा **तुरासः** शीघ्र तदनुसार कर देते हैं और **न** जैसे **पुत्राः** पुत्र **पितुः** पिता के **क्रतुम्** कर्म को, बुद्धि को **जुषन्त** प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, वह **पुरुक्षुः** महादानी, उनके लिए **रायः** धन के **दुरः** द्वारों को **वि+और्णोत्** खोल देता है। उस **दमूनाः** हृदयघर में रहनेवाले, सबका दमन करनेवाले प्रभु ने **नाकम्** आनन्द को **स्तृभिः** परदों से **पिपेश** सजा रखा है।

व्याख्या—भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के सभी कार्य्यों को साधनेवाला, सब ज्ञानों का मूल, वेदरूप ज्ञान दिया और सदा मनुष्य के हृदय में पापपुण्य के समय आदेश देता रहता है, किन्तु कितने जन उसके दिये वेदज्ञान का अध्ययन करते हैं ? कितने मानव हृदय में उठनेवाली उसकी शासन-ध्वनि को सुनते हैं ? परिणाम सबके सामने है। मारकाट, खूनखच्चर का बाजार गर्म है। केवल सुनना ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् उसपर आचरण भी करना होता है। इसीलिए वेद ने सुननेवालों के साथ एक विशेषण लगाया—**तुरासः**=शीघ्रकारी। वे परमात्मा के शासन को केवल सुनते ही नहीं, वरन् शीघ्र ही उस शासन के अनुसार कार्य्य कर डालते हैं। भगवान् संसारोद्धारक के लिए अनेक कर्म्म करता है। वह **स्वपस्तमः**= श्रेष्ठतम कर्म्मों का करनेवाला है। तो जो—**'पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त'**=पिता के कर्म्मों को पुत्रों की भाँति इसके कर्म्मों का प्रेम से सेवन करता है, सुपुत्र वही है। जो पिता के चलाये कार्य्यों में पिता की अपेक्षा उन्नति कर जाए वही जगत् में सुपूत कहलाता है। भगवान् के कार्य्यों में उन्नति करना किसी भी मनुष्य के सामर्थ्य में है नहीं। बढ़ना तो क्या, बराबरी भी नहीं हो सकती। तो जितना हो सकता है परमात्मा का अनुकरण करे, जिस प्रकार पुत्र पिता का अनुकरण करता है। तब वह परमपिता अपने आराधक पुत्र के लिए—**'वि राय और्णोद् दुरः'**=धन के द्वार खोल देता है, क्योंकि **पिपेश नाकं स्तृभिः**=वह परदों में सुख को बनाता है अर्थात् उसका जगन्निर्माण-विधान गुप्त है।

अतः भगवान् को पिता मानकर, उसके वर पुत्र बनकर अपने पिता की गुप्त निधि के द्वार खुलवाने चाहिएँ। **'पिपेश नाकं स्तृभिः'** [=आनन्द को परदों में सजा रखा है] का एक भाव यह है कि ब्रह्मानन्द तो पञ्चकोशों—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों के अन्दर छिपा है। इन परदों को फाड़ो।

१४८. मिलकर बलवान् धूम करो

ओ३म् । कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्रेधन्त इतन वाजमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून् ॥

—ऋ० ३।२९।९

शब्दार्थ—हे **सखायः** समान मनोभावोंवाले सज्जनो ! **वृषणम्** बलशाली **धूमम्** धूम **कृणोत** करो **अस्रेधन्तः** हिंसित न होते हुए **वाजम्** संग्राम में **अच्छ** अच्छी तरह **इतन** जाओ । **अयम्** यही **अग्निः** अग्नि **पृतनाषाट्** फ़ितनों को दबानेवाला, युद्धों में विजय दिलानेवाला तथा **सुवीरः** बड़े वीरोंवाला है, और **येन** जिसके द्वारा **देवासः** देव, सदाचारी **दस्यून्** दस्युओं को **असहन्त** दबाते हैं ।

व्याख्या—शत्रु से युद्ध करना है । युद्ध के लिए तैयारी करनी होती है । यदि शत्रु से लड़ने के लिए भेजी जानेवाली सेना शत्रु के प्रति उदासीन भाव रखती है, तो वह वीरता से न लड़ेगी । सम्भव है, अवसर आने पर शत्रु से मिल भी जाए । इसी प्रकार यदि राष्ट्र के नायक किसी शत्रु के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करते हैं, किन्तु राष्ट्रवासी उसके लिए उपेक्षा का भाव रखते हैं तो पराजय-कलङ्क से भाल को दूषित होता देखने के लिए तैयार रहना चाहिए । ऐसे उपेक्षावृत्तिवाले सैनिक तथा राष्ट्र संग्राम में विजय कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते ।

विजय के अन्य आवश्यक साधनों के साथ विजयाभिलाषी योद्धाओं के हृदय में शत्रु के प्रति घोर असन्तोष होना चाहिए । वेद इसलिए कहता है—**'कृणोत धूमं वृषणं सखायः'**=तुम सब मिलकर बलशाली धूम करो । धूम का अर्थ है कँपा देनेवाला । राष्ट्र तथा सेना का धूम—शत्रु को अवश्य कँपा देगा । यह धूम उत्पन्न करना किसी एक का कार्य्य नहीं, वरन् सबका कार्य्य है, अतः सबको मिलकर इसकी उत्पत्ति में यत्नशील होना चाहिए ।

राष्ट्र में धूमोत्पादन के कार्य्य में लगे लोगों के लिए एक शर्त और भी है, वह यह कि वे **'सखा'** हों, एक दूसरे के मित्र हों, एक-से विचार रखते हों, परस्पर-विरोधी न हों, क्योंकि फूट के शिकार तो मृत्यु के ग्रास बनते हैं । इस कार्य्य में एक और सावधानता भी वर्त्तनी पड़ती है, वह यह कि कहीं इसमें अपनी हानि न हो जाए, अतः वेद का आदेश है—**'अस्रेधन्त इतन वाजमच्छ'**—हिंसित न होते हुए संग्राम को भली प्रकार जाओ।

संग्राम में जाने से पूर्व ही यदि हिंसित हो गये, तो संग्राम में क्या युद्ध करेंगे ? अर्थात् अपना सब तरह का बचाव करके संग्राम में जाना चाहिए । नीतिकारों के मत में **'शुद्धपार्ष्णिः'** [पीछा जिसका शुद्ध है] होकर संग्राम में जाना चाहिए। ऐसा न हो कि सेना शत्रु से जूझ रही हो और पीछे से प्रकृति-प्रकोप उठ खड़ा हो, या कोई दूसरा शत्रु आक्रमण कर दे । धूम जब होगा तो अग्नि भी होगी । यह अग्नि ऐसा है कि इससे सारे फ़साद, उपद्रव मिट जाते हैं ।

यह मन्त्र आध्यात्मिक सूक्त का है । आध्यात्मिक अर्थ की कल्पना पाठकों पर छोड़ी जाती है ।

१४६. दरिद्र की पूजासामग्री

ओ३म् । नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति । अथैतादृग्भरामि ते ।।
ओ३म् । यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि । ता जुषस्व यविष्ठ्य ।।

—ऋ० ८।१०२।१९,२०

शब्दार्थ—**नहि** न तो **मे** मेरे पास **अस्ति** है **अघ्न्या** गौ और **न** न ही **वनन्वति** वनों को छेदन करनेवाला **स्वधितिः** कुल्हाड़ा है । **अथ** तो मैं **एतादृग्** ऐसा ही, रिक्तहस्त ही **ते** तुझे **भरामि** धारण करता हूँ । हे **अग्ने** अग्ने ! **यत्** जो **कानि कानि**+**चित्** जैसी-कैसी भी **दारूणि** लड़कियाँ **ते** तुझमें **आ**+**दध्मसि** हम धारण करते हैं, हे **यविष्ठ्य** अत्यन्त बलशालिन् ! **ताः** उनको **जुषस्व** स्वीकार करो ।

व्याख्या—अग्निहोत्र करने का नित्य विधान है । देखो अथर्ववेद—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।।
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ।।—१९।५५।३-४

गृह में स्थापित अग्नि प्रति सायं और प्रति प्रातः सुख का दाता है, नानाविध धनों का धाता है । इसको प्रदीप्तकर हम शरीर को पुष्ट करें, तथा सौ वर्ष फूलें-फलें ।

अग्निहोत्र करने के लिए निम्नलिखित पदार्थों की अपेक्षा होती है—समिधा (लकड़ी) घृत, सामग्री (जिसमें जौ, चावल, खाँड, शक्कर, नानाविध ओषधि आदि सम्मिलित हैं), यज्ञकुण्ड, यज्ञपात्र, दियासलाई आदि । घृत दूध के बिना नहीं बन सकता, दूध गौ आदि के बिना नहीं मिल सकता । लकड़ी वृक्षों से मिल सकती हैं, किन्तु काटने के लिए कुल्हाड़ा चाहिए । एक अत्यन्त दरिद्र मनुष्य भगवान् से कहता है—**'नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति'**=मेरे पास गौ नहीं है, और वनों को छेदन करनेवाला कुल्हाड़ा भी नहीं है । गौ न होने से यज्ञनिष्पादक घृत का मेरे पास अभाव है । मैं इतना दरिद्र हूं कि लकड़ी काटने को कुल्हाड़ा भी मेरे पास नहीं है । भगवन् ! मैं अग्निहोत्र कैसे करूं ? सचमुच बड़ी विकट समस्या है । वेद से भी यज्ञों की नित्य-कर्त्तव्यता प्रतीत होती है । मनुजी भी इसे नित्य बतलाते हैं । यथा—

'ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ।।—४।२१

ऋषियज्ञ (ब्रह्मयज्ञ), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेवयज्ञ), नृयज्ञ (अतिथियज्ञ) तथा पितृयज्ञ को यशाशक्ति सदा करे, कभी न छोड़े ।

श्रुति-स्मृति जिनका करना नित्य बतला रहे हैं, सामग्री न होने पर उनका अनुष्ठान कैसे किया जा सकेगा ? इस चिन्ता से भक्त कहता है—**'यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि । ता जुषस्व यविष्ठ्य'**—जैसी-कैसी भी लकड़ियाँ हम डालें, उन्हें स्वीकार करो । वेद का अभिप्राय स्पष्ट है कि जैसी-कैसी समिधाओं से हवन कर दो । नहीं मिली बिल्व, खदिर आदि की समिधाएँ तो न सही । जङ्गल से गिरी-पड़ी लकड़ियाँ बीनकर लाओ और यज्ञ कर दो । भगवान् उन्हें स्वीकार करेंगे अर्थात् धर्म्म-कार्य्य में दरिद्रता बाधक नहीं होनी चाहिए ।

एक बात बहुत गम्भीर कही है—**'नहि मे ग्रस्त्यघ्न्या' = मेरे पास गौ नहीं है**—गौ यज्ञ का प्रधान साधन है। वैदिक धर्म्म यज्ञ का धर्म है। उसके निर्वाह के लिए प्रत्येक वैदिक के घर में गौ का होना ग्रावश्यक है। पीछे एक मन्त्र दिया जा चुका है कि उत्तम भोजन तो वही मनुष्य करता है जिसके घर में ग्रपनी दुधारू गौ है ग्रर्थात् ग्रग्निहोत्र की बात तो जाने दो, शरीर की ग्राग को व्यवस्थित रखने के लिए भी गौ की ग्रावश्यकता है।

१५०. पर्व पर्व में अग्नि चयन करें

**ओ३म् । भरा॑मे॒ध्मं कृ॒णवा॑मा ह॒वींषि॑ ते चि॒तय॑न्तः॒ पर्व॑णापर्वणा व॒यम् ।
जी॒वात॑वे प्र॒तरं॑ साधया॒ धियोऽग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ ॥**

—ऋ० १।९४।४

शब्दार्थ—वयम् हम **पर्वणा-पर्वणा** पर्व-पर्व में **चितयन्तः** चयन करते हुए **ते** तेरे लिए **इध्मम्** ईंधन, समिधा **भराम** लाएँ **हवींषि** हवियाँ **कृणवाम** करें। हे **अग्ने** अग्ने ! **जीवातवे** दीर्घ जीवन के लिए **धियः** बुद्धियों और कर्म्मों को **प्रतरम्** अत्यन्त उत्तम रीति से **साधय** सिद्ध कर। **वयम्** हम **तव** तेरे **सख्ये** सख्य में **मा** मत **रिषाम** हिंसित हों, हानि उठाएँ।

व्याख्या—वेद में आता है—**'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'** (य० २२।३३)—जीवन यज्ञ के द्वारा सफल हो अर्थात् सारा जीवन यज्ञमय हो। इसी भाव को उपनिषद् ने बहुत स्पष्ट करके कहा—**'पुरुषो वाव यज्ञः'** [छान्दोग्योप०], मनुष्य-जीवन एक यज्ञ है। जब सारा जीवन यज्ञ है तो पर्व-पर्व में करना स्वाभाविक ही है। ब्राह्मणग्रन्थों और धर्म्मशास्त्रों में इसी भाव को लेकर दर्श-पौर्णमास आदि भिन्न-भिन्न पर्वों में करने योग्य यज्ञों का साटोप निरूपण[1] किया गया है। पार्वण यज्ञों का मानो फल बताते हुए कहा है—**'जीवातवे प्रतरं साधया धियः'**-- दीर्घ-जीवन के लिए बुद्धि और कर्म्म की सुदीर्घ साधना करो। वेद में दीर्घ जीवन की अनेक बार कामना है, क्योंकि—**'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति'**=जीता हुआ मनुष्य सैकड़ों कल्याणों के दर्शन करता है। मरे की क्या भलाई हो सकती है ? भलाई का भोग करने के लिए बुद्धि चाहिए।

वेद में प्रार्थना है—**'अप्नस्वती धीरस्तु'** [ऋग्वेद]—बुद्धि कर्म्मयुक्त हो। वह बुद्धि ही क्या, जिसमें कर्म्मण्यता न हो ! अतः बुद्धि और कृति, ज्ञान और क्रिया को मिलाकर कार्य्य करना चाहिए। पार्वणयज्ञ में कर्म्म के साथ बुद्धि का मेल करने का आदेश बता रहा है कि ज्ञानशून्य कोरे कर्म्म थोथे होते हैं, वे तो अविद्या की कोटि में गिने जाते हैं। कर्म्म बिना कोरा ज्ञान भी अज्ञान ही है, अतः ज्ञान और कर्म्म का समुच्चय ही श्रेयान् है।

अन्त में प्रार्थना यह है **'अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव'**=तेरे सख्य में हम हानि न उठाएँ। अग्नि का सख्य उन्नतिकारक होता है। अग्नि आगे ले-जानेवाले को कहते हैं। उसके सख्य में किसी की हानि हो ही नहीं सकती, उन्नति ही होती है। जीवनाग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए भी पर्व-पर्व में, शरीर के अंग-अंग में समिधाचयन और हवि के आधान का विधान यह मन्त्र कर रहा है। तनिक ध्यान दीजिए अधिभूत, अधिदेव तथा अध्यात्म यज्ञों का सम्मिश्रण है।

---

१. गौरवशाली वर्णन।

१५१. हम ज्ञानी का संग करें

ओ३म् । तं सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चमविद्वांसो विदुष्टरं सपेम ।
स यक्षद्विश्वा वयुनानि विद्वान् प्र हव्यमग्निरमृतेषु वोचत् ॥

—ऋ० ६।१५।१०

शब्दार्थ—हम **अविद्वांसः** अविद्वान् **तम्** उस **सुप्रतीकम्** सुन्दर प्रतीत होनेवाले **सुदृशम्** उत्तम द्रष्टा **स्वञ्चम्** उत्तम चाल-ढालवाले, श्रेष्ठाचारवाले, सुपूज्य **विदुष्टरम्** अपने से अधिक विद्वान् को **सपेम** प्राप्त हों, मिलें, सङ्ग करें । **सः** वह **विद्वान्** विद्वान् **विश्वा** सम्पूर्ण **वयुनानि** ज्ञानों और कर्म्मों को, विचारों और आचारों को **यक्षत्** परस्पर सङ्गत करे । वह **अग्निः** अग्रणी, ज्ञानी **अमृतेषु** अविनाशियों में, जीवों में **हव्यम्** ग्रहण करने योग्य पदार्थ का **प्रवोचत्** भली प्रकार उपदेश करे ।

व्याख्या—मन्त्र में ज्ञानी के सङ्ग करने का उपदेश है । ज्ञानी के विशेषण विशेष मनन करने योग्य हैं—

(१) **सुप्रतीक**—ज्ञानी सुन्दर आकार-प्रकारवाला हो । सुन्दर प्रतीत हो अर्थात् उसका अङ्ग-भङ्ग न हो । वह विकराल न हो । दुबला-पतला, मरियल या सर्वथा बेडौल न हो । वरन् सुप्रतीक हो, सुन्दर मूर्तिवाला हो । बाह्य आकार का पर्य्याप्त प्रभाव पड़ता है और सबसे प्रथम पड़ता है, अतः दूसरों को उपदेश देनेवाला अपने आकार-प्रकार का विशेष विचार रखे ।

(२) **सुदृक्**—स्वयं सुद्रष्टा हो । शास्त्र का अच्छा ज्ञानी हो । जिस पदार्थ को देखे, अवहेलना और बेपरवाही से न देखे, वरन् सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करे । यदि उपदेशक या अध्यापक में यह गुण न हो तो वह अच्छा उपदेशक या अध्यापक नहीं बन सकता ।

(३) **स्वञ्च**—उपदेशक, प्रचारक की प्रत्येक चाल-ढाल का लोग सावधानता से अवलोकन करते हैं । एक प्रचारक बाह्याकार में उत्तम है, ज्ञान में भी गरीयान् है, किन्तु आचार में हीन है तो उसे सफलता मिल ही नहीं सकती ! सारांश यह कि उपदेशक को सुन्दर, उत्तम ज्ञानी तथा श्रेष्ठ आचार-व्यवहारवाला होना चाहिए ।

(४) **विदुष्टर=विद्वत्तर** । उपदेशक जिज्ञासु की अपेक्षा विदुष्टर=अधिक विद्वान् न होगा तो जिज्ञासु का समाधान न कर सकेगा ।

स यक्षद्विश्वा वयुनानि—वह सभी ज्ञानों व कर्म्मों को सङ्गत करे अर्थात् उसके ज्ञान-कर्म्म एक-दूसरे के विरोधी न हों और **प्र हव्यमग्निरमृतेषु वोचत्**=वह जीवों के निमित्त हव्य=ग्रहण करने योग्य पदार्थ का उपदेश करे ।

सामान्य भोग शरीर के लिए है, वह तो पशुओं को भी प्राप्त है । आत्मज्ञान ही अमृतों के लिए हव्य है । जैसे अग्नि सब देवों के लिए हव्य ले-जाता है, वैसे ही इस विद्वान् को आत्मा के कल्याण के प्रवचन करने चाहिएं ।

इस मन्त्र में एक गहरी बात कही गई है । प्राकृतिक भोग की प्राप्ति के लिए विशेष उपदेश की आवश्यकता नहीं हैं । वह तो पशुओं को भी प्राप्त है, उसके लिए उन्हें कोई उपदेश देने नहीं जाता, प्रत्युत नैसर्गिक बुद्धि से वे उसे प्राप्त कर लेते हैं । हाँ, आत्मिक जीवन के लिए अपेक्षित सामग्री उपदेश के बिना ज्ञात नहीं हो सकती । उपदेश करना हो तो उसका करना चाहिए ।

१५२. तेरी शरण सबसे अच्छी है

ओ३म् । अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम् ।
भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि ॥

—ऋ० १०।१४२।१

शब्दार्थ—हे **अग्ने** सबको प्रकाश देनेवाले ! **अयम्** यह **जरिता** स्तोता **त्वे**+**अपि** तेरे ही सहारे **अभूत्** रहता है । हे **सहसः**+**सूनो** बलियों को झुका देनेवाले ! **हि** क्योंकि **अन्यत्** तुझसे भिन्न अन्य **आप्यम्** प्राप्तव्य, या सम्बन्धी **न** नहीं **अस्ति** है । **हि** सचमुच **ते** तेरी **शर्म** शरण **भद्रम्** भली और **त्रिवरूथम्** तीनों में श्रेष्ठ **अस्ति** है, अतः **हिंसानाम्** हिंसकों के **दिद्युम्** वज्र को हमसे **आरे**+**अप**+**आ**+**कृधि** बहुत दूर कर दे ।

व्याख्या—आश्रयार्थी समस्त संसार में घूम आया है । उसे अपेक्षित आश्रय मिला भी, थोड़े समय के पश्चात् उसमें उसे दोष दिखाई दिया । निर्दोष आश्रय की अभिलाषा से वह उसने छोड़ दिया । इस प्रकार सारा संसार उसने खोज डाला है । उसे बन्धु-बान्धव, मित्र, कलत्र, पुत्र, पिता सभी स्वार्थ के पुतले दीख पड़े, अतः आर्त्त स्वर में कहता है—**'अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम्'**= प्रभो ! यह भक्त तेरे ही सहारे हो गया है [रहता है] । बलवानों को झुकानेवाले ! तेरे विना और कुछ प्रातव्य नहीं और कोई सम्बन्धी नहीं । सच है । भगवान् ही सच्चा सखा, बन्धु, माता-पिता है—**'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता'** (य० ३२।१०)=वही प्रभु हमारा बन्धु, जनिता [माता-पिता] है और वही विधाता [जगन्निर्माता=सब जगत् का बनानेवाला] है ।

वह प्रबलों में प्रबल है, उससे अधिक प्रबल कोई नहीं है । उसकी शक्ति के सामने सब मन्द पड़ जाते हैं । वह सर्वशक्तिमान् है । सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणनिधान भगवान् मिल जाए तो और चाहिए ही क्या ? आश्रय खोजते-खोजते मिल गया सर्वाश्रय, सर्वाधार । सारे सहारे देखे थे, उनके गुण-अवगुण का ज्ञान है । जब यह मिला तो भक्त के मुख से निकला—**'भद्रं हि शर्म्म त्रिवरूथमस्ति ते'**=तेरी शरण तो सचमुच तीनों में श्रेष्ठ है । एक शरण जड़ प्रकृति की है । उससे तो जीव उतना पाता नहीं, जितना गँवाता है । चेतन जीव जब जड़ प्रकृति का शरणार्थी होना चाहता है तो समझ लो कि यह पहले बहुत कुछ गँवा चुका है । विवेकशील जीव को इतना विवेक नहीं रहा कि मैं स्वामी हूँ और यह स्व है । वह भूल गया कि जड़ चेतन की अपेक्षा हीन होता है, जड़ तो स्वयं कोई क्रिया भी नहीं कर सकता; उसमें तो क्रिया, चेष्टा, गति का आधान चेतन ही करता है, अतः जड़ की शरण तो मरण है । दूसरी शरण जीवों की है । जीव उसके समान चेतन अवश्य है । जड़ प्रकाशरहित प्रकृति की अपेक्षा अवश्य उत्कृष्ट है । सन्ध्या-मन्त्र में ही जीव को प्रकृति से श्रेष्ठ कहा है—

'उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्'=अन्धकारमयी प्रकृति से ऊपर उठकर उससे श्रेष्ठ आत्मप्रकाश के दर्शन करते हैं ।

किन्तु जीव के ज्ञानादि गुणों में तारतम्य है । एक-से-एक उत्कृष्ट दीखता है । जीव एक की शरण लेता है, उसकी अपेक्षा दूसरे का उत्कर्ष ज्ञात होने पर उसे छोड़ देता है । अन्त में वहाँ से भी अपना मनोरथ मिलता न देख शरणान्तर की तलाश करता है ।

तीसरी शरण जगद्विधाता परमात्मा—प्रकृति तथा जीव के अधिष्ठाता—की है । उसके प्राप्त

होते ही सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं, वासना शान्त हो जाती है और वह आवेश में आकर कहता है—**'भद्रं हि शर्म्म त्रिवरूथमस्ति ते'**=तेरी शरण तीनों में श्रेष्ठ है ।

अल्पज्ञता के कारण जीव बहुधा प्राप्त हुए उत्तम पदार्थ को सँभालकर नहीं रख पाता है । जीव अपनी इस दुर्बलता से डरता है । उसे चिन्ता है कि काम-क्रोधादि घातक शत्रु उसपर कहीं वार न कर दें, अपना वज्रप्रहार न कर दें और उसकी चोट खाकर वह त्रिवरूथ शरण को खो बैठे । वह उस आप्य=बन्धु से प्रार्थना करता है—**'आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि'**=हिंसकों के वज्र को मुझसे बहुत दूर कर । काम-क्रोधादि के वज्र से आत्मा बचा रहे तो इसके कल्याण की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है । तात्पर्य्य यह है कि शरण प्राप्त करके मनुष्य प्रमादी न बने, सदा सावधान रहे । इसके लिए वह निरभिमान होकर भगवान् से ही प्रार्थना करता है, क्योंकि उसे अपनी दुर्बलता का भान हो चुका है ।

१५३. भगवान् परिश्रमी की रक्षा करते हैं

ओ३म् । यस्त इ॒ध्मं ज॒भर॑त् सिष्विदा॒नो मू॒र्धानं॑ वा त॒तप॑ते त्वा॒या ।
भु॒व॒स्तस्य॑ स्वत॑वाँ पा॒युर॑ग्ने॒ विश्व॑स्मात्सीमघाय॒त उ॑रुष्य ॥ —ऋ० ४।२।६

शब्दार्थ—**सिष्विदानः** पसीना-पसीना होता हुआ **यः** जो **ते** तेरे लिए **इध्मम्** ईंधन, समिधा **जभरत्** लाता है अथवा **ते** तेरे **इध्मम्** प्रकाश को **जभरत्** धारण करता है **वा** अथवा **त्वाया** तेरा अभिलाषी होकर **मूर्धानम्** माथे को **ततपते** बार-बार तपाता है, हे **अग्ने** सर्वरक्षक ! तू **तस्य** उसका **स्वतवान्** परनिरपेक्ष बलवान्, अपने बल से बली होता हुआ **पायुः** रक्षक **भुवः** होता है । हे प्रभो ! तू **सीम्** उसको **विश्वस्मात्** सभी **अघायतः** हानिकरों से **उरुष्य** बचा ।

व्याख्या—भगवान् ने अपना प्राकृतिक ऐश्वर्य्य जीवों को अर्पित कर रखा है । प्रकृति के एक भी अणु-परमाणु को वह अपने निजी स्वार्थ के लिए नहीं बरतता । वह जीवों को भोग-मोक्ष देने के लिए संसार का पसारा पसारता है । जीवों के कर्म्मों के अनुसार उनके लिए मानो नये-नये संसार बनाता रहता है । भोग में लिप्त होनेवाले, कर्त्तव्यभ्रष्ट जीव को भोग से उठाने, उसे पुनः कर्त्तव्य-पथ पर लाने के लिए उसे बार-बार चेतावनी भी देता रहता है । इस तरह भगवान् मानो निरन्तर क्रियावान् है । स्वाभाविक है कि भगवान् की प्रीति भी उन्हीं के साथ हो सकती है, जो भगवान् के समान अपना सब-कुछ दे डालनेवाले हों । जब कोई मनुष्य स्वार्थभावना से रहित होकर कोई शुभ कर्म्म करता है तो वह भगवान् का कार्य्य करता है, अर्थात् निष्काम भाव से कर्म्म करना भगवान् के अर्पण करना है । इस प्रकार के कर्म्म करनेवालों का रक्षक भगवान् होता है । भगवान् की प्रीति-प्राप्ति के लिए भी स्वार्थत्याग करना आवश्यक है । कोई वस्तु किसी को देते समय अपने अभिमान के मर्दन के लिए मनुष्य को कहना चाहिए—'प्रभो ! तेरी वस्तु तुझे देने लगा हूँ ।' परिश्रम से की गई कमाई को जो भगवान् के मार्ग में दे डालता है, सचमुच भगवान् ही—'**भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुः**'=उसके रक्षक होते हैं । रक्षा करने के लिए भगवान् को किसी अन्य शक्ति की सहायता की अपेक्षा नहीं हुआ करती, वह '**स्वतवान्**' स्वबल से बलवान् है ।

पापों का मूल स्वार्थ है । जिसने स्वार्थ त्याग दिया, जो अपने लिए समिधा नहीं लाता, वरन्—'**यस्त इध्मं जभरत्**'=जो तेरे लिए समिधा लाता है, जो बार-बार—'**इदं न मम**' [यह मेरा नहीं है] पढ़ता है, उससे पाप की सम्भावना कैसे ? अथवा '**सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया**'=पसीना-पसीना होता हुआ तेरा अभिलाषी होकर माथे को बार-बार तपाता है । मूर्धा को भगवान् के लिए तपाना बड़ा विकट कार्य्य है । इसमें मनुष्य पसीना-पसीना हो जाता है । किसी साधक से पूछो, कितना माथा तपता है, कितना पसीना आता है । इतना परिश्रम करने पर वह अपनी रक्षा से बेसुध हो जाता है, अतः भगवान् से प्रार्थना करता है—'**विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य**'=उसे सभी अनिष्टों से, हानि करनेवालों से बचा । भक्त की रक्षा भगवान् के सिवा कौन कर सकता है ? अतः प्रभो ! तू ही उसकी रक्षा कर । तू तो '**अवितासि सुन्वतो वृक्तबर्हिषः** [ऋ० ८।३६।१] घर-द्वार छोड़ चुके हुए, निराश्रय याज्ञिक का तू ही रक्षक है । घर-बार छोड़कर भी जो यज्ञ करता है, वह अवश्य भगवदाश्रित ही होता है । शरणार्थी की रक्षा तो भगवान् की टेक है । भगवान् से रक्षित सदा-सर्वथा निर्भय एवं निरापद रहता है । इसलिए प्रत्येक उपाय द्वारा भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करनी चाहिए ।

१५४. प्रभो ! तू हमें सब ओर से बचा

ओ३म् । प॒श्चात्पु॒रस्ता॑द॒ध॒रादु॒दक्ता॑त्क॒विः काव्ये॑न॒ परि॑ पाहि राजन् ।
सखे॒ सखा॑यम॒जरो॑ ज॒रि॒म्णेऽग्ने॒ मर्ता॑ँ॒ अम॑र्त्य॒स्त्वं नः ॥ —ऋ० १०।८७।२१

शब्दार्थ—हे **राजन्** राजाओं के राजा, महातेजस्विन् ! प्रकाशपुञ्ज परमेश्वर ! तू **कविः** क्रान्तदर्शी है **काव्येन** अपनी क्रान्तदर्शिता के द्वारा **पश्चात्** पीछे **पुरस्तात्** आगे **अधरात्** नीचे **उदक्तात्** ऊपर [अथवा पश्चिम, पूर्व, दक्षिण, उत्तर] **परि** सब ओर से **पाहि** बचा । हे **सखे** मित्र ! तू **अजरः** अजर अपने **सखायम्** मित्र को **जरिम्णे** बुढ़ापे के लिए बचा । हे **अग्ने** सर्वरक्षक ! **त्वम्** तू **अमर्त्यः** अमर, मृत्युरहित **नः** हम **मर्तान्** मरनेवालों को बचा ।

व्याख्या—हे घट-घट के वासिन् ! सर्वप्रकाशिन् ! हम अल्पज्ञ हैं, अल्पगति हैं, अल्पशक्ति हैं, अल्पयुक्ति हैं । ऊपर, नीचे दायें, बायें तो क्या प्रभो ! हमें सामने के पदार्थ भी ठीक नहीं दीखते, अतः हमें प्रतीत नहीं हो पाता कि हमारे लिए क्या-क्या विपत्ति इन दिशाओं में खड़ी है । तू कवि है, क्रान्तदर्शी है । सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होने से तेरी क्रान्तदर्शिता स्वाभाविक है । तेरी क्रान्तदर्शिता से बाहर कोई भी वस्तु नहीं रह सकती, अतः प्रभो ! तू अपनी क्रान्तदर्शिता से, सर्वज्ञता से, हमें सब ओर से बचा । पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जहाँ भी विपदा हमारे लिए हो, उसे प्रभो तू ही हटा । मेरी तो कामना है—**'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'** [अ० १६।१५।६]=सभी दिशाएँ मेरी मित्र हो जाएँ। किसी दिशा में मेरा कोई विरोधी, वैरी न रह जाए । सभी मुझसे स्नेह करनेवाले हों । सर्वत्र मुझसे प्रीति करनेवाले हों ।

मित्र ! सखे ! प्रियतम ! तू अजर है, तुझे जरावस्था नहीं व्यापती, तुझे अवस्थाओं का विचार नहीं सताता । मैं हूँ तो तेरा मित्र, किन्तु बाल्य, यौवन और जरिमा मुझे व्याप रही है । मेरी तुझसे एक प्रार्थना है । भगवन् ! स्वीकार अवश्य कीजियो । उसे सुना-अनसुना न कर देना । सुन प्रभो ! सुन मेरी प्रार्थना—**'सखे सखायमजरो जरिम्णे'**=हे मित्र ! तू अजर सखा को बुढ़ापे के लिए बचा । निस्सन्देह मेरा शरीर अजर नहीं हो सकता, किन्तु प्यारे, बहुत दिनों तक तो रह सकता है । बाल्य या यौवन में यह विकराल काल के गाल में न समा जाए । इसे बूढ़ा होने के लिए बचा । पितः ! थोड़ी बात और । तू स्वयं तो अमर्त्य है, अमृत है, मृत्यु के जाल में नहीं फँसता, किन्तु हमें तूने **मर्त**=मर्त्य=मरणधर्मा बनाया है । इसको कच्चे फल की भाँति डाल से न गिरा, इसे बचा । प्रभो ! तू ही बता, तेरे सिवा ये वर कौन दे सकता है ? अतः तू ही बचा । यह मेरी कामना इसलिए है कि मैं चिरकाल तक तेरी आराधना करता हुआ तेरे आदेश का संसार में प्रचार कर सकूँ ।

१५५. मरने से पूर्व भगवान् को रक्षक बना लो

ओ३म् । आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥

—ऋ० ४।३।१

शब्दार्थ—तनयित्नोः मृत्युरूप विद्युत् के द्वारा **अचित्तात्** अचेत होने से **पुरा** पूर्व ही **अध्वरस्य** यज्ञ के **राजानम्** प्रकाशक **होतारम्** होता **रोदस्योः** दोनों लोकों के **सत्ययजम्** सच्चे याज्ञिक, ठीक-ठीक सङ्गति करनेवाले **रुद्रम्** रुद्र, भयंकर, किन्तु **हिरण्यरूपम्** हितकारी और रमणीय कान्तिवाले **अग्निम्** भगवान् को **अवसे+आ+कृणुध्वम्** रक्षक बना लो ।

व्याख्या—भगवान् ने यह जो संसार रचा है, यह एक यज्ञ है और ऐसा यज्ञ जो अध्वर है । अध्वर=अध्व-र, मार्ग देनेवाला । जीव को उन्नति का मार्ग इसी संसार में मिलता है, अतः यह अध्व-र= मार्ग देनेवाला है । संसार में हम प्रतिदिन भयंकर मारकाट, घातपात, रक्तपात देखते हैं, परन्तु वास्तव में यह यज्ञ तो अध्व-र=अ-हिंसा=हिंसारहित है । इस संसार-यज्ञ का पुरोधाः पुरोहित=ब्रह्मा भगवान् अत्यन्त दयावान् है, उसमें क्रूरता नाम को भी नहीं । उसके अध्वर में सम्मिलित होने के लिए तू भी अध्वर =हिंसारहित होके आ । भगवान् ने इस संसार-यज्ञ की सब व्यवस्था सत्य पर की है । स्वयं भगवान् ने कहा—'**सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति**' [अ० १२।१।१]=महान् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ इस पृथिवी को धारण किये हुए हैं । जब उसने विश्व की व्यवस्था सच पर की है, तब तो वह अवश्य '**सत्ययजं रोदस्योः**'=दोनों लोकों का सच्चा याज्ञिक है । समस्त संसार की ठीक-ठीक व्यवस्था करता है । उसकी व्यवस्था के कारण पापियों को कष्ट मिलता है, वे रोते हैं, इससे इस संसार-यज्ञ का ब्रह्मा उन्हें रुद्र प्रतीत होता है । रुद्र प्रतीत होने पर भी वह **हिरण्यरूप** अत्यन्त सुन्दर, कमनीय है, बड़ा हितकारी है । दूर से अवश्य वह रुद्र=विकराल भासता है, किन्तु समीप से देखने पर वह हिरण्यरूप दिखाई देता है । मृत्यु सिर पर सवार है, जैसा कि उपनिषत् में कहा है—**महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति**=महाभयङ्कर मृत्युरूप वज्र तय्यार है, जो इसे जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ।

ऐसा न हो, मौत की बिजली तुम्हारे सिर पर गिरे और तुम समाप्त हो जाओ और हृदय की भावनाएँ हृदय में ही लेकर चले जाओ ।

वेद कहता है—'**अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्**'=मृत्यु-वज्र सिर पर पड़ने से पूर्व तुम हिरण्यरूप भगवान् को रक्षक बना लो । उसे यदि तुम रक्षक बना लो तो मृत्यु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, वह काल का भी काल है, किन्तु इसमें विलम्ब न होना चाहिए । जाने कब मृत्यु सिर पर आ पड़े ! ऋषियों ने ठीक कहा है—'**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति**' [केनो०]=इसी जन्म में जान लिया तो ठीक है, अतः मरने से पूर्व उसे अपना लो ।

१५६. कौन जानता है हमने क्या पाप किया ?

ओ३म् । किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद ।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥

—ऋ० १०।१२।५

शब्दार्थ—राजा राजा ने, भगवान् ने **नः** हमारा **किं+स्वित्** क्या-कुछ **जगृहे** ले लिया, छीन लिया ? हमने **अस्य** इसके **व्रतम्** नियम को **कत्** किस भाँति **अति+चकृम** उल्लंघन किया ? इस बात को **कः** कौन **वि+वेद** विशेष रूप से जानता है ? **मित्रः+चित्** मित्र भी **हि** तो **देवान्** देवों पर **जुहुराणः** रुष्ट **स्म** है । **न+याताम्** विचलित न होनेवालों के लिए **श्लोकः** यश **अपि** और **वाजः** अन्न, बल, ज्ञान भी **अस्ति** है ।

व्याख्या—यदि सेना अपने शस्त्रों से प्रजा की रक्षा न करके उसकी हत्या करने लग जाए, तो चतुर धार्मिक राजा या राज्यसत्ता सेना से हथियार छीन लेती है और अन्य उचित दण्ड भी देती है । इसी प्रकार जीव जब अपने हथियारों से उपकार के स्थान में संसार का अपकार करने लगता है और सीमा का उल्लंघन कर जाता है तो न्यायकारी भगवान् उससे उस हथियार को, साधन को छीन लेते हैं और उसे ऐसी योनि देते हैं, जहाँ उसे उस पाप का अवसर न मिले । अल्पज्ञ राजा के दण्डविधान में भले ही कोई स्खलन हो सकता है, किन्तु सर्वज्ञाननिधान भगवान् के व्यवस्थाविधान में स्खलन होने की कोई सम्भावना नहीं है, अतः जब किसी से कोई साधन छिन जाता है, तब यदि वह विवेकी होता है, तो कहता है—**किं स्विन्नो राजा जगृहे**=अरे राजा ने हमारा क्या लिया है अर्थात् कुछ नहीं लिया है । यह कैसे ? सुनो—**'कदस्याति व्रतं चकृमा को विवेद'**=कौन जानता है कि किस-किस तरह हमने उसके नियम तोड़े हैं ?

पाप करने के पश्चात् प्रायः मनुष्य अपनी करतूत को भूल जाता है । जब उसका फल मिलने लगता है, तब तिलमिलाता है और भगवान् को उपालम्भ देता है, किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि दुःख पाप का फल है । पाप के बिना दुःख मिल नहीं सकता । जहाँ दुःख देखो, समझ लो, पाप फल रहा है, अतः वह उपालम्भ न देकर कहता है—**'कदस्याति व्रतं चकृमा को विवेद'**=कौन जानता है कि किस-किस तरह हमने उसके नियम तोड़े हैं ? और जो पाप का फल भोगते हुए धर्म्ममार्ग नहीं छोड़ते, धर्म्म पर दृढ़ धारणा धारे रखते हैं, उन—**'श्लोको न यातामपि वाजो अस्ति'**=विचलित न होनेवालों के लिए कीर्त्ति भी है और वाज भी, अथवा विचलित होनेवालों की न कीर्त्ति होती है और न जीवन-गति । जो विचलित नहीं होते केवल उनका यश ही नहीं बढ़ता, वरन् उनको सब प्रकार की जीवन-सामग्री भी मिलती है, और जो विचलित हो जाते हैं, उनको न यश मिलता है और न सम्पदा ।

१५७. जीवन की रात में जिसे तू आ मिले वह भला

ओ३म् । आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि ।
दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति ॥

—ऋ० ४।११।६

शब्दार्थ—**यत्** जब **निपासि** तू रक्षा करता है, तो **अस्मत्** हमसे **अमतिम्** अज्ञान को, अकर्मण्यता को, नास्तिकता को **आरे** दूर करता है **अंहः** पाप को **आरे** दूर करता है और **विश्वाम्** सम्पूर्ण **दुर्मतिम्** दुर्मति को, दुर्बुद्धि को, बुरे विचारों को **आरे** दूर कर देता है। **सहसः+सूनो** बलियों को झुकानेवाले **अग्ने** सर्वाग्रणी प्रभो ! वह **शिवः** भाग्यवान् है **यम्** जिसको तू **देवः** देव **दोषा** रात में **स्वस्ति** सुखपूर्वक **आ+सचसे** पूर्णरूप से आ मिलता है।

व्याख्या—मनुष्य पाप-प्रवाह में—भयङ्कर-प्रलयङ्कर पाप-प्रवाह में—जब बहने लगता है, तब उसका कुछ ठिकाना नहीं रहता। आत्मा की भूल से इन्द्रियाँ विद्रोही हो गईं, आत्मा के वश में न रहीं, वे आत्मा से विमुख होकर चलने लगीं, आत्मा ने उनसे हार मान ली और उनके अधीन हो गया, तभी पाप का सूत्रपात हुआ। यजुर्वेद [४०।३] में लिखा है—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

घोर अन्धकार से घिरे आसुरी लोक (योनि, कर्म्मफल भोगने का स्थान) हैं, जो आत्मघाती जन हैं, वे मरकर उन लोकों को प्राप्त करते हैं अर्थात् आत्मघाती को मरने के बाद भी और इस जन्म में भी प्रकाश और प्रकाशसाधनों से वञ्चित कर दिया जाता है। ऐसे अन्धकार में विलीन मनुष्य के सुकर्म्म जब जाग खड़े हों, तो—'**दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति**'=हे महाबल अग्रणी ! वह भाग्यवान् है, जिससे आप इस अन्धकार में आ मिलते हैं।

एक संकेत और है—ध्यान रात में करना चाहिए। जब सब ओर सन्नाटा हो। किसी प्रकार का शोर-शराबा न हो। भगवान् रात के समय आ मिलते हैं, अकेला देखकर या भटका समझकर। आते ही भगवान् ने अमति=नास्तिकता दूर कर दी। जब वह आ मिला, तो उसकी सत्ता का अपलाप, उसकी सत्ता से नकार कैसा ? सारे पापों का मूल नास्तिकता है। यदि हमें भगवान् की सत्ता पर निष्ठा हो, उसकी न्यायकारिता, कर्म्मफलप्रदातृता पर विश्वास हो, कार्य्यकारण के ध्रुव नियम पर दृढ़ धारणा हो, तो पाप हो ही नहीं सकता। भगवान् की सत्ता का अपलाप, उसकी सत्ता पर अविश्वास, उसकी न्यायकारिता पर अनास्था और कार्य्यकारण-सिद्धान्त पर अश्रद्धा हो, तो फिर पापपङ्क में धँसने में क्या विलम्ब है ? अतः अमति के नाश के साथ भगवान् भक्त की पापभावना का भी अभाव कर देता है। पाप न रहे तो उनके संस्कार से होनेवाले विचारों का रहना तो सम्भव ही नहीं। इस प्रकार भगवान् रक्षा करते हैं।

१५८. महान् सौभाग्य के लिए बल लगा

ओ३म् । अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥

—ऋ० ५।२८।३

शब्दार्थ—हे **अग्ने** नेतः ! **महते** महान् **सौभगाय** सौभाग्य के लिए **शर्ध** बल लगा **तव** तेरी **द्युम्नानि** कीर्त्तियाँ **उत्तमानि** उत्तम **सन्तु** हों। **जास्पत्यम्** पति-पत्नी के व्यवहार को **सम्** भली प्रकार **सुयमम्** सुनियन्त्रित, सुसंयत, उत्तम संयमयुक्त **आ+कृणुष्व** कर और **शत्रूयताम्** शत्रुता करनेवालों के **महांसि** बलों को, तेजों को **अभि+तिष्ठ** दबा दे, अपने अधिकार में कर ले।

व्याख्या—मनुष्य जितने भी कार्य्य करता है, सबमें थोड़ा-बहुत बल अवश्य लगाना पड़ता है। वेद कहता है जब बल लगाना ही है तो—**'अग्ने शर्ध महते सौभगाय'**=हे ज्ञानी ! तू महान् सौभाग्य के लिए बल लगा। वेद में एक अन्य स्थान पर कहा है—**'उच्छ्रयस्व महते सौभगाय'** (ऋग्वेद ३।८।२)= महान् सौभाग्य के लिए उठ, अथवा उन्नति का आश्रय ले। अपने से किसी बड़े का सहारा लेने लगो, तो किसी महान् आदर्श के लिए लो। जब तू महान् आदर्श को लेकर बल लगाएगा तो—**'तव द्युम्नानि उत्तमानि सन्तु'**=तेरी कीर्त्तियाँ उत्तम होंगी। सौभाग्यशाली की कीर्त्ति अवश्य ही सुकीर्त्ति होती है। सौभाग्य-प्राप्ति में एक बड़ी भारी बाधा है, और वह बहुधा मनुष्य को च्युत कर देती है। वह है विलास। विलास और विनाश का सहवास है। विलास को बुलाओ, विनाश बिन बुलाये आ जाएगा। विलास से सब प्रकार का नाश होता है, रूपनाश, सम्पत्तिनाश, कान्तिनाश, कीर्त्तिनाश आदि, अतः वेद सावधान करता हुआ कहता है—**'सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व'**=दाम्पत्य व्यवहार को सुनियन्त्रित रख। विवाह का उद्देश्य सामने रख। विवाह का एकमात्र उद्देश्य सन्तान है। भोग तो उस उद्देश्य का एक साधन है। यदि उद्देश्य पूरा न हो, तो साधन दूषित माना जाता है। वेद कह रहा है—दाम्पत्य को दूषित मत करो। मत समझो, विवाह ने तुम्हें भोग का पट्टा दे दिया है, वरन् एक पुनीत, समाज-वर्द्धक कार्य्य के लिए तुमको दम्पती बनाया गया है।

सचमुच विवाह के सम्बन्ध में ऐसी पवित्र भावना तथा संयम का उपदेश वेद के समान अन्यत्र कहीं नहीं है। गृहस्थ भी एक छोटा-मोटा राज्य होता है, इसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ आती रहती हैं। भगवान् का उपदेश है, इससे उदास मत हो, वरन् उठ और—**'शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि'**=शत्रुओं के तेज को दबा दे। उनके तेज तेरे सामने फीके पड़ जाएँ। जो विलासी है, वह दूसरों के तेजों का अभिभव क्या करेगा ? संयमी के तेज की जो ज्वाला होती है वह चक्रवर्त्तियों को भी चकित कर देती है, अतः संयमी बनकर शत्रुओं को दबा।

१५६. स्तोता के लिए यज्ञ करना सरल कर

ओ३म् । वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा केचिदत्रिणः ।
अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

—ऋ० १।९४।९

शब्दार्थ—वधैः वधसाधनों के द्वारा **दुःशंसान्** दुष्टवचनवालों को और **दूढ्यः** दुष्ट विचारवालों को **अप+जहि** मार दे **वा** और **ये+केचित्** जो कोई **अत्रिणः** चटोरे, अथवा खानेवाले **दूरे** दूर **वा** अथवा **अन्ति** समीप हैं, उनको भी मार भगा । **अथ** और **गृणते** स्तुति करनेवाले के लिए **यज्ञाय** यज्ञ करना **सुगम्** सरल **कृधि** कर दे । हे **अग्ने** नेतः ! **वयम्** हम **तव** तेरे **सख्ये** सख्य में **मा** मत **रिषामा** हिंसित हों ।

व्याख्या—प्रजा राजा से कह रही है कि राजन् ! आप ऐसी व्यवस्था कीजिए कि जिससे राष्ट्र में दुष्ट आचार-विचारवाले जन न रहें । राष्ट्र की शान्ति, समता मिट जाती है यदि राष्ट्र में दुष्ट विचार तथा दुराचार प्रचार पा जाएँ । राज्य में ऐसे कर्मचारी भी हो सकते हैं, जो प्रजा का रक्त निरन्तर चूसा करते हैं, वे चाहे राजा के निकटवर्ती हों चाहे दूरस्थ; राजा का परम कर्त्तव्य है कि ऐसे भक्षकों से भरसक प्रजा की रक्षा करे । अन्यथा प्रजा में अशान्ति और क्षोभ बढ़कर राज्य का मूल से उन्मूलन हो जाया करता है । सुराज्य की पहिचान ही यह है कि धार्मिक जन अपने धर्म्म-कर्म्म का पालन किसी प्रतिबन्ध के बिना कर सकें । वेद कहता है—**'अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृधि'**=यज्ञ के लिए कहनेवाले के लिए यज्ञ करना सरल कर दे अर्थात् यज्ञकारक, यज्ञप्रचारक का कार्य निर्बाध कर दे ।

संसार में जितने भी परोपकार के कार्य्य हैं, वैदिक परिभाषा के अनुसार वे सब यज्ञ शब्द के वाच्य हैं । परोपकारी को परोपकार-कार्य्य में विघ्न की प्रतीति ही न हो । मन्त्र के पहले चरण से ऐसी ध्वनि निकलती प्रतीत होती है कि वेद के अनुसार राजा अत्यन्त उच्छृङ्खल होना चाहिए, ऐसे भ्रान्त मनुष्य को मन्त्र का चौथा चरण ध्यान से मनन करना चाहिए—**'अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव'**=हे नेतः ! हम तेरी सखिता में हानि न उठाएँ ।

(क) राजा को सखा कहना राजा और प्रजा के सम्बन्ध को अत्यन्त स्पष्ट कर देता है । सखा सखा में भेद नहीं होता । कहते हैं, मित्र मित्र अभिन्नहृदय होते हैं अर्थात् राजा और प्रजा का हृदय एक हो । **'समाना हृदयानि वः'**=तुम सबके हृदय एक-से हों, यह उपदेश सबके लिए है ।

(ख) **मा रिषाम**=हम हानि न उठाएँ अर्थात् राजा प्रजा का उत्पीडन न करे । इससे सिद्ध होता है कि वेदोक्त राजा स्वेच्छाचारी नहीं होता, वरन् प्रजा की बात मानकर चलता है ।

१६०. धन खोजनेवाली बुद्धियों को बढ़ा

ओ३म् । येन वंसाम पृतनासु शर्धतस्तरन्तो अर्य आदिशः ।
स त्वं नो वर्ध प्रयसा शचीवसो जिन्वा धियो वसुविदः ॥

—ऋ० ८।६०।१२

शब्दार्थ—अर्यः शत्रु की **आदिशः** आयोजनाओं को **तरन्तः** विफल करते हुए हम **येन** जिसके द्वारा **पृतनासु** युद्धों में **शर्धतः** ललकारनेवालों को **वंसाम** वश में कर सकें, **सः+त्वम्** वह तू **नः** हमें **प्रयसा** प्रयास के साथ **वर्ध** बढ़ा और हे **शचीवसो** बुद्धि और शक्ति के धनी ! **वसुविदः** धन खोजनेवाली **धियः** बुद्धियों को **जिन्व** उत्तेजित कर ।

व्याख्या—जब दो राष्ट्रों में परस्पर वैर-विरोध बढ़ जाता है, तब वे एक-दूसरे को दबाने का उपक्रम करने लगते हैं । उस समय राष्ट्र के उत्साही, वीर सैनिक अथवा राष्ट्रवासी जन अपने राष्ट्रपति, सेनापति तथा नेता से जो कुछ कहते हैं, उसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन इस मन्त्र में कराया गया है । राष्ट्रवासी कह रहे हैं—शत्रु सिर पर आ गया है, वह हमें दास बनाने की योजनाएँ बना रहा है । आपके नेतृत्व में शत्रु की सभी योजनाएँ, सभी चालें हम विफल कर देंगे । शत्रु हमें ललकार रहा है, उसे अपने जनबल पर, बाहुबल पर अभिमान है, किन्तु हमें दृढ़विश्वास है कि हम भी उसे परास्त कर देंगे; हाँ, आप हमारा नेतृत्व करते रहें । सैन्य-संचालन एक विशिष्ट जटिल कला है । विविध भावनाओंवाले जनों को एक मनवाला बनाकर एक उद्देश्य के लिए अपने प्राण तक देने को तत्पर कर देना खिलवाड़ नहीं है । इसके लिए विशाल बुद्धि, सुपटु चातुर्य्य, दीर्घदर्शिता आदि अनेक गुणों की अपेक्षा होती है । फ़सादी शत्रु के प्रति राष्ट्रवासियों के भावों का क्षीण-सा चित्र निम्नलिखित मन्त्र [ऋ० १।२१।२] में है—

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥

हे इन्द्र ! तू हत्यारों को मार दे । फ़साद करनेवालों को, हमसे युद्ध करनेवालों को नीचा कर दे । जो हमें दबाना चाहता है, दास बनाना चाहता है, उसे घोर अन्धकार में पहुँचा दे । आलस्य और प्रमाद पराजय के साधन हैं, तू विजय चाहता है, तो—**'स त्वं नो वर्ध प्रयसा शचीवसो'**=बुद्धि के धनी ! तू हमें पुरुषार्थ के साथ आगे बढ़ा । केवल उजड्डपन से विजय नहीं मिलता । क्षणिक वाह-वाह उसे भले ही मिल जाए जो अपने भुजबल के उन्माद में विचारे बिना शत्रुदल पर टूट पड़े; किन्तु स्थायी विजय उसके भाग्य में नहीं होता । ऐसा प्रयास प्रायः सब ओर से निराश जन किया करते हैं । निराशा की दशा में बुद्धि अपने ठिकाने नहीं रहती । बुद्धि ही वास्तव में बल है, जैसा कि एक नीतिकारक ने कहा है—**'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्'**=बल उसी का है, जिसके पास बुद्धि है, बुद्धिरहित में बल कहाँ ? सचमुच मूर्ख निर्बल होता है । अतएव सेनानायक बुद्धिमान् होना चाहिए । इसी भाव से मन्त्र में सेनानायक को **'शचीवसु'**=बुद्धि का धनी कहा है । मूर्ख को नेता नहीं बनाना चाहिए । बुद्धिमान् नेता का हित इसी में है कि उसके अनुयायी भी बुद्धिमान् हों । वेद ने कहा ही है—**'धियो जिन्व वसुविदः'**=धन प्राप्त करानेवाली बुद्धियों को उत्तेजित कर । नेता बुद्धिमान्, अनुयायी बुद्धिमान्, सारा राष्ट्र बुद्धिनिधान, फिर कहीं से किसी भय की सम्भावना नहीं रहती ।

१६१. तू धन के कुटिलतारहित मार्गों से ले-जाता है

ओ३म् । नू नों अग्नेऽवृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिभिः पर्ष्यंहः ।
ता सूरिभ्यो गृणते रासि सुम्नं मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥

—ऋ० ६।४।८

शब्दार्थ—हे **अग्ने** आगे ले-जानेवाले ! **नु** निस्सन्देह तू **अवृकेभिः** कुटिलतारहित **पथिभिः** मार्गों से **नः** हमें **स्वस्ति** सुखपूर्वक **रायः** धनों को **वेषि** प्राप्त कराता है, और **अंहः** हमारी कुगति, त्रुटि को **पर्षि** पूरा करता है । तू **सूरिभ्यः** विद्वानों से **ता** उन धनों तथा **सुम्नम्** सुख को **गृणते** स्तोता को **रासि** देता है । हम **सुवीराः** उत्तम वीर, श्रेष्ठ वीरोंवाले **शतहिमाः** सैकड़ों वर्ष **मदेम** आनन्द मनाएँ ।

व्याख्या—वेद सर्वाङ्गपूर्ण धर्म्मग्रन्थ है । समूचे मनुष्य-समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए जिन-जिन पदार्थों की आवश्यकता है उन सभी पदार्थों की प्राप्ति के साधनों का वर्णन वेद में है । वेद का मुख्य उद्देश्य मानव-जीवन को उत्कर्ष की चरम काष्ठा तक पहुँचाकर मुक्ति दिलाना है, अतः निर्दोष साधनों का ही प्रतिपादन वेद में है । सदोष, छल-कपटयुक्त साधनों से वेद दूर रहने का उपदेश करता है । समाज का व्यवहार चलाने के लिए धन चाहिए, अतः धन कमाने का वेद में उपदेश है—**'शतहस्त समाहर'** —(अ० ३।२४।५)=सैकड़ों हाथों से कमा । सैकड़ों हाथों का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि मनुष्य अन्याय, अनीति से धन कमाये, वरन् धन कमाने में धर्म्म को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए । इसी भाव से धनाभिलाषी कहता है—**'नू नो अग्नेऽवृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिभिः पर्ष्यंहः'**=हे अग्ने ! सचमुच तू हमें अकुटिल मार्गों से सुखपूर्वक धन प्राप्त कराता है और हमारी त्रुटि पूरी करता है । इसमें **'अवृकेभिः पथिभिः'** [कुटिलतारहित मार्गों से] पद बहुत ध्यान देने योग्य है । धन चाहिए, किन्तु कुटिल उपायों से नहीं । आज संसार धनतृष्णा से पागल हो उठा है । धनार्जन में युक्त-अयुक्त का कोई विचार आज निस्सार कहा जाता है । इसी से समस्त जगत् परिनप्त है । इसी परिताप को शान्त करने के लिए आज वेद के आदेशों पर चलने की अत्यधिक आवश्यकता है । आज धन के लोभ के कारण संसार की जातियाँ भूखे भेड़ियों की भाँति एक-दूसरे को खाने दौड़ रही हैं । वेद कहता है, भेड़ियों के मार्ग से मत चलो । तुम मनुष्य हो मनुष्य, इसे मत भूलो ।

भेड़िये दल बाँधकर शिकार को चलते हैं । उनमें से मार्ग में कोई मर जाए तो पहले उसे खा लेते हैं, फिर आगे चलते हैं । आज का संसार भी जीवनसंग्राम में चलते दुर्बल साथियों—दुर्बल जातियों, निर्बल देशों को—हड़प रहा है । वेद कहता है—दुर्बल को खा नहीं, वरन्—**'पर्ष्यंहः'** उसकी त्रुटि दूर कर । कितनी उदात्त है वेद की शिक्षा ! और इसके विपरीत चलने से कितना क्लेषक्लिष्ट है आज का जगत् ! धन और मन शान्त न हो, तो वह धन निधन (मृत्यु) भासने लगता है । वेद ने इसलिए कहा कि प्रभो ! तू धन और सुम्न=मन की उत्तम अवस्था=सुख भी देता है । धन और सुख दोनों मिलें, तो सम्पूर्ण आयु मस्ती से बीतेगी—**मदेम शतहिमाः सुवीराः**=हम सुवीर सैकड़ों वर्ष मस्त रहें ।

१६२. इसी जन्म में तेरी सेवा करें

ओ३म् । इह त्वा भूर्या चरेदुपत्मन दोषावस्तर्दीदिवांसमनु द्यून् ।
क्रीळन्तस्त्वा सुमनसः सपेमाभि द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम् ।।

—ऋ० ४।४।६

शब्दार्थ—मनुष्य **अनु+द्यून्** प्रतिदिन **दोषावस्तः** दिन-रात **दीदिवांसम्** चमकनेवाले **त्वा** तुझको **इह** यहीं **त्मन्** अपने आत्मा से, सर्वात्मना **भूरि** बहुत-बहुत **उप+आ+चरेत्** सेवन करे । हम **जनानाम्** लोगों के **द्युम्ना** धनों, यशों, तेजों को **अभि+तस्थिवांसः** दबाते हुए **क्रीळन्तः** खेलते हुए **सुमनसः** उत्तम मनवाले होकर **त्वा** तुझे **सपेम** मिलें, पूजें ।

व्याख्या—मनुष्यजन्म के प्रयोजन पर ध्यान देने से एक बात अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होती है कि खाना, पीना, सोना, जागना, चलना, बैठना, हर्ष, शोक, प्रसाद, विषाद, भूख, प्यास, मैथुनादि मनुष्यों और पशुओं दोनों में हैं, किन्तु मनुष्य में एक ऐसी वस्तु है जो पशु-पक्षियों में नहीं है । पशु-पक्षी अपनी उन्नति के उपाय करते हुए नहीं दीखते, इसके विपरीत मनुष्य अपनी उन्नति के लिए सदा विचार करता रहता है। केवल इसी जन्म के सुख के लिए नहीं, वरन् इस जन्म के बाद=परलोक की स्थिति को भी उत्कृष्ट बनाने के साधनों की कल्पना करता है । इस संसार में पुत्र, कलत्र, मित्र, माता, पिता, बन्धु-बान्धव, धन, धान्य, गृहवास, सम्पत्ति, राज्य, शासन आदि उसे सुख-साधन प्रतीत होते हैं । जब उसे इन सबके होते हुए भी सुख नहीं मिलता, अथवा इच्छित सुख की अपेक्षा न्यून सुख मिलता है तो वह अकुला जाता है और वास्तविक सुख की खोज करता है । उसे ज्ञात होता है कि—**'वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी । प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तम्'** [ऋ० ७।८६।१]=जो इन विशाल द्यावापृथिवी को थाम रखता है, वही इस अति महान् सुख को प्रेरित करता है ।

सुखान्वेषी को सुख के मूलस्रोत का ज्ञान हो गया है । तब उसे उसका सेवन करना चाहिए । इस बात को वेद इन शब्दों में कहता है—**'इह त्वा भूर्य्या चरेदुपत्मन्'**=इसी जन्म में मनुष्य सर्वात्मना तेरी बहुत-बहुत उपचर्य्या करे । यह कार्य ऐसा नहीं कि इसे कल पर छोड़ा जा सके । जाने कल को काल आ जाए ! जी-जान इस कार्य्य में लगा देनी चाहिए । जैसे किसी ने कहा है—**'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्'**=या कार्य्य सिद्ध करूँगा या शरीर नष्ट करूँगा । सारांश यह है कि मरना या बढ़ना ही मनुष्य के सामने होना चाहिए, अतः **'दोषावस्तर्दीदिवांसमनु द्यून्'**=प्रतिदिन, रात-प्रभात उस चमकीले की सेवा करे अर्थात् नियमपूर्वक लगातार उसकी आराधना करनी चाहिए । यह नहीं कि एक दिन अर्चा की और दस दिन नागा ही कर दिया । जैसे शरीर-पोषण के लिए नित्य और नियमित रूप से निश्चित समय पर भोजन करने से अभीष्ट सिद्धि होती है, ऐसे ही आत्मपुष्टि के लिए भी नित्य नियमित रूप से निश्चित समय पर भगवदाराधना करनी चाहिए । इस प्रकार उसकी अर्चा-आराधना प्रतिदिन करने से परमोत्तम लाभ होता है ।

१६३. उठो ऐश्वर्य का भाग देखो

ओ३म् । उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ —ऋ० ७।७२।१

शब्दार्थ—**उत्तिष्ठत** उठो और **इन्द्रस्य** ऐश्वर्य के **ऋत्वियम्** व्यवस्थित **भागम्** भाग को **अवपश्यत** देखो **यदि** यदि वह **श्रातम्** पक चुका है, तो **जुहोतन** होम दो और **यदि** यदि **अश्रातम्** नहीं पका है, तो भी **ममत्तन** मस्त होवो ।

व्याख्या—वेद में समाज की जो कल्पना है, वह अत्यन्त उदात्त है । वेद आदेश करता है कि समाज समृद्ध, पुष्ट, धन-धान्य से भरपूर होना चाहिए । इसीलिए वेद कहता है—**'उत्तिष्ठत'**=तुम सब उठो । यहाँ **'उत्तिष्ठ'** [तू उठ] नहीं कहा । वरन् **'उत्तिष्ठत'** [तुम सब उठो] कहा है । समाज में कोई एकाध उन्नत हो, शेष हों अवनत परिस्थिति में, तो समाज अवनत और अशान्त ही रहेगा, अतः **'तुम सब उठो'** आदेश हुआ है । उठकर क्या करें—**'अवपश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्'**=ऐश्वर्य के व्यवस्थित भाग को देखो । उपनिषत् ने इस पूर्वार्द्ध का सुन्दर शब्दों में अनुवाद किया है—**'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत'**—[कठो० १।३।१४] उठो, जागो और श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करके होश में आओ । उपनिषत् ने कहा—**'प्राप्य वरान्निबोधत'** [श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करके होश में आओ]; वेद कहता है—**'अवपश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्'** [ऐश्वर्य के व्यवस्थित भाग को देखो] । 'वर पदार्थ' और 'ऐश्वर्य के व्यवस्थित भाग' में कोई अन्तर नहीं है । 'अवपश्यत' का अर्थ है—'गहरी दृष्टि से देखो' । 'निबोधत' का अर्थ है—'समझो, होश में आओ ।' दोनों के भाव में समानता है ।

'उपनिषत्' का 'वर'=श्रेष्ठ पदार्थ बहुत सुन्दर है । किन्तु वेद का 'ऋत्वियं भागं'=व्यवस्थित भाग बहुत महत्त्व का है । सृष्टि के पदार्थों में सबका भाग है—किसी का थोड़ा, किसी का अधिक । यह थोड़ा या अधिक अन्धाधुन्ध विभाजन पर अवलम्बित नहीं, वरन्, जिसने जैसी कमाई की है, उसके अनुसार व्यवस्थित है । वेद ने इस व्यवस्थित भाग की बात कहकर इसके प्राप्त करने के उपाय का भी निर्देश किया है अर्थात् जैसे कर्म्म करोगे, सृष्टि के पदार्थों में भला या बुरा, अधिक या अल्प वैसा ही तुम्हारा भाग रहेगा । उसमें घटाबढ़ी करने का अधिकार किसी को नहीं है ।

वेद ने, उत्तरार्ध में ऐसी बात कही है जिसपर बलिहार होने को जी चाहता है—**'यदि श्रातं जुहोतन'**=यदि पका है तो होम कर दो, अर्थात् ऐश्वर्य्य की पराकाष्ठा पर पहुँचकर उसे होम—**'इदं न मम'** [यह मेरा नहीं] कहकर भगवान् की राह में दे डालो । धन के त्याग में सुख है, संग्रह में दुःख है । और **'यद्यश्रातं ममत्तन'** यदि कच्चा हो तो मस्त हो जाओ । कच्चे पर दुःख मानने का अधिकार नहीं है । पक्के को रखने का अधिकार नहीं, कच्चे पर शोक करने का नहीं । इसे कहते हैं—हानि-लाभ में समता । वेद ऐश्वर्य दिलाकर भी शान्त रखना चाहता है ।

१६४. हमें बता, हमारा धन क्या है ?

ओ३म् । किं नो॑ अ॒स्य द्रवि॑णं॒ कद्ध॒ रत्नं॒ वि नो॑ वोचो जातवेदश्चिकि॒त्वान् ।
गुहाध्व॑नः पर॒मं यन्नो॑ अ॒स्य रेकु॑ प॒दं न नि॑दा॒ना अग॑न्म ॥

—ऋ० ४।५।१२

शब्दार्थ—हे **जातवेदः** सर्वज्ञ ! तू **चिकित्वान्** जानता है, अतः **नः** हमें **वि+वोचः** विशेष रूप से बता कि **अस्य** इसमें से **नः** हमारा **द्रविणम्** धन **किम्** क्या है, और **कत्** कौन-सी **ह** सच्ची **रत्नम्** मूल्यवती सम्पत्ति है और **यत्** जो **नः** हमारे **अस्य** इस **अध्वनः** मार्ग का **परमम्** परम, अत्यन्त **गुहा** गुप्त रहस्य है ताकि हम **रेकु** शंकायुक्त **पदम्** पद **निदानाः** धरते हुए **न** न **अगन्म** जाएँ ।

व्याख्या—भक्त देखता है कि धन समझकर जिन-जिन पदार्थों का संग्रह किया था, वे एक-एक करके चले जाते हैं । उसे सन्देह हो जाता है कि यह धन है भी ? वह व्याकुल होकर कहता है—**'वि नो वोचो जातवेदश्चिकित्वान्'**=हे जातवेद ! सर्वज्ञ ! तू ज्ञान रखता है, अतः तू हमें स्पष्ट बता कि—**'किं नो अस्य द्रविणम्'**=इसमें से हमारा धन है क्या ? जिससे प्रीति हो, तृप्ति हो, जिससे जीवनयात्रा अनायास निबाही जा सके, उसे धन कहते हैं । जो नित्य नहीं, आगमापायी है, आने-जानेवाला है, उससे नित्य की, ध्रुव की तृप्ति कैसे होगी ? वेद में आता है—**'रत्नं दधाति दाशुषे'**=दाता के लिए रत्न बनाता है, अथवा दाता को रत्न देता है । वह—**'कद्ध रत्नम्'**=रत्न कौन-सा है ? और साथ ही साफ-साफ बताना—**'गुहाध्वनः परमं यन्नो अस्य'**=हमारे इस मार्ग का—जीवनपथ का—परम रहस्य क्या है, अर्थात् हम जो यह लम्बी संसारयात्रा कर रहे हैं, हमें इसका कोई लक्ष्य, कोई उद्देश्य दृष्टिगोचर नहीं होता । क्या ये ऐसे व्यर्थ ही है ? हमारी जीवनयात्रा निरुद्दिष्ट है ? अथवा इसका कोई उद्देश्य=प्रयोजन=साध्य है ? है, तो फिर वह गुप्त है । हमारी आँखों से, हमारी बुद्धि से ओझल है । इसे भी तो तू ही बताएगा, क्योंकि तू **'चिकित्वान्**=जानकार जो ठहरा । तू न बताएगा तो कहीं हम—**'रेकु पदं न निदाना अगन्म'**=संदिग्ध पग धरते न चल पड़ें । सन्देहास्पद दशा में हमें डर लगता है । तेरे भक्त ने कहा है—**संशयात्मा विनश्यति**=संशयालु नष्ट हो जाता है । संशयग्रस्त रहने से कर्त्तव्य कर्म्म कर ही नहीं पाता । कर्त्तव्य कर्म्म न करने से भविष्य के नाश में सन्देह ही नहीं रहता । नाश से बचने के लिए निस्सन्देह होना आवश्यक है, अतः परमोपदेशक ! इन सब समस्याओं का समाधान तू ही कर, हमें कुछ नहीं सूझ रहा ।

१६५. असार निर्बल प्रार्थना

**ओ३म् । अनिरेण वर्चसा फल्ग्वेन प्रतीत्येन कृधुनातृपासः ।
अधा ते अग्ने किमिहा वदन्त्यनायुधास आसता सचन्ताम् ॥**

—ऋ० ५।५।१४

शब्दार्थ—**अनिरेण** निर्बल **फल्ग्वेन** फल्गु, असार **प्रतीत्येन** दिखावे के, अनिश्चित **कृधुना** तुच्छ, लघु **वचसा** प्रार्थना-वाक्य से **अतृपासः** स्वयं तृप्त न होनेवाले **ते** वे, हे **अग्ने** प्रभो ! **इह** इस जन्म में **अध** अब **किम्** क्या **वदन्ति** कहते हैं । **अनायुधासः** आयुधरहित **आसता** अभद्र से **आ+सचन्ताम्** युक्त होंगे ।

व्याख्या—संसार में जब किसी को किसी कार्य के लिए प्रेरणा की जाती है, यदि वह प्रेरणा सफल न हो, तो कहा जाता है कि प्रेरणा निर्बल थी, इसमें सत नहीं था । दूसरे से अपनी बात मनवाने के लिए मनुष्य अपनी वाणी में बल लाने का प्रयत्न करता है । उसकी चेष्टा होती है कि उसके वचनों में ओज हो ताकि सुननेवाला उससे प्रभावित हो जाए और उसके वचन-प्रवाह में बह चले । इसीलिए विशेष-विशेष अवसरों पर जब कि जनता को विशेषरूप से उत्तेजित करना अभिप्रेत होता है, विशेषरूप से प्रभावशाली वक्ता आमन्त्रित किये जाते हैं । इसी भाँति अपेक्षित गुणप्राप्ति के लिए, अपनी त्रुटि के परिहार के लिए आर्त्त और आर्द्रभाव से भगवान् से जो प्रेरणा की जाती है, उसे प्रार्थना कहते हैं । यदि प्रार्थना में कोई बल न हुआ, हृदय के अन्तःस्तल से यदि उसका स्फुरण नहीं हुआ, तो वह निर्बल रहेगी । निर्बल प्रेरणा जबकि हमारे जैसे सामान्य पुरुष को नहीं हिलाती, तो उस अत्यन्त अडोल परमात्मा को कैसे हिलाएगी ? अतः प्रार्थना ओजस्विनी होनी चाहिए । वह फल्गु न हो, सारहीन, मरियल न हो, अपितु सारयुक्त, जीवटवाली हो । वह बाहरी दिखावे की न हो, वह तो अनिश्चित होगी । उस प्रार्थना-वाक्य से स्वयं प्रार्थी का स्वान्त शान्त नहीं हो रहा, उसका मन उससे नहीं भरता, अतृप्त रहता है । कहनेवाले को ही जब अपने वचनों पर आस्था नहीं तो सुननेवाले को क्या विश्वास होगा ? ऐसे लोगों की प्रार्थना विफल जाती है ।

ये लोग मानो ऐसे हैं कि लड़ने चले हैं और हाथ में कोई हथियार, शस्त्र, अस्त्र, लाठी आदि कुछ नहीं ले-चले । ऐसे योद्धाओं का जो परिणाम होना चाहिए, वही होता है अर्थात्—**'अनायुधास आसता सचन्ताम्'**=हथियारों से खाली अभद्र से सम्बद्ध हों । जिस प्रकार संसार में उपकरणरहित का निर्वाह कठिन है, वैसे ही परमार्थ-योद्धा का निर्वाह भी कठिन है । परमार्थ के युद्ध में, परमात्मा को वश करने के लिए प्रार्थना आयुध है । इसलिए मीमांसादि शास्त्र प्रभु के स्तुति-प्रार्थनापरक मन्त्रों को शस्त्र कहते हैं । यह शस्त्र तीक्ष्ण होना चाहिए । कुण्ठित शस्त्र से युद्ध नहीं लड़ा जा सकता ।

१६६. इस संसार में खाने की सामग्री बहुत है

ओ३म् । द्यामिन्द्रो हरिंधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम् ।
अधारयद्धरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तर्हरिश्चरत् ॥ —ऋ० ३।४४।३

शब्दार्थ—**इन्द्रः** अनन्तैश्वर्यवान् भगवान् ने **द्याम्** द्यौ को तथा **हरिधायसम्** सुवर्ण धाराओंवाली **पृथिवीम्** पृथिवी को **हरिवर्पसम्** हरे और सुनहरे रूपवाली बनाया है। उसने इन **हरितोः** दोनों सुनहरियों के बीच में **भूरि** बहुत **भोजनम्** भोजन **अधारयत्** धर रखा है, **ययोः** जिन द्यावापृथिवी के **अन्तः** मध्य में **हरिः** सूर्य्य **चरत्** विचरता है।

व्याख्या—वेद उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं का भण्डार है। द्यौ में असंख्य सूर्य्य, ग्रह, नक्षत्र चमक रहे हैं। उदीयमान सूर्य्य तप्त कुन्दन की भाँति दीखता है। सन्ध्या समय का द्वितीया का चन्द्र आकाश में ऐसा भासता है, मानो कषणोपल=कसौटी पर सुवर्ण रखा हो। इसी प्रकार ये सभी ज्योतिःपुञ्ज ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो आकाश-कसौटी पर सुवर्ण-धाराएँ हों, सोने की रेखाएँ हों। इधर पृथिवी पर दृष्टि डालिए। कहीं हरी-हरी घास है। कहीं हरे-हरे खेत लहलहा रहे हैं। कहीं वृक्ष, गुल्म, लताएँ फैल रहीं हैं। कहीं चुनार के विशाल वृक्ष सूर्य्य के प्रकाश को भूमि पर आने से रोककर हरितता, श्यामलता की वृद्धि कर रहे हैं। कहीं ताल है, कहीं हिन्ताल है। देवदारू, चील, कैल आदि नाना वृक्ष पृथिवी का रूप ही हरियाला बना रहे हैं। यह सब भगवान् ने बनाया है। सुवर्ण-रेखाओं से भरपूर द्यौ और सुनहरी साड़ी पहने वसुन्धरा के बीच में ही भगवान् ने बहुत भोजन रख दिया है। भोजन के लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य्य भी इन्हीं दोनों में विचरता है।

वेद एक चोट कर गया है। मनुष्य को अहंकार है, वह नित्य नये-नये आविष्कार करता है। इन आविष्कारों का पुरस्कार उसके लिए प्रतिदिन नवीन भोजन का प्रसार है। वेद कहता है तू कहाँ से लाता है ? भोजन तो भगवान् देता है, क्योंकि=**'अधारयद्धरितोर्भूरि भोजनम्'**=उस भगवान् ने द्यौ और पृथिवी में बहुत भोजन धारण कर रखा है। तू वहीं से लेता है। समस्त प्राणी अपना भोजन यहीं से ले रहे हैं अर्थात् हे भोले ! जो वस्तु तुम्हें अनायास मिल सकती है उसके लिए इतना प्रयास क्यों ? जिसने तुम्हें इस संसार में भेजा है, उसने तुम्हारे भोजन की व्यवस्था बहुत पहले भूरि मात्रा में कर दी है। उसके लिए तू क्यों खप-खप मरता है। भोजन की बात जाने दो, भोजननिर्माता तथा जीवनदाता सूर्य्य भी तो इन्हीं के बीच विचरता है। सूर्य्य के विचरने की बात गम्भीर है। बहुत उच्च कर्त्तव्य की ओर संकेत है। पा जाओ, तो बहुत अच्छा है।

१६७. सूर्य्यं में भण्डार

ओ३म् । यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ ।
स शेवधिं नि दधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः ॥

—ऋ० २।१३।६

शब्दार्थ—**यः** जो तू **भोजनम्** भोजन **च** और **वर्धनम्** वृद्धि **च** भी **दयसे** देता है और **आर्द्रात्** गीले से **मधुमत्** मधुर **शुष्कम्** शुष्क **आ+दुदोहिथ** बनाता है **सः** वह तू **विवस्वति** सूर्य्य से **शेवधिम्** कल्याणमय निधि को, भण्डार को **नि+दधिषे** धारण करता है, तू **विश्वस्य** समस्त विश्व का **एकः** अकेला, अद्वितीय **ईशिषे** स्वामी है **सः** ऐसा तू **उक्थ्यः** स्तुति योग्य **असि** है।

व्याख्या—भगवान् भोजन=भोगसामग्री देते हैं और साथ ही देते हैं उसके द्वारा वृद्धि, अर्थात् भोजन का प्रयोजन वर्धन है । यदि भोजन से शरीर का वर्धन न हो रहा हो तो कुशल भिषक् कहता है, यह शरीर रुग्ण है, इसे खाया अङ्ग नहीं लग रहा। भोजन के फलस्वरूप शरीरवर्धन ही अन्न के अङ्ग लगने का प्रमाण है । भगवान् की कारीगरी देखो कि उसने—**'आर्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ'**=गीले से मधुमय सूखा दोह डाला । दोहने पर दूध निकलता है, वह आर्द्र होता है, किन्तु भगवान् की कुशलता देखो, उसने उलटा खेल किया है, गीले से सूखा दोहा है । कैसी अद्भुत लीला है !

वेद वैज्ञानिक ग्रन्थ है, इसमें पदे-पदे विज्ञान के निशान मिलते हैं । यह भी विज्ञान का एक सुन्दर सिद्धान्त है । पृथिवी के चारों ओर जल-ही-जल है और पृथिवीतल—स्थल—पर भी जल बहुत है । यह बता रहा है मानो पृथिवी—सूखी पृथिवी—जल से निकाली गई हो । सन्देह की बात ही नहीं । ऋषि कह गये हैं—**'अद्भ्यः पृथिवी'**=जल से पृथिवी का निर्माण हुआ । पृथिवी के मिठास का परिमाण मनुष्य नहीं जान सकता । सूर्य्य को आग बरसानेवाला न समझो । इस मधुमयी, भोजनभण्डार धरा पर सूर्य्य से जीवन मिलता है । सूर्य्य के कारण वृष्टि होती है । वृक्ष-गुल्म-लताओं का फूलना-फलना सूर्य्य पर अवलम्बित है । सूर्य्य की किरणों में अनेक गुण निहित हैं। इसी लिए वेद कहता है—**'स शेवधिं निदधिषे विवस्वति'**=वह सूर्य्य में कल्याणभण्डार धारण करता है । काकू से भोजन के मूल की ओर संकेत करके वास्तविक भोजन—भजन—का **'सास्युक्थ्यः'** के द्वारा विधान कर दिया है । वह इस सूर्य्यादि का स्वामी अवश्य प्रशंसनीय है ।

१६८. भगवान् सबसे विशाल

ओ३म् । प्राक्तुभ्य इन्द्रः प्र वृधो अहभ्यः प्रान्तरिक्षात्प्र समुद्रस्य धासेः ।
प्र वातस्य प्रथसः प्र ज्मो अन्तात्प्र सिन्धुभ्यो रिरिचे प्र क्षितिभ्यः ॥

—ऋ० १०।८६।११

शब्दार्थ—**इन्द्रः** इन्द्र परमेश्वर **अक्तुभ्यः** रात्रियों से **प्र** बहुत **रिरिचे** अधिक है, विशाल है, और **वृधः** विशालता के कारण **अहभ्यः** दिनों से **प्र** बहुत विशाल है **अन्तरिक्षात्** अन्तरिक्ष से **प्र** बहुत विशाल है **समुद्रस्य** समुद्र की **धासेः** धारणशक्ति से, विशालता से **प्र** बहुत अधिक विशाल है **वातस्य** वायु के **प्रथसः** फैलाव से **प्र** अधिक है **ज्मः** पृथिवी के **अन्तात्** सिरे से **प्र** परे है **सिन्धुभ्यः** नदियों से, समुद्रों से, बहनेवाले तरल Liquid पदार्थों से **प्र** परे है और **क्षितिभ्यः** रहने के स्थानों से **प्र+रिरिचे** बहुत अधिक बढ़ा हुआ है।

व्याख्या—माता जिस प्रकार अतीव स्नेह से बालक को सरलता से ज्ञान कराती है, उसी प्रकार वेदमाता भी अत्यन्त सरलता से बालक को बोध कराती है। काल बहुत विशाल है। काल की कलना कोई न कर सका। दिन-रात में बटा हुआ भी काल अकलनीय ही रहता है। वेद कहता है—**'कालो ह भूतं भव्यं च'** [अ० १६।५४।३]=काल ही भूत और भविष्यत् है। जब भूत-भविष्यकाल है, तो कौन कह सकता है कि भूत कितना है ? कौन कहने का साहस कर सकता है कि भविष्यत् कितना है ? वेद कहता है—**'प्राक्तुभ्य इन्द्रः प्र वृधो अहभ्यः'**=इन्द्र अपनी विशालता के कारण रात-दिन से बड़ा है। काल की कलना की कल्पना करते विकलता छा जाती है, तो जो काल से विशाल है उसकी कलना=कल्पना कैसे हो ? वह काल से विशाल प्रभु अप्रतर्क्यपरिमाण अन्तरिक्ष से भी विशाल है=**'त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः'** [ऋ० १।५२।१२]=तू इस आकाशलोक से भी परे है अर्थात् आकाश का अवकाश भी तेरे सामने कुशकाश है—**'न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः'** [ऋ० १।५२।१४]=द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष जिसकी व्यापकता=विशालता का अन्त नहीं पा सकते। वायु तो अन्तरिक्ष और पृथिवी के मध्य में बहुत थोड़ा स्थान लेता है। उसका पसारा कितना हो सकता है ?

इस मन्त्र का एक भाव और भी है, वह यह कि भगवान् इन सबमें रहता हुआ भी इन सबसे अतिरिक्त है। रिक्त=प्ररिक्त=अतिरिक्त एक पदार्थ के वाचक हैं। उद्दालक आरुणि के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने बहुत सुन्दरता से इसका निरूपण किया है—**'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'** (बृहदा० ३।७।३)=जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से भिन्न है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर-सा है। जो पृथिवी को भीतर से नियमित करता है, वही तेरा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है। याज्ञवल्क्यजी ने अन्तर्यामी भगवान् को अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, आदित्य, चन्द्र, तारे, आकाश, तमः (अन्धकार), तेजः, सर्वभूत, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान (आत्मा) और रेत में रहता हुआ और उन सबसे अलग बताया है। सबमें रहता हुआ सबसे न्यारा यह तभी हो सकता है, जब सबमें रहकर बाहर भी हो। यजुर्वेद ४०।५ में कहा है—**'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'**=वह (भगवान्) इस सबके भीतर भी है, और बाहर भी। विशाल संसार की कल्पना मनुष्य की बुद्धि में नहीं आती, तो उससे महान् भगवान् के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है ? सामवेद के शब्दों में इतना ही कहना पर्याप्त है—**'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः'**=यह सब भगवान् की महिमा=महत्त्व-द्योतक है, भगवान् इससे बहुत महान् है।

१६६. बनिये की कमाई चोर-डाकू ने खाई

ओ३म्। समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु ।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत् ॥

—ऋ० ५।३४।७

शब्दार्थ—पणेः धर्म्मकार्य्य में भी व्यापारबुद्धि रखनेवाले बनिये के **भोजनम्** भोजन को **मुषे** चोरी के लिए, चोर के लिए **ईम्** ही **सं+अजति** गति देता है। **दाशुषे** दानशील को **सूनरम्** उत्तम—नेतृत्वयुक्त **वसु** धन **वि+भजति** विशेष रूप से देता है। **यः** जो **जनः** जन **अस्य** इसकी **तविषीम्** शक्ति को **अचुक्रुधत्** बार-बार और अतिशय क्रुद्ध करता है, वह **विश्वः** सारा जन **पुरु** बहुत बुरी तरह **दुर्गे** दुर्ग, दुर्दशा में **चन** ही **आ+ध्रियते** सब ओर से धारा जाता है, मारा जाता है।

व्याख्या—भगवान् ने तुम्हें भोजन दिया है, उसे बाँटकर खाओ। केवल अपना पेट भरना ही खाना नहीं है, वरन् खानेवाला तो वेद के शब्दों में वह है, जो अन्नाभिलाषी को अन्नादि दे। यथा—**'स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय'** [ऋ० १०।११७।३]=वही भोजः=खानेवाला है जो अन्नाभिलाषी, अन्नार्थ विचरनेवाले दुबले-पतले लेनेवाले को देता है। वेद [ऋ० १०।११७।५] बहुत मार्मिक शब्दों में कहता है—**'पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्'**=बलवान् मनुष्य याचक को तृप्त ही करे, और दीर्घ मार्ग को देखे। वेद लुका-छिपाके कुछ नहीं कहता; सभी बातें खोलकर कहता है। उसने अति दीर्घ मार्ग का भी निर्देश कर दिया है—**'ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः'** [ऋ० १०।११७।५]=अरे! धन रथ के पहियों के समान एक से दूसरे के पास जाते हुए वर्तते हैं अर्थात् मत समझ कि धनसम्पत्ति सदा एक के पास रहती है। यह आसन बदलती रहती है। किसी दिन तुमपर भी ऐसे दिन आ सकते हैं, अतः पत्थरदिल मत बनो।

जो मनुष्य यह सोचता रहता है—इसे मैं क्यों अन्न दूँ, इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? वही पणि है और पणि के भोजन की दशा इसी मन्त्र में बतला दी है—**'समीं पणेरजति भोजनं मुषे'**= पणि=बनिये के भोजन की गति चोरी है। ऐसे मूर्ख की ताड़ना वेद बहुत कठोर शब्दों में करता है—**'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य'** [ऋ० १०।११७।६]=वह मूढ़ व्यर्थ अन्न को प्राप्त करता है! सच कहता हूँ, वह तो उसका वध है। यह सर्वथा सत्य है। ऐसे बनिये का धन जब चोर-डाकू लेने आएगा, तो धन के साथ प्राण भी ले जाएगा। भगवान् की विधि देखो, भगवान् महादानी है। जो कंजूस है, मानो भगवान् की शक्ति को कुपित कर रहा है। अतएव **'दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु'**= वह अत्यन्त संकट में पड़ता है, क्योंकि **'अपृणन्मर्डितारं न विन्दते** [ऋ० १०।११७।१]=अदाता सुखदाता को नहीं पाता। उसके संकट में कोई उसका साथ नहीं देता है।

१७०. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव

ओ३म् । रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥

—ऋ० ६।४७।१८

शब्दार्थ—रूपंरूपम् प्रत्येक रूप के **प्रतिरूपः** अनुरूप **बभूव** हो रहा है **तत्** वह **रूपम्** रूप **अस्य** इसके **प्रतिचक्षणाय** प्रत्यक्ष दिखलाने के लिए है। **पुरुरूपः** बहुरूपिया **इन्द्रः** इन्द्र **मायाभिः** मायाओं से, बुद्धियों से **ईयते** जाना जाता है **हि** क्योंकि **शता+दश** हजारों **हरयः** हरि, सामर्थ्य **अस्य** इसके, इसमें **युक्ताः** युक्त हैं, लगी हैं।

व्याख्या—अमीबा की सूक्ष्म दशा से लेकर महाबुद्धिसम्पन्न मनुष्य के शरीर तक में आत्मा रहता है। अमीबा के देह में वह जैसी गति, मति और चेष्टा करता है, पिपीलिका के देह में जाकर उसकी स्थिति और भासने लगती है। गज के विशालकाय में जाकर उसकी और ही माया प्रतीत होती है। मनुष्य की शान इन सबसे निराली है। जीव, स्वकर्म्मानुसार जिस शरीर में जाता है, वैसा ही बन जाता है—**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**=प्रत्येक रूप में उसी के अनुरूप हो जाता है। शरीरों के ये भिन्न-भिन्न रूप आत्मा के कर्म्मों का फल होने से आत्मा के कहे जाते हैं। अतएव—**'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय'**=उसका यह रूप आत्मा का प्रत्यक्ष कराने के लिए है। अनुमान करके ही सन्तुष्ट न हो जाओ, वरन् यत्न करके उस आत्मा को प्रत्यक्ष देखने का यत्न करो। इसीलिए औपनिषद् महर्षि कहते हैं—**इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयम्** [बृहदा० ४।४।१४]=इस देह में रहते हुए ही हम उस तत्त्व को जान सकते हैं। भिन्न-भिन्न देशों में रहता हुआ आत्मा कैसे पहचाना जाए? वेद कहता है—**'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**=पुरुरूप=बहुरूपिया इन्द्र=आत्मा मायाओं के द्वारा जाना जाता है। दर्शन, स्पर्शन आदि विविध चेष्टाएँ आत्मसत्ता का परिचय देती हैं। जड़ में स्वतः चेष्टा हो नहीं सकती। विविध शरीरों में यह जो नानाविध चेष्टा हो रही है, यह बताती है कि कोई चेतन है। हर एक चेतनाधिष्ठित की इच्छा, वासना भिन्न-भिन्न होने से यह भी सिद्ध होता है कि सबमें पृथक्-पृथक् चेतन आत्मा है। उपनिषत् में भी कहा है—

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥—बृहदा० ४।३।१२,१३

अविनाशी आत्मा शरीर से निकलकर प्राण द्वारा सूक्ष्मशरीर की रक्षा करता हुआ वहाँ जाता है जहाँ इस एकहंस, ज्योतिर्मय, अविनाशी की कामना होती है। स्वप्न-दशा में जैसे ऊँच-नीच दशा को प्राप्त हुआ बहुत-से रूप बनाता है, कहीं स्त्रियों के साथ मौज मनाता है, कहीं खाता है और कहीं भयभीत होता है।

हम भी भयभीत होकर बहुत नहीं बताते। वेद के शब्दों द्वारा इतना कहने में कोई क्षति नहीं कि—**युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश**=इसे भगा ले-जानेवाली, बहका ले-जानेवाली हजारों शक्तियाँ हैं, अतः सावधान हो जाओ।

१७१. तुझे किसी दाम न त्यागूँ

ओ३म् । महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ।। —ऋ० ८।१।५

शब्दार्थ—हे **अद्रिवः** सम्पूर्ण भोगसामग्री के प्रदान करनेवाले भगवन् ! मैं **त्वाम्** तुझको **महे**+**शुल्काय**+**चन** बहुत बड़े शुल्क के लिए भी **न**+**परा**+**देयाम्** न छोड़ूँ । हे **वज्रिवः** वारकशक्तिसम्पन्न ! **शतामघ** अनन्त धनवाले ! **न** न **शताय** सौ के बदले **न** न **सहस्राय** हजार के बदले और **न** न **अयुताय** दस हजार के बदले तुझे त्यागूँ ।

व्याख्या—जीव की विचित्र दशा है । एक ओर भगवान् है, और दूसरी ओर भोगभरा जहान है । भगवान् दीखता नहीं, भोगोंसहित जहान सबके सामने है । संसार की साधारण नीति यही है कि वह अप्रत्यक्ष=परोक्ष के लिए प्रत्यक्ष का त्याग नहीं करता, वरन् प्रत्यक्ष के समक्ष परोक्ष को परोक्ष कर देता है । वह तो पहले ही से परोक्ष हो रहा है । यम ने नचिकेता को कहा था—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।। कठो० १।१।२३,२५

सौ-सौ वर्ष की आयुवाले पुत्र-पौत्र माँग ले, बहुत-से पशु, सुवर्ण, हाथी, घोड़े, भूमि का विशाल ठिकाना और यावदिच्छ चिरजीवन माँग ले । रथों समेत, बाजों-गाजोंवाली ये स्त्रियाँ हैं । साधारण मनुष्यों को ये नहीं मिल सकतीं । तुझे मैं ये सब देता हूँ । इनसे अपनी सेवा-शुश्रूषा करा, किन्तु मृत्यु के पश्चात् की बातें न पूछ ।

यह मनोविज्ञान का पण्डित है, परोक्ष से हटाकर नचिकेता को प्रत्यक्ष से जोड़ना चाहता है । बेटे, पोते, हाथी, घोड़े, धन-धान्य, नाचना, गाना आदि सभी प्रत्यक्ष हैं । इनमें एक भी परोक्ष नहीं है । यम कहता है, इनको ले ले, किन्तु परोक्ष बात, मरने के पीछे की बात मत पूछ । जो आस्तिक है, जिसे ज्ञात है कि भगवान् शतामघ है, वह कहता है—**'त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि'** [ऋ० १०।५४।५]=तू उन समस्त सुखदायक धनों को धारण करता है जो प्रकट और गुप्त हैं ।

जब सारे गुप्त-प्रकट सुखदायक पदार्थ भगवान् में हैं, और भगवान् से बढ़कर कोई दाता भी नहीं, तो फिर क्यों न उसी एक का अवलम्बन किया जाए ? इसी भाव से भक्त कहता है—**'महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।'** बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति के लिए भी भगवान् का त्याग न करूँ अर्थात्—**'माहं ब्रह्म निराकुर्याम्'**=मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ । जो ब्रह्म का निराकरण करेगा, उसका अपना निराकरण हो जाएगा । समस्त संसार का ऐश्वर्य्य एक ओर और ईश्वर एक ओर । संसार और उसका ऐश्वर्य्य क्षणभंगुर है, किन्तु ईश्वर नित्य है । नित्य के बदले अनित्य को कौन ले ? ये ऐश्वर्य्य आज हैं कल नहीं, किन्तु—**'पुरूवसुर्हि मघवन्त्सनादसि'** [ऋ० ७।३२।२४]=अनन्त धनवाला भगवान् तो सदा से है । भगवान् को लेने से उसका सनातन धन भी मिल जाएगा । केवल धन के मिलने से भगवान् का मिलाप संशयास्पद ही रहता है, अतः धन की अपेक्षा धनवाले को अपना बनाना कल्याणकारी है । समस्त संसार मिल जाए, किन्तु यदि भगवान् न मिला, तो सब व्यर्थ है । यह सब संसार संसाराधार पर वार दो, किन्तु उसे न त्यागो ।

१७२. तेरे श्रद्धालु को कौन दबा सकता है ?

ओ३म् । कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा इत्ते मघवन्पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥

—ऋ० ७।३२।१४

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **त्वावसुम्** तू है धन जिसका ऐसे **तम्** उसको **कः** कौन **मर्त्यः** मनुष्य **आ+दधर्षति** दबा सकता है ? हे **मघवन्** पूजित धनवन् भगवन् ! यह **ते** तेरे **पार्ये** पार उतारनेवाले **दिवि** ज्ञानप्रकाश पर **श्रद्धा** श्रद्धा **इत्** ही है कि **वाजी** ज्ञानी **वाजम्** ज्ञान, अन्न, बल **सिषासति** बाँटना चाहता है ।

व्याख्या—धनी अल्पधन या निर्धन को दबाता है । धनमद बड़ा भयङ्कर है । राज्य-शक्ति भी धनबल पर अवलम्बित है, अतः धन में बड़ा बल है । बल के कारण उन्माद हो जाना अस्वाभाविक नहीं । बलोन्माद में आकर मनुष्य अपने से हीनों का तिरस्कार कर बैठता है, किन्तु जिसका धन भगवान् हो, उसका तिरस्कार कोई कैसे करे ? भगवान् तो सबसे बलवान् है । सबसे बलवान् (प्रभु) जिसका धन आ बना हो, जिसको निर्धन ने निमन्त्रण दिया है, कौन है जो उसके तिरस्कार करने का विचार भी करे ?

भगवान् की तारकशक्ति पर भरोसा रखकर ज्ञानी मनुष्य दानी बन गया है । भगवान् का भरोसा रखकर कहता है—**'तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता'** [ऋ० ७।३२।१५]=हे भगवन् ! तेरे नेतृत्व में हम सम्पूर्ण दुरितों, दुरवस्थाओं को पार कर जाएँगे, अतः सांसारिक सुखों की प्राप्ति तथा संसार-सागर से पार उतरने के लिए उसका सहारा लेना चाहिए । सारे उसी का आश्रय चाहते हैं । **'तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवोऽवस्युर्नाम भिक्षते'** [ऋ० ७।३२।१७]=हे महती कीर्त्तिवाले ! यह सारा संसार रक्षा की इच्छा से तेरे नाम की भिक्षा माँगता है । तेरा नाम मिल जाए तो और क्या चाहिए ? सारा संसार जिससे माँगता हो, सम्पूर्ण विश्व जिसके द्वार का भिखारी हो, वह जिसका धन हो, वह किसी से डरे तो क्यों डरे ? मानो भगवान् के भिखारी को भगवान् से माँगने के लिए जाना तो भगवान् के भक्त के पास ही होगा । दाता भला भिखारी से क्यों दबे, क्यों डरे ? महात्माओं के, योगियों के ओज का, तेज का कारण स्पष्ट है । जो अदम्य ओजस्वी, प्रचण्ड तेजस्वी बनना चाहे, वह भगवान् को अपनाये, भगवान् को अपना धन बनाये ।

१७३. कहाँ भगवान् ? किसने उसे देखा ?

ओ३म् । प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति ।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥
ओ३म् । अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥

—ऋ० ८।१००।३, ४

शब्दार्थ—**यदि** यदि **सत्यम्** सचमुच **अस्ति** भगवान् है तो **वाजयन्तः** ज्ञानाभिलाषी, बलाभिलाषी होते हुए तुम उस **इन्द्राय** इन्द्र के लिए **सत्यम्** सच्चा **स्तोमम्** स्तोत्र **प्र** अत्यन्त **सु** उत्तम रीति से **भरत** धारण करो । **नेमः+त्वः+उ+आह** कोई एक तो कहता है—**इन्द्रः** इन्द्र **न+अस्ति+इति** नहीं है । **ईम्** उसको **कः** किसने **ददर्श** देखा है ? **कम्** किसकी **अभि+स्तवाम्** हम स्तुति करें ?

भगवान् इसका समाधान करते हैं—हे **जरितः** स्तोतः ! **अयम्+अस्मि** यह मैं हूँ, **मा** मुझे **इह** यहीं **पश्य** देख । मैं **मह्ना** महत्त्व के कारण **विश्वा** सम्पूर्ण **जातानि** उत्पन्न पदार्थों को **अभि+अस्मि** अभिभूत करता हूँ । **ऋतस्य** ऋत के **प्रदिशः** उपदेशक **मा** मेरी **वर्धयन्ति** बड़ाई करते हैं । मैं **आर्दिदरः** विदीर्ण करनेवाला, विनाश करनेवाला **भुवना** संसारों को **दर्दरीमि** पुनः-पुनः विनाश करता हूँ ।

व्याख्या—यदि तुम्हें भगवान् पर आस्था है तो उसकी सच्ची, हृदय के अन्तस्तल से निकली हुई स्तुति करो । तुम्हारी स्तुति से भगवान् को कोई लाभ नहीं, तुम्हें ही लाभ है । किन्तु किसी ने संशय डाल दिया कि क्या परमेश्वर-परमेश्वर चिल्ला रहे हो ? वह है ही नहीं । जब वह है ही नहीं तो—**'कमभिष्टवाम'** =किसकी स्तुति करें ? उसे **'को ददर्श'**=किसने देखा है ? लाखों इन्द्रियागोचर पदार्थों को मानकर दिन-रात अपना कार्य्य चलानेवाला कहता है—**'को ददर्श कमभिष्टवाम'**=उसे किसने देखा है ? किसकी स्तुति करें ? योग के विघ्नों में **'संशय'** बड़ा भारी विघ्न है । जैसा कि योगसूत्र है—**'व्याधिस्त्यानसंशय·········'** (१।३०) व्यधि=रोग, स्त्यान=भारीपन, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति=योगसाधनों में प्रीति का न होना, भ्रान्तिदर्शन, योगभूमिका प्राप्त न होना, चित्त की चंचलता, ये योग के विघ्न हैं । संशय में पड़कर अपनी पूजापद्धति को तिलाञ्जलि देने को भक्त तय्यार हुआ कि आत्मा के अन्दर बैठा आत्मा का आत्मा, अन्तरात्मा परमात्मा कहता है—**'अयमस्मि जरितः'**=भक्त ! यह मैं हूँ । तू मुझे खोजता है; देख नहीं पाता है । मत इधर-उधर भटक, वरन् **'पश्य मेह'**=मुझे यहीं देख । अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है । मैं तो तेरा अन्तर्यामी आत्मा हूँ । तेरे आत्मा के अन्दर बैठा हूँ । बाहर की ओर से आँख मूँद, अन्दर की खोल । फिर तू मुझे अपने में देखेगा । मेरा सामर्थ्य जानना चाहता है ? मैंने—**'विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना'** =अपने बल-सामर्थ्य से समस्त संसार को दबा रखा है । समस्त जगत् मेरे संकेत पर चलता है । तू चाहे मेरी पूजा कर या न कर, किन्तु **'ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्ति'**=ऋत के=अबाध्य सृष्टिनियम के उपदेशक मेरी बड़ाई करते हैं ।

मूर्ख भले ही भगवान् का चिन्तन-स्मरण-ध्यान न करें, किन्तु जो कार्य्यकारणरूप ऋत के प्रचारक हैं, वे देखते हैं कि कारण बिना कार्य्य नहीं हो सकता । कारणों में यदि कर्त्ता न हो तो कार्य्य की उत्पत्ति किसी भाँति नहीं हो सकती । छोटा-सा पदार्थ चेतन के बिना नहीं बन सकता तो इतना महान् जहान चेतनावान्

के बिना कैसे बन सकता है ? इस ऋत को समझकर वे तो भगवान् की पूजा करते हैं और लोगों से भी कहते हैं—**'प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत'** [ऋ० ८।८९।३]=तुम अपने बड़े इन्द्र की वेद से पूजा करो। भगवान् की शक्ति—उत्पादक शक्ति—प्रत्यक्ष नहीं है। उसका अनुमान से ज्ञान होता है। उसकी पालन-शक्ति भी व्यक्त नहीं है। उसका भान भी अनुमान-प्रमाण कराता है, परन्तु जब विनाश देखते हैं तो चुपचाप किसी महती शक्ति की भक्ति करने पर तत्पर हो जाते हैं। भगवान् का आदेश है—**'आर्दर्दिरो भुवना दर्दरीमि'**=मैं प्रलयङ्कर बार-बार संसार का संहार करता हूँ। संहार देखकर डरकर यदि संहारक के पास मनुष्य जाएगा तो उसे पालक के रूप में पाएगा। लौकिक संहारक और उसमें यह महान् अन्तर है। लौकिक संहारक संहार-ही-संहार करने में तत्पर है। जलप्लावन के कारण ग्राम-नगर डूब रहे हैं। उसके पास कोई जाए तो वह उसे भी बहा ले जाए। किसी कारण जंगल में आग लग गई है, उसमें जो जाएगा, जल जाएगा; यदि जलेगा नहीं तो झुलस अवश्य जाएगा। संसार-संहारक भगवान् के पास जाने पर उसका प्यार पाएगा, संहार को प्यार में परिवर्तित पाएगा। उसका संहार निर्माण के लिए है।

१७४. तेरे नाम को कहता (जपता) हूँ

ओ३म् । न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान् ।
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥ —ऋ० ७।२२।५

शब्दार्थ—**ते** तेरी **गिरः** वाणियों को **अपि** भी **न** नहीं **मृष्ये** मसलता हूँ, तिरस्कृत करता हूँ **और विद्वान्** जानबूझकर **तुरस्य** शीघ्रकारी **असुर्यस्य** तुझ जीवनाधार की **सु+स्तुतिम्** उत्तम स्तुति को भी नहीं छोड़ता हूँ, वरन् **सदा** सदा **ते** तेरे **स्वयशः** अपने यशवाले, अपूर्वकीर्त्तिशाली **नाम** नाम को **वि+वक्मि** विशेष रूप से कहता हूँ, जपता हूँ ।

व्याख्या—प्रभो ! मैं सच कहता हूँ, मुझे तुझसे बड़ी प्रीति है । मैं माता-पिता, बन्धु-बान्धव, पुत्र-मित्र, कलत्रादि की बात तो अनेक बार टाल देता हूँ, सुनी-अनसुनी कर देता हूँ, किन्तु तेरी वाणी सुनने को तो लालायित रहता हूँ । तेरी बात सुनने को मेरा मन सदा तत्पर रहता है । तेरी बात सुनने-जानने को उसमें प्रबल तरङ्गें उठा करती हैं । मेरे कान सदा सावधान रहते हैं । प्रभो ! पितः ! गुरो ! तेरे वचन सुनने का सौभाग्य मैं क्यों हाथ से जाने देने लगा ? मेरे आत्मा के आत्मन् ! अन्तरात्मन् परमात्मन् ! तुझसे क्या कहूँ ? तुझसे छिपा ही क्या है ? तू तो सब-कुछ जानता है । मैं तो इतना कह सकता हूँ—**'न ते गिरो अपि मृष्ये'**=तेरी वाणियों का मैं तिरस्कार **न** करूँगा; उन्हें प्यार करूँगा, उनका भरपूर सत्कार करूँगा । नाथ ! उनके अनुसार विचार करूँगा, उनके अनुसार आचार-व्यवहार करूँगा, और उनके अनुसार प्रचार करूँगा । नाथाधिनाथ ! मैं समझ चुका हूं तू अत्यन्त शीघ्रकारी है, पल में प्रलय कर सकता है । जगत् का जीवन तुझपर ही अवलम्बित है । किसमें सामर्थ्य है कि तेरे गुणगण की गणना कर सके ? अगणित और अगण्य तेरे गुण, और मैं नगण्य करूँ गणना ! प्रभो ! मुझमें यह सामर्थ्य कहाँ ? तो भी तेरी स्तुति मैं करता ही हूँ । यही कि तू पालनहार है, सिरजनहार है ।

हो सकता है प्रभो, अज्ञान के कारण, प्रमाद के वश, तेरे आदेश को न सुनूं, या सुनकर न समझूं । सम्भव है तेरे स्तवन में स्खलन हो जाता हो । हूँ तो अन्ततः अल्पज्ञ ही । अल्पज्ञता से अनेक बाधाएँ आती हैं । इसके कारण मैं अनेकबार ठोकर खा चुका । जाने, अभी कितनी बार इसके हाथों और मार खानी होगी ! इससे बचने के लिए मैं तेरा आदेश सुनने को उत्सुक रहता हूँ । अतः—**'सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि'**= सदा तेरा अनुपम कीर्त्तिशाली नाम कहता रहता हूँ । मैं तो निपट अज्ञानी हूँ, तेरी महिमा क्या जान पाऊँ ! किन्तु—**'मनीषी हवते त्वामित्'** [ऋ० ७।२२।६]=महाबुद्धिमान् भी तुझे ही पुकारता है । अतः भगवन् ! **'श्रुधी हवं विपिपानस्य'** [ऋ० ७।२२।४]=अत्यन्त प्यासे की पुकार सुन । तू न सुनेगा, तो नाथ कौन सुनेगा ? सुन या न सुन, मैं तो **'सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि'**=सदा तेरा अनुपम कीर्त्तिशाली नाम जपता रहता हूँ ।

१७५. सामूहिक पूजा-विधान

ओ३म् । सहस्रं साकमर्चत परि ष्टोभत विंशतिः ।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

—ऋ० १।८०।९

शब्दार्थ—**सहस्रम्** हजारों **साकम्** इकट्ठे, एकसाथ **अर्चत** पूजा करो, **विंशतिः** बीसियों एकत्र होकर **परि-स्तोभत** चारों ओर स्तुतिगान करो और **ब्रह्मोद्यतम्** ब्रह्मचर्चायुक्त **स्वराज्यम्** स्वराज्य का **अनु+अर्चन्** योग्य सत्कार करते हुए **शता** सैकड़ों **इन्द्राय** ऐश्वर्य्य के लिए हम **एनम्** इस-[प्रभु]-को **अनु+अनोनवुः** प्रणाम करते हैं ।

व्याख्या—पूजा दो प्रकार की होती है—एक वैयक्तिक, दूसरी सामूहिक । पूजा एकान्त स्थान में होती है । सब चिन्ताएँ हटाकर प्रातः-सायं भगवान् की आराधना करना, उसके आगे निष्कपट भाव से अपनी दुर्बलताएँ, त्रुटियाँ कहना, उससे उनके अपाकरण के लिए बल माँगना, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि का अनुष्ठान, ईश्वरप्रणिधान आदि सब वैयक्तिक पूजाएँ हैं । वैयक्तिक पूजा से पूजा करनेवाले व्यक्ति का संस्कार होता है, उसके मन और आत्मा का परिष्कार होता है । इस प्रकार से संस्कृत तथा परिष्कृत मनुष्य समाज-सेवा के लिए तय्यार होता है । जिस प्रकार व्यक्ति के संस्कार तथा परिष्कार के लिए वैयक्तिक पूजा—स्तुति-प्रार्थना-उपासना-अर्चना की आवश्यकता है, वैसे ही समाज के उद्धार के लिए, समाज के सुधार के लिए सामूहिक प्रार्थना-पूजा अनिवार्य्य है । सामूहिक पूजा से समूह में बल आता है । समाज का मन एक करने का, विचार-आचार एक करने का यह सर्वोत्कृष्ट साधन है ।

जैसे एक व्यक्ति—आस्तिक, श्रद्धायुक्त व्यक्ति—पूजा के समय साफ-सुथरे उज्ज्वल वस्त्र पहनता है, उसी भाँति सामूहिक पूजा के समय सबके वस्त्र उजले हों, साफ-सुथरे और धुले हों । सबके मन में उमंग हो । सब एकस्वर होकर जब संसार में आन्दोलन उठाते हैं तो कुठार-कठोर सरकार भी मान जाती है । यदि हजारों एक मन से, एक स्वर से करुणावरुणालय के आगे अपना मनोभाव रखेंगे तो वह अवश्य उसे पूरा करेगा । उसका तो स्वभाव ही है अपने भक्तों की कमनीय कामनाओं को सतत पूरा करना, अतः वह स्वयं आदेश करता है—**'सहस्रं साकमर्चत'**=हजारों इकट्ठे मिलकर पूजा करो । इससे स्वराज्य—ब्रह्मोद्यत स्वराज्य—का सत्कार होगा ।

१७६. सोमवालो ! हिंसा मत करो

ओ३म् । मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणुध्वं राय आतुजे ।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे ।। —ऋ० ७।३२।९

शब्दार्थ—हे **सोमिनः** सोमवालो ! **मा** मत **स्रेधत** हिंसा करो । **महे** महत्त्व के लिए **दक्षत** उत्साहित होग्रो । **आतुजे** सर्वविध बल तथा **राये** धन के लिए **कृणुध्वम्** उद्योग करो, क्योंकि **तरणिः** विपत्तियों को पार करनेवाला रक्षक ही **जयति** जीतता है और **क्षेति** वास करता एवं **पुष्यति** पुष्ट होता है । **देवासः** विद्वान् लोग अथवा प्राकृत शक्तियाँ **कवत्नवे** कुत्सित आचार-व्यवहार के लिए **न** नहीं होते ।

व्याख्या—यद्यपि वेद में राजा के कर्त्तव्यों में अन्यायी, आततायी, अत्याचारी मनुष्यों को मृत्युदण्ड देने तक का विधान है, तथापि अहिंसा वेद का एक प्रधान विषय है । **'मा स्रेधत'** [=हिंसा मत करो] यह वेद का स्पष्ट आदेश है । उत्तरार्ध में इसका हेतु दिया है—**'तरणिरिज्जयति'**=रक्षक ही जीतता है । मनुष्य विजय पाने के लिए हिंसा करता है, मारकाट करता है किन्तु उससे उसे अक्षय विजय आज तक नहीं मिला । इतिहास में उन महापुरुषों के नाम आदर-सत्कार से स्मरण किये जाते हैं, जिन्होंने प्राणियों की रक्षा की, रक्षा का उपदेश किया । उनके नाम लोगों की जिह्वा और हृदय में रहते हैं । मारकाट करनेवालों के नाम इतिहास के पन्नों में भले ही अंकित हों, किन्तु लोगों की दिल की दीवाल पर उन्हें कोई न लिख सका । संसार कसाई का आदर नहीं करता वरन् उस भक्त का आदर करता है जो प्रातः घर से निकलकर मूक प्राणियों को अन्न देने जाता है । हिंसा से महत्त्व नहीं मिलता । तुम **'दक्षता महे'** महत्त्व के लिए उत्साह करो । तुम अपने उत्साह को मारकाट में व्यय न करो, वरन् इस उत्साह के द्वारा महत्त्व प्राप्त करो । सामान्य संसार शरीर को ही सब-कुछ समझता है । शरीर के सुख देनेवाले उपकरणों में धन प्रधान है, अतः **'कृणुध्वं राय आतुजे'**—धन और सर्वविध बल की प्राप्ति के लिए उद्योग करो । **'उद्योगेनैव सिद्ध्यन्ति कार्य्याणि न मनोरथैः'** उद्योग से ही कार्य्य सिद्ध होते हैं न कि केवल मनोरथों से । आज तक मनोरथ-लड्डुओं से किसी का पेट भरना तो दूर रहा जीभ भी मीठी नहीं हुई, अतः उद्योग करो । उद्योग का फल धन और बल होना चाहिए, उसका परिणाम महत्त्व होना चाहिए । वह लोकरक्षा से प्राप्त होगा अर्थात् अपने धन, तन को जनरञ्जन में लगा दो । **'तरणिरित्सिषासति वाजं पुरंध्या युजा'** [ऋ० ७।३२।२०] =रक्षक ही विशाल बुद्धियोग के कारण ज्ञान और बल का दान करना चाहता है । उसे ज्ञात है कि दान से इसका नाश नहीं होता, अतः तरणि जहाँ विजय प्राप्त करता है, वहाँ साथ ही **'क्षेति पुष्यति'**=रहता और फूलता-फलता भी है । विजय के साथ समृद्धि, फूलना-फलना तो आनुषङ्गिक हैं । हिंसा को निन्दित मानकर वेद कहता है **'न देवाः कवत्नवे'**=देव कुत्सित आचार-व्यवहार के लिए नहीं अर्थात् हिंसादि कुकर्म्म करनेवाले को दैवीसम्पत्ति नहीं मिल सकती ।

१७७. महान् ने महान् जहान बनाया

ओ३म् । यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणाऽधि दाने व्य१वनीरधारयः ।
यश्चासमा अजनो दिद्युतो दिव उरुरूर्वां अभितः सास्युक्थ्यः ॥

—ऋ० २।१३।७

शब्दार्थ—**यः** जिसने **धर्म्मणा** अपनी धारकशक्ति से **पुष्पिणीः** फूलवाली **च** तथा **प्रस्वः** उत्तम फलोंवाली **च** भी **अवनीः** भूमियाँ **दाने** देने के निमित्त **अधि+वि+अधारयः** अधिकारपूर्वक विशेषरूप से बनाई है **च** और **यः** जिस **उरुः** महान् ने **दिवः** द्यौः, आदिम प्रकाशमय पिण्ड, हिरण्यगर्भ से **असमाः** विषम, अनुपम **विद्युतः** चमकनेवाले **ऊर्वान्** महान्-से-महान् जहानों को **अभितः** सब ओर **अजनः** बनाया है **सः** ऐसा तू **उक्थ्यः** प्रशंसनीय **असि** है।

व्याख्या—प्रश्न होता है—किसी की स्तुति, प्रार्थना, उपासना क्यों करें ? सबके मन में उठनेवाले इस प्रश्न का इस मन्त्र में समाधान-सा है। संसार में कार्य्यकारण का अबाध्य नियम कार्य्य करता दीख रहा है। छोटी-सी सूई को भी कर्त्ता के बिना बना हुआ मानने को कोई तैयार नहीं होता, किन्तु इस संसार के लिए उसे किसी कर्त्ता की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वेद अपनी भावुक, मोहक शैली से समझाता हुआ कहता है—देख, भोले मनुष्य ! देख ! सावधानता से देख ! इस रंग-बिरंगी भूमि को देख ! कहीं बेल-बूटे हैं। कहीं फूलों की क्यारियाँ लगी हैं, कहीं फलदार वृक्ष झूम रहे हैं। इन सबको किसने बनाया ? खेत में किसान ने लगाया, किन्तु वन में किसने सजाया ? किसान ने भी वन देखकर ही खेत बनाया था। फिर देख, इस भूमि को भी तो कोई धारण कर रहा है। वन, पर्वत सभी भूमि पर हैं, किन्तु भूमि किस पर है ? भूमि को कौन धार रहा है ?

अच्छा, और देख, आकाश की ओर दृष्टि डाल। ये जो झिलमिल करते तारे-सितारे, गृह-नक्षत्र दीख रहे हैं, इन्हें किसने उत्पन्न किया ? कोई बड़ा है, कोई छोटा है। ज्योतिषी बतलाते हैं, ये झिलमिल करनेवाले तारे इतने छोटे नहीं हैं जितने दीखते हैं। इनमें कोई-कोई तो इतना बड़ा है जिसमें पचास लाख सूर्य्य समा जाएँ। सूर्य्य भी छोटा नहीं है। वही खोजी कहते हैं, हमारी इस विशाल ससागरा धरा जैसी तेरह लाख भूमियाँ सूर्य्य में समा सकती हैं। अरे ! इतने विशाल तेजःपुञ्जों को किसने उत्पन्न किया ? जिसने इतने महान् दीप्तिमान् पिण्ड बनाये, वह अवश्य महान् है। कारण-कार्य के नियम का अपलाप नहीं किया जा सकता। कर्त्ता के बिना संसार में कोई वस्तु बनती नहीं तो इतने महान् पदार्थों का बनानेवाला अवश्य होना चाहिए। इतने महान् पदार्थों को बनाने तथा पालने के लिए अवश्य महती शक्ति चाहिए, अतः शक्ति की कामनावाले उसकी पूजा करें, अर्चा करें। वेद कहता है—**'सास्युक्थ्यः'**= वही तू पूज्य है। उसने सभी ओर रचना की है अर्थात् सभी ओर वह है। जिधर चाहो उधर ही उसे पाओ।

१७८. कैसा सोम कूटें

ओ३म् । न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम मा सुनोतेति सोमम् ।
यो मे पृणाद्यो ददद्यो निबोधाद्यो मा सुन्वन्तमुप गोभिरायत् ॥

—ऋ० २।३०।७

शब्दार्थ—**न न मा** मुझको **तमन्** तमकाता है, **न न श्रमत्** थकाता है **उत** और **न न तन्द्रत्** अलसाता है, अतः हम **न** नहीं **वोचाम** कहते कि **सोमम्** सोम को **मा** मत **सुनोत+इति** कूटो । **यः** जो **मे** मुझे **पृणात्** तृप्त करता है **यः** जो मुझे **ददत्** देता है **यः** जो **निबोधात्** जगाता है, सावधान करता है **यः** जो **मा** मुझे **सुन्वन्तम्+उप** सोम कूटनेवाले के पास **गोभिः** गौओं के साथ **आयत्** प्राप्त होता है ।

व्याख्या—सोमपान कर ले । न । क्यों ? **'न मा तमत्'**=मुझे तमकाता नहीं, मुझमें तेजी नहीं लाता । कहते हैं, सोमपान से तमक आती है, मुझमें नहीं आती, अतः मैं न पीऊंगा । पी ले । सोमरस-निष्पादन में बड़ा परिश्रम हुआ है । **'न श्रमत्'**=मुझे तो नहीं थकाया । पी ले; मस्ती देता है । **'नोत तन्द्रत्'**=मुझे मस्ती तो क्या, तन्द्रा भी नहीं देता । मेरा देह तो ज़रा भी नहीं अलसाया । तो फिर क्या सोमरस न निकाला करें ? **'न वोचाम मा सुनोतेति सोमम्'**=हम यह भी नहीं कहते कि सोमरस न निकालो । तुम्हें सुख देता है, तुम रस निकालो, पिओ । तुम कुछ करोगे या नहीं ? **'यो मे पृणात्'**=जो मुझे तृप्त कर दे, उसकी मुझे चाह है । सोमरस तृप्त तो करता है, किन्तु **'यो ददत्'**=जो मुझे कुछ दे भी । मस्ती देगा । **'यो निबोधात्'**=जो मुझे जगाए । प्रमाद, आलस्य के वश हुआ उन्मत्त तो मैं पहले ही बहुत हूँ, मुझे तो कोई जगाए । सोने से मैं ऊब गया ।

फिर तुम क्या करना चाहते हो ? मैं भी सोम कूटूंगा । सोमरस तय्यार करूंगा । क्यों ? कैसा ? **'यो मा सुन्वन्तमुप गोभिरायत्'**=मैं सोम कूटूं, और वह मेरे पास गौएँ लेकर आये । यह क्या कह रहे हो ? रूप दोहनेवाली, शब्दक्षीर देनेवाली, स्पर्श-स्वाद देनेवाली, सुगन्धित क्षीर देनेवाली गौएँ चाहिएँ । बस ! इतना ही ! तो तुम कायाकल्प करना चाहते हो । सोमलता से यह हो सकता है ।

यह तो कूटने, रस निकालने, पीने के पश्चात् होगा । मुझे तो सोम कूटते समय ही मिलना चाहिए । कहो, पहचाना मेरा सोम ? मेरा सोम जगाता है, तुम्हारा सुलाता है । तुम्हारा सोम कायाकल्प करता है, मेरा बुद्धि-कल्प=बुद्धि की नवीनता करता है ।

तो फिर हम सोम कूटना बन्द कर दें । न भाई, **'न वोचाम'** हम ऐसा नहीं कहते । क्यों ? **'महाँ असुन्वतो वधः'** [ऋ० ८।६२।१२]=सोम न कूटनेवाले को महाहत्या लगती है । और ? **'भूरि ज्योतींषि सुन्वतः'** [ऋ० ८।६२।१२]=सोम निष्पादन करनेवाले को महान् प्रकाश मिलते हैं । मुझे प्रकाश चाहिए । तू तो गौएँ माँग रहा था, अब प्रकाश की कामना करने लगा । गौ और ज्योति एक है । कैसे ? वेद ने ही बतलाया—**'गोभिष्टरेमामतिं दुरेवाम्'** [ऋ० १०।४४।१०]=गौओं के द्वारा दुर्गति और अकर्मण्यता को तर जाएँ । यह काम तेरी गौ से न होगा, मेरी ज्ञान-गौ, प्रकाश-गौ ही पार उतारेगी । वही दुर्गति की, अमति=नास्तिकता की दुर्दशा दिखलाएगी, और उसे दूर भगाएगी ।

१७९. मेरी बुद्धि कर्मशील हो

ओ३म् । किमङ्ग त्वा मघवन्भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥—ऋ० १०।४२।३

शब्दार्थ—हे **अङ्ग** प्यारे ! **मघवन्** धनशाली प्रभो ! लोग **त्वा** तुझे **किम्** क्यों **भोजम्** सबको भोजन देनेवाला **आहुः** कहते हैं ? **मा** मुझको **शिशीहि** शीघ्रतायुक्त कर। मैं **त्वा** तुझको **शिशयम्** शीघ्रकारी **शृणोमि** सुनता हूँ । **मम** मेरी **धीः** बुद्धि **अप्नस्वती** कर्मशीला **अस्तु** हो । हे **शक्र** शक्तिमन् ? हे **इन्द्र** ऐश्वर्यवन् ! **वसुविदम्** धन प्राप्त करनेवाला **भगम्** भाग्य **नः** हमें **आ+भर** दे ।

व्याख्या—प्रभो ! समस्त आस्तिक तुझे पालक कहते हैं ? क्यों वे ऐसा कहते हैं ? मैं तो भूखों मर रहा हूँ । तू किसकी पालना करता है ? सबकी पालना करता है । तो मुझे क्यों नहीं पालता ? मुझे क्यों भूखों मरने दे रहा है ? तुझे मुझपर दया क्यों नहीं आती ? प्रभो ! **'शिशयं त्वा शृणोमि'**=मैं तुझे शीघ्रकारी सुनता हूँ । किन्तु मैं तो आलसी हूँ । दीर्घसूत्री हूँ । तुझे पल में प्रलय करना आती है। मुझे युग बीत जाते हैं । तेरे धाम से जब से वापस आया, जाने कितने युग बीते, कितने कल्प गये, किन्तु मैं वापस न जा सका । ज्ञात नहीं, उस सड़क पर भी पड़ा हूँ या नहीं । दयालो ! **शिशीहि मा**=मुझे तेज़ कर दे । तू शीघ्रकारी है, शीघ्रकारिता तुझसे ही मागूँगा, और किसी से क्यों माँगूँ ? तूने मुझे बुद्धि दी । मैं उससे कुछ कर न पाया । अब उससे करना चाहता हूँ, अतः—**'अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र'**=शक्तिमन् भगवन् ! आशुकारिन् ! शीघ्रता कीजिए । मेरी बुद्धि को कर्म्म से युक्त कीजिए । सुनता हूँ, तुझे कर्म्म प्यारे हैं, अतः मेरी बुद्धि में कर्मण्यता आये, किन्तु कर्म्म-विकर्म्म का बोध तू ही कराएगा, तो कुछ बनेगा । मैं कहीं विकर्म्म ही न कर दूँ । उलटा कर्म्म करके तेरे कोप का, तेरी उपेक्षा का भाजन न बनूँ ।

भगवन् ! तू धनवान् है । मुझे धन चाहिए, किन्तु तूने—**'धनं न स्पन्द्रं बहुलम्'** [ऋ० १०।४२।५]='अत्यन्त चञ्चल धन की भाँति' कहकर मुझे धन से डरा दिया है, परन्तु फिर भी धन की चाह नहीं मिटी । अतः भगवन् ! मघवन् ! **'वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः'**=धन दिलानेवाला भग=भाग्य हमें दे । मुझे अकेले को नहीं, सबको । प्रभो, तू भक्तों का कल्याणकारी है, अतः—**'कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम्'** [ऋ० १०।४२।७]=भक्त के प्रति वाजरत्ना=ज्ञानधन मन बना । भक्त को तू ज्ञानधन दे । हम सबको यही धन चाहिए । दे धनी ! दे । देकर भी तेरा निधि भरा ही रहता है । अतः दे ।

१८०. भगवान् के प्यारे

ओ३म् । न तं जिनन्ति बहवो न दभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत् ।
प्रियः सुकृत्प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी ॥

--ऋ० ४।२५।५

शब्दार्थ—**न न तम्** उसको **बहवः** बहुत लोग **जिनन्ति** हानि पहुँचा सकते और **न न दभ्राः** थोड़े। **अदितिः** अदिति माता **अस्मै** इसको उरु बड़ा **शर्म** ठिकाना **यंसत्** देती है। **सुकृत्** सुकर्म्म करनेवाला **इन्द्रे** भगवान् के प्रति **प्रियः** प्यारा होता है, **मनायुः** मननशील, विचारवान् **प्रियः** प्यारा होता है। **सुप्रावीः** उत्तम रीति से रक्षा करनेवाला **प्रियः** प्यारा होता है और **सोमी** सोमवाला **अस्य** इसका **प्रियः** प्यारा होता है।

व्याख्या— इस मन्त्र में भगवान् के प्यारों के कुछ चिह्न बताये हैं, जो बहुत ही मनन करने योग्य हैं। वे चिह्न ये हैं—

(१) **सुकृत्**=उत्तम कर्म्म करनेवाला। भगवान् स्वयं **'स्वपाः'**=सुकर्म्मा है। **समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**=जिनपर एक-सी विपत्ति हो अथवा जिनका शील एक-सा हो, उनमें परस्पर सखित्व=मैत्री हो सकती है। जब भगवान् स्वयं **'स्वपाः'**=सुकर्म्मा है, तो उसकी अकर्म्मा=निठल्ले या दुष्कर्म्मा से प्रीति कैसे हो सकती है? दुष्कृतों की भगवान् से मैत्री हो नहीं सकती। भगवान् की मैत्री के लिए ऋतगामी होना चाहिए, और—**'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः'** [ऋ० ९।७३।६]=दुष्कर्म्मकारी लोग ऋत के मार्ग पर नहीं चलते। ऋत पर चलना सुकर्म्म है, अतः सुकर्म्मा भगवान् का प्यारा होता है। मनुष्य भगवान् से प्यार करता है ताकि वह उसे प्यार करे। वेद रीति बता रहा है, जिससे वह भगवान् का प्यारा बन जाए, और भगवान् उससे प्यार करने लग जाए।

(२) **मनायुः**=भगवान् का निरन्तर मनन करता हो। मन्द, मूढ़मति भगवान् का प्यारा नहीं हो सकता। उसे प्रीति की रीति की प्रतीति ही नहीं आती। वह क्या जाने प्रेम-पन्थ? मनन, श्रवण के पश्चात् ही हो सकता है, मनन श्रवण के बिना हो ही नहीं सकता। श्रवण के बिना किसका मनन करेगा? भगवान् की कीर्त्ति सुनकर मनन करने से आचरण की, धारणा की प्रेरणा होती है। तात्पर्य्य यह कि मनायु होने के लिए शुश्रूषु होना अनिवार्य्य है। भगवान् के गुणगण सदा सुनना, सुनकर मनन करना अर्थात् उनका अपने जीवन में कैसा उपयोग करना होता है, उसके पश्चात् धारण=निदिध्यासन होता है अर्थात् भगवान् का प्रीतिपात्र बनने के लिए मनुष्य को श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अनुष्ठान करना चाहिए।

(३) **सुप्रावीः**—श्रवण-मनन से ज्ञात हुआ कि भगवान् सबकी रक्षा करता है और प्रेमपूर्वक रक्षा करता है। भगवान् का प्यार चाहनेवाले को भगवान् की प्रजा का प्रेमी, रक्षक बनना होगा। भगवत्प्रजा=प्राणियों को अपनी उदरदरी की पूर्त्ति के लिए विदीर्ण करनेवाला हिंसक और भक्षक भगवान् का प्रेम प्राप्त ही नहीं कर सकता, अतः मनुष्य को यत्न करके प्राणिरक्षा का प्रेमपूर्ण कार्य्य करते रहना चाहिए। तात्पर्य यह निकला कि प्रभु-भक्त को अहिंसक बनकर मनसा, वचसा, वपुषा सबसे मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए।

(४) **सोमी**=सोमवाला। जिसके पास कोई पदार्थ हो, किन्तु वह न उसका उपभोग करे और न उपयोग करे, तो उसके पास उस वस्तु की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं। यदि कोई सोम रखता हुआ भी दूसरों को सोम नहीं देता, तो उसके सोमी होने का कोई प्रमाण नहीं। स्वयं शान्त हो, दूसरों को शान्त

कर सके, वही सोमी। सोमी बनने के लिए सुकृत्, मनायु तथा सुप्रावी होना अत्यन्त अपेक्षित है। **सबसे** प्रीति किये बिना=सुप्रावी हुए बिना शान्ति मिल ही नहीं सकती। वैर-विरोध करने से मन अशान्त, आत्मा उद्भ्रान्त रहता है। सबसे प्रीति की भावना मनन के बिना असम्भव है। संसार के व्यवहार पर जब मनुष्य विचार करता है, तो उसे अनुभव होता है कि वैर-विरोध का फल वैर-विरोध है, अतः वह **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**=अपने को बुरे लगनेवाले व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करता। सबको आत्मवत् समझने लगता है, यही मनन की भावना उसे सुप्रावी बना देती है, और मनुष्य मनन करने के पूर्व, सुकर्म्मा बनने के लिए आत्मवत् सबको समझने की अवस्था से उत्तम कर्म्म करने लगता है। जो इन साधनों से सम्पन्न हो लेता है, वह अवश्य सोमी हो जाता है। भगवान् की प्रीति-प्राप्ति के लिए न्यून-से-न्यून ये चार गुण अवश्य होने चाहिएँ। जिसमें ये चार गुण हों, उसको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। चाहे कितनी संख्या में हानिकारक लोग क्यों न हों? सबसे बड़ी बात यह कि—**'उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत्'**=माता, जगन्माता ऐसे प्रेमी को विशाल ठिकाना देती है।

१८१. तेरे कान सुनते हैं

ओ३म् । उ॒त त्वाब॑धिरं व॒यं श्रुत्क॑र्णं॒ सन्त॑मू॒तये॑ ।
दू॒रादि॒ह ह॑वामहे ॥ —ऋ० ८।४५।१७

शब्दार्थ—उत और **वयम्** हम **ऊतये** रक्षा के लिए **अबधिरम्** अबधिर **श्रुत्कर्णम्+सन्तम्** श्रवण-करणयुक्त होते हुए **त्वा** तुझको **दूरात्** दूर से **इह** यहाँ, अपने पास **हवामहे** बुलाते हैं ।

व्याख्या—परम देव ! परमात्मन् ! मैं दुःखी हूँ । सबको अपना दुःख सुनाया । सुना था, दूसरों को दुःख सुनाने से दुःखभार लघु हो जाता है, हल्का हो जाता है, घट जाता है, बट जाता है, परन्तु मेरा अनुभव विपरीत निकला । न मेरा दुःख घटा और न बटा, न हल्का हुआ । उलटा यह भारी हो गया, बढ़ गया । ऐसा प्रतीत होता है, मेरी करुण कहानी किसी ने सुनी ही नहीं । या वे बधिर होंगे, या वे अश्रुत्कर्ण । अन्यथा वे मेरी क्यों न सुनते ? दुःखभञ्जन ! हमने सुना है तू अबधिर है=बहिरा नहीं है । तेरे कान सुनते हैं । बिना कान के तू सुनता है । हम तुझसे दूर हैं । बहुत दूर हैं । **'वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामाः'** [ऋ० ३।५५।३]=मुझे कामनाएँ अनेक स्थानों में गिरा रही हैं । तुझसे दूर ले-जा रही हैं । उनसे मैं व्याकुल हो उठा हूँ । कल पाने के लिए जो कल सोची थी, वह विकलता कलित करने लगी है । संसार की ज्वालामाला से मैं घिर गया हूँ । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहङ्कार मुझे मार रहे हैं । इनसे मुझे निस्तार नहीं दीखता । किधर जाऊँ ? कैसे छुटकारा पाऊँ ? अनन्यगतिक होकर तेरी शरण में आना चाहता हूँ । मैं जहाँ हूँ, वहीं **'दूरादिह हवामहे'**=दूर से ही तुझे यहाँ हम बुलाते हैं ।

संसार का सताया मैं अकेला नहीं, हम बहुत-से हैं । अकेले की यदि तू नहीं सुनता तो बहुतों की सुन । प्रभो **'त्वं मघवञ्छृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत्'** [ऋ० ८।४५।६] उसकी तो, पूजित धनवन् ! सुन, जो तुझे चाहता है, कुछ कहना चाहता है । प्रभो ! हम किसलिए पुकारते हैं ? **ऊतये**=रक्षा के लिए । तेरे बिना और मर्डिता=सुखदाता नहीं है । प्रभो ! हम अरक्षित हैं । नाना राक्षसों ने हमें घेर रखा है । तू वृत्रघ्न है, मोहवारक है । अहिहा है=पापमारक है, अतः **'भवेरापिर्नो अन्तमः'** [ऋ० ८।४५।१८]= हमारा अन्तम=सर्वोत्कृष्ट बन्धु बन । सब बन्धुओं का सम्बन्ध स्वार्थमय है, तेरा प्रेम निःस्वार्थ है । प्रभो ! तू सच मान । हम सब **'उश्मसि त्वा सधस्थ आ'** [ऋ० ८।४५।२०]=तुझे एक ठिकाने में चाहते हैं । सुनी हमारी कामना ? हम तेरे साथ रहना चाहते हैं । प्रभो ! रख ले अपने साथ ! तेरा कुछ न बिगड़ेगा, किन्तु हमारा बहुत-कुछ सँवर जाएगा ।

१८२. शरीरत्याग से रक्षा

ओ३म् । तमिन्नरो वि ह्वयन्ते समीके रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत त्राम् ।
मिथो यत्त्यागमुभयासो अग्मन्नरस्तोकस्य तनयस्य सातौ ॥—ऋ० ४।२४।३

शब्दार्थ—तन्वः शरीरों को **रिरिक्वांसः** निरन्तर रिक्त करते हुए **नरः** मनुष्य **तम्+इत्** उसी को **समीके** जीवन-संग्राम में **विह्वयन्ते** विशेष रूप से बुलाते हैं, और उसे ही **त्राम्+कृण्वत** रक्षक करते, बनाते हैं । **तोकस्य+तनयस्य** बालबच्चों के **सातौ** प्राप्ति के निमित्त **उभयासः** दोनों प्रकार के **नरः** मनुष्य **यत्** यतः **मिथः** परस्पर **त्यागम्** त्याग को **अग्मन्** प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या—संसार में जब मनुष्य सब ओर से निराश और हताश हो जाता है, तब उसे अनन्य-शरण, अशरणशरण, शरण्यों के शरण्य, दुःखविशरण, सुखकरण भगवान् का स्मरण आता है और वह उसकी शरण में जाता है । संसार में यदि झगड़े न हों, एक का दूसरा वैरी न हो, तो कदाचित् कोई भी किसी को अपना सहायक न बनाये । जब कोई विघ्न-बाधा है ही नहीं, अपनी निश्चित धारणा में विधारणा या विदारणा की कोई सम्भावना नहीं, तब क्यों किसी से सहायतार्थ प्रार्थना की जाए ? किन्तु संसार में युद्ध है । एक-दूसरे का विरोध है । विरोधी एक-दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयत्न में लगे हैं, इसका नाम है युद्ध, संग्राम । ऐसा संग्राम तो मनुष्य का जीवन भी है । इन्द्रिय और देह मानो आत्मा को अपने अधीन करने में लगे हैं । प्रचेताः आत्मा समझने लगा है, देह और इन्द्रियाँ मेरे लिए हैं । इन्हें मेरे निर्देशानुसार चलना चाहिए । दैवभाव आसुरभावों को कुचलना चाहते हैं, आसुर दैवों को मसलना चाहते हैं । जाने दो इस दैवासुर-संग्राम को । मनुष्य को अपना जीवन बनाये रखने के लिए प्रकृति से कितना युद्ध करना पड़ता है ! युद्ध के लिए सहायक चाहिएँ । भगवान् ही सबसे महान् सहायक है । अतः—**'तस्मिन्नरो विह्वयन्ते समीके'**=सभी नायक जीवन-संग्राम में उसे पुकारते हैं । नेता ही क्यों, वरन्—

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम् ।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ॥—ऋ० ४।२५।८

उत्तम, अधम और मध्यम इन्द्र को बुलाते हैं । चलनेवाले या चढ़ाई करनेवाले इन्द्र को बुलाते हैं । निराश, हताश इन्द्र को बुलाते हैं । नष्ट होते हुए इन्द्र को बुलाते हैं । लड़ाके, युद्ध करनेवाले इन्द्र को पुकारते हैं । वाज के अभिलाषी=ज्ञान, अन्न, धन, जन, बल के अभिलाषी इन्द्र को बुलाते हैं । आशावादी, निराशावादी, नाशोन्मुख, युद्धतत्पर, ज्ञान-प्रवण, ध्याननिमग्न, उत्तम, अधम, मध्यम सभी भगवान् का आह्वान कर रहे हैं । यहाँ आकर सभी समान हो जाते हैं । इसके द्वार पर सभी याचक हैं । याचक याचक ही है । भगवान् के द्वार पर आते हुए—**रिरिक्वांसस्तन्वः अग्मन्**=शरीरों को खाली करके पहुँचे हैं । खाली हाथ जाएँगे, तभी तो कुछ पाएँगे । रिक्त शरीर जाकर बता रहे हैं कि कहीं से कुछ नहीं मिला । तू हमारी झोली भर दे, तेरे द्वार से कोई खाली नहीं लौटता ।

युद्ध में योद्धा कवच धारण करके जाता है । शत्रु के अस्त्र-शस्त्र से उसे वह कवच बहुत कुछ बचाता है । योद्धा जब इसके द्वार पर माँगने जाता है तब तनूत्राण=कवच उतारकर जाता है, क्योंकि वह उसे ही—**तन्वः कृण्वत त्राम्**=शरीर का रक्षक=तनूत्राण=कवच बनाता है । उस सरकार के दरबार में त्याग की भेंट लेकर जाना होता है—**मिथो यत्त्यागमुभयासो अग्मन्**=दोनों मिलकर त्याग को प्राप्त होते हैं । तभी तो ऋषियों ने कहा—**त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः** (उपनिषत्)=कइयों ने त्याग से मोक्ष पाया ।

स्वयं भगवान् ने कहा है—**यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्** (यजु०) =त्याग के द्वारा समर्थ होवे, सफल होवे। लोग त्याग करके उसके राग गाते रहते हैं। परिचित, अपरिचित सभी को अपने उस त्यागाभास का आभास दिलाते रहते हैं। त्यागियों के शिरोमणि भगवान् का आदेश है, त्याग का भी त्याग करो, तभी सफलता मिलेगी। भगवद्भक्त कह गये हैं—**धर्म्मः क्षरति कीर्त्तनात्**=चर्चा करने से पुण्यकर्म्म का नाश होता है। कस्तूरी का परिचय सुगन्धि से होना चाहिए, न कि गान्धिक उसका बखान करे। भगवान् के दरबार में जाते हुए अहंता, ममता, अहङ्कार का त्याग तो अवश्य ही करना होता है। अहङ्कार को साथ लेजाकर वहाँ से विफल मनोरथ आना पड़ता है।

१८३. प्राप्तव्य की प्राप्ति का प्रकार

ओ३म् । यत्सानो॒ः सानु॒मारु॑हद् भू॒र्यस्प॑ष्ट॒ कर्त्व॑म् ।
तदिन्द्रो॒ अर्थं॑ चेतति यू॒थेन॑ वृ॒ष्णिरे॑जति ॥

—ऋ० १।१०।२

शब्दार्थ—यत् जब **सानोः** एक शिखर से **सानुम्** दूसरे शिखर को **आ+अरुहत्** चढ़ाई करता है और **भूरि** बहुत **कर्त्वम्** करने योग्य अवशिष्ट कर्त्तव्य को **अस्पष्ट** देख पाता है **तत्** तब **इन्द्रः** आत्मा **अर्थम्** अर्थ को, अभिप्राय को, प्राप्तव्य को **चेतति** जान पाता है, समझता है, और **यूथेन** यूथ के साथ **वृष्णिः** बरसने-बरसानेवाला होकर [धर्म्ममेघ समाधि से सम्पन्न होकर] **एजति** पुरुषार्थ करता है ।

व्याख्या—जिन्होंने कभी पर्वत की पैदल यात्रा की हो, वे इस मन्त्र में वर्णित वस्तु का आस्वाद ले सकते हैं । मनुष्य समझता है, यही सामनेवाला शिखर है, इसपर चढ़ गये तो बस मैदान मार लिया । जब उसपर चढ़ जाते हैं, तब सामने एक और उच्चतर शिखर दृष्टिगोचर हो रहा होता है । उस समय उसे अपने अगले कर्त्तव्य का भान होता है—**'भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्'**=भूरि कर्त्तव्य को स्पष्ट देखता है । सच पूछो, पिछला किया भूल जाता है । अगला कर्त्तव्य उसके मस्तिष्क पर छा जाता है । जीवन का सारा व्यवहार इसका प्रमाण है । दिन-प्रतिदिन नये-नये कर्त्तव्य सामने आते हैं । एक कर्त्तव्य अगले कर्त्तव्य की सूचना-सी देता है, तब कहना पड़ता है कि—**'तदिन्द्रो अर्थं चेतति'**=आत्मा को तभी जीवन-संग्राम का अर्थ सूझता है । विश्रम के अभिलाषी को संग्राम का सामना करना पड़ जाता है, तब क्या वह हिम्मत हार जाता है ? नहीं । वरन् वह भगवान् से कहता है—**'सं चोदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम्'** [ऋ० १।९।५]=प्रभो ! हमारी हिम्मत बढ़ा, आगे जाने का साहस दे । आगे तो अद्भुत श्रेष्ठ धन है । तब पुनः कहता है—**'ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय'** [ऋ० १।१०।४]—सबको वास देनेहारे ! हमारी विनती को स्वीकार कर और अज्ञानवारक प्रभो ! हमारे यज्ञ को बढ़ा ।

उसे ज्ञात है कि भगवान् उनकी सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं । इस भाव से वह समाधिसाधन में लगता है । उसके लिए एक-एक शिखर को चढ़कर पार करता है । आसन, प्राणायाम से प्रत्याहार, प्रत्याहार को पारकर धारणा में धरना लगाता है । धारणा के धरना से उसे ध्यान आता है, ध्यान समाधि तक पहुँचाता है । आसन-जय पर प्राण शान्त होने लगते हैं, अर्थात् आसन-शिखर से प्राणायाम की चोटी दीखती है । प्राणायाम-चोटी से प्रत्याहार का शिखर, और इसी प्रकार ज्यों-ज्यों वह ऊपर चढ़ता है, त्यों-त्यों उसे अगली भूमियाँ दिखाई देती हैं—यह है—**'यत्सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्'** मूलाधार से प्राण ऊपर को चला । एक चक्र में अटका, उसे पार किया, अगले का ज्ञान हुआ । ब्रह्मरन्ध पर पहुँचकर प्राप्तव्य का पता लगा । इस प्रकार अभ्यास करते-करते धर्म्ममेघ समाधि की सिद्धि होती है । उस धर्म्म-मेघ समाधि से सम्पन्न होकर साधक पुरुषार्थ करता है ।

१८४. तू कामनाओं का दाता है

ओ३म् । अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि किं मुहुश्चिद्वि दीधयः ।
सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्वं स्मो वयं सन्ति नो धियः ।

—ऋ० ८।२१।६

शब्दार्थ—**अच्छ** अच्छा, **च** तो हम **त्वा** तुझको **एना+नमसा** इस नमस्कार से **वदामसि** कहते हैं **किम्** क्यों **मुहुः+चित्** बार-बार-सा तू **वि+दीधयः** विचार करता है। **हरिवः** पापहरणवाले ! हमारी **कामासः** अभिलाषाएँ **सन्ति** हैं और **त्वम्** तू **ददिः** दाता है। इधर **वयम्** हम **स्मः** हैं और **सन्ति** हैं **नः** हमारी **धियः** बुद्धियाँ, क्रियाएँ तथा धारणशक्तियाँ।

व्याख्या—भगवन् ! हम तेरे पास आये हैं। रिक्तहस्त आये हैं। तुझसे बात करने का क्या अधिकार ! प्रभो ! **'अभि त्वामिन्द्र नोनुमः'** [ऋ० ८।२१।५]—हम झुक-झुककर बार-बार तुझे नमस्कार करते हैं और दीनबन्धो ! **'वयं हि त्वा बन्धुमन्तमबन्धवो विप्रास इन्द्र येमिम'** [ऋ० ८।२१।४]—हम बन्धु-रहित हैं, अबन्धुओं के बन्धु तुझको हम अपनाते हैं, अतः हम इस नये सम्बन्ध को सामने रखकर **'त्वैना नमसा वदामसि'**=इस नमस्कार द्वारा तुझसे बोलते हैं। इस नमस्कार से हमें तुझसे बोलने का, अपनी व्यथा-कथा सुनाने का अधिकार मिल जाता है।

प्रभो ! क्या सोचते हो ? मुझमें अहङ्कार है। न, मेरे स्वामिन् ! नमस्कार से मैंने अहङ्कार को मार दिया है। नम्र होकर तेरे दरबार में आया हूँ। क्यों आया हूँ ? अन्तर्यामिन् ! तू हमारे **'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्'**=सारे विचारों-आचारों का जाननेहारा है। तुझसे मेरा क्या छिपा है ! फिर भी निवेदन करता हूँ—'**सन्ति कामासः हरिवः**'=पापहारक प्यारे ! हमारी कामनाएँ हैं, इच्छाएँ हैं, और '**ददिष्ट्वम्**' तू दाता है। याचक दाता के पास न जाए तो कहाँ जाए ? प्रभो ! तूने ही कहा है—**'न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः'** [ऋ० १०।११७।४]=वह मित्र नहीं जो साथ रहनेवाले, अन्न माँगनेवाले मित्र को नहीं देता है। सखे ! मैं तेरे साथ रहता हूँ। ऐसा साथ कि जिसे तू कभी भी नहीं छोड़ सकता। प्रभो ! साहस है, तो छोड़के दिखा। फिर तू क्यों नहीं देता ? दातः ! अपने विरुद को, कीर्त्ति को सार्थक कर। तेरी शोभा इसी में है कि याचक की झोली भर दे। क्या तेरे द्वार से लौट जाएँ ? तूने ही कहा है कि—जो नहीं देता, उसके **'अपास्मात्प्रेयात्'** [ऋ० १०।११७।४]=यहाँ से भाग जाए। परन्तु मैं कहाँ जाऊँ ? किधर जाऊँ ? तू कहता है—**'न तदोको अस्ति'** [ऋ० १०।११७।४]=अदाता का घर घर नहीं है। निस्सन्देह यह बात सत्य है कि अदाता का घर घर नहीं है, किन्तु तुम चाहे मुझे दो वा न दो, मेरे तो तुम ही घर हो। अपना घर छोड़कर कहाँ जाऊँ ? कहते हो कि—

'पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्' [ऋ० १०।११७।४]=किसी और दाता की खोज करो। मैं और को क्यों खोजूँ, क्यों चाहूँ ? तुम जैसा कोई दाता हो भी ! मेरे लिए ही नहीं, समस्त जगत् का तू ही दाता है और फिर—**'भद्रा इन्द्रस्य रातयः'** [ऋ० ८।६२।१]=तेरे दान भले हैं। दूसरे के दानों का ज्ञान नहीं। जाने रोटी माँगने पर सोटी=पत्थर ही दे मारे। तू किसी भी अवस्था में अनिष्ट नहीं कर सकता, अतः नाथ ! तुझे छोड़कर हम कहीं नहीं जाते। यहीं बैठे हैं। **'स्मो वयं सन्ति नो धियः'**=यह हम हैं और ये हैं हमारी बुद्धियाँ, कृतियाँ। तू हमारे कर्म्मों के अनुसार ही दे। हम इसे भी तेरा दान समझते हैं। तू न दे तो

हमारा क्या मान ? किन्तु तेरे द्वार पर धरना देने का अधिकार हम नहीं छोड़ सकते, अतः निश्चय कर लिया है कि या तो तुझसे लेके जाएँगे, या अपने प्राण तुझे दे देंगे। दोनों अवस्थाओं में हमें लाभ ही लाभ है, अतः—**'पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत्'** [ऋ० ८।२१।१८]=हजारों-लाखों देता हुआ प्रभो ! बादल की भाँति वृष्टि के साथ गर्ज। महादानी ! गर्ज, गर्ज ! बरस, बरस ! भिगो दे हमें। तर कर दे। कहीं से भी सूखा न रहने दे। तू **'भूरिदा श्रुतः'** बड़ा दाता प्रसिद्ध है।

१८५. तेरे धन का अन्त नहीं

ओ३म् । नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा ।
दशस्या नो मघवन् नू चिदद्रिवो धियो वाजेभिराविथ ॥

—ऋ० ८।४६।११

शब्दार्थ—हे **शूर** अज्ञान-तिमिर का नाश करनेवाले महाबल ! प्रबलों से प्रबल ! निर्बलों के बल ! **सत्रा** सचमुच **ते** तेरे **राधसः** दान का, ऐश्वर्य्य का **अन्तम्** अन्त, पार **नहि** नहीं **विन्दामि** प्राप्त करता हूँ । हे **मघवन्** पूजित धनवन् ! धनियों के भी धनिन् । **नू+चित्** शीघ्र ही **नः** हमें **दशस्य** दे । **अद्रिवः** करुणार्द्र, दयालो ! हमारी **धियः** बुद्धियों को, क्रियाओं को **वाजेभिः** ज्ञानों से **आविथ** प्रसन्न कर, विमल कर ।

व्याख्या—प्रभो ! तू अनन्त है । तेरा बल अनन्त है । तेरा ज्ञान अनन्त है । तेरा दान अनन्त है । तेरा धन अनन्त है । मैं सान्त, मेरी क्रिया सान्त, मेरी युक्ति सान्त, शक्ति सान्त, अतः—**'नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा'**=सचमुच शूर ! तेरे धन का, दान का अन्त नहीं पाता हूँ । अनन्तकाल से तू देता आ रहा है, और सबको देता आ रहा है, किन्तु तेरे धन की समाप्ति का कोई चिह्न ही नहीं दीखता । **'त्वां हि सत्यमद्रिवो विद्म दातारमिषाम् । विद्म दातारं रयीणाम्'** [ऋ० ८।४६।२]—दयालो ! तुझे ही हम अन्नों का सच्चा दाता मानते हैं और तुझे धनों का दाता जानते हैं । अन्न खानेवालों की हम तो गिनती कर नहीं सकते । हमारी दृष्टि में तो अनन्त हैं । प्राणियों की लाखों योनियाँ हैं । एक-एक योनि में करोड़ों, अरबों, खरबों जीव हैं । उनके अन्न का=भोग का सामान भी होगा अनन्त ! अवश्य ही अनन्त ! तो प्रभो ! तू अनन्त धनवाला ही सबको देता है, अतः **'दशस्या नो मघवन् नू चित्'**=पूजित धनेश्वर परमेश्वर ! हमें शीघ्र दे । तेरे पास अनन्त धन है, हम तो थोड़ा-सा ही माँगते हैं । दे । दातः ! दे । क्या देर है ? क्यों विलम्ब कर रहे हो ? तेरे विलम्ब करने से हमारा अशान्त स्वान्त और अधिक अशान्त और दुर्दान्त हुआ जाता है मेरे परमेश्वर ! **'ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम्'** [ऋ० ८।४६।१५]=तू शरीर के लिए धन देता है, वास देता है । तू ज्ञान के निमित्त, बड़ी कीर्त्तिवाले ! ज्ञानी दे देता है । सब-कुछ देनेवाले ! दे । शरीर देनेवाले ! शारीरिक धन दे । बुद्धि देनेवाले ! बुद्धिधन दे । **'तमिन्द्रं दानमीमहे शवसानमभीर्वम् । ईशानं राय ईमहे'** [८।४६।६]=हम तो, परमेश्वर ! तुझे दान में माँगते हैं । तू बलवाला है, तू भय दूर करनेवाला है, अतः हम तुझ धनेश्वर को चाहते हैं । धन को, जन को, निधन के वश होते देखा है, विनष्ट होते देखा है । इससे भय लगा रहता है कि यह धन अवश्य नष्ट हो जाएगा । तू निर्भयपद है, अतः भवभयहारिन् ! मङ्गलकारिन् ! धन नहीं चाहिए । हमें तू चाहिए । धनों का स्वामी चाहिए । धनों का दाता चाहिए प्रभो ! हमारी ऐसी बुद्धि सदा स्थिर रहे, अतः—**'धियो वाजेभिराविथ'**—हमारी बुद्धियों को ज्ञानों से निर्मल कर । ऐसा ज्ञान दे, ऐसा दान दे कि हमारी बुद्धि निर्मल रहे, निःशङ्क रहे ।

प्रभङ्गं दुर्मतीनामिन्द्र शविष्ठा भर । रयिमस्मभ्यं युज्यम् ॥—ऋ० ८।४६।१९

हे बलेश्वर परमेश्वर ! हमें सदा हमारे साथ रहनेवाला, दुर्बुद्धियों का नाशक धन दे । प्रभो ! धन पाकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, बुद्धि की समता खो बैठता है, अज्ञानी-सा बन जाता है, और कभी-कभी अभिमान, अहङ्कार ज्ञानी की बुद्धि में भी विकार ला देता है, अतः हे अनन्तज्ञान ! हमें बुद्धिशोधक, दुष्टबुद्धिनाशक, विमल प्रकाशक, अज्ञाननिरासक, कुज्ञान-विनाशक ज्ञान का दान दे । किन्तु प्रभो ! इतनी कृपा अवश्य कीजियो कि—**'मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदा चना दभन्'** [ऋ० १।८४।२०]

=हे धनेश्वर परमेश्वर ! मत तेरे धन और दान और मत तेरे रक्षा-विधान हमें कभी दबाएँ। तेरी रक्षा में हम सदा फूलते-फलते रहें। तेरे दान के निदान से हम सदा सम्मान पाते रहें अर्थात् तेरी विभूति पाकर तेरी आज्ञा में वर्तमान रहें। तेरे नियमों का उल्लंघन कभी न करें। अल्पज्ञता के कारण हमसे यह भूल न हो जाए। एक बात कहूँ। प्रभो ! तेरे सिखाये, परमपुनीत पदों में कहता हूँ—

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि।
काममिन्मे मघवन्मा वितारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता॥—ऋ० १०।५४।५

जो धन प्रकट हैं और जो गुप्त हैं, उन सबको तू धारण करता है, और वे सारे सुखदायक हैं। प्रभो ! मेरी कामना को मत टालियो। परमेश्वर ! तू ही आज्ञाता=बतानेवाला तथा मेरी कामना को पूर्ण रूप से जाननेवाला तथा तू ही दाता है।

मेरी ठीक-ठीक कामना क्या है, इसे भी तो तू ही जानता है, और तू ही दाता है, अतः अपना काम कर। आनन्द पाना मेरा ध्येय है, किन्तु क्या आनन्द है इसकी पूरी क्या, सच पूछे तो, अधूरी पहचान भी मुझे नहीं है। अनेक बार मीठा समझकर कड़वे को निगल चुका हूँ और विकल हो चुका हूँ। इससे भयभीत हो गया हूँ। आनन्द की लालसा निरन्तर है, और उधर नैसर्गिक अज्ञान भी ज्ञान का गाहक बना हुआ है, अतः सर्वज्ञाननिधान ! तुझसे विनती है, प्रार्थना है, अभ्यर्थना है कि मेरी उचित कामना को तू ही पूर्ण कर।

१८६. दुःस्वप्न से बचने का उपाय

ओ३म् । पर्य्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ —अ० ७।१००।१

शब्दार्थ—**दुःष्वप्न्यात्** बुरे स्वप्न के कारण होनेवाले **पापात्** पाप से **पर्य्यावर्ते** लौटता हूँ **स्वप्न्यात्** स्वप्न के कारण होनेवाले **अभूत्याः** अभूति से, अनैश्वर्य्य से **पर्य्यावर्ते** लौट आता हूँ । **अहम्** मैं **ब्रह्म** ब्रह्म को **अन्तरम्** बीच में, या व्यवधान, रुकावट **कृण्वे** करता हूँ । इससे **स्वप्नमुखाः** स्वप्नप्रधान **शुचः** शोकों को **परा**+**कृण्वे** दूर करता हूँ ।

व्याख्या—दुःष्वप्न=दुःस्वप्न=बुरा स्वप्न नाम ही बता रहा है कि यह बुरा है । बुरे का त्यागना ही भलाई है । फिर दुःस्वप्न के कारण कई पाप भी हो जाते हैं । इसे समझने की आवश्यकता है । स्वप्न और जाग्रत् दशा का भेद समझ लेने से सरलता होगी । जाग्रत् दशा में आत्मा के लिए अन्तःकरण, इन्द्रियाँ सभी कार्य्य कर रहे होते हैं । स्वप्न उस अवस्था का नाम है जब शरीर और बाह्य इन्द्रियाँ श्रान्त, विश्रान्त हो रही हैं किन्तु मन कार्य्य कर रहा है । दार्शनिक लोग बतलाते हैं, आत्मा और इन्द्रियों के बीच में मन बिचौलिये का कार्य्य करता है अर्थात् इन्द्रियाँ रूपादि के विषय का जो ज्ञान लाती हैं, उसे मन को समर्पित करती हैं, और मन उसे आत्मा को दे देता है । इसी कारण एक समय में एक ही विषय का ज्ञान हो पाता है, क्योंकि मन एक समय में एक ही इन्द्रिय से संयुक्त हो सकता है । इससे परिणाम यह निकला कि चाहे अन्दर की ओर से बाहर आत्मा के भाव प्रकट होने हों और चाहे बाहर से भीतर को ज्ञान जा रहा हो, मन के पास तो इन्द्रियों का दिया हुआ ही अनुव्यवसाय है अर्थात् स्वप्न-दशा में भला-बुरा जो कुछ भी मन मनन करता है, वह जाग्रत् दशा के अनुभव का कभी क्रमबद्ध, कभी क्रमविहीन और कभी सर्वथा क्रम-विरुद्ध आभास है । वेद इसका संकेत करता है—**'यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः'** [ऋ० १०।१६४।३]=जो हत्याएँ हम जाग्रत् होकर करते हैं, वही स्वप्न-दशा में । वेद के मतानुसार दुःस्वप्न मृतात्मा को आते हैं । जिसका आत्मा जीता है, पाप से मरा नहीं, उसका—**'भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम् । भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः'** [ऋ० १०।१६४।२]=जीते हुए का मन भले वर माँगता है, भले उत्साह से युक्त होता है, और बहुधा विवस्वान के प्रति भला ज्ञान करता है अर्थात् भले आत्मा का मन दुःस्वप्न देख ही नहीं सकता । जब वह बुराई करता नहीं, किसी की बुराई चाहता नहीं, सबके लिए भली कामना करता है, तो उसे दुःस्वप्न क्यों आएँ ?

दूसरे शब्दों में, बुरे स्वप्नों से बचने का उपाय भद्र विचार और भद्र आचार है । भगवान् से बढ़कर भद्र कौन है ? अतः कहा है—**'ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः'**=मैं ब्रह्म को अन्दर करता हूँ उससे स्वप्न आदि शोक दूर होते हैं । अनुभविशिरोमणि साक्षात्कृतधर्म्मा आप्तवर्य्य ऋषि ने उपदेश किया है—

"जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को रात-दिन प्रणव (ओम्) का जाप करना चाहिए । रात को यदि जाप करते हुए आलस्य बहुत बढ़ जाए तो दो घण्टाभर गाढ़ निद्रा लेकर उठ बैठे और प्रणव पवित्र (ओम्) का जाप करना आरम्भ कर दे । बहुत सोने से स्वप्न अधिक आने लगते हैं, ये जितेन्द्रिय जन के लिए अनिष्ट है ।"

"जब शय्याशायी होने लगो तो प्रणव पवित्र (ओम्) का जप किया करो । जबतक नींद न

श्राये पाठ करते रहो। यहाँ तक कि उसी नामस्मरण में सो जाओ। इससे उत्तमोत्तम लाभ होते हैं। वासनामय देह बदल जाता है।" (अध्यात्मप्रसाद)

परमात्मा का चिन्तन करने से सब दुरितों का क्षय हो जाता है।

एक बात का ध्यान कर लेना चाहिए, स्वप्न होता तो मिथ्या है किन्तु जाग्रत् दशा के संस्कारों का खेल होता है। तभी वेद [अ० ७।१०१।१] कहता है—**'यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते। सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद्दृश्यते दिवा'**=स्वप्न में जो अन्न मैं खाता हूँ, प्रातः वह प्राप्त नहीं होता। वह सब मेरे लिए कल्याणकारी हो, क्योंकि वह दिन में नहीं दीखता अर्थात् मन का यह सारा खेल है। तभी यजुर्वेद में प्रार्थना है—**'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** [य० ३४।१-६]=मेरा मन भले संकल्पोंवाला हो। ब्रह्म को हृदय में धारण करो, मन के संकल्प स्वतः शिव हो जाएँगे।

१८७. आततायी का वध

ओ३म् । इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ —अ० ८।४।२४

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** अन्यायनाशक राजन् ! **मायया** चालाकी से **शाशदानाम्** पीड़ा पहुँचानेवाले **यातुधानम्** आततायी **पुमांसम्+उत+स्त्रियम्** पुरुष और स्त्री को **जहि** मार दे। **मूरदेवाः** हिंसा ही है आराध्य जिनका ऐसे **विग्रीवासः** ग्रीवारहित होकर **ऋदन्तु** नष्ट हों, **मा** मत **ते** वे **उच्चरन्तम्** उदय होते **सूर्य्यम्** सूर्य्य को **दृशन्** देखें ।

व्याख्या—इस मन्त्र में राजा को एक ऐसा आदेश है कि कदाचित् साधारण लोग जिसे जानकर काँप उठें, किन्तु राजा का काम है राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना तथा उसे स्थिर रखना। वह शान्ति नहीं, जिससे राज्य की श्रीवृद्धि न होकर प्रतिदिन ह्रास होता जाए, शान्ति और व्यवस्था का परिणाम धनधान्य की संवृद्धि, स्वास्थ्य की वृद्धि, कला और विज्ञान की प्रवृद्धि होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जब राजा सब कार्य्य छोड़कर राजकार्य्यों को लगन से करे। वेदानुयायी ऋषियों ने तो राजकार्य्य ही राजा का सन्ध्योपासना कर्म्म माना है। यथा—"[राजा] सर्वदा राजकार्य्य में प्रवृत्त रहे अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म्म है जो रात-दिन राजकार्य्य में प्रवृत्त रहना और कोई राजकाम बिगड़ने न देना।" [स० प्र०, षष्ठ समुल्लास]

यदि राज्य में ऐसे लोग उत्पन्न हो जाएँ जो लोगों के घरों को आग लगा दें, लोगों के सस्य जला दें, स्त्रियों और बालकादिकों को व्यर्थ ही पीड़ा दें और राजा उन्हें दण्ड न दे, तो सभी के प्राण संशय में रहने लग जाएँ, सभी प्रकार के कार्य्य, व्यवहार, व्यापार बन्द हो जाएँ, खेती न हो सके, कला-कौशल, शिल्प आदि सभी नष्ट हो जाएँ, और सम्भव है कि कोई अन्य साहसी राजा आक्रमण करके राष्ट्र को पराधीन कर दे, अतः राजा का कार्य्य—मुख्य कार्य्य—ऐसे आततायी—यातुधान—लोगों का वध करके राज्य में शान्ति स्थापित करना है। अथर्ववेद [८।४।२१] में स्पष्ट कहा है—**'इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याविवासताम्'**=राजा लोगों की जीवन-सामग्री के नाशक तथा लोगों को बेघर करनेवाले यातुधानों=आततायियों का सर्वथा नाशक होता है।

आर्यधर्म्म में स्त्री को अवध्य माना है, किन्तु यदि वह यातुधान हो, आततायी हो तो राजा का कर्त्तव्य है कि उसे मार दे। यही वेद कहता है—**'इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्'**= हे राजन् ! छल-कपट से हिंसा करनेवाले आततायी पुरुष और स्त्री को मार दे। स्त्री तभी तक अवध्य है जबतक वह स्त्री-मर्यादा का पालन करती है, जब वह आततायी हो जाती है, तो अपनी अवध्यता खो बैठती है।

मनु महाराज ने इस मन्त्र का, मानो निम्न श्लोकों में आशय ही वर्णन किया है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥८।३५०॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥८।३५१॥

चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हों, चाहे पितादि वृद्ध और चाहे बहुत शास्त्र का श्रोता क्यों

न हो, जो धर्म्म छोड़कर, अधर्म्मरत होकर, निरपराधियों की हत्यादि करनेवाला आततायी है उसको बिना विचारे मार डाले, अर्थात् मारकर पीछे विचार करे। आततायी को मारने में मारनेवाले को पाप नहीं होता, चाहे प्रकट मारे चाहे गुप्त मारे। वह क्रोध को क्रोध का प्राप्त होना है। वेद ऐसे आततायियों=यातुधानों के बहुत विरुद्ध है, अतः इनको विग्रीव=ग्रीवारहित करने का आदेश करता है। इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह राजा का कर्त्तव्य है। वही निर्णय कर सकता है कि कौन आततायी है और कौन नहीं ! यदि प्रत्येक मनुष्य ही यह निर्णय करे तो फिर व्यवस्था ही न रह सकेगी, इसीलिए समाज-व्यवस्था एवं राज्यस्थापना की जाती है।

१८८. अतिथिसेवा

ओ३म् । हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत् । गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ —अ० १०।६।४

ओ३म् । तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे ।

स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥

—अ० १०।६।५

शब्दार्थ—मानो **हिरण्यस्रग्** सुवर्णमालाधारी **मणिः** मणिसमान अर्थात् अत्यन्त आदरणीय **अयम्** यह **अतिथिः** अतिथि **श्रद्धाम्** श्रद्धा को **यज्ञम्** यज्ञ=परोपकार आदि शुभ कर्म्मों तथा **महः** पूज्यता को **दधत्** धारण करता हुआ **नः** हमारे **गृहे** घर में **वसतु** रहे। **तस्मै** उसे **घृतम्** घृत **सुराम्** अर्क, शर्बत **मधु+अन्नम्+अन्नम्** मधुर पदार्थ, नाना प्रकार के अन्न **क्षदामहे** हम भेंट करते हैं। **सः** वह **मणिः** आदरणीय, उपदेष्टा अतिथि **एत्य** आकर **इव** जैसे **पिता** पिता **पुत्रेभ्यः** पुत्रों को, वैसे **नः** हमें **भूयः+भूयः** बारबार **श्वः+श्वः** कल-कल अर्थात् निरन्तर **देवेभ्यः** दिव्य गुणों के लिए **श्रेयः+श्रेयः** प्रत्येक प्रकार के कल्याण का **चिकित्सतु** ज्ञान कराए।

व्याख्या—वैदिकधर्म्म यज्ञप्रधान धर्म्म है। प्रत्येक वैदिकधर्म्मी के लिए ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, पितृयज्ञ और अतिथियज्ञ—ये पाँच महायज्ञ नित्यकर्म्म हैं। इनके न करने से पाप माना गया है। इन पाँच यज्ञों में एक अतिथियज्ञ है। अथर्ववेद का पन्द्रहवाँ काण्ड अतिथियज्ञ की महिमा द्योतित कर रहा है। आर्य्यों का आतिथ्य जगत्प्रसिद्ध है। ऊपर के दो मन्त्रों में अतिथि के सम्बन्ध में जो निर्देश हैं, उन्हें समझ लिया जाए तो अतिथि का महत्त्व सरलता से हृदयङ्गम हो सकता है। (१) अतिथि को **हिरण्यस्रग्** कहा है। अतिथि हिरण्यस्रग्=सुवर्णमालाधारी होना चाहिए। इसके दो भाव हैं कि लोग अतिथि के गले में सुवर्णादि बहुमूल्य पदार्थों की मालाएँ डालें अर्थात् उसे नानाविध बहुमूल्य पदार्थ भेंट करें। दूसरा अभिप्राय यह है कि अतिथि हिरण्य=हितरमणीय पदार्थों की मालावाला हो अर्थात् जनहित के अनेक साधनों से वह सम्पन्न हो, समय-समय पर वह लोगों को हितकारी, मनोहारी उपाय बतलाकर कल्याण करे। (२) मणि=हीरा आदि। अतिथि स्वयं मणि हो। मणि की भाँति बहुमूल्य हो। ज्ञान-ध्यानादि दुर्लभ साधनोंवाला हो, लोग उसका समादर करें। (३) स्वयं श्रद्धालु हो, अन्यों में श्रद्धा उत्पन्न कर सके, स्वयं सत्कर्म्म करता हो और लोगों को सत्कर्म्मों की प्रेरणा करता हो। उसके आचार-व्यवहार और विचारों के कारण लोग उसमें श्रद्धा रखते हों, उसे पूज्य मानते हों और (४) वह लोगों से इस प्रकार स्नेह रखता हो, जैसे पिता अपने पुत्रों पर प्रीति करता है और बार-बार लोगों को उत्तमोत्तम कल्याण-साधनों का प्रेम से उपदेश करे।

इस अन्तिम निर्देश में एक ऐसी बात कही है, जो बहुत ही मनन करने योग्य है। हितोपदेष्टा जनता को अपनी सन्तान समझे। पितृसमान स्नेह करते हुए सन्तान को हितोपदेश करे। कदाचित् इस वैदिक निर्देश के आधार पर ही आज भी संन्यासी को 'बाबाजी' कहते हैं। अथर्ववेद [१५।११।१-२] में अतिथि-सेवा का प्रकार भी बताया है—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥२॥

यदि व्रतविभूषित विद्वान् अतिथि घर आ जाए तो वह गृहपति स्वयं उठकर उसके पास जाकर कहे—'व्रात्य !' कहाँ रहे ? व्रात्य ! जल लीजिए। व्रात्य ! कृपा कीजिए, प्रसन्न हूजिए। व्रात्य ! जो आपको प्रिय लगे, वैसा ही होगा। व्रात्य ! जो आपकी इच्छा है, वही होगा। व्रात्य ! जो आपकी कामना है वही होगा।

इन मन्त्रों में अतिथि को 'व्रात्य' कहा गया है, और अथर्व० १०।६।४ में उसे 'हिरण्यस्रक्' कहा गया है। दोनों का तात्पर्य्य एक है। अतिथि के आने पर वैदिकों को बहुत प्रसन्नता होती है। जैसा कि अथर्ववेद १५।१०।१-२ में कहा है **'तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्' ॥१॥ श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत्**—॥२॥ तो ऐसा व्रतों से सुशोभित विद्वान् अतिथि जिस राजा के घर आ जाए, वह इसे अपना कल्याण समझे।

सचमुच वह बड़ा भाग्यशाली है जिसके घर ऐसे विद्वान् धार्मिक सत्योपदेष्टा पधारें। ये वीतराग संन्यासी ही होते हैं। ऋषि दयानन्द अतिथि का अर्थ बतलाते हैं—"अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि निश्चित न हो अर्थात् [जो] अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला, पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आवे……॥" [स० प्र०, चतुर्थ समुल्लास]

अतिथि की उपयोगिता के विषय में लिखते हैं—"जबतक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते तबतक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्य-मात्र में एक ही धर्म्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देहनिवृत्ति नहीं होती। सन्देहनिवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। निश्चय के विना सुख कहाँ ?" [स० प्र०, चतुर्थ समुल्लास]

१८६. विद्वानों से सहायता

ओ३म् । ये स्था मनोर्यज्ञियास्ते शृणोतन यद्वो देवा ईमहे तद्ददातन ।
जैत्रं क्रतुं रयिमद्वीरवद्यशस्तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥

—ऋ० १०।३६।१०

शब्दार्थ—तुम **ये** जो **मनोः** ज्ञान के, मनुष्य के **यज्ञियाः** याज्ञिक **स्थ** हो, **ते** वे तुम **शृणोतन** सुनो। हे **देवाः** विद्वानो ! **यत्** जो **वः** आपसे, हम **ईमहे** माँगते हैं **तत्** वह **जैत्रम्**+**क्रतुम्** विजयशील कर्म्म, **रयिमत्** धनसम्पन्न **वीरवत्** वीरों से भरपूर **यशः** यश **ददातन** तुम दो । हम **अद्य** आज ही **देवानाम्** विद्वानों की **अवः** रक्षा, प्रीति, सहायता **वृणीमहे** वरण करते हैं ।

व्याख्या—इस मन्त्र में देवों=विद्वानों की (अवः) रक्षा, सहायता, प्रीति की प्राप्ति की कामना की गई है । विद्वान् ही अविद्वान् को मार्ग बता सकते हैं, किन्तु कौन-से विद्वान् ? इसके सम्बन्ध में यह मन्त्र कहता है—**'ये स्था मनोर्यज्ञियास्ते शृणोतन'**=जो मनु=मनन, ज्ञान तथा मनुष्य के याज्ञिक हों, मनोविज्ञान के पण्डित हों वे तुम सुनो ।

सुनाना चाहता है उत्तर में कुछ सुनने के लिए, तो क्या हर किसी के आगे अपने मन की व्यथा रख दें ? नहीं, कदापि नहीं । जैसे दान देने के समय पात्रापात्र का विचार किया जाता है, जैसे विवेकशील धार्मिक मनुष्य दान लेते समय भी विचार करते हैं कि इस दाता का धन शुद्ध है या नहीं, ऐसे जब बुद्धिमान् अपने मन की पीड़ा किसी को सुनाना चाहे अथवा किसी से सहायता लेना चाहे तो उसे इस बात का अवश्य विचार करना चाहिए कि जिसे मैं सुनाने लगा हूँ, उसे सुनाना भी चाहिए या नहीं । वेद के मत से जिन्हें सुनाना चाहते हो वे **मनोर्यज्ञियाः**=मनोविज्ञानी होने चाहिएँ । निरन्तर जो मनन और चिन्तनरूपी यज्ञ का अनुष्ठान करते रहते हैं, जो मनुष्य यज्ञ के यज्ञिय हैं, जो मनुष्यनिर्माण-कला में प्रवीण हैं, जो मनुष्यनिर्माण के अनुष्ठान में संसक्त रहते हैं ।

ऋग्वेद [१०।३६।१३] में मानो इन्हीं यज्ञिय महापुरुषों का कुछ विवरण-सा है—**'ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते वरुणस्य देवाः'**=जो सभी देव सत्ययज्ञवाले, जगदुत्पादक, सर्वस्नेही, नियन्ता के नियम में रहते हैं अर्थात् प्रभु के आदेश और नियमों को आदर्श मानकर तदनुसार अपना आचार बनाते और विचार-व्यवहार सुधारते हैं, वे दिव्यगुणसम्पन्न महात्मा यज्ञिय हैं । ऐसे महात्माओं से जो माँगा जाएगा, वह अवश्य प्राप्त होगा । क्या माँगना चाहिए ?—

(१) **जैत्रं क्रतुम्**—जयशील कर्म्म । उनसे ऐसी शिक्षा लो कि आपके सभी कर्म्म सफल हों, कोई भी क्रिया निष्फल न हो, सर्वत्र विजय ही विजय हो ।

(२) **रयिमान् वीरवान् यश**—कीर्ति हो । धन के कारण कीर्ति हो सकती है । वह तभी सम्भव है यदि धनवान् दान दे । यन्यथा अराति=अदानी होने के कारण अपकीर्ति होगी । सन्तान के कारण भी नाम हुआ करता है, किन्तु यदि सन्तान अयोग्य हो, कुव्यसनी हो, अनाचारी हो तो नाम के स्थान में कुनाम, यश के स्थान में अपयश मिलता है । वीर सन्तान से कुल का नाम उज्ज्वल होता है । धर्म्मवीर, कर्म्मवीर, दानवीर, युद्धवीर, यशोवीर, उपकारवीर, दयावीर आदि कई प्रकार के वीर होते हैं । ऋग्वेद [१०।३६।११] में इसीलिए कहा है—**'महदद्य महतामा वृणीमहेऽवो देवानाम्'**=आज हम महान् देवों

का महान् रक्षण, प्रेम, साह्य चाहते हैं। क्यों? **'यथा वसु वीरजातं नशामहै'** [ऋ० १०।३६।११]=ताकि वीरों को उत्पन्न करनेवाले धन को हम प्राप्त कर सकें।

वेद में प्रायः जहाँ कहीं धन की कामना है, वहाँ साथ में कोई-न-कोई ऐसी बात कह दी गई है, जिससे वह कामना चमत्कृत हो जाती है। कहा है—**'यद्वो देवा ईमहे तद्दातन'**=हे देवो! जो तुमसे हम माँगते हैं, वह दे दो। इससे कहीं यह न समझ लो कि स्वयं हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहो और विद्वान् ही सब-कुछ करें। नहीं ऐसी बात नहीं है। ऋग्वेद [१०।३६।१३] में इस देने के रहस्य को भी स्पष्ट कर दिया है—**'ते सौभगं वीरवद्गोमदप्नो दधातन द्रविणं चित्रमस्मे'**=वे हमें सुभगयुक्त, वीरसमवेत, गवादिसमेत, धनसाधन, अद्भुत कर्म्म दें।

कर्म्म देने का अर्थ है कर्म्म करने की युक्ति सिखाना। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस सारे सूक्त में जिस किसी पदार्थ की कामना की गई है, वह वास्तव में उस कामना के साधक कर्म्म की कामना है अर्थात् पुरुषार्थ की कामना है। यही विद्वानों का **'अवः'**=रक्षण है।

१६०. जगदुत्पादक सब-कुछ दे

ओ३म् । सविता पश्चात्तात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात् ।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥

—ऋ० १०।३६।१४

शब्दार्थ—**सविता** जगदुत्पादक परमेश्वर **पश्चात्तात्** पीछे से है । **सविता** जगदुत्पादक परमेश्वर **पुरस्तात्** सामने से है । **सविता** जगदुत्पादक परमेश्वर **उत्तरात्तात्** ऊपर है । **सविता** जगदुत्पादक परमेश्वर **अधरात्तात्** नीचे है । **सविता** जगदुत्पादक, जगत् का शासक, शुभप्रेरक कृपालु परमेश्वर **नः** हमें **सर्वतातिम्** सब पदार्थ, सभी प्रकार का विस्तार **सुवतु** देवे । **सविता** महादाता जगद्विधाता **नः** हमें **दीर्घम्** दीर्घ **आयुः** आयु, जीवन **रासताम्** देवें ।

व्याख्या—जिस सूक्त का यह मन्त्र है, उसमें चौदह मन्त्र हैं, प्रथम और अन्त के दो मन्त्रों को छोड़कर शेष ग्यारह मन्त्रों की टेक है—**'तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे'**=हम आज देवों का वह प्रसिद्ध अवस्=रक्षण, प्रेम, साह्य चुनते हैं । कहीं लोगों को भ्रम न हो जाए, इसलिए इस चौदहवें मन्त्र में स्पष्ट कह दिया—**'सविता नः सुवतु सर्वतातिम्'**=सर्व प्रकार का विस्तार जगत्कार ही हमें दे अर्थात् हम किसी से नहीं माँगते, हम उसी से सब-कुछ माँगते हैं, जो सबका उत्पादक है । उसकी **'सर्वताति'**=सब-कुछ देने की शक्ति के प्रदर्शन के लिए, उसकी सर्वत्र विद्यमानता का बखान करने के लिए वेद कहता है—**'सविता पश्चात्तात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात्'**=भगवान् आगे-पीछे ऊपर-नीचे सभी जगह है, अतः हम कहीं हों, वह हमें अवश्य देगा । संक्षेप से इस सूक्त में की कामनाओं का निर्देश करते हैं—

१. पहले मन्त्र में सभी प्राकृत शक्तियों का आह्वान है ।

२. **मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत**—हमपर दुष्टज्ञानमयी पापवासना शासन न करे ।

३. **स्वर्वज्ज्योतिरवृकं नशीमहि**—हम आनन्दमय सरल प्रकाश को प्राप्त करें ।

४. **आदित्यं शर्म्म मरुतामशीमहि**—हम याज्ञिकों के अखण्ड कल्याण को प्राप्त करें ।

५. **सुप्रकेतं जीवसे मन्म धीमहि**—हम जीने के उत्तम संकेतयुक्त मननसाधन का चिन्तन करें, धारण करें ।

६. **दिविस्पृशं यज्ञमस्माकमश्विना जीराध्वरं कृणुतं सुम्नमिष्टये । प्राचीनरश्मिमाहुतं घृतेन**—अश्वि=प्राण-अपान हमारे यज्ञ को दिविस्पृग्=आकाश तक पहुँचनेवाला [परमात्मा से मिलानेवाला], जीवों का घात न करनेवाला, अभीष्ट सिद्धि के लिए सुखकारी, उन्नत प्रकाशवान् तथा प्रकाश से आहुत करें ।

७. **रायस्पोषं सौश्रवसाय धीमहि**—हम धनवृद्धि को उत्तम कीर्ति के लिए धारण करें ।

८. **सुरश्मिं सोममिन्द्रियं यमीमहि**—उत्तम रश्मियुक्त [श्रेष्ठ मन से युक्त शान्तिदायक इन्द्रियों] को हम संयत करें ।

९. **ब्रह्मद्विषो विष्वगेनो भरेरत**—ब्रह्मद्वेषी, ज्ञान के वैरी, धर्म्म के विरोधी, परमात्मा के वैर-अपराध को पूरी तरह भरें ।

१०. **जैत्रं क्रतुं रयिमद्वीरवद्यशः**—विजयी कर्म्म, धनजनयुक्त यश प्राप्त करें ।

११. **वसु वीरजातं नशामहै**—हम वीरोत्पादक धन प्राप्त करें ।

१२. **श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि**—भगवान् की श्रेष्ठ प्रेरणा में रहें।

इन कामनाओं पर ध्यान दीजिए। इनमें एक विशेष योजना है। पाप से रहित होने की कामना से आरम्भ करके 'भगवान् की श्रेष्ठ प्रेरणा में रहने' की भव्य भावना पर अवसान है, और इसी कारण अन्त में सब कामनाओं की पूर्ति की आशा की है।

प्रश्न होता है कि 'देवों की अवः' की कामना क्यों? इसका समाधान यह है कि वे भगवान् के मार्ग पर चलकर अभीष्ट सिद्ध कर चुके हैं। जिस मार्ग से प्रभु के प्यारे चलते हैं, उसी मार्ग पर चलना चाहिए। मनुजी भी कहते हैं—**'तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते'** [मनु० ४।१७८]=मनुष्य सत्पुरुषों के मार्ग पर चले, उसपर चलने से वह हानि नहीं उठाता। भगवान् को प्राप्त करने से पूर्व भगवत्प्रेमियों की प्रीति प्राप्त करनी ही पड़ती है, अतः कहा—**'तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे'**=देवों की उस रक्षाप्रीति को हम आज ही चाहते हैं, चुनते हैं।

१६१. विद्वानों की महिमा

ओ३म् । क्रतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः ।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत ॥

—ऋ० १०।६४।२

शब्दार्थ—क्रतवः क्रतुशील=कर्म्मशील महात्मा **क्रतूयन्ति** कर्म्म करते हैं **हृत्सु** हृदयों में **धीतयः** ध्यान करते हैं **वेनाः** महाबुद्धिमान्, कान्तिमान् **वेनन्ति** बुद्धि-कान्ति का ग्राचरण करते हैं **ग्रा+दिशः** ग्रादेश करनेवालों को **पतयन्ति** गिराते हैं । **एभ्यः** इनसे **ग्रन्यः** भिन्न दूसरा कोई **मर्डिता** सुखदाता **न** नहीं **विद्यते** है, ग्रतः **मे** मेरे **कामाः** मनोरथ **देवेषु+ग्रधि** देवों में ही **ग्रयंसत** रुके हैं, नियन्त्रित हैं ।

व्याख्या—इस मन्त्र में ग्रत्यन्त संक्षेप से विद्वानों का महत्त्व बताया गया है—

१. **क्रतूयन्ति क्रतवः**—वे क्रतु=कर्म्मशील होते हैं ग्रौर कर्म्म करना ही पसन्द करते हैं । विद्वानों के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषत् [३।१।४] में कहा है—**'विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी । ग्रात्मक्रीड ग्रात्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'**=समझदार विद्वान् बहुत नहीं बोलता, ग्रात्मा में ही खेलता ग्रौर ग्रात्मा से प्रीति करता है ग्रौर यह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ **क्रियावान्** होता है ग्रर्थात् विद्वान् के लिए क्रिया=कर्म्म ग्रत्यन्त ग्रावश्यक है । जब ब्रह्मज्ञानियों में उत्तम विज्ञानी विद्वान् क्रियावान् होता है तो साधारण-जनों को तो ग्रवश्य ही क्रियामय होना चाहिए । वेद में भी इसी ग्राशय से कहा है—**'ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः'** [ऋ० १०।६४।७]=वे समझ-बूझवाले सुचेत मनुष्य सविता परमात्मा के निर्देश में रहते हुए कर्म्म का सेवन करते हैं । विद्वान् का ग्रादर्श भगवान् है । वह जब सतत क्रियाशील है तो उसका ग्रनुकरण करने के ग्रभिलाषी कैसे ग्रकर्म्म रह सकते हैं ? ग्रकर्म्मा को वेद में दस्यु कहा है । भगवान् के विज्ञानी विद्वान् दस्यु नहीं बनेंगे ।

२. **हृत्सु धीतयः**—दिलों में ध्यान धरते हैं, ग्रर्थात् धारणा—ध्यान का ग्रभ्यास करते हैं ।

३. **वेनन्ति वेनाः**—उनके ग्राचारों से बुद्धि ग्रौर कान्ति की स्पष्ट झलक ग्राती है । उनके सारे कर्म्म ज्ञान ग्रौर बुद्धि का परिचय देते हैं, इसके कारण उनमें विशेष कान्ति झलकती है ।

४. **पतयन्त्यादिशः**—ग्रन्यायी ग्रादेशकर्त्ताग्रों को गिरा देते हैं । कर्म्म, ज्ञान ग्रौर बुद्धि का फल है सदसद्विवेक, न्याय-ग्रन्याय का ज्ञान । विद्वान् भरसक ग्रन्याय, ग्रत्याचार का विरोध करते हैं ।

५. **न मर्डिता विद्यते ग्रन्य एभ्यः**—इनके बिना ग्रन्य कोई मनुष्य सुखदाता नहीं है । जो कर्म्मठ, ज्ञानी ग्रौर बुद्धिमान् हैं साथ ही ग्रन्याय के विरोधी हैं, उनसे बढ़कर ग्रौर कौन मनुष्यजाति का हितकारी हो सकता है ? विद्वानों की यही कामना रहती है—**'सदा देवास इळया सचेमहि'** [ऋ० १०।६४।११] हम विद्वान् सदा ज्ञान ग्रौर वाणी से युक्त रहें, ग्रर्थात् हम वाणी का प्रयोग सदा ग्रपने ज्ञान के ग्रनुसार करें । कैसी कमनीय कामना है ! विद्वानों के इन गुणों से मोहित होने के कारण **'देवेष्वधि मे कामा ग्रयंसत'**=देवों में मेरे मनोरथ रुके हैं ग्रर्थात् मैं भी देव=विद्वान् बनना चाहता हूँ ।

१९२. उत्तम उपदेशक पाप से बचाएँ

ओ३म् । अव॑न्तु नः पि॒तरः॑ सुप्रवाच॒ना उ॒त दे॒वी दे॒वपु॑त्रे ऋता॒वृधा॑ ।
रथं॒ न दु॒र्गाद्व॑सवः सुदानवो॒ विश्व॑स्मान्नो॒ अंह॑सो॒ निष्पि॑पर्तन ॥

—ऋ० १।१०६।३

शब्दार्थ—**सुप्रवाचनाः** उत्तम प्रवाचन करनेवाले=पढ़ाने और उपदेश करनेवाले **पितरः** पितर=ज्ञानी गुरु **उत** और **देवपुत्रे** दिव्य सन्तानवाली **ऋतावृधा** ऋत से बढ़नेवाले **देवी** दिव्यगुणयुक्त, या व्यवहार-साधिका माता और पिता **नः** हमारी **अवन्तु** रक्षा करें, कार्य्यसिद्धि करें, हमें तृप्त करें । हे **सुदानवः** उत्तम दानी **वसवः** वसुओ ! **दुर्गात् रथं न** बुरे मार्ग से रथ की भाँति **विश्वस्मात्** सम्पूर्ण **अंहसः** पाप से **नः** हमें **निः+पिपर्तन** सर्वथा बचाओ ।

व्याख्या—अज्ञान के कारण ही मनुष्य की पापकर्म्म में प्रवृत्ति होती है । माता, पिता, गुरु पाप से बचा सकते हैं । बाल्यावस्था में बालक माता और पिता के पास रहता है, अतः माता-पिता के आचारों, व्यवहारों और संस्कारों का बालक पर प्रभूत प्रभाव पड़ता है । उठना, चलना, फिरना, बोलना, अङ्गसंचालन आदि समस्त क्रियाओं में माता-पिता के व्यवहारों की छाप होती है । माता-पिता चाहें तो बालक को शुद्ध संस्कार डालकर, अपने आचार-व्यवहार से उसे दिव्यगुणसम्पन्न महात्मा बना दें, और चाहें तो उसे जनसमाज का विनाशकारी बना दें । मनुष्य की भलाई-बुराई का मूल साधारणतया उनके माता-पिता में खोजना चाहिए । इस आयु में पड़े संस्कार प्रायः अमिट-से होते हैं । इसके बाद आचार्य्य का स्थान है । आचार्य्य का अर्थ है—**आचारं ग्राहयति**=जो आचार सिखलाये, सो आचार्य्य । यदि आचार्य्य योग्य हो, तो वह काया पलट देता है, माता-पिता के डाले कुसंस्कारों को उलट देता है ।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि माता-पिता के कुसंस्कारों को या बालक के जन्मगत दुष्टसंस्कारों को हटाने के स्थान में आचार्य्य ने उनको पुष्ट किया है, और बालक युवक या प्रौढ़ होकर दुर्दान्त हो गया है तथा पतन की चरम सीमा तक पहुँच गया है कि उसे किसी महात्मा के दिव्य उपदेश सुनने का सु-अवसर मिलता है । उस जीवन पलटनेवाले उपदेश से उसके जीवन में सहसा एक आश्चर्यजनक, विस्मयकारक परिवर्तन आ उपस्थित होता है, और जो कल पापपंक में लतपथ था, आज प्रायश्चित्त के पावन अश्रुजल से अपना सारा मल प्रक्षालन कर उज्ज्वल, विमल बन गया है । नया जीवन देने के कारण वे महात्मा सचमुच पिता कहलाने के अधिकारी हैं । ऐसे नवजीवनदाता महात्माओं को इस मन्त्र में 'पितर' कहा गया है और कामना की गई है—'**अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचनाः**'=सुप्रवाचनक पिता हमारी रक्षा करें । ऐसे महापुरुष सचमुच पितर[1] हैं । यहाँ 'पितरः' शब्द का विशेषण 'सुप्रवाचनाः' ध्यान देने योग्य है । '**सुप्रवाचनाः**' का अर्थ है उत्तम बाँचनेवाले, उत्तम उपदेश और अध्यापन करनेवाले (Good speakers, Good lecturers) । सचमुच वक्ताओं में बड़ा बल होता है । उत्तम प्रवक्ता काल का प्रवाह बदल देते हैं । अनेक बार का अनुभव है कि जिनके सुधरने की कोई आशा नहीं थी, किसी उत्तम उपदेष्टा के उपदेश-श्रवण से उनके जीवनों में उथल-पुथल मच गई ।

रक्षा का प्रकार भी वर्णन कर दिया है कि जिस प्रकार कुशल सारथि खराब मार्ग से भी आसानी

---

१. 'पितरः' शब्द के गूढार्थ जानने के लिए 'वेदोपदेश प्रथमा पद्धति' में 'पितृ शब्द पर विचार' प्रकरण देखिए ।

से रथ को हाँक लाता है, उसी प्रकार उत्तम उपदेशक भी पापपंक में धँसे मनुष्य के जीवन-शकट को अपनी कुशलता से सर्वथा बाहर निकाल लाते हैं।

माता-पिता के डाले कुसंस्कारों को आचार्य्य, उपदेशक दूर कर सकता है, जैसाकि वेद में कहा है—

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ —अ० ५।३०।४

जो तू माता के किये अपराध से, पिता के किये अपराध से सोया पड़ा है, उससे छूटने-छुड़ाने का उपाय वाणी द्वारा तुझसे कहता हूँ।

आचार्य्य का कर्त्तव्य, उपदेशक का कर्त्तव्य बहुत ऊँचा है। यद्यपि वैदिकधर्म्म के अनुसार सन्तानोत्पादन एक पवित्र यज्ञ है, तथापि संसार के अधिक मनुष्य इस पवित्र कर्म्म को केवल कुत्सित वासना के वशीभूत होकर करते हैं। उस कुत्सित वासना के परिणाम में यदि सन्तान हो जाए, तो उसका उत्कृष्ट होना कम ही सम्भव है। यदि सौभाग्य से उस कुसन्तान को योग्य आचार्य्य मिल जाए तो उसके कल्याण की सम्भावना है। आचार्य्य अपनी शिक्षा-दीक्षा के बल से महनीय है। इसीलिए वैदिकधर्मी आचार्य्य का, गुरु का, उपदेशक का, संन्यासी का राजा से भी अधिक सम्मान करते हैं, ऐसा करना उचित भी है।

१९३. न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः

ओ३म् । हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि तां वहामि प्रतरणीमवस्युवम् ।
नास्या वश्मि विमुचं नावृतं पुनर्विद्वान् पथः पुरएत ऋजु नेषति ॥

—ऋ० ५।४६।१

शब्दार्थ—**विद्वान्** जान-बूझकर मैं **हयो+न** घोड़े की भाँति **धुरि** धुरे=जुए में **स्वयं** स्वयं, अपने-आप **अयुजि** जुड़ा हूँ **ताम्** उस **प्रतरणीम्** पार उतारनेवाले **अवस्युवम्** रक्षा करनेवाले धुरे को **वहामि** वहन कर रहा हूँ, चला रहा हूँ । **न** न तो **अस्याः** इससे **विमुचम्** छुटकारा **वश्मि** चाहता हूँ और **न** न ही इससे **पुनः** पुनः **आवृतम्** लौटना चाहता हूँ । **पथः** मार्ग का **विद्वान्** जाननेवाला **पुरएतः** हमारा नेता **ऋजु** सीधा **नेषति** ले चलेगा ।

व्याख्या—मनुष्य-जीवन की सफलता इसकी कार्य्यतत्परता में है । वेद संकेत करता है कि मनुष्य को जीवन-कार्य्य में ऐसे जुट जाना चाहिए जैसे कि घोड़ा रथ के जुए में जुट जाता है । एक भेद अवश्य है कि घोड़ा अपनी इच्छा के विरुद्ध रथ में जोड़ा जाता है, किन्तु मनुष्य को स्वयं कार्य्य में जुटना चाहिए, जैसाकि वेद कह रहा है—**'हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि'** घोड़े की भाँति धुरे में स्वयं जुड़ा हूँ । इसका भाव यह है कि मनुष्य को अपने जीवन का लक्ष्य, जीवन का उद्देश्य स्वयं निर्धारित करना होगा; दूसरा कर भी नहीं सकता । कोई भी मनुष्य—योग्य से योग्य मनुष्य—दूसरे के मन की भावनाओं को, हृदय की तरङ्गों को, चित्त की उमङ्गों को भली-भाँति नहीं जान सकता । दूसरा मनुष्य निर्धारित उद्देश्य की सिद्धि के लिए कुछ साधनों का निर्देश कर सकता है, किन्तु जीवन-लक्ष्य का निर्धारण करना उसके सामर्थ्य से बाहर है । अतएव वेद **'स्वयं'** शब्द का प्रयोग करता है ।

इसका एक और भाव भी है **'स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व'** (यजु० २३।१५)=स्वयं कर्म्म कर और स्वयं फल खा । धुरे में स्वयं जुड़ेगा, तो फल भी तुझे ही मिलेगा । धुरा धारण करना, भार वहन करना थोड़ा-बहुत कष्ट का हेतु अवश्य होता है, किन्तु मनुष्य-जीवन का धुरा **प्रतरणि** और **अवस्यु** है, पार लगानेवाला तथा रक्षा का साधन है । पार लगानेवाले और रक्षा करनेवाले का त्याग करना मूर्खता की बात है । **'श्रेयांसि बहु विघ्नानि'**=भले कार्य्यों में अनेक विघ्न आते हैं । संसार में जो अधम पुरुष हैं, वे तो विघ्नों के भय से कार्य्य का आरम्भ ही नहीं करते । मध्यम पुरुष विघ्नों से पराहत होकर **'विरमन्ति मध्ये'** बीच में छोड़ देते हैं, किन्तु उत्तम पुरुष विघ्नों से वार-वार मार खाकर भी प्रारम्भ किये कार्य्य को नहीं छोड़ते । यही बात वहाँ कही है **'नास्या वश्मि विमुचं नावृतं पुनः'**=न ही मैं इससे छुटकारा चाहता हूँ, और न ही इससे फिर वापस आना । जब एक कार्य्य को सोच-समझकर, उसके पक्ष-प्रतिपक्ष की सारी बातें सोचकर उसे न्याययुक्त उचित समझकर अङ्गीकार किया, तो पुनः उसके त्यागने का कोई अर्थ ही नहीं । सज्जन पुरुषों की पहचान ही यह है कि वे अङ्गीकृत का त्याग नहीं करते । किसी नीतिकार ने अतीव सुन्दर शब्दों में कहा है—**'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः'** [नीतिशतक, ७४]=न्याययुक्त मार्ग से, धीर लोग एक पग भी विचलित नहीं होते । उत्तम कर्म्मों का अध्यक्ष भगवान् है, वह पूर्ण विद्वान् है, अतः वह **'विद्वान् पथः पुरएत ऋजु नेषति'** मार्गज्ञाता, नेता सीधे मार्ग से ले-जाता है अर्थात् भगवान् सभी विघ्नों का विनाश करते हैं, अतः विघ्नों से डरकर सत्य मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए ।

१६४. रस्सी की भाँति पाप को मुझसे शिथिल कर

ओ३म् । वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य ।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः ॥

—ऋ० २।२८।५

शब्दार्थ—**मत्** मुझसे **रशनाम्+इव** रस्सी की भाँति **आगः** पाप-भावना को **वि+श्रथाय** शिथिल कर दे। हे **वरुण** वरणीय भगवन्! **ते** तेरे **ऋतस्य** ऋत की **खाम्** डोरी को **ऋध्याम** हम बढ़ाएँ। **मे** मुझ **धियम्** बुद्धि, ज्ञान, ध्यान का **वयतः** ताना-बाना बुननेवाले का **तन्तुः** जीवनतन्तु **मा** मत **छेदि** टूटे। और **अपसः** मेरे कार्य्य—उद्देश्य की **मात्रा** मात्रा **ऋतोः** ऋतु से, समय से **पुरः** पूर्व **मा** मत **शारि** टूटे।

व्याख्या—पापतापनाशक प्रभो! मैं तेरी शरण में आया हूँ। पाप-वासना की ज्वाला में जल रहा हूँ। प्रभो! तू ही इनको शान्त कर। नाथ! मेरे पाप की डोरी लम्बी है और इसने मुझे कसके जकड़ रखा है। मेरी आपसे विनती है—**'वि मच्छ्रथाय रशनामिवागः'**=मुझसे रस्सी की भाँति पाप की वासना ढीली कर। प्रभो! पाप से ही मैं छुटकारा नहीं माँग रहा, मैं तो पाप के मूल—वासना की वास से त्राण चाहता हूँ। अतः कृपा कर। कृपालो! मैंने सुना है कि—**'सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्'** [ऋ० २।२३।४]=जो अपना-आपा तेरे अर्पण कर देता है, उसे तू उत्तम रीति से चलाता है, उस जन की रक्षा करता है तथा उसको पाप नहीं व्यापता। और—

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः ।
विश्वा इदस्माद्ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥—ऋ० २।२३।५

हे महान् रक्षक! बड़ों के भी पालक प्रभो! तू उत्तम रक्षक जिसकी रक्षा करता है, उसको कहीं से भी पाप और दुर्गति प्राप्त नहीं होती। समाज-शत्रु और द्विजिह्व भी उसे दुःख नहीं दे पाते हैं। इससे सभी पीड़ाओं को तू दूर भगाता है। अपना-आपा जिसने तुझे सौंप दिया, उसकी रक्षा तो तू स्वयं ही करेगा। मैं भी अपना-आपा तुझे सौंपता हूँ। ले ले। विपत्तारक! दुःखों से छूटने तथा तेरी रक्षा का पात्र बनने के लिए—**'ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य'**=वरुण! हम तेरे ऋत की डोरी को बढ़ाएँ, तेरे बताये नियम के अनुसार चलें। उसके अनुसार चलते हुए—**'मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे'**=तदनुसार ज्ञान-कर्म्म का ताना-बाना बुनते-तनते मेरे जीवन का तन्तु बीच में न कट जाए। मैं अपना उद्देश्य इसी जन्म में पूरा कर जाऊँ। **'मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः'**=मेरे कर्म्म की मात्रा समय से पूर्व न टूटे अर्थात् मैं अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों की इतिश्री करके ही जाऊँ। यह तभी सम्भव हो सकता है कि मुझे पाप की उलझन से छुटकारा मिल चुका हो, अतः भव-भयभञ्जन! कष्टनिकन्दन! **'दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहः'** [ऋ० २।२८।६]=बच्चे (बछड़े) से रस्सी की भाँति मुझसे पाप को छुड़ा, क्योंकि—**'नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे'** [ऋ० २।२८।६]=तुझसे दूर रहकर तो मैं आँख भी नहीं झपका सकता, अतः पिता! पाप छुड़ा और अपने पास बसा।

१९५. वरुण ! तुझे नमस्कार

ओ३म् । नमः पुरा ते वरुणोत नूनमुतापरं तुविजात ब्रवाम ।
त्वे हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूळभ व्रतानि ॥

—ऋ० २।२८।८

शब्दार्थ—हे **वरुण** वरणीय, स्वीकरणीय, वरेश्वर परमेश्वर ! **पुरा** पहले भी **ते** तुझे **नमः** नमस्कार हमने किया **उत** और **नूनम्** अब भी करते हैं । हे **तुविजात** महाशक्ते ! बल में प्रसिद्ध, परमसिद्ध ! **उत** और **अपरम्** आगे को **ब्रवाम** करते रहें । हे **दूळभ** दुर्लभ ! **पर्वते+न** पर्वत में के समान **त्वे+हि** तुझ ही में **अप्रच्युतानि** च्युत न होनेवाले, न टूटनेवाले **व्रतानि** व्रत, नियम **कम्** अनायास **श्रितानि** आश्रित हैं, रहते हैं ।

व्याख्या—स्तुति-मिष से मनुष्य मानो प्रतिज्ञा कर रहा है कि मैं सदा तुझे नमस्कार करता रहूँ । पहले भी करता रहा हूँ, अब भी करता हूँ, आगे भी करता रहूँगा । भगवान् को कोई वस्तु हम दे नहीं सकते ! एक इस कारण से कि उसे किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है । दूसरे इस हेतु से कि हमारे पास जो कुछ भी है, सभी उसका दिया हुआ है, अतः नमस्कार के सिवा हमारे पास और देने को, अर्पण करने को कुछ भी नहीं रहता । वेद में इसी कारण बार-बार नमस्कार करने की चर्चा आती है । **'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम'** [य० ४०।१६]=हम तुझे बहुत-बहुत नमस्कार-वचन कहें । **'हुवे देवं सवितारं नमोभिः'** [ऋ० २।३८।६]=मैं नमस्कारों द्वारा जगदुत्पादक प्रभु को बुलाता हूँ ।

अस्मै बहूनामवसाय सख्ये यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
सं सानु मार्ज्मि दिधिषामि बिल्मैर्दधाम्यन्नैः परि वन्द ऋग्भिः ॥—ऋ० २।३५।१२

हम इस अनेकों के रक्षक मित्र का यज्ञों, नमस्कार और हवियों से सत्कार करते हैं । मैं शिखर को शुद्ध करता हूँ, प्रकाशों के द्वारा बार-बार धारण करता हूँ । अन्नादि के द्वारा रखता हूँ और ऋचाओं=मन्त्रों के द्वारा पूर्णतया वन्दना करता हूँ । सचमुच भगवान् **'नमसोपसद्यः'**=नमस्कार से प्राप्त हो सकता है । उसकी समता जब किसी भाँति भी कोई नहीं कर सकता, तो सिवा झुकने के और उपाय भी क्या रह जाता है ? किन्तु नमस्कार का यह भाव नहीं है कि बस हाथ जोड़कर बैठे रहें, वरन् अपना आचार भी उत्तम बनाना होगा । यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हमारे नमस्कार आदि से पसीजकर भगवान् अपने विधानों को नहीं तोड़ता ।

'त्वे हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूळभ व्रतानि'=हे दुर्लभ प्रभो ! पर्वत में की भाँति तुझमें अटूट नियम अनायास रहते हैं । काव्यमयी रीति से प्रभु के नियमों की अटलता समझाई गई है । वेद में स्पष्टतया भी भगवान् के नियमों की अबाध्यमानता का बखान है—**'अदब्धा वरुणस्य व्रतानि'** (ऋ०)—वरुण के नियम अटल हैं, अतः नमस्कार के साथ विचार और आचार का सुधार भी आवश्यक है । नमस्कार का अर्थ है कि जब भगवान् के विधान अबाध्यमान जान लिये, तब अभिमान छोड़कर नम्रता से उनके अनुसार चलना चाहिए । दूसरे शब्दों में कहें, तो आत्मसमर्पण करने का आदेश वेद ने दिया है ।

१९९. विष्णु के परमपद में अमृत का कूप

ओ३म् । तद॑स्य प्रि॒यम॒भि पाथो॑ अश्यां॒ नरो॒ यत्र॑ देव॒यवो॒ मद॑न्ति ।
उ॒रु॒क्र॒मस्य॒ स हि बन्धु॑रि॒त्था विष्णो॑: प॒दे प॑र॒मे मध्व॒ उत्स॑: ॥

—ऋ० १।१५४।५

शब्दार्थ—**अस्य** इस सर्वव्यापक के **तत्** उस **प्रियम्** प्रिय, अभीष्ट **पाथः** अन्न को मैं **अभि+अश्याम्** सर्वथा खाऊँ **देवयवः** भगवद्भक्त भगवान् के अभिलाषी **नरः** मनुष्य **यत्र** जिसमें **मदन्ति** आनन्दित होते हैं, मस्त होते हैं **हि** सचमुच **सः** वह मनुष्य **उरुक्रमस्य** महापराक्रमी, विशाल सृष्टि के रचयिता का, **इत्था** इसी भाँति **बन्धुः** बन्धु हो सकता है । **विष्णोः** विष्णु के **परमे** परम **पदे** पद में **मध्वः** मधु का, अमृत का **उत्सः** कूप, स्रोत है ।

व्याख्या—एक आस्तिक जब भगवत्प्रेमियों, भगवान् के भक्तों को आनन्दविभोर देखता है, तो उसे विचार आता है कि ये लोग कैसे मस्त हैं ? मैं भी उस मस्ती को प्राप्त करूँ । जो अन्न इन्होंने खाया है, मैं भी खाऊँ—**'तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति'**=जिसके कारण से देवभक्त मनुष्य आनन्दित होते हैं, मैं भी उस प्रिय अन्न को खाऊँ । इन्हें वह अन्न कहाँ से मिला ? भगवान् से । क्योंकि—**'विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृता दधानः'** [ऋ० ३।५५।१०]=रक्षक भगवान् उस सर्वश्रेष्ठ अन्न, और प्रिय स्थानों की रक्षा करता है और अमृत=मुक्ति देता है । चूँकि इस प्रिय परम पाथ की रक्षा भगवान् करता है, अतः—**'सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र'** [ऋ० १०।१।३]=समझदार लोग इसके लिए भगवान् की अर्चा=पूजा करते हैं ।

जो यह भली-भाँति समझ ले कि भगवान् ही उस परम प्रिय अन्न का रक्षक है, और वह भगवान् की आराधना में लग जाए, तो—**'उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था'**=वह सचमुच महापराक्रमेश्वर सर्वव्यापक भगवान् का बन्धु बन जाता है । विष्णु का बन्धु बनने से उसे भी आनन्द मिलने लगता है, क्योंकि **'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः'**=विष्णु के परमपद में अमृत का कूप है । इसीलिए—**'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्'** [ऋ० १।२२।२०]=ज्ञानी जन विष्णु के उस परमपद को आकाश में फैले प्रकाश की भाँति सदा देखते हैं । देखकर ही नहीं रह जाते, वरन्—**'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम्'** [ऋ० १।२२।२१]=स्तुतिकुशल, जागरूक, सावधान बुद्धिमान् विद्वान् उसको [अपने हृदय में] सदा प्रदीप्त करते हैं, जो विष्णु का परमपद है, अर्थात् पहले उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर उसको हृदय में स्थान देते हैं । प्रभो ! हमें भी अपना परमपद दिखला । हमें भी उस अमृत-कूप का मधुर जल पिला ।

१६७. इसके रहस्य को तू ही जानता है

ओ३म् । प॒रो मात्र॑या त॒न्वा॑ वृधान॒ न ते॑ महि॒त्वमन्व॑श्नुवन्ति ।
उ॒भे ते॑ विद्म॒ रज॑सी पृथि॒व्या विष्णो॑ देव॒ त्वं प॑र॒मस्य॑ वित्से ॥

—ऋ० ७।६६।१

शब्दार्थ—हे **वृधान** सबसे महान् ! तू **मात्रया** परिमाण और **तन्वा** विस्तार से **परः** परे है [अर्थात् तेरा परिमाण और विस्तार अपार है] **विद्म** हम जानते हैं कि **पृथिव्याः** पृथिवी से अतिरिक्त **ते** वे **उभे** दोनों **रजसी** लोक—अन्तरिक्ष और द्यौलोक **ते** तेरे **महित्वम्** महत्त्व को, महिमा को **न** नहीं **अन्वश्नुवन्ति** प्राप्त कर सकते । हे **विष्णो** सर्वव्यापक **देव** परमेश्वर ! **परम्** परन्तु **त्वम्** तू **अस्य** इसके रहस्य को **वित्से** प्राप्त है, जानता है ।

व्याख्या—सर्वाधार के विस्तार का पार कौन पा सकता है ! समस्त संसार उसके सामने असार है । संसार में जितने भी पदार्थ हैं, चाहे वे महान् हों चाहे क्षुद्र, सभी के विस्तार का पार है, सभी के परिमाण का प्रमाण है, माप-तोल है, किन्तु भगवान्—**'परो मात्रया तन्वा'**=माप और विस्तार से परे है। यतः तू माप और विस्तार से परे है अतः—**'न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति'**=तेरी महिमा को कोई नहीं पा सकता ।

जड़ में ज्ञान नहीं, अतः उसे तो भगवान् का ज्ञान हो ही नहीं सकता । परतन्त्र होने के कारण वह ससीम है । ससीम से असीम की कल्पना नहीं की जा सकती । जीव चेतन होता हुआ अल्पज्ञ है, अतः वह भी पार नहीं पा सकता । अगले मन्त्र में बहुत स्पष्ट शब्दों में इस अपार विस्तार का कथन किया है—**'न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप'** [ऋ० ७।६६।२]=हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! न कोई उत्पन्न [अर्थात् भूतकाल में] और न उत्पद्यमान और उत्पत्स्यमान [वर्त्तमान और भविष्यत्काल में] तेरी महिमा के परले अन्त को पा सका, पा सकता और पा सकेगा ।

न पहले किसी ने भगवान् की महिमा का सार जाना, और न आगे उसको कोई जान सकेगा । निस्सन्देह द्यौ बहुत विस्तीर्ण है; अन्तरिक्ष=आकाश का बहुत विशाल अवकाश है; पृथिवी भी पर्य्याप्त प्रथित है, किन्तु वे भी तेरे महत्त्व को नहीं पा सकते । यतः—**'व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवी-मभितो मयूखैः'** [ऋ० ७।६६।३]=हे विष्णो ! तू इन लोकों को थामकर रखता है और पृथिवी को तो मानो चारों ओर किरणों से घेर रखा है अर्थात् पृथिवी इन सबमें छोटी है । उसे तो प्रकाश-किरण ही घेर लेते हैं । इन विशाल लोकों को जो धारण कर रहा है, अवश्य ही वह इन सबसे महान् है । यतः वह इनको धारण कर रहा है, थाम रहा है, प्रकाश से व्याप रहा है, सर्वव्यापक है; अतः—**'त्वं परमस्य वित्से'** =तू इस संसार के सार को जानता है ।

१६८. भगवन् ! मुझे आस्तिक बना

ओ३म् । इन्द्रं मृळ मह्यं जीवातुमिच्छ चोदय धियमयसो न धाराम् ।
यत्किं चाहं त्वायुरिदं वदामि तज्जुषस्व कृधि मा देववन्तम् ॥

—ऋ० ६।४७।१०

शब्दार्थ—हे इन्द्र परमेश्वर ! **मृळ** कृपा कर **मह्यम्** मेरे लिए **जीवातुम्** जीना **इच्छ** चाह ! **मेरी धियम्** बुद्धि को **अयसः+धाराम्+न** लोहे की धार की भाँति **चोदय** प्रेरणा कर । **त्वायुः** तेरा अभिलाषी **अहम्** मैं **इदम्** यह **यत्+किं+च** जो कुछ **वदामि** कहता हूँ **तत्** उसे **जुषस्व** प्रेमपूर्वक स्वीकार कर **और मा** मुझको **देववन्तम्** भगवान् वाला, आस्तिक **कृधि** बना ।

व्याख्या—हे विश्वेश्वर ! अखिलेश्वर ! परमेश्वर ! सदेश्वर ! परात्पर ! परमेश्वर ! आप परम दयालु हो, करुणामृतवारिधि हो । यह विशाल संसार आपकी दया तथा कृपा का प्रत्यक्ष प्रमाण है । जीवनदातः ! जगद्विधातः ! कर्म्मफल-प्रदातः ! धातः ! आप महादानी हो, आपके दान की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ! सचमुच **'भद्रा इन्द्रस्य रातयः'** आप महान् भगवान् के दान उत्तम हैं, हितकारी हैं । प्रियतम ! स्नेहमय प्रभो ! आपकी तो मार में भी प्यार निहित रहता है ।

ज्ञान के भण्डार ! आपने अपनी स्वाभाविक दया से सर्गारम्भ में मनुष्य को मार्ग दिखाने के लिए, बुद्धि को सहयोग देने के लिए, आँख के लिए सूर्य्यसमान, वेदज्ञान दिया जिससे जीवों का कल्याण हुआ, होता है और होता रहेगा । कृपासागर ! मुझपर कृपा कीजिए, करुणामृत की वृष्टि कीजिए । संसार के विषयविष से तड़प रहे प्राणियों पर अपनी विषापहारी भारी कृपावृष्टि कीजिए ताकि तेरी कृपामयी छत्रछाया में रहता हुआ मैं जीऊँ । प्रभो ! वह जीवन जीवन नहीं है, जिसमें तेरी सुमति न हो । कृपालो ! **'प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ'** [ऋ० ६।४७।७]=तू हमें भली-भाँति दीर्घ जीवन प्राप्त करा । पूजनीय ! मेरी जीने की इच्छा है । मृत्यु को मुझसे परे भगा । जीता हुआ ही तो तेरी पूजा कर सकूँगा । तेरी आराधना के बिना मेरे लिए कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता । महात्माजन तुझे दुष्पार कहते हैं, किन्तु प्रभो, मेरी विनती है कि—**'भवा सुपारो अतिपारयो नः'** [ऋ० ६।४७।७]=तू सुपार बन जा, और हमें पार लगा दे । भवसागर के भयङ्कर प्रवाह में पड़कर प्रभो ! हमें कुछ भी नहीं सूझ रहा । बुद्धि कुण्ठित हो रही है, कार्य्य-अकार्य्य का विवेक नष्ट-सा होता जा रहा है, अतः विवेकप्रदातः ! **'चोदय धियम् अयसो न धाराम्'**=मेरी बुद्धि को शस्त्र की भाँति तीक्ष्ण कर दे । प्रभो ! यह सूक्ष्म विषय के तल तक पहुँचनेवाली हो, और सदा मेरी तुझसे प्रीति बढ़ानेवाली हो ।

प्रभो ! सब संसार देख लिया, इसमें सार नहीं है । तू सार है, सारवान् है । मुझे सार को अपनाने की, धारने की बुद्धि दे—**'यत्किंच त्वायुरिदं वदामि तज्जुषस्व कृधि मा देववन्तम्'** भगवन् ! यह जो मैं तुझसे निवेदन कर रहा हूँ, इसे कृपया प्रीतिपूर्वक स्वीकार कीजिए और मुझे आस्तिक बना दीजिए । और —**'आरे अमतिम्'**=प्रभो ! मुझसे नास्तिकता को दूर कर । परमेश्वर कृपा करके—**'प्र णः पुरएतेव पश्य'** [ऋ० ६।४७।७]—तू हमपर ऐसी कृपादृष्टि कर, जैसे नेता अपने अनुयायिओं पर करता है । मुझे कोई युक्ति नहीं आती, कोई नीति नहीं आती । तू ही मेरे लिए **'भवा सुनीतिरुत वामनीतिः'** [ऋ० ६।४७।७] —उत्तम और सुन्दर कमनीय नीति है । जिधर तू चलाये, उधर ही जाऊँ । **'तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम'** [ऋ० ६।४७।१३]=तुझ पूज्य की सुमति तथा कल्याण-सौहार्द में हम रहें । कृपा कर प्रभो ! **'इन्द्र मृळ'** । **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** ।

१९९. हम कल्याणकारी निर्दोष मार्ग पर चलें

ओ३म् । अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥ —ऋ० ६।५१।१६

शब्दार्थ—हम **स्वस्तिगाम्** सुखपूर्वक ले-जानेवाले **अनेहसम्** निर्दोष **पन्थाम्** मार्ग को **अपि** ही **अगन्महि** प्राप्त करें, चलें **येन** जिससे मनुष्य **विश्वाः** सम्पूर्ण **द्विषः** द्वेषभावों को **परि+वृणक्ति** सर्वथा त्याग देता है और **वसु** धन **विन्दते** प्राप्त करता है।

व्याख्या—हे पथिकृत् ! मार्ग-निदर्शक ! पथ-प्रदर्शक ! संसारारण्य में आकर हम मार्ग भूल गये। किधर जाएँ और किधर न जाएँ ? हे गुरो ! यहाँ मार्ग बतानेवाला भी कोई नहीं है, किससे पूछें ? क्या भटक-भटककर सिर पटक-पटककर मर जाएँ ? प्रभो ! अन्त में भी तू ही मार्ग दिखलाएगा और संसार-जंगल से पार लगाएगा, तो अभी से ही ऐसी कृपा क्यों नहीं करता ? प्रभो ! अभी से, अभी से, कृपया—**'सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति। य एवेदमिति ब्रवत्'** [ऋ० ६।५४।१]=ऐसे विद्वान् से मिला, जो स्पष्ट उपदेश करता हो और भगवन् ! 'यह ऐसा है' इस प्रकार जो कह सकता हो। अस्पष्ट, सन्दिग्ध बात करनेवाले से हमें दूर हटा। उसे भी कल्याण-मार्ग दिखा। जिसे स्वयं संशय है, कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय नहीं है, वह दूसरों को निर्भय होकर कैसे बता सकता है ? अतः हमें तो अग्ने ! प्रभो ! असन्दिग्ध, संशय-शून्य विद्वान् से मिला, ताकि—**'अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्'**=हम सुखपूर्वक ले-जानेवाले, निष्पाप मार्ग पर ही चलें। पथ-प्रदर्शक प्रभो ! यह तभी हो सकता है, जब तू या तेरा कोई प्यारा मार्ग दिखलाये। प्रियतम ! हमें तो तेरे प्यारों की भी पहचान नहीं है। तेरे प्यार को पायें, अतः प्रभो ! तू ही कृपा कर। परमात्मन् ! दुर्गुणनाशकारिन् ! कुकामकुलोभनिवारक ! भद्रकारक ! हमें ऐसे मार्ग पर चला, जिसपर चलकर मनुष्य—**'विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु'**=सम्पूर्ण द्वेष-भावनाओं को त्याग देता है और धन पाता है।

मैं किसी से द्वेष न करूँ। मुझसे कोई वैर-विरोध न करे ! सबसे प्रीतिपूर्वक यथायोग्यधर्म्मानुसार व्यवहार करूँ और सब मुझसे स्नेह से, प्रीति से, प्यार से व्यवहार करें। भगवन् ! द्वेषरूपी डाकू हमारे प्रेमधन का अपहरण कर रहा है। इसे हमारे हृदयमन्दिर से बाहर करने का बल दे, जिससे हम धन की रक्षा कर सकें और तेरा प्रीतिरूप धन प्राप्त कर सकें—**'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'** [अ० १९।१५।६] =सभी दिशाएँ मेरी मित्र हों। कहीं भी कोई मेरा वैरी न हो, अप्रीति करनेवाला न हो। सब-के-सब सबसे प्रीति करनेवाले हों और हम सब—**'तस्य ते शर्म्मन्नुपदद्यमाने राया मदेम तन्वा तना च'** [ऋ० ६।४९।१३]=तुझ ऐसे कृपालु के कल्याणशरण प्राप्त होने पर धनधान्य, तन-सन्तान से आनन्दित हों। पुष्टिदातः ! **'न रिष्येम कदा चन'** [ऋ० ६।५४।९]=हम कभी पीड़ित न हों।

२००. जो तुम्हारे भले के लिए देता है, वह अपना घर बनाता है

ओ३म् । प्र स क्षयँ तिरते वि महीरिषो यो वो वराय दाशति ।
प्र प्रजाभिर्जायते धर्म्मणस्पर्यरिष्टः सर्वं एधते ॥ —ऋ० ८।२७।१६

शब्दार्थ—**सः** वह अपना **क्षयम्** घर, निवासस्थान **प्र+तिरते** बढ़ाता है और **महीः** बहुत **इषः** अन्न **वि** बाँटता है **यः** जो **वः** तुम्हारे **वराय** भले के लिए **दाशति** देता है । वह **प्रजाभिः** सन्तानों के द्वारा **प्र+जायते** समृद्ध होता है और **अरिष्टः** अहिंसित होता हुआ **सर्वः** सब तरह **धर्म्मणः+परि** धर्म्म के कारण **एधते** बढ़ता है । अथवा

सः वह **क्षयम्** विनाश को **प्र+तिरते** अच्छी तरह पार कर जाता है **यः** जो **वः** तुममें से **वराय** श्रेष्ठ के लिए **महीः+इषः** महती इच्छाएँ, या बहुत अन्न **वि+दाशति** देता है । वह सन्तानों के साथ समृद्ध होता है और दुःखरहित होकर धर्म्म के कारण सब तरह समृद्ध होता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में दान देने की प्रेरणा के साथ पात्रापात्र-विचार का संकेत भी है । दान अवश्य देना चाहिए । भगवान् ने हमें दिया है, हम भी आगे दें, तो यह भगवान् के आराधने का सरल-सा उपाय बन जाता है । वेद कहता है—**'जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः'** [ऋ० ६।५१।१४]=बनिये के समान जो अकेला खानेवाला है, उसको मार डाल, क्योंकि वह भेड़िया है । अकेले खानेवाले के लिए भय मुख बाये सामने खड़ा है, अतः वेद कहता है—**'प्र स क्षयं तिरते···दाशति'** वह तो विनाश को लाँघ जाता है, जो श्रेष्ठ मनुष्य को···दान देता है ।

संसार में अन्नदान की समता कोई नहीं कर सकता । घर, वस्त्र, सवारी के बिना तो जीवनयात्रा चल जाती है, किन्तु अन्न के बिना बड़ा संकट आता है । **'अन्नं वै प्राणिनां प्राणः'**=अन्न तो प्राणियों का प्राण है, जीवनधारियों का जीवनाधार है अतः अन्नदान मानो जीवनदान है । जीवनदान के समान कोई दान हो ही कैसे सकता है ? इसी कारण यहाँ भी—**'महीरिषो···दाशति'**=[बहुत अन्न···देता है] कहा है । इष्=अन्न के साथ 'महीः' विशेषण बहुत गम्भीर भाव का आवेदक है । हमने इसका अनुवाद 'बहुत' किया है, किन्तु इससे भाव पूर्णतया व्यक्त नहीं होता । इसका अर्थ 'पूज्य' कर दिया जाए तो कुछ-कुछ भावव्यक्ति में स्पष्टता हो जाती है । जीवनरक्षण के साधन यदि पूज्य नहीं, तो फिर संसार में कोई भी पूज्य नहीं । भगवान् भी तो इसी कारण पूज्य है कि वह जीवनरक्षणसाधन प्रदान करता है, अतः अन्न अवश्य पूज्य है । पूज्य पदार्थ दान करनेवाला सब विपत्तियों और कष्टों को पार कर जाता है, मानो वह अपने लिए विशाल घर बना रहा है । अन्नदान बड़ा धर्म्म है । धर्म्म का फल वृद्धि है—**'धर्म्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते'**=धर्म्म के कारण, किसी प्रकार की हानि न उठाता हुआ, सब प्रकार से बढ़ता है । गहस्थ के लिए वृद्धि का प्रमाण धन-धान्य और सन्तान की वृद्धि है, अतः वेद कहता है—**'प्र प्रजाभिर्जायते'**=सन्तान के कारण समृद्धिमान् होता है ।

२०१. दानयुक्त न्याय, स्नेह और लोकसंग्रहवाला युद्ध के बिना प्राप्तव्य को पाता है

ओ३म् । ऋते स विन्दते युधः सुगेभिर्यात्यध्वनः ।
अर्यमा मित्रो वरुणः सरातयो यं त्रायन्ते सजोषसः ।
ओ३म् । अज्रे चिदस्मै कृणुथा न्यञ्चनं दुर्गे चिदा सुसरणम् ।
एषा चिदस्मादशनिः परो नु सास्रेधन्ती वि नश्यतु ॥

—ऋ० ८।२७।१७-१८

शब्दार्थ—यम् जिसकी **सरातयः** दानयुक्त **अर्यमा** न्याय, समादर **मित्रः** स्नेह और **वरुणः** लोक-संग्रह, अपनाने का भाव **सजोषसः** प्रीतिपूर्वक रक्षा करते हैं वह **युधः + ऋते** युद्ध के बिना **विन्दते** प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है और **सुगेभिः** सुखपूर्वक **अध्वनः** अपने मार्गों पर **याति** चलता है । **अस्मै** इसके लिए **अज्रे** सपाट स्थान में **न्यञ्चनम्** ढलवान **कृणुथ** कर देते हैं **दुर्गे + चित्** दुर्गम स्थल में भी **आ** सब ओर **सुसरणम्** सरलता से चलने का स्थान बना देते हैं । **एषा** यह **सा** वह **अशनिः** वज्र-समान विपत्ति **चित्** भी **अस्रेधन्ती** दुःख न देती हुई **न** शीघ्र ही **अस्मात्** हमसे **परः** परे होकर **वि + नश्यतु** नष्ट हो जाए ।

व्याख्या—जिसकी यह इच्छा हो कि वह अनायास ही अपने इच्छित पदार्थों की प्राप्ति कर सके, उसे चाहिए कि वह अर्यमा, मित्र और वरुण देवों=दिव्यभावों को अपनाये । जिस मनुष्य ने अर्यमा देव, न्यायरूपी दिव्यभाव को, आदरणीयों के आदरभाव को अपनाया हो, जगत् में उसका अवश्य मान होता है । लोग उसके लिए मार्ग छोड़ देते हैं । मित्रभाव तो अतीव आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न करता है । योगी लोग मैत्री को चित्तशुद्धि के लिए एक आवश्यक साधन मानते हैं । मैत्री का एक अङ्ग अहिंसा है, उसके परिपाक से तो हिंसक प्राणी भी वैर त्याग देते हैं । यथा—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः । —यो० द० २।३५

अहिंसा का परिपाक होने पर अहिंसक के प्रति सभी प्राणी वैर छोड़ देते हैं और उसके साथ वैरी परस्पर का वैर त्याग देते हैं । ऐसे स्नेही के लिए जगत् में कोई बाधा नहीं रह सकती ।

न्याय और आदरणीयों का आदर करने से अन्यायपीड़ितों और आदरणीयों से प्रीति होती है । प्रीति की भावना बढ़कर बन्धुता का रूप धारण कर लेती है, अतः मित्र के बाद वरुण=दूसरों को अपनाने का भाव आता है । जिसे लोगों को वरण करने, चुनकर अपना बनाने की कला आती है, उसका कोई वैरी, विरोधी हो ही नहीं सकता । इन भावों के साथ यदि प्रीतिपूर्वक दान का सम्मिश्रण हो तो इन गुणोंवाला —**'ऋते स विन्दते युधः सुगोभिर्यात्यध्वनः'**=बिना युद्धों के वह प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है और सरलता से अपने मार्गों पर चलता है ।

इसी मन्त्र के भाव को ऋग्वेद [१।४१।१] में काकू से यों वर्णित किया गया है—

यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा । नू चित्स दभ्यते जनः ॥

चेतना देनेवाला वरुण=लोकसंग्रह, मित्र=मैत्री तथा अर्यमा=मान्यों का मान जिसकी रक्षा करते हैं, क्या यह मनुष्य कभी दब सकता है ? कभी नहीं, वरन्—**'अरिष्टः सर्व एधते'** [ऋ० १।४१।२] =अहिंसित होता हुआ सर्वथा बढ़ता है । ऐसे मनुष्य के लिए मार्ग अत्यन्त सरल हो जाता है, जितनी

बाधाएँ होती हैं, सब हट जाती हैं। जैसे इसे जीवन-निर्वाह में सरलता और सुविधा हो वैसे ही साधन उपस्थित हो जाते हैं। किसी प्रकार की विपत्ति उसे विपन्न नहीं कर पाती है, वरन् वह स्वयमेव ही नष्ट हो जाती है। कहा भी है—

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो अस्ति वः। [ऋ० १।४१।४]

हे अदितिपुत्रो! ऋत के अनुसार चलनेवाले के लिए ये मार्ग सुगम और कण्टकरहित [विघ्न-बाधाशून्य] होता है। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

ऋग्वेद के मन्त्र [१।४१।१] में 'वरुण, मित्र, तथा अर्यमा' को प्रचेतस्=उत्तम चेतावनी देनेवाला कहा गया है। चाहे ये शब्द गुणवाचक हों, चाहे ये गुणी के बोधक हों, दोनों अवस्थाओं में इन शब्द के वाचक प्रचेतस्=उत्तम चेतावनी देनेवाले हैं। गुणीजनों का व्यवहार बुद्धिमान् मनुष्यों को चेतावनी देता है, सावधान करता है। उनमें भी उन गुणों को धारण करने का उत्साह प्रदान करता है, और वे भी इनको धारण कर, तदनुसार आचरण कर मान तथा प्रतिष्ठा के भागी बनते हैं। ऋ० ८।२७।१७ में वरुण आदि को **'सराति'** तथा **'सजोषस्'**=दानी एवं प्रेमी कहा है। जिसमें दानप्रवृत्ति हो, जो सबसे प्रेम करता हो, उसकी स्वाभाविक कामना यही होगी कि उसके सङ्गी-साथी भी दानी एवं प्रेमी हों, तो शत्रु तक को वह मित्र बना लेता है। प्रेम की शक्ति का तो कहना ही क्या! ये भाव तथा इन भावोंवालों का संसर्ग सचमुच मङ्गलमय है, अतः जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए अवश्य ही इन दिव्य गुणों को धारण करना चाहिए।

२०२. यज्ञ = समाज को उन्नत करो

ओ३म् । मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम् ।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्र णयता सखायः ।।

—ऋ० १०।१०१।२

शब्दार्थ—**मन्द्रा** मधुर कर्म **कृणुध्वम्** करो **धियः** बुद्धियों का **ग्रा** सब ग्रोर **तनुध्वम्** विस्तार करो **नावम्** नौका को **ग्ररित्रपरणीम्** चप्पुग्रों से सुरक्षित **कृणुध्वम्** करो। **ग्रायुधा** ग्रायुध, हथियार **इष्कृणुध्वम्** परिष्कृत करो, सजाग्रो **ग्ररम्** पूरी तैयारी **कृणुध्वम्** करो ग्रौर **यज्ञम्** सङ्गठन यज्ञ को, **सखायः** समान विचारवाले होकर **प्राञ्चम्** प्रोन्नत **प्र+णयत** करो।

व्याख्या—इस मन्त्र में सङ्गठन को उन्नत करने के कुछ साधन कहे गये हैं, जो मनन ग्रौर ग्राचरण करने योग्य हैं, जिनपर ग्राचरण करने से समाज ग्रवश्य उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

१. **'मन्द्रा कृणुध्वम्'**=मधुर कर्म्म करो। समाज-सङ्गठन के ग्रर्थ हैं ग्रनेकों मनुष्यों को जिनका ध्येय एक हो, एकत्रित करना। कटुता से, कठोरता से विवश होकर, भले ही समय-यापन करने के लिए कोई किसी सङ्गठन में ग्रा मिले, किन्तु समय मिलने पर ग्रवश्य ही वह इसका विरोध करेगा। ग्रतः समाज-सङ्गठन के लिए उत्सुक मनुष्यों को ग्रवश्य मधुर कर्म्मं करने चाहिएँ। यजुर्वेद में कहा गया है—**'ग्रक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा'**=कर्म्मशील लोग सुखदायिनी वाणी के साथ कर्म्म करते हैं ग्रर्थात् कर्म्म-विज्ञान के ज्ञानी ग्रपने किसी भी कर्म्म में कटुता-कठोरता नहीं ग्राने देते, वरन् सदा मधुरता का प्रयोग करते हैं। वाणी का माधुर्य्य ग्रत्यन्त ग्रद्भुत चमत्कार दिखाता है।

२. **'धिय ग्रा तनुध्वम्'**=बुद्धियों का विस्तार करो। बुद्धि के बिना तो कोई कार्य्य हो नहीं सकता। बुद्धिहीन मनुष्य ग्रनेक सङ्कटों में फँसा रहता है। जितनी बुद्धि की न्यूनता उतनी ग्रधिक पराधीनता; जितनी बुद्धि विशाल, उतनी परतन्त्रता न्यून। नीतिकार बुद्धि को बल बतलाते हैं—**'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्'**=जिसके पास बुद्धि है उसी के पास शक्ति है; बुद्धिहीन के पास शक्ति कहाँ ? ग्रतः वेद में ग्रादेश है—**'मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषाम्'**[ऋ० १०।१११।१]बुद्धिमानो ! बुद्धि को खूब बढ़ाग्रो। ग्रतएव ग्रार्यों के जपमन्त्र—गायत्रीमन्त्र में ग्राता है—**'धियो यो नः प्रचोदयात्'**=भगवान् हमारी बुद्धियों को शुभ प्रेरणा दे।

३. **'नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्'**=नौका को चप्पुग्रों से सुरक्षित करो। नौका चलाने के लिए चप्पू चाहिएँ। चप्पुग्रों के बिना नौका चलाना भय को ग्रामन्त्रण देना है। जैसे नौका के चलाने के लिए चप्पू ग्रावश्यक हैं, ऐसे समाज को सामाजिक शत्रुग्रों से बचाने के लिए पारस्परिक सहयोग की नितान्त ग्रावश्यकता है। समाजरूपी नौका के लिए समान विचार, समान उच्चार, समान ग्राचार, समान लक्ष्य मुख्य चप्पू हैं, ग्रतः इनका सदा संग्रह रखना चाहिए।

४. **'ग्रायुधम् इष्कृणुध्वम्'**=हथियार सजाग्रो। कुण्ठित, जीर्ण हथियारों से नहीं लड़ा जा सकता, ग्रतः साधन-सामग्री पूरी तरह परिष्कृत रखनी चाहिए।

५. **'ग्ररं कृणुध्वम्'**=तय्यारी करो। मनुष्य के पास ज्ञान कर्म्म, क्रियाकुशलता ग्रौर बुद्धिविशालता हो तो समाजरूपी नौका ठीक चल सकेगी, फिर सारे शस्त्रास्त्र प्राप्त करने सरल होंगे। तय्यारी में किसी प्रकार की बाधा न होगी। वेद कहता है—इस तय्यारी के साथ—**'प्राचं यज्ञं प्रणयता सखायः'**=तुम सब

एक विचारवाले होकर इस यज्ञ को=सङ्गठन को ऊँचा ले-जाओ। समाजोन्नति के लिए विचारों की एकता की अत्यन्त आवश्यकता है, इसके बिना सङ्गठन हो नहीं सकता। इसी लिए ऋग्वेद [१०।१०१।१] में कहा है—**'उद्‌बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळाः'**=तुम जब जागो, एक मन और एक आचारवाले होकर, एक ठिकाना बनाकर तुम बहुत-से होकर एक ही आग जलाओ अर्थात् तुम्हारा सङ्गठन एक हो। सङ्गठन की एकता बनाये रखने के लिए सावधान रहने, एक मन तथा एक विचार और एक उद्देश्य रखने की भारी आवश्यकता है।

इन संकेतों के अनुसार किया गया समाजविधान कभी दुर्बल नहीं होता।

२०३. घोड़ों को प्रसन्न करो और इष्ट जीतो

ओ३म् । प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम् ।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिंचता नृपाणम् ।।—ऋ० १०।१०१।७

शब्दार्थ—अश्वान् घोड़ों को **प्रीणीत** प्रसन्न रखो और **हितम्** हित को **जयाथ** विजय करो **रथम्** रथ को **स्वस्तिवाहम्**+**इत्** कल्याणकारी ही **कृणुध्वम्** बनाओ । **द्रोणाहावम्** द्रोणाहाव **अवतम्** रक्षासाधन **अश्मचक्रम्** आग्नेय पादार्थसमूह को **अंसत्रकोशम्** कवचकोश को तथा **नृपाणम्** नृपाण—जनरक्षा के साधन को **सिंचत** उत्तेजित करो ।

व्याख्या—इस मन्त्र में विजय-साधनों का निर्देश बहुत संक्षेप से किन्तु बलपूर्ण शब्दों में किया गया है । विजय प्राप्त करना चाहते हो, तो—**'प्रीणीताऽश्वान्'**=घोड़ों को प्रसन्न करो, तृप्त करो । अश्व का अर्थ केवल साधारण घोड़े ही नहीं हैं, वरन्—**'अश्नुते अध्वानम्'**=जो मार्ग को व्याप्त करे, अर्थात् उद्देश्य-सिद्धि के सकल साधनों को वैदिक परिभाषा में 'अश्व' कहते हैं । घोड़े, विद्युत्, रथ आदि सभी पदार्थ अश्व हैं । भूखा घोड़ा रथ में नहीं जोड़ा जा सकता । रथ भी चालक उपकरणों के बिना कार्य्य नहीं दे सकता । उसमें भी उचित उपकरण लगाने होंगे । इसी भाव से वेद ने कहा—**'प्रणीताऽश्वान् हितं जयाथ'**= अश्वों को तृप्त रखो और हित को विजय करो । **'प्रीणीताऽश्वान्'** का ही आशय अधिक स्पष्ट शब्दों में कहने के लिए कहा है—**'स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्'**=रथ को सुखधारी ही बनाओ अर्थात् युद्धोपकरण ऐसे हों, जिनसे अन्त में स्वस्ति=Sound-situation उत्पन्न हो ।

राज्यशक्ति का मूल=अवत प्रजा है । वह ऐसा कूप है जहाँ से निरन्तर धनजल, जनजल निकलता रहता है । मूल-रक्षासाधन भी वही प्रजा है, अतः उसे सदा उत्तेजित रखो, ताकि धनबल और जनबल सदा मिलता रहे । ऐसा कोई उपद्रव न होने देना चाहिए, जिससे प्रजा-अवत सूख जाए । यदि कभी उसे सींचने की आवश्यकता पड़े, तो उसमें संकोच नहीं करना चाहिए । 'अश्म' विद्युत् के बने शस्त्रों को कहते हैं । अश्मचक्र=वैद्युत्-आयुधसमूह को उत्तेजित रखो । शत्रु भी आयुध-सम्पन्न होगा, अतः अपने योधाओं की रक्षा के साधन=नृपाण जो कवच आदि हैं उनको भी ठीक रखो, तभी कार्य्यसिद्धि होगी ।

२०४. व्रज = युद्धशिविर रचाओ

ओ३म् । व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥

—ऋ० १०।१०१।८

शब्दार्थ—**व्रजम्** समुदाय को, शिविर को **कृणुध्वम्** बनाग्रो **सः+हि** वही **वः** तुम्हारा **नृपाणः** जनरक्षणसाधन है । **बहुला** बहुत-से **पृथूनि** विशाल, भारी **वर्म** कवचों को **सीव्यध्वम्** जोड़ो, सियो **ग्रधृष्टाः** किसी से न दबाये जा सकनेवाले **ग्रायसीः** लोहमय **पुरः** नगर, दुर्ग **कृणुध्वम्** बनाग्रो । **वः** तुम्हारा **चमसः** भोजनपात्र **मा** मत **सुस्रोत्** चूए **तम्** उसको **दृंहत** दृढ़ करो ।

व्याख्या—पिछले मन्त्र में 'नृपाण' को उत्तेजित करने का ग्रादेश है । इस मन्त्र में 'नृपाण' का तात्पर्य बताया है । नृपाण व्रज है, ग्रतः कहा—**'व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणः'**=व्रज बनाग्रो ! बाड़ा बनाग्रो । समुदाय बनाग्रो, छावनी सजाग्रो, वही तुम्हारा नृपाण है । व्रज का एक ग्रर्थ है—जनमत (Public opinion), ग्रर्थात् सबसे पूर्व जनमत को ग्रपने पक्ष में करो । वास्तविक नृपाण तो वही है । शेष तो उसके उपकरण हैं । बड़े-बड़े ग्रौर ग्रसंख्य वर्म सिलाग्रो । वर्म का ग्रर्थ केवल तनूत्राण=कवच ही नहीं है, समस्त युद्धसाधनों को वैदिक परिभाषा में वर्म्म कहते हैं, उनमें कवच भी सम्मिलित है । इसमें दो ऐसे साधनों का उल्लेख है जिनके बिना कोई युद्ध सफलता से जीता नहीं जा सकता, वे हैं—

(१) **'पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टाः'**=नगरों को, दुर्गों को लोहमय तथा ग्रधृष्ट बनाग्रो । युद्ध-समय में ऐसा न हो कि शत्रु तुम्हारे नगरों पर ग्राक्रमण करके उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दें । इसके लिए प्रबन्ध करना चाहिए । उनकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि ग्रस्त्रों-शस्त्रों का वार उसपर बेकार जाए तथा उसके ग्रन्दर बसनेवाले ऐसे वीर, दुर्दान्त हों कि शत्रु ग्राक्रमण का साहस ही न करें ।

(२) **'मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्'**=तुम्हारा भोजनसाधन न चूने लगे, उसे दृढ़ करो । युद्ध के दिनों में प्रजा का एक पर्याप्त भाग युद्ध में भाग ले रहा होता है । उससे भोजन-व्यय बढ़ जाता है । उधर कृषि ग्रादि करनेवालों की न्यूनता हो जाने से ग्रन्न की उपज बहुत घट जाती है । व्यय ग्रधिक, ग्राय न्यून होने से भोजन-भण्डार के समाप्त हो जाने का भय होता है । भोजन के ग्रभाव में सेना लड़ नहीं सकती । सामान्य प्रजा में भोजन के ग्रभाव से ग्रशान्ति ग्रौर उपद्रव खड़े हो जाते हैं । इससे जीत भी हार में परिणत हो जाती है, ग्रतः वेद का ग्रादेश है—**'मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्'**=तुम्हारा भोजन-साधन न्यून न होने पाये, उसे दृढ़ करो ।

२०५. देवों की इच्छा का विघात नहीं होता

ओ३म् । यथा वशन्ति देवास्तथेदसत्तदेषां नकिरा मिनत् ।
अरावा चन मर्त्यः ।—ऋ० ८।२८।४

शब्दार्थ—**देवाः** देव, निष्काम महात्मा **यथा** जैसा **वशन्ति** चाहते हैं, **तद्** वह **तथा+इत्** वैसे ही **असत्** होता है । **नकिः** नहीं कोई **एषाम्** इनका **आ+मिनत्** विघात कर सकता है, **चन** चाहे वह **अरावा** विरोधी **मर्त्यः** मनुष्य हो ।

व्याख्या—देव=दिव्यगुण युक्त । दिव्य का अर्थ है जिसे चाहते तो सब हों किन्तु प्राप्त सबको न हो सके, अर्थात् असाधारण, लोकोत्तर गुणोंवाले पदार्थों की 'देव' संज्ञा है । अथवा यास्काचार्य्यजी के अनुसार—**'देवो दानाद् वा, द्योतनाद्दीपनाद् वा'** (निरुक्त)—जो दान करे, चमके, चमकावे, वह देव । दाता, प्रकाशमान और प्रकाशक पदार्थ देव हैं । ये जड़-चेतन सभी हो सकते हैं । सूर्य्य प्रकाश तथा जीवन देता है; स्वयं प्रकाशमान है, अन्यों का प्रकाशक भी है, अतः वह देव है । एक ज्ञानी जो ज्ञानदान के आवश्यक कार्य्य में लगा है, वह भी देव है ।

इस मन्त्र में देव से दिव्यगुणवाले चेतन मनुष्य अभिप्रेत हैं, क्योंकि—**'यथा वशन्ति देवाः'** [जैसे देव चाहते हैं] कहा गया है । चाहना=इच्छा चेतन का धर्म्म है । अचेतन में इच्छा होती ही नहीं, अतः ये इच्छा करनेवाले चेतन ही हैं । वैसे भी देव शब्द का एक अर्थ 'विजिगीषु' [विजय की इच्छावाला] होता है । इच्छा के साथ थोड़ा-बहुत ज्ञान भी होता है, अतः 'ब्राह्मणों' में **"विद्वांसो हि देवाः"** कहा गया है । दिव्यगुणकर्म्मस्वभाववाला जो चाहे, उसके होने में कोई आश्चर्य नहीं है, अतः कहा है—**'यथा वशन्ति देवास्तथेदसत्'**=जैसे देव चाहते हैं, वैसे ही हो जाता है ।

देवों का एक प्रधान गुण ऋत=सत्य-आचरण है । योगदर्शन के भाष्य में सत्यवादी की महिमा वतलाते हुए कहा गया है—**'अमोघास्य वाग् भवति'**=इसकी वाणी निष्फल नहीं होती अर्थात् सत्यवादी योगी जो कुछ कहता है, वह होकर रहता है । वेद इतना ही नहीं कहता, वरन् इससे भी अधिक कहता है—**'तदेषां नकिरा मिनत्, अरावा चन मर्त्यः'**=उनकी उस इच्छा का विघात कोई नहीं कर सकता, चाहे वह उनका विरोधी भी हो । वेद में अनेक स्थानों पर वर्णित है कि देवों के व्रत को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता । सचमुच सत्यव्रत देवों के कर्म्म में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता ।

२०६. कल्याणाभिलाषी अपने कर्म्म से बोले

ओ३म् । परि॑ चि॒न्मर्त्तो॒ द्रवि॑णं ममन्यादृ॒तस्य॑ प॒था नम॒सा वि॑वासेत् ।
उ॒त स्वेन॒ क्रतु॒ना सं व॑देत॒ श्रेया॑सं॒ दक्षं॒ मन॑सा जगृभ्यात् ॥

—ऋ० १०।३१।२

शब्दार्थ—मर्त्तः मनुष्य **परि+चित्** सभी ओर **द्रविणम्** धन को **ममन्यात्** माने **ऋतस्य** ऋत के **पथा** मार्ग से **नमसा** विनय से **आ-विवासेत्** सेवा करे। **उत** और **स्वेन** अपने **क्रतुना** कर्म्म से **सं-वदेत** बोले, अथवा उससे मेल रखे और **मनसा** मन से **श्रेयांसम्** कल्याणमय **दक्षम्** उत्साह को **जगृभ्यात्** ग्रहण करे।

व्याख्या—धनाभिलाषी मनुष्य के लिए इस मन्त्र में कुछ संकेत है जिनपर आचरण करने से अवश्य अभीष्ट-सिद्धि होती है—

(१) **'परिचिन्मर्त्तो द्रविणं ममन्यात्'**=मनुष्य सभी ओर धन को माने। धन किसी एक कोने में नहीं धरा है। मिट्टी में धन है, पानी में धन है, आग में धन है, पवन में धन है, भूतल पर धन है, भूगर्भ में धन है, अन्तरिक्ष में धन है। भगवान् ने इन सब पदार्थों को धन-सम्पन्न बनाया है। हाँ, धन के प्राप्त करने के लिए कुछ नियम हैं।

(२) **'ऋतस्य पथा नमसा विवासेत्'**=ऋत के मार्ग में नम्र होकर सेवा करे।

पहला साधन है कि सृष्टिनियम का पालन करे। कल्पना करो, कोई मनुष्य जल से धन लेना चाहता है। उसे जल की रचना, जल में अग्नि आदि का प्रभाव जानना होगा। कोई जल को पर्वत में बर्फ के रूप में जमा देखकर बर्फ बनाकर धन कमाता है। कोई घर में उबलते जल के पात्र पर पड़े ढकने को जल के वाष्प के बल से हिलता-डुलता देखकर जल से वाष्प बनाकर उससे यान और कारखाने चलाने का काम लेता है। कोई घने बादलों के समय बिजली की चमक देख जल से कलबल द्वारा बिजली उत्पन्न कर धनी बनता है। नदियों को चलता देख कोई नहरें खोदकर व ऊसर भूमि को उर्वरा बनाकर धनी बनता है। तात्पर्य यह कि धन सब स्थानों पर है, केवल ऋत का अनुसरण करने की आवश्यकता है, फिर धन-ही-धन सर्वत्र देखिए। समस्त आधुनिक पदार्थविद्या का आधार ऋतज्ञान है।

(३) **'उत स्वेन क्रतुना संवदेत'**=अपने कर्म्म से संवाद करे।

जितना कोई कर्म्म करेगा, उसी के अनुसार उसे फल मिलेगा, अतः मनुष्य को धन की तुलना अपने कर्म्म से करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि मनुष्य बढ़चढ़कर बातें बनाया करते हैं। वेद कहता है कि—**'उत स्वेन क्रतुना संवदेत'**=मनुष्य अपने कर्म्म द्वारा बोले। भाव यह है कि केवल ऋतज्ञान ही पर्य्याप्त नहीं है, वरन् ऋत के अनुसार अपना क्रतु=कर्म्म भी होना चाहिए। संसार के सभी धर्म्मग्रन्थ कहे जानेवालों में वेद ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो केवल विश्वास=ईमान=Faith को ही मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं मानता, प्रत्युत उसके साथ कर्म्म पर बहुत बल देता है। यजु० ४०।२ मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—**'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतँ्समाः'**=मनुष्य सम्पूर्ण आयु कर्म्म करता हुआ ही जीने की अभिलाषा करे। कर्म्म न करनेवाले को वेद दस्यु=डाकू कहता है। यथा—**'अकर्म्मा दस्युः'**=कर्म्म न करनेवाला दस्यु है। दस्यु को वेद में दण्डनीय कहा गया है। मनुष्य को अपनी योग्यता और गुणावली के बखान करने की आवश्यकता नहीं, वरन् उसके गुण का विज्ञापन उसके कर्म्म होने चाहिएं। उसकी कथनी की पुष्टि करनी से होनी चाहिए। कथनी और करनी में विरोध न होना चाहिए।

(४) **'श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्'**=कल्याणमय उत्साह को मन से पकड़े। मन के सम्बन्ध में यजुर्वेद (३४।३) में कहा—**'यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते'**=जिसके बिना कोई कार्य्य नहीं किया जा सकता। यदि मन में कर्म्म के लिए उत्साह न होगा, प्रथम तो वह हो ही न सकेगा, यदि कथंचित् हो भी जाए, तो उत्तमता से नहीं होगा, अतः आदेश है—**'श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्'**=कल्याणकारी उत्साह को मन से करे। दक्ष=उत्साह, हत्या, चोरी आदि के लिए भी हो सकता है। वेद ने इसीलिए **'दक्षम्'** का विशेषण **'श्रेयांसम्'** [मङ्गलमय, कल्याणकारी] का प्रयोग किया है अर्थात् अभद्र, अमङ्गल उत्साह नहीं होना चाहिए। इसीलिए यजुर्वेद (३४।१-६) में कहा है कि—**'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'**=मेरा मन शुभ-संकल्पोंवाला हो। मन का दक्ष संकल्प है। दक्ष श्रेयान् हो, संकल्प शिव हो।

२०७. भगवान् के सख्य का फल

ओ३म् । शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चनः ॥ —ऋ० १०।१५२।१

शब्दार्थ—प्रभो ! तू **शासः** अनुशासन करनेवाला है **और इत्था** इसी कारण **महान्+असि** तू महान् है. **अमित्रखादः** वैर-विरोध-विनाशक और **अद्भुतः** अद्भुत=विचित्र है। [तू ऐसा है कि] **यस्य** जिसका **सखा** सखा, मित्र **न** नहीं **हन्यते** मारा जाता और **न** न ही **कदाचन** कभी **जीयते** हानि उठाता है, या पराजित होता है।

व्याख्या—भगवान् सचमुच बड़ा शासक और अनुशासक है। वेद में कहा है—**'इन्द्र ईशान ओजसा'** [ऋ० ८।४०।५]=भगवान् अपने स्वाभाविक बल के कारण ईशान=शासक है। **'उतो पतिर्य उच्यते कृष्टीनामेक इद्वशी'** [ऋ० ८।१३।९]=जो अकेला ही सम्पूर्ण प्रजाओं का स्वामी तथा वशी=नियन्त्रण में रखनेवाला कहा जाता है। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के कल्याण के लिए भगवान् वेद प्रदान करता है। इसी कारण योगिजन उसे **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** [यो० द० १।२६]=आदिम ऋषियों का गुरु मानते हैं। सचमुच वह गुरुओं का गुरु है। राजा का, शासक का, शासन शरीर पर होता है किन्तु गुरु का शासन हृदय, बुद्धि सभी पर होता है। भगवान् की महत्ता के कारणों में एक यह भी कारण है कि भगवान् अनुशासक है, गुरु है—**'शास इत्था महाँ असि'**=तू अनुशासक है, अतः महान् है। अनुशासक का अर्थ अनुकूल उपदेशक है। भगवान् जीव के कल्याण के लिए केवल सृष्टि के आरम्भ में वेद-ज्ञान देकर शान्त नहीं हो जाता, वरन् सदा हित का उपदेश करता रहता है। मनुष्य जब कभी बुरा कार्य्य करने का विचार करता है, भगवान् उसको वारण देते हैं। यह और बात है कि बहुधा जीव उसको अनसुना कर देता है, किन्तु भगवान् उसे अवश्य सावधान करते हैं।

भगवान् के कृपापात्र के शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते हैं मानो उनको भगवान् ने खदेड़ दिया हो, अतः भगवान् **अमित्रखाद**=शत्रुओं को खदेड़नेवाला है। चूंकि भगवान् भक्त के शत्रुओं के साथ आकर युद्ध करता नहीं दिखता, किन्तु भक्त के शत्रुओं में प्रतिदिन न्यूनता आ रही होती है, इसलिए भगवान् अद्भुत **अमित्रखाद** सिद्ध होता है। भगवान् की महिमा का एक प्रबल कारण और बताया है—**'न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन'**=उसका सखा न मारा जाता है और न कभी पराजित होता है। भगवान् वैसे तो सबका सखा है किन्तु **'भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः'** [भव्यों के प्रति प्रेम हो ही जाता है] के अनुसार भगवान् भक्तों का विशेष सखा है। जैसा कि वेद में कहा है—**'इन्द्रो मुनीनां सखा'**=परमेश्वर मुनियों=भगवद्भक्तों का सखा है। मित्र की स्थूल पहचान यह है कि वह मित्र को संकट से बचाता है। वेद में कहा गया है—**'सखा सखायमतरद्विषूचोः'** [ऋ० ७।१८।६]=मित्र मित्र को विपत्ति से बचाता है। मृत्यु और पराजय [बल की हानि, धन की हानि, जन की हानि, तन की हानि, मन की हानि सभी पराजय के अन्तर्गत हैं, क्योंकि संसार-संग्राम में इनकी न्यूनता से पराजय हुआ करती है] ये दोनों भारी आपत्तियाँ हैं। भगवान् का मित्र इनके पाश में नहीं फँसता—**'न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन'**=आत्मा अमर है, उसकी मृत्यु नहीं होती। शरीर से आत्मा के वियोग का नाम मृत्यु है। अज्ञान के कारण आत्मा शरीर को अपना-आपा मान बैठा है, शरीर के विनाश को आत्मा का नाश समझ बैठा है, अतः शरीर में किसी प्रकार के उपद्रव को देखकर वह आत्मनाश को संनिहित देखता है। प्रभु का सखा बनने से उसे अपने

ग्रविनाशी स्वरूप का ज्ञान होता है ग्रौर वह ग्रपने को ग्रमर मानकर मृत्यु से निर्भय होता है। इसलिए कहा—**'न यस्य हन्यते सखा'**—इसी शरीर ग्रौर ग्रात्मा के भेद का ज्ञान होने पर, ग्रात्मा के ग्रविनाशी ज्ञात होने पर, शरीरनाश से, शरीर के विकृत होने से वह ग्रात्मा का नाश ग्रौर विकार नहीं मानता। ग्रतः कहा—**'न जीयते कदाचन'**।

यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् स्वाभाविक मित्र है। हमने उसकी उपेक्षा कर रखी है, वह हमारी उपेक्षा कभी नहीं करता। एक बार हम उसकी ग्रोर बढ़ने की चेष्टा करें तो फिर ज्ञात हो कि वह हमारा स्वागत कैसे करता है। सांसारिक मित्र तो रूठता भी है ग्रौर कभी कोई-कोई सदा के लिए संग भी त्याग देता है; किन्तु भगवान् न कभी रूठता ग्रौर न कभी संग त्यागता है। इस भेद को जानकर मनुष्य को सच्चे मित्र से मित्रता गाँठनी चाहिए।

२०८. बिना कूटे सोम भी मस्त नहीं करता

**ओ३म् । न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः ।
तस्मा उक्थं जनये यज्जुजोषन्नृवन्नवीयः शृणवद्यथा नः ॥**

—ऋ० ७।२६।१

शब्दार्थ—**असुतः** न कूटा हुआ=निष्पादित न किया हुआ **सोमः** सोम **इन्द्रम्** इन्द्र को **न** नहीं **ममाद** मस्त करता है और **न** न ही **अब्रह्माणः** ब्रह्मरहित **सुतासः** निष्पादित सोम **मघवानम्** मघवा को, इन्द्र को मस्त करते हैं, अतः **तस्मै** उसके प्रति **उक्थम्** स्तुति-वचन **जनये** प्रकट करता है **यत्** जिसको वह **नृवत्** मनुष्य की भाँति **जुजोषत्** पसन्द करे, और **यथा** जिस प्रकार वह **नः** हमारे **नवीयः** नवीनतर, अथवा नमस्कारपूर्ण वचन को **शृणवत्** सुने ।

व्याख्या—सोम के सम्बन्ध में वर्णन आता है कि वह मस्त करता है । ऋग्वेद [९।१।१] में सोम की धारा को अत्यन्त मस्ती देनेवाली कहा गया है—**'स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया'**=हे सोम ! सबसे स्वादिष्ट और सबसे अधिक मस्ती देनेवाली धारा के द्वारा पवित्र कर । ऋग्वेद [९।१८] में कहा है कि **'मदेषु सर्वधा असि'**=मदों में सबको धारण करता है । सोम को वेद में **'देवेभ्यः उत्तमं हवि'** [ऋ०]=[देवों के लिए सबसे श्रेष्ठ पेय पदार्थ] कहा है । इसलिए—**'त्वां देवासो अमृताय कं पपुः'** [ऋ० ९।१०६।८] देव सोम को जीवन के लिए सुखपूर्व पीते हैं । इन्द्र=जीव को यह अत्यन्त प्रिय है । इसके पीने से उसमें शक्ति आती है—**'यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायते'** [ऋ० ९।१०८।१]=जिसको पीकर इन्द्र बलशाली हो जाता है । आत्मा को यह पवित्र करता है, किन्तु तब जब यह सुत हो, निष्पादित हो, कूट-पीटकर रस निकाला गया हो । यथा—**'इन्द्राय पवते सुतः'** [ऋ० ९।६।७]=सुत होकर, कूटा-पीटा जाकर यह इन्द्र के लिए पवित्रकारक बनता है ।

इसके कूटने-पीटने में थोड़ा-सा रहस्य है—

स मृज्यते सुकर्म्मभिर्देवो देवेभ्यः सुतः । —ऋ० ९।९९।७

सुकर्म्म और सुकर्म्मा जन इसको पवित्र कर सकते हैं, यह देव देवों से, देवों के लिए सुत=निष्पादित हुआ है अर्थात् सर्वसाधारण आत्मा सोम के अधिकारी नहीं हैं । उसका पान करने के लिए उत्तम कर्म्म करने चाहिएँ । यह देव है । देवों से यह तय्यार किया जाता है और देवों के लिए तय्यार किया जाता है । सोमपान के लिए देवभावों का सम्पादन करना आवश्यक है । यह उत्तम हवि है, यह जीवन को सुखमय बना देता है, आत्मा में शक्ति का सञ्चार करता है और इसे पवित्र करता है । किन्तु तभी, जब 'सुतः' हो, कूटा-पीटा गया हो । सार यह कि सोम का उपयोग लेने के लिए इसे 'सुतः' अवश्य बनाना है अन्यथा यह जीव को आनन्दित नहीं कर सकता—**'न सोम इन्द्रमसुतो ममाद'**=बिना सुत किये=बिना कूटे-पीटे सोम इन्द्र को मस्त नहीं कर सकता । इस बात को समझने के लिए प्राकृत पदार्थों को ही ले लीजिए । मूल प्रकृति की अवस्था में वे जीव का कोई उपयोग सिद्ध नहीं करते; विकृति अवस्था में जीव के काम आते हैं । वृक्ष उगते हैं । उनका उपयोग लेने के लिए उन्हें काटना पड़ता है, फल भी तोड़कर उपयोग में लाये जाते हैं । अन्न बोया जाता है, पक्व होने पर उसे कितने रूपों में परिवर्त्तन करके उपयोग के योग्य बनाया जाता है प्रत्येक पदार्थ को कार्य्य में लाने से पूर्व उसमें परिवर्त्तन करना अनिवार्य-सा है ।

सुत कर लिया, कूट-पीट लिया, किन्तु साथ में ज्ञान न था, तब भी—**'नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः'**=ब्रह्मरहित=ज्ञानरहित=स्तुतिरहित भी कुटे-पिटे सोम इन्द्र को मस्त नहीं करते अर्थात् कर्म्म के साथ ज्ञानपूर्वक स्तुतिवचन अवश्य होना चाहिए। जो केवल कर्म्म करता है और उसके साथ भगवान् की आराधना, स्तुति, उपासना नहीं करता, उसे मस्ती कहाँ ? वरन्—**'उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद'** (ऋ० ७।२६।२)—भगवान् के प्रत्येक स्तुतिवचन में सोम इन्द्र को मस्त करता है और—**'नीथेनीथे मघवानं सुतासः'** [ऋ० ७।२६।२]=प्रत्येक नीति में निष्पादित सोम इन्द्र को मस्त करता है। जिस कर्म्म में ब्रह्म=युक्ति=नीति=नीथ न हो, वह तो निष्फल है; जब स्तुतिवचनों के साथ ही सोम इन्द्र को मस्ती देता है तो मैं—**'तस्मा उक्थं जनये'**=उसके लिए उक्थ=स्तुतिवचन प्रकट करता हूँ, क्योंकि—**'नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग् जोषति त्वे'**[ऋ० १०।१०५।८]=ज्ञानरहित यज्ञ तुझमें तनिक भी प्रीति उत्पन्न नहीं करता, अतः ब्रह्मयुक्त सोम-सवन होना चाहिए। ज्ञान और कर्म्म दोनों का समुच्चय होने से जगत् का कल्याण है। आत्मा के ये दोनों पक्ष हैं। एक पंख से विहीन पक्षी जैसे उड़ नहीं सकता, वैसे ही ज्ञान अथवा कर्म्म किसी एक से विहीन मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। वेद ने किसी ऊँचे सोम का संकेत किया है, उसे प्राप्त करो, कूटो, पीटो, छानो, पियो, मस्ती प्राप्त कर बलशाली होकर सुखमय जीवन का उपयोग करो।

२०६. पापादि नाशोपाय

ओ३म् । ईजे यज्ञेभिः शशमे शमीभिर्ऋधद्वारायाग्नये ददाश ।
एवा चन तं यशसामजुष्टिर्नांहो मर्तं नशते न प्रदृप्तिः ।

—ऋ० ६।३।२

शब्दार्थ—जो **यज्ञेभिः** यज्ञों से **ईजे** यज्ञ करता है **शमीभिः** शान्ति की क्रियाओं से **शशमे** शान्त होता है **ऋधद्वाराय** सम्पन्न करनेवाले सर्वश्रेष्ठ **अग्नये** अग्रणी ज्ञानी को **ददाश** दान देता है **एवा+चन** इस प्रकार के **तम्** उस **मर्त्तम्** मनुष्य को **न** न तो **यशसाम्** यशों की **अजुष्टिः** अप्रीति, असेवा, अभाव और **न** ना ही **अंहः** कुटिलता, दोष, पाप और **न** ना ही **प्रदृप्तिः** दर्प=घमण्ड=अहंकार **नशते** प्राप्त होता है ।

व्याख्या—पाप-नाश के कुछ-एक उपाय इस मन्त्र में उल्लिखित हुए हैं । सबसे पहला है—**'ईजे यज्ञेभिः'**—यज्ञों के द्वारा यज्ञ करता है । यज्ञ का अर्थ है देवपूजा, संगतिकरण और दान । जो विद्वानों और भगवान् का सत्कार तथा आराधन करता है, जो भले पुरुषों की संगति करता है, जो दान देता है, उससे पाप लेश भी नहीं होना चाहिए । यज्ञ का वेद में बहुत माहात्म्य है—

यस्ते यज्ञेन समिधा य उक्थैरर्केभिः सूनो सहसो ददाशत् ।
स मर्त्येष्वमृत प्रचेता राया द्युम्नेन श्रवसा वि भाति ।।—ऋ० ६।५।५

जो यज्ञ के द्वारा, समिधा के द्वारा=ज्ञानदीप्ति के द्वारा, उत्तम वचनों के द्वारा तथा आराधानाओं के द्वारा, हे बलियों को झुका देनेवाले ! तेरा प्रकाश प्राप्त करने के लिए देता है, वह प्रचेता, उत्तम ज्ञानी मानो मृतकों में अमृत है, वह धन, कान्ति से तथा यश से विशेष चमकता है । धन, यश, तेज सभी पुण्य के फल हैं । पापी को यह सामग्री कहाँ मिल सकती है ? यज्ञ द्वारा दान देने से यह सब मिलती है । मूल में **'ईजे यज्ञेभिः'** [यज्ञों के द्वारा यज्ञ करता है] पाठ है, केवल **'ईजे'** नहीं है । **'यज्ञेभिः'** साथ लगाने का भाव यह है कि यज्ञ यज्ञ की भावना से किया जाए, आडम्बर और दिखावे के भाव से नहीं । तभी यजुर्वेद में आदेश है—**'यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्'**—यज्ञ यज्ञ से सफल हो ।

त्याग का भी त्याग आर्य्य जीवन का चरम ध्येय है—शान्ति की परम अवस्था है । तभी वेद में कहा—**'तव क्रतुभिरमृतत्वमायन्'** [ऋ० ६।७।४]=तेरे यज्ञों से महात्मा मोक्ष प्राप्त करते हैं । इस प्रकार के याज्ञिक, शान्त तथा दाता महापुरुष की अकीर्त्ति नहीं होती, क्योंकि वह कोई निन्दित या निन्दनीय कार्य्य करता ही नहीं । न उसे पाप-भावना घेरती है । यज्ञों में तो वाणी भी देवी=वैष्णवी बोलनी होती है । पाप के विचार से यज्ञ का संहार हो जाता है । पाप का मूल अभिमान है, निरन्तर आत्मसमर्पण करने, भगवद्गुण-चिन्तन करने से अपनी अल्पता का भान होने के कारण उसमें अभिमान प्रवेश भी नहीं करता ।

२१०. विद्वान् सर्वत्र पूज्यते

ओ३म् । सूरो न यस्य दृशतिररेपा भीमा यदेति शुचतस्त आ धीः ।
हेषस्वतः शुरुधो नायमक्तोः कुत्रा चिद्रण्वो वसतिर्वनेजाः ॥

—ऋ० ६।३।३

शब्दार्थ—यस्य जिसका **दृशतिः** दर्शन, ज्ञान **सूरो न** सूर्य की भाँति **अरेपाः** निर्दोष तथा **भीमा** प्रचण्ड है **यत्** जिसको **ते** तुझ **शुचतः** पवित्र का, प्रकाशमय का **धीः** ज्ञान **आ+एति** भली प्रकार प्राप्त होता है; उस **शुरुधः+न** बलवान् के समान **हेषस्वतः** गर्जना करनेवाले का **अक्तोः** रात्रि में **कुत्रचित्** किसी भी **वनेजाः+अयं+वसतिः** वनस्थान में यह निवास **रण्वः** रमणीय हो जाता है ।

व्याख्या—एक आर्य्यधर्म्म=वैदिकधर्म्म ही ऐसा है, जो ज्ञान के प्रसार से घबराता नहीं, वरन् ज्ञान के प्रसार के साथ अनायास अपना प्रचार मानता है । इसी कारण वेद में ज्ञान की महिमा का बखान बहुत हैं । वेद ज्ञान-प्रसार को प्रत्येक का कर्त्तव्य मानता है—**'केतुं कृण्वन्नकेतवे'**—अज्ञानी को ज्ञान दान दो । ज्ञानी का मान स्वाभाविक है । हाँ, ज्ञान ज्ञान में अन्तर है । वेद विमल ज्ञान का आदर करता है । तभी कहा—**'सूरो न यस्य दृशतिररेपा भीमा'**—जिसका ज्ञान सूर्य्य की भाँति निर्दोष और प्रचण्ड है । भ्रम, विपर्य्यय और विकल्प, संशय, वितर्क आदि ज्ञान के दोष हैं । ज्ञान इन दोषों से शून्य होना चाहिए । ज्ञान निश्चयात्मक होना चाहिए । इस प्रकार का ज्ञान जिसको होता है उसको भगवान् का ज्ञान मिला करता है—**'यदेति शुचतस्त आ धीः'**—जिसको तुझ प्रकाशस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है ।

टिमटिमाते, झिलमिलाते प्रकाश से दिल भले ही बहल जाए, किन्तु कोई कार्य्य नहीं हो सकता । इसी प्रकार हल्के ज्ञान से किसी का मनोविनोद भले ही हो जाए, किन्तु आत्मा और बुद्धि का परिष्कार नहीं हो सकता । जैसे सूर्य्य के प्रचण्ड प्रकाश में प्राणी अनायास अपना काम चला लेते हैं, ऐसे ही प्रचण्ड ज्ञान सभी शंकाओं का समाधान करता है । इस प्रकार के प्रचण्ड ज्ञानी के लिए कहीं भी विदेश नहीं होता, जहाँ रात्रि पड़ जाए, वहीं—**'रण्वः वसतिर्वनेजाः'**—वन भी रमणीय वास हो जाता है । कदाचित् इसी का भाव लेकर किसी कवि ने कहा है—**'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'** [चाणक्यनीति]=राजा की अपने राज्य में पूजा होती है किन्तु विद्वान् सभी जगह पूजा, प्रतिष्ठा पाता है ।

२११. तप का महत्त्व

ओ३म् । इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे ।
यानि स्थानान्यसृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम् ॥

—ऋ० ८।५९।६

शब्दार्थ—इन्द्रावरुणा हे आत्मन् तथा हे परमात्मन् ! तुम दोनों ने **ऋषिभ्यः** ऋषियों को **यत्** जो **मनीषाम्** मननशक्ति, **वाचः** वाणियाँ **मतिम्** बुद्धि और **श्रुतम्** ज्ञान **अग्रे** पहले **अदत्तम्** दिया; और **यज्ञम्** यज्ञ का **तन्वानाः** विस्तार करते हुए **धीराः** ध्यानियों ने **यानि** जिन **स्थानानि** स्थानों को **असजन्त** बनाया, उन सब को मैं **तपसा** तप के द्वारा **अभि+अपश्यम्** सम्मुख देखता हूँ ।

व्याख्या—इस मन्त्र में तप की महिमा बतायी गई है । प्रसंग से दो बातें और भी कह दी गई हैं—

१. ऋषियों को मनीषा, वाणी, मति तथा श्रुत=ज्ञान इन्द्र और वरुण से मिलता है । ज्ञान का आदिमूल भगवान् ही है, यह पहले बताया जा चुका है; किन्तु यदि आत्मा अपरिष्कृत हो, प्रभुप्रदत्त ज्ञान को धारण करने के योग्य न हो तो वह ज्ञान लेगा ही कैसे ? अतः आत्मा और परमात्मा दोनों मिलकर ज्ञान देते हैं । और भी, ज्ञान का आदिमूल अर्थात् प्रथम गुरु निस्सन्देह परमेश्वर है, किन्तु पश्चात् तो गुरु-शिष्य-परम्परा से ज्ञानधारा चलती है । भगवान् के साथ ज्ञानवान् गुरु यदि उपदेश देनेवाला न हो, तब भी ज्ञान की प्राप्ति लगभग असम्भव है ।

२. यज्ञ-परायण ध्यानी अपने लिए विशेष स्थान बनाते हैं । सचमुच परोपकार में तत्पर ध्यान-निमग्न महात्माओं का इस लोक और परलोक में विशेष स्थान है । किन्तु तप की महिमा इतनी बड़ी है कि उसके द्वारा तपस्वी इन सब पदार्थों का साक्षात्कार कर लेता है, अतः उपनिषदों [तै० ३।४] में **'तपो ब्रह्म'** [तप ब्रह्म है] और **'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व'** [तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर] आदि तपोविधायक वाक्य अनेक बार आते हैं । वेद में भी तप करने का आदेश है, जैसे—**'तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान्'** [ऋ० ६।५।४]=हे तपिष्ठ ! तप से तपस्वी हो और तप कर ।

तप करने के लिए भी तप चाहिए । अतपस्वी=अधीर मनुष्य तप नहीं कर सकता । इसी लिए वेद ने तप का आदेश करते हुए **'तपिष्ठ'**=अत्यन्त तपस्वी सम्बोधन का प्रयोग किया है । मनु महाराज तप न करनेवाले की दुर्गति का वर्णन करके उसे दान का पात्र भी नहीं मानते । यथा—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् । दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥

—मनु० ४।१९०, १९३

अतपस्वी, वेद न पढ़नेवाले तथा दान लेने में तत्पर ब्राह्मण जल में पत्थर की नौका के समान, उसके साथ ही डूब मरते हैं, क्योंकि न्याय से कमाया हुआ धन इनको देने पर दाता के लिए अनर्थकारी होता है और लेनेवाले का परलोक बिगाड़ देता है अर्थात् अतपस्वी भवसागर में डूब मरता है ।

मनु महाराज तो तप को ब्राह्मण के लिए कल्याणकारी मानते हैं—**'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्'** [१२।१०४]=तप और विद्या ब्राह्मण के लिए अत्यन्त कल्याणकारक हैं ।

कल्याणकारक का संग्रह करना चाहिए किन्तु सावधान—**'न विस्मयेत्तपसा'** [मनु० ४।२३६]=तप के कारण अभिमान न करे, क्योंकि **'तपः क्षरति विस्मयात्'** [मनु० ४।२३७]=अहंकार से तप का

संहार होता है। तप के सम्बन्ध में ऋग्वेद (९।८३।१)—में कहा गया है—**'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते'**= उस सुख को अतपस्वी नहीं प्राप्त करता अर्थात् सुख चाहे इस लोक का हो अथवा परलोक का, तप के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जो तपस्वी हैं, वे इसका पूर्णतया उपभोग करते हैं। जैसा कि उसी मन्त्र में कहा है—**'शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत'**=तप से पककर उस आनन्द को धारण करते हुए, दूसरों को प्राप्त कराते हुए उसका पूर्णतया उपभोग करते हैं। अग्निसंयोग से अग्नि के गुण आते हैं। तपोऽग्नि में तपाने से परिपक्व होकर तपस्वी उन गुणों को केवल धारण ही नहीं करता, वरन् दूसरों को भी देता है। युक्ति से तपस्वी की पहचान वेद ने बता दी है। तपस्वी तप के फल को अकेला नहीं खाता, वह बाँटता है, दूसरों को भी देता है।

२१२. विवाह की प्रशंसा

ओ३म् । तदिन्मे छन्त्सद् वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति ।
जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत्पुंस इद्भद्रो वहतुः परिष्कृतः ॥

—ऋ० १०।३२।३

शब्दार्थ—**तत्** वह **मे** मुझे **वपुषः** सौन्दर्य से **इत्** भी **वपुष्टरम्** अधिक सुन्दर **छन्त्सत्** भाता है **यत्** जो **पुत्रः** पुत्र **पित्रोः** माँ-बाप के **जानम्** जनन कर्म को **अधीयति** उत्साह से स्मरण करता है (अर्थात् सन्तानतन्तु बनाये रखना चाहता है) **जाया** स्त्री **पतिम्** पति को **वहति** धारती है, विवाहती है **वग्नुना** आनन्द से **पुंसः** पुरुष का **इत्** भी **सुमत्** अत्यन्त **भद्रः** बढ़िया **वहतुः** विवाह **परिष्कृतः** सम्पन्न हो जाता है।

व्याख्या—मानो यह एक सद्गृहस्थ की भावना है । विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तान है । गृहस्थ को पहली प्रसन्नता तब होती है जब उसके सन्तान उत्पन्न होती है । दूसरी प्रसन्नता उसे तब होती है जब पुत्र माँ-बाप से अपना विवाह कराने के लिए निवेदन करता है । वेद कहता है पुत्र का इस अवस्था को प्राप्त होना—**'तदिन्मे छन्त्सद्वपुषो वपुष्टरम्'**=मुझे सुन्दरता की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर लगता है । कोई काव्यरसिक ही इसका रस ले सकता है अर्थात् गृहस्थ होना सुन्दरता की पराकाष्ठा है । इससे अधिक गार्हस्थ्य की प्रशंसा और क्या हो सकती है ! गृहस्थधर्म्म की प्रशंसा के साथ दो निर्देश इसमें मनन और धारण करने योग्य हैं—

(१) **'पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति'**=बताता है कि माता-पिता बलात्कार से सन्तान का विवाह न कर दें, वरन् जब सन्तान माता-पिता के जननकर्म्म का स्मरण करें । आचार्य्य समावर्त्तन करते हुए उपदेश देते हैं—**'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** [तै० उ० १।११।१]=सन्तान के क्रम को न तोड़ना ।

जिसकी शिक्षा-दीक्षा विधि से हुई है, ब्रह्मचर्यभंग के कारण जिसमें विषय-वासना का उद्दाम झंझावात न खड़ा हो गया, वह तो तभी विवाह की उत्कण्ठा करेगा, जब वह अपने तथा पत्नी के पालने में समर्थ होगा, क्योंकि विवाह में एक प्रतिज्ञा करनी पड़ती है—**'ममेयमस्तु पोष्या'** [अ० १४।१।५२]=आज से यह वधू मेरी पोष्या होगी अर्थात् मैं इसकी पालना करूँगा । जिसके पास अपने खाने को नहीं, वह दूसरों का पालन कैसे करेगा ? अतः विवाह का ठीक समय वह है जब गृहस्थी चलाने के लिए अपेक्षित सामग्री के साथ विवाह के लिए उत्कण्ठा भी हो ।

(२) पुरुष का बढ़िया विवाह तभी होता है, जब—**'जाया पतिं वहति'**=पत्नी पति को विवाहती है अर्थात् विवाह में वरण का अधिकार कन्या का है । पता नहीं आज लोग इसे क्यों भूल गये ?

२१३. विश्वकल्याण-कामना

ओ३म् । स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ —ग्र० १।३१।४

शब्दार्थ—**नः** हमारी **मात्रे** माता के लिए **उत** और **पित्रे** पिता के लिए **स्वस्ति** कल्याण **अस्तु** हो । **गोभ्यः** गौओं के लिए **जगते** समस्त जगत् के लिए तथा **पुरुषेभ्यः** पुरुषों के लिए **स्वस्ति** भला हो । **नः** हमारे लिए **विश्वम्** सभी कुछ **सुभूतम्** उत्तम स्थितिवाला तथा **सुविदत्रम्** उत्तम प्राप्तिवाला **अस्तु** हो । हम **ज्योक्+एव** चिरकाल तक ही **सूर्य्यम्** सूर्य्य को **दृशेम** देखें ।

व्याख्या—सभी मनुष्यों को सबकी कल्याणकामना करनी चाहिए । उसमें भी सबसे प्रथम माता-पिता की कल्याणकामना करनी चाहिए । माता-पिता की कल्याणकामना का संस्कार आर्य्यशास्त्रों में बहुत गहरा है । माता-पिता सन्तान के लालन-पालन में जो कष्ट उठाते हैं, उसकी निष्कृति कौन दे सकता है ? कौन उसका बदला चुका सकता है ? अपने क्रुद्ध पिता से '**मृत्यवे त्वा परिददामि**' [तुझे मृत्यु के हवाले करता हूं] वचन सुनकर जब नचिकेता यम के द्वार पर पहुँचता है और तीन दिन-रात उसके द्वार पर भूखा-प्यासा रहने के कारण यम अपने सन्तोष के लिए उसे तीन अभीष्ट वर देने को तत्पर होता है, तो नचिकेता सबसे पहला वर अपने पिता के कल्याण के लिए माँगता है—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥—कठो० १।१।१०

हे मृत्यो ! मैं तीन वरों में पहला वर यह माँगता हूँ कि मेरे पिता गौतमजी शान्त-संकल्प [चिन्ताशून्य] प्रसन्नमन तथा क्रोधरहित हो जाएँ, और आपके पास से लौट जाने पर मुझे प्रसन्नता से बुलाएँ ।

पिता ने क्रोध में पुत्र को मौत के हवाले करने की बात कही थी, और अब उसे अपनी बात पर चिन्ता हो रही थी । सुपुत्र नचिकेता सबसे पूर्व अपने पिता की निश्चिन्तता चाहता है ! माता-पिता का महत्त्व तो इसी से समझ में आ सकता है कि आर्य्यों के नित्य अवश्यकर्त्तव्य पाँच महायज्ञों में एक 'पितृयज्ञ' भी है । माता-पिता के कल्याण की कामना पर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेनी चाहिए, वरन् प्रतिदिन उनकी सेवा भी करनी चाहिए, इसके लिए ही पितृयज्ञ के विधान की व्यवस्था है ।

माता-पिता के कल्याण की कामना के साथ गौओं के मङ्गल का आदेश है । गौ से दूध, दही, घृत आदि मिलते हैं, गौ से कृषि होती है, गौ की सन्तान शकट खींचती है । मनुष्य के जीवन की समृद्धि तथा सम्पन्नता में गौ का बड़ा हाथ है । एक-एक पदार्थ का नाम न लेकर कहा—'**जगते पुरुषेभ्यः**'=जगत् के लिए तथा जगत्हितैषी पुरुषों के लिए कल्याण हो । जगत् का कल्याण या तो भगवान् करते हैं या भगवद्-भक्त जगत् के हितैषी महात्मा । परमात्मा पर कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती, वह सबका कल्याण करता है, किन्तु जगत् में रहनेवाले जीवों का जीवन तो सदा संशयापन्न रहता है, अतः लोकोपकारक महापुरुषों के कल्याण की कामना की गई है । सबके लिए सब-कुछ सुखदायी हो । मानो इसी मन्त्र का आशय किसी ने इस श्लोक में कहा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरमयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी भलाई के दर्शन करें, जिससे कोई भी दुःखी न हो ।

२१४. राजा का चुनाव

ओ३म् । त्वां विशो॑ वृणतां रा॒ज्याय॑ त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पञ्च॑ दे॒वीः ।
वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॒जा वसू॑नि ॥

—अ० ३।४।२

शब्दार्थ—हे राजत्वाभिलाषिन् ! **विशः** प्रजाएँ **राज्याय** राजकार्य्य के लिए **त्वाम्** तुझे **वृणताम्** चुनें, स्वीकार करें तथा **इमाः** ये **पञ्च** पाँचों **देवीः** दिव्यगुणयुक्त **प्रदिशः** प्रदिशाएँ **त्वाम्** तुझे ही चुनें। चुना जाने पर **राष्ट्रस्य** राष्ट्र के **वर्ष्मन्** श्रेष्ठ **ककुदि** कुहान=सिंहासन पर **श्रयस्व** आश्रय ले, बैठ, **ततः** उसके बाद **उग्रः** तेजस्वी होकर **नः** हमारे लिए **वसूनि** धनों का **विभज** विभाग कर।

व्याख्या—आज के संसार को अभिमान है कि वह राजा का चुनाव करता है। यद्यपि संसार का बहुत बड़ा भाग इससे वञ्चित है। इतनी बात अवश्य है कि समस्त संसार अपना शासक चुनने का अधिकार प्राप्त करने में लालायित हो रहा है। यह लालसा—राजनिर्वाचनलालसा—राजनिर्वाचन की उत्कृष्टता की सूचक है। पश्चिम तथा उसके चेलों को भ्रम है कि यह राजनिर्वाचन की पद्धति उसकी चलाई हुई है। संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ वेद इसका आविष्कारक तथा प्रचारक है। देखिए, राजा होने के इच्छुक को वेद कहता है—**'त्वां विशो वृणतां राज्याय'**=राज्यकार्य के लिए प्रजाएँ तुझे चुनें। अथर्ववेद [३।४।१] में कहा है—**'सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु'**=सारी प्रदिशाएँ, हे राजन् ! तुझे चाहें।

प्रदिशा का अर्थ है—दिशाओं-विदिशाओं में रहनेवाली प्रजाएँ। अथर्व० [३।५।७] में तो राजा बनानेवालों का भी उल्लेख है—**'ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च'**=ये सामन्तराजा [सरदार, जागीरदार] तथा सूत, नम्बरदार आदि राजा के बनानेवाले हैं। इससे प्रतीत होता है कि राजा के चुनने में सरदारों, जागीरदारों, सूतों, नम्बरदारों का मत लेना चाहिए। प्रकृत मन्त्र के अन्तिम चरण में एक ऐसी बात कही है, जो सर्वथा क्रान्तिकारी है। यदि संसार आज उसपर आचरण करे, तो सारे दुःख दूर हो जाएँ। राजा को चुनकर प्रजा कहती है—**'ततो न उग्रो विभजा वसूनि'**=तू तेजस्वी होकर हमारे लिए धन का विभाग कर। यह वचन वैयक्तिक सम्पत्ति के स्थान में सामाजिक या राष्ट्रीय सम्पत्ति का समर्थन कर रहा है। जब सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति की न होकर समूचे राष्ट्र की मानी जाए, तभी राजा से उस सम्पत्ति के विभाजन की बात कही जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि राजा देखे कि उसके राज्य में कोई भूखा तो नहीं, नंगा तो नहीं। खान-पान, पहरान तथा ज्ञान का सबके लिए विधान तथा सामान होना चाहिए।

२१५. पृथिवी-धारक

ओ३म् । सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।।

—अ० १२।१।१

शब्दार्थ—सत्यम् सत्य **बृहत्** महत्त्वाकांक्षा, बड़ाई **ऋतम्** नियमपालन, न्याययुक्त व्यवहार **उग्रम्** उग्रता, तेजस्विता **दीक्षा** दीक्षा **तपः** तपस्या, तितिक्षा **ब्रह्म** ब्रह्मचर्य्य, आत्मज्ञान **यज्ञः** यज्ञ **पृथिवीम्** पृथिवी को **धारयन्ति** धारण करते हैं । **सा** वह **भूतस्य** अतीत की **भव्यस्य** भावी की **पत्नी** पालन करने-वाली, रक्षिका **पृथिवी** पृथिवी **नः** हमारे लिए **उरुम्** विस्तृत **लोकम्** स्थान **कृणोतु** करे ।

व्याख्या—मातृभूमि की स्वतन्त्रता को स्थिर रखने के लिए जो गुण अत्यन्त आवश्यक हैं, जिनके बिना राष्ट्र का स्वातन्त्र्य संकट में पड़ सकता है, उनका इस मन्त्र में उल्लेख है—

(१) सत्य=अटल सचाई । जो लोग स्वदेश के प्रति सच्ची भावना से व्यवहार नहीं करते, वे स्वदेश से धोखा करके इसे अधोगति के गहरे गर्त्त (गढ़े) में गिराते हैं, अतः स्वराज्य-रक्षकों को स्वदेश के प्रति निष्कपट सत्य का ही व्यवहार करना चाहिए । वेद में दूसरे स्थान पर कहा है—**'सत्येनोत्तभिता भूमिः'** [अ० १४।१।१]=भूमि सत्य के सहारे रुकी है । वेद के इस निर्देश पर ध्यान दो और फिर वेद की महिमा को हृदयंगम करो । वेद राष्ट्र-व्यवहार में सत्य को सबसे प्रथम स्थान दे रहा है । वेद की दृष्टि में सत्य सबसे ऊँचा है । हमारे धर्म्मशास्त्रों में भी सत्य सबसे बड़ा धर्म्म माना गया है । यथा मनुजी कहते हैं—**'नहि सत्यात्परो धर्म्मः'**=सत्य से बढ़कर कोई धर्म्म नहीं है ।

(२) बृहत्=महत्त्वाकांक्षा=बड़प्पन । जो लोग देश की स्वतन्त्रता के लिए यत्न करते हैं, यदि उनके भाव क्षुद्र हों, आकांक्षाएँ तुच्छ हों, आशाएँ नीच हों, तो उनमें स्वतन्त्रता के लिए वास्तविक प्रेम हो ही नहीं सकता । वे स्वतन्त्रता के लिए किसी प्रकार का त्याग नहीं कर सकते, अतः स्वदेश का स्वातन्त्र्य चाहनेवालों के भाव उच्च हों, उनमें महान् बनने की स्वाभाविक उमंग हो ।

(३) ऋत=न्याययुक्त व्यवहार या नियमपालन । स्वतन्त्रता के लिए उद्विग्न हुई जनता जहाँ विदेशी शासकों के रचे शोषक विधानों के विरुद्ध उठ खड़ी होती है, वहाँ उतावली होकर अपने बनाये नियमों को भी पैरों तले रौंद डालती है । परिणाम यह होता है कि अराजकता फैल जाती है । उस अराजकता के समय उन्मत्त हुई प्रजा न्याय, अन्याय, उचित, अनुचित, धर्म्म, अधर्म्म किसी बात का विचार नहीं करती । उस समय उसके हाथों अकथनीय अत्याचार होने लगते हैं । उसका फल अत्यन्त अनिष्ट होता है । अत्यन्त परिश्रम तथा तितिक्षा से प्राप्त स्वतन्त्रता उस समय डाँवाडोल दशा में दीखने लगती है, अतः उस परिस्थति से बचने के लिए ऋत का आचरण नितान्त आवश्यक है । वेद तो है ही ऋत का प्रचारक । वेद कहता है—**'ऋतस्य देवा अनु व्रता गुः'** [ऋ० १।६५।२]=दैवी शक्तियाँ ऋत के व्रत के अनुकूल चलती हैं । **'ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे'** [ऋ० ४।२३।१०]=ये विशाल द्यौ और पृथिवी ऋत के लिए हैं अर्थात् ऋत के नियमों में चल रही हैं ।

(४) उग्र=उग्रता=तेजस्विता । स्वतन्त्रता-संघर्ष में कभी-कभी ऐसे कार्य्य भी करने पड़ जाते हैं, जो साधारण स्थिति में कदाचित् किसी को भी पसन्द न हों । ऐसे समय में भीरु और कायरजन धैर्य्य छोड़ बैठते हैं । उन्हें व्यामोह घेर लेता है, फलतः जीत हार में परिणत होने लगती है । प्रत्येक बात का

अपना अवसर होता है, वह अवसर तेजस्विता का है, अतः उस समय तेजस्विता=उग्रता को अपनाना चाहिए।

(५) दीक्षा=दृढ़ संकल्प। एक मनुष्य सत्यप्रेमी भी है, महत्त्वाभिलाषी भी है, ऋत का अनुसरण करने को भी तत्पर है, तेजस्वी भी है, किन्तु उसके संकल्प में कल्प नहीं, बल नहीं; किसी काम के लिए दृढ़ संकल्प नहीं कर सकता। वह इन सब गुणों से सम्पन्न होता हुआ भी अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, अतः ऊपर कहे गुणों के साथ अपने कार्य्य में सिद्धि प्राप्त करने का संकल्प भी दृढ़ होना आवश्यक है। दीक्षा का वेद में बहुत महत्त्व माना गया है—**'भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे'** [अ० १९।४१।१]=आनन्दप्राप्ति के रहस्य को जाननेवाले ज्ञानीजन कल्याण की कामना से पहले तप और दीक्षा का सेवन करते हैं।

(६) तप=तपस्या=तितिक्षा। कार्य्यसिद्धि होने से पूर्व अनेक बार विघ्न आते हैं। कई बार स्पष्ट असफलता सामने मुख खोले खड़ी दीखती है। कहावत भी है—**'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'** भले कार्य्यों में बहुत विघ्न होते हैं। उन विघ्नों को, तथा भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि की परवाह न करके लक्ष्य की सिद्धि के लिए सब-कुछ करना होता है। इसे तप कहते हैं। तप के सम्बन्ध में हम इसी ग्रन्थ में अन्यत्र लिख चुके हैं।

(७) ब्रह्म=ब्रह्मचर्य्य तथा आत्मज्ञान। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अभिलाषी को इसका विशेष रूप से पालन करना चाहिए। स्वतन्त्रतापहारक लोगों के पास स्वतन्त्रताभिलाषियों को पतित करने के अनेक साधन होते हैं। मनुष्य में अनेक दुर्बलताएँ होती हैं; किन्तु यह दुर्बलता बड़ी भयङ्कर है। बड़े-बड़े वीर इस प्रलोभन में फंस जाते हैं। पुरुष को गिराने के लिए स्त्री और स्त्री को गिराने के लिए पुरुष अमोघ हथियार माने जाते हैं। तभी तो यम ने नचिकेता की परीक्षा लेने की भावना से कहा था—**'इमा रामाः सरथाः सतूर्य्याः'** [कठो०]=बाजों-गाजों तथा रथों के साथ ये स्त्रियाँ ले लो। वेद कहता है, राष्ट्ररक्षक को इस विषय में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य्यरूपी मणि की रक्षा सर्वथा करनी चाहिए अन्यथा प्राप्त स्वतन्त्रता का भी विलास से नाश हो जाएगा। ब्रह्मचर्य्य-पालन राजा के लिए भी कर्त्तव्य है। यथा—**'ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति'** [अ० ११।५।१७]=ब्रह्मचर्य्यरूपी तप से राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है। राष्ट्र-संवर्धक लोग आस्तिक हों। नास्तिक लम्पट, प्रथम तो सफलता ही नहीं प्राप्त कर सकते, यदि सफल हो भी जाएँ, तो उनकी वह सफलता चिरस्थायिनी नहीं हो सकती। आस्तिकता तथा सदाचार से आत्मज्ञान=अपनी शक्ति का भान होता है। कार्य्यसिद्धि के लिए अपेक्षित शक्ति तथा साधनों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। जो अपने बल-सामर्थ्य का प्रमाण जाने बिना किसी गुरुतर कार्य्य में प्रवृत्त होता है, वह बहुधा असफल रहता है, उसके मनोरथ मनोरथ ही रह जाते हैं, अतः ब्रह्म=अपनी शक्ति का ज्ञान भी राष्ट्ररक्षा के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है।

(८) यज्ञ=दान, संगतिकरण तथा देवपूजा। देशहितैषी, कलाकोविद् महापुरुषों के साथ सदा मेलजोल रखने से देशहित के नये-नये भाव तथा उत्तमोत्तम उत्तेजनाएँ मिलती रहती हैं। जिस देश में देवपूजा=विद्वानों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सदा दुःख-दारिद्र्य बने रहते हैं, क्योंकि यथेष्ट आदर न होने के कारण वे विद्वान् या तो दूसरे देशों में चले जाते हैं, या विद्या-व्यवसाय छोड़कर किसी अन्य व्यापार-व्यवहार में लग जाते है। यज्ञ शब्द बहुत व्यापक अर्थों का सूचक है। स्वार्थत्याग, पीड़ितों=दुःखियों के दुःख दूर करना, योग्य पदार्थ का योग्य स्थान में उपयोग करना, परहितचिन्तन, राष्ट्रहित के लिए अखिल सामग्री का सञ्चयन आदि लोकोपकारक कार्य्य यज्ञ शब्द में संनिविष्ट हैं। यजुर्वेद के १८वें अध्याय के पहले २८ मन्त्रों में मनुष्य-जीवनोपयोगी सभी पदार्थों की गणना की है, और प्रत्येक मन्त्र के

अन्त में कहा है—**'यज्ञेन कल्पन्ताम्'**=ये सब यज्ञ से समर्थ हों अर्थात् यज्ञ इनका धारक है।

संसार का इतिहास इस बात का साक्ष्य दे रहा है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने के लिए इन गुणों की सदा आवश्यकता रही है।

उत्तरार्ध में एक अनुपम सत्य का निरूपण है। मातृभूमि हमारे अतीत गौरव का एक विशाल भाण्डागार है, हमारी भविष्यत् की आशाएँ भी इसी में निहित हैं। अतीत-गौरव की गाथा किस प्रकार मातृभूमि में निहित है, यह वेद ही के शब्दों में सुनिए—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्त्तयन्।—अ० १२।१।५

जिसमें हमारे पुरातन पुरखाओं ने विविध पराक्रम किये और जिसमें देवों ने=धर्म्मात्माओं ने पापियों को हराया।

अपने पूर्वजनों के इतिहास की गौरवगाथा की स्मृति मनुष्य में अभूतपूर्व उत्साह उत्पन्न कर देती है।

जिस राष्ट्र में उपर्युक्त गुण हैं, उस राष्ट्र के वासियों को स्वदेश तथा परदेश में स्थानादि की कहीं भी तङ्गी नहीं होती। पराधीन देश के वासियों को स्वदेश में ही स्थान नहीं मिलता, परदेश में तो मिलना ही क्या है![1]

१. मातृभूमि की महिमा जानने के लिए लेखक की 'वैदिक स्वदेशभक्ति' पुस्तक पढ़नी चाहिए। इस मन्त्र की विस्तारपूर्वक व्याख्या 'राष्ट्ररक्षा के वैदिक साधन' ग्रन्थ में देखिए।

२१६. पत्नी की कमाई खाने का निषेध

ओ३म् । अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ —ऋ० १४।१।२७

शब्दार्थ—**रुशती** चमक-दमकवाला **तनूः** तन **अमुया** इस **पापया** पापवृत्ति से **अश्लीला** शोभारहित अश्लील, गन्दा **भवति** हो जाता है, **यत्** यदि **पतिः** पति **वध्वः** वधू के, पत्नी के **वाससः** कपड़े से **स्वम्** अपना **अङ्गम्** अङ्ग, शरीर **अभ्यूर्णुते** ढकता है ।

व्याख्या—काव्य में कहीं अभिधावृत्ति होती है, कहीं लक्षणा, और कहीं व्यञ्जना । शब्द को उसके मुख्य, प्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना अभिधावृत्ति से कार्य्य लेना है । मुख्य अर्थ का बोध होने पर तत्सम्बन्धी अर्थ का ग्रहण लक्षणा कराती है । जैसे किसी ने कहा—नदी में कुटिया है । नदी जल-प्रवाह का नाम है । प्रवाह में कुटिया ठहर नहीं सकती, अतः नदी का अर्थ नदीतीर या नदी के भीतर का टापू लेना पड़ता है । इनके अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति होती है । वह अतीव विलक्षण है । उदाहरण से समझने में सुविधा होगी । किसी ने कहा—चार बज गये । सुननेवालों में किसी कार्यालय के कर्मचारी, भ्रमणशील आदि कई महानुभाव हैं । कार्यालय का कर्मचारी सुनकर घर जाने की तय्यारी करता है, सैलानी सैर को चल देता है, इत्यादि इत्यादि । 'चार बज गये' वाक्य का अर्थ न तो 'घर जाओ' है और न ही 'सैर को जाओ', किन्तु सुनकर ऐसा आचरण हुआ है । सुननेवालों को इन अर्थों का बोध कैसे हुआ ? वाक्यार्थनिष्णात पण्डितजन कहते हैं कि ये अर्थ व्यञ्जनावृत्ति का चमत्कार हैं ।

इस मन्त्र में भी व्यञ्जनावृत्ति से काम लिया गया है । व्यञ्जना से मन्त्र यह कहना चाहता है कि पुरुष को अपनी पत्नी की कमाई नहीं खानी चाहिए । इसका प्रमाण भी है—अथर्ववेद [१४।१।५२] में कहा है—**'ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः'**=यह वधू मेरी पोष्या=पालनीय है । भगवान् ने तुझे मेरे प्रति दिया है । इसका भाव यह है कि विवाह के समय वर प्रतिज्ञा कर रहा है कि मैं जिसका पाणिग्रहण कर रहा हूँ, उसके पालन-पोषण का सब भार मैं अङ्गीकार करता हूँ । सबके सामने प्रतिज्ञा करके उससे पीछे हटना सचमुच भद्दा लगता है । स्त्री की कमाई पर निर्वाह करना केवल अपनी प्रतिज्ञा से पीछे हटना ही नहीं, वरन् उसके विपरीत आचरण करना है । यह तो अत्यन्त भद्दा है, क्योंकि अब पत्नी पोष्या न रहकर पोषिका बन गई है और पति पोषक न होकर पोष्य हो गया है । जैसे कोई पुरुष स्त्रियों के वस्त्र पहन ले, स्त्री की कमाई पर निर्वाह करना भी वैसा ही है ।

२१७. एक समय में एक पति और एक पत्नी

ओ३म्। इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ —ऋ० १०।८५।४२

शब्दार्थ—हे दम्पति ! पतिपत्नि ! तुम दोनों **इह+एव** यहाँ ही **स्तम्** रहो **मा** मत **वियौष्टम्** वियुक्त होवो। **पुत्रैः** पुत्रों और **नप्तृभिः** पोतों, नातियों के साथ **क्रीळन्तौ** क्रीड़ा करते हुए **स्वे** अपने **गृहे** घर में **मोदमानौ** आनन्दित होते हुए **विश्वम्** पूरी **आयुः** आयु **व्यश्नुतम्** भोगो।

व्याख्या—वैदिक धर्म्म में पतिव्रत धर्म्म तथा पत्नीव्रत धर्म्म पर बहुत बल दिया गया है। वेद में विवाह का प्रयोजन सन्तान-उत्पादन है न कि भोग-विलास। जैसा कि अथर्ववेद [१४।२।७१] में पति-पत्नी दोनों कहते हैं— '**प्रजामा जनयावहै**'=आओ ! हम दोनों मिलकर सन्तान उत्पन्न करें।

इसकी मानो व्याख्या करते हुए पारस्कर ऋषि लिखते हैं—'**तावेव विवहावहै, सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्।**' [१।६]=ऐसे हम दोनों विवाह करें, वीर्य्याधान करें, सन्तान उत्पन्न करें और बहुत-से पुत्रों को प्राप्त करें।

सन्तान-उत्पत्ति के लिए संयम मुख्य है। उसके लिए पति-पत्नी दोनों को कुछ नियम पालन करने पड़ते हैं। सन्तान अपनी अपेक्षा उत्कृष्ट हो, इसके लिए संयम अनिवार्य्य है, उस संयम के लिए पतिव्रत तथा पत्नीव्रत दोनों आवश्यक हैं, अतः वेद में आदेश हुआ है—'**इहैव स्तं**......'=तुम दोनों यहाँ रहो। यदि एक समय में एक से अधिक पति या पत्नी का विधान होता, तो 'स्तम्' द्विवचन न होकर 'स्त' बहुवचन होता। चिरकाल तक यदि पति को प्रवास में रहना हो, तो पत्नी को साथ ले जाए, अर्थात् यथासम्भव दोनों इकट्ठे रहें। वेद का स्पष्ट आदेश है—'**मा वि यौष्टम्**'=तुम एक-दूसरे से वियुक्त न होओ।

एक-दूसरे से पृथक् होने से प्रीति में त्रुटि हो सकती है। पति-पत्नी में परस्पर प्रेम न हो तो सन्तान अच्छी नहीं होती, जैसा कि मनुजी ने लिखा है—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥
—मनु० ३।६०-६१

जिस कुल में पत्नी से पति और पति से पत्नी अच्छी प्रकार सन्तुष्ट रहती है, उस कुल में सौभाग्य और ऐश्वर्य्य अवश्य निवास करता है। यदि स्त्री पति से प्रीति नहीं करती और पुरुष को प्रसन्न नहीं करती, तो पुरुष का सन्तान-जननकार्य्य नहीं चल सकता। इसीलिए वेद का आदेश है कि—'**चक्रवाकेव दम्पती**' [अ० १४।२।६४]=पति-पत्नी दोनों चकवा-चकवी की भाँति परस्पर प्रीति करनेवाले हों। यह **तभी हो सकता है जब एक समय में एक स्त्री का एक पति तथा एक पुरुष की एक ही स्त्री हो।**

२१८. राष्ट्र के लिए

ओ३म् । येनं देवं सवितारं परि देवा अधारयन ।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन ॥ —ग्र० १९।२४।१

शब्दार्थ—हे **ब्रह्मणस्पते** महाज्ञानिन् ! **देवाः** निष्काम महात्मा **येन** जिसके द्वारा **सवितारम्** सविता=सर्वोत्पादक **देवम्** भगवान् को **परि+ग्राधारयन्** सब प्रकार धारण करते हैं; **तेन** उसी के द्वारा तुम सब लोग **इमम्** इसको **राष्ट्राय** राष्ट्र के लिए **परि+धत्तन** सब प्रकार धारण करो ।

व्याख्या—कोई सज्जन ग्रपना जन-धन राष्ट्र को ग्रर्पण करने की भावना से राष्ट्ररक्षक के पास ग्राया है ग्रौर कह रहा है—**'इमं······परि राष्ट्राय धत्तन'**=इसे राष्ट्र के लिए धारण करो ।

कई लोगों का विचार है, वेद में राष्ट्रनिर्माण की कल्पना है ही नहीं । ऐसा कहनेवाले वेद को देखे बिना ऐसा कहते हैं । वेद में राष्ट्रकल्पना है, ग्रौर वह ग्रत्यन्त उदात्त तथा ऊँचे दर्जे की है । यजुर्वेद के दशम ग्रध्याय के पहले चार मन्त्रों में तो राष्ट्र की मानो मुहारनी ही है । यजुर्वेद २२।२२ में राष्ट्र में क्या-क्या होना चाहिए, इसका संक्षिप्त किन्तु प्राञ्जल वर्णन है । ग्रथर्ववेद के १२वें काण्ड का पहला सम्पूर्ण सूक्त (वर्ग) मातृभूमिविषयक है । ऋग्वेद का १।८० सूक्त स्वराज्यपरक है । इन मन्त्रों में जो विचार-तत्त्व हैं, वे इतने गम्भीर ग्रौर विमल भावों से भरे हैं कि उनके ग्रनुसार ग्राचरण मानवसमाज के सभी दुःखों को मिटा सकता है । वेद सदा उत्तम राष्ट्र की भावना का प्रचारक है । यथा—**'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'** [ग्र० १२।१।८]=वह हमारी भूमि=मातृभूमि उत्तम राष्ट्र में [उत्तम राष्ट्र के निमित्त] कान्ति ग्रौर शक्ति धारण करे । वेद काव्य है, ग्रतः कविता की भाषा में उपदेश करता है । देश-वासियों के स्थान में भूमि=मातृभूमि से कान्ति ग्रौर शक्ति धारण करने की कामना की गई है । उस कान्ति ग्रौर शक्ति के धारण का प्रयोजन उत्तम राष्ट्र है ।

राष्ट्र-धारण करने के लिए बहुत बड़ा सामर्थ्य चाहिए । उस सामर्थ्य की चर्चा मन्त्र के पूर्वार्द्ध में है—**'येन देवं सवितारं परि देवा ग्रधारयन्'**=देव=निष्काम ज्ञानी जिस सामर्थ्य से सविता देव को धारण करते हैं । देव को ग्रदेव नहीं धारण कर सकता । देव को धारण करने के लिए देव बनना पड़ता है । राष्ट्र-धारण करने के लिए भी उतना सामर्थ्य चाहिए, जितना भगवान् के धारण करने के लिए । स्वार्थ-त्याग से ऊपर उठकर सर्वहितसाधन के भाव से प्रेरित होकर जो जन राष्ट्रकार्य्य करते हैं, वही राष्ट्र-धारण कर सकते हैं । इसीलिए कहा—**'तेनेमं······धत्तन'**=उसी सामर्थ्य से इसे राष्ट्र के लिए धारण कर ग्रर्थात् मनुष्य के धन, जन, तन का उपयोग राष्ट्र के लिए होना चाहिए ।

२१९. सब पशुओं की रक्षा

ओ३म् । ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥

—अ० १९।४८।५

शब्दार्थ—**ये** जो **रात्रिम्** रात्रि के समय **अनुतिष्ठन्ति** अनुष्ठान करते हैं **च** और **ये** जो **भूतेषु** भूतों के, पदार्थमात्र के विषय में **जाग्रति** जागते हैं, सावधान रहते हैं **ये** जो **सर्वान्** सभी **पशून्** पशुओं की **रक्षन्ति** रक्षा करते हैं, **ते** वे **नः** हमारे **आत्मसु** आत्माओं में **जाग्रति** जागते हैं, सावधान हैं और **ते** वे ही **नः** हमारे **पशुषु** पशुओं में **जाग्रति** जागते हैं, सावधान हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में कई उपदेश हैं—

(१) **'ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति'**=जो रात्रि को बनाते हैं अथवा जो रात्रि के समय अनुष्ठान करते हैं। श्लेषालङ्कार के द्वारा वेद ने दो बातें एक ही वाक्य में कह दी हैं। रात्रि का एक अर्थ रात, और दूसरा अर्थ है रमणसामग्री। जो रात्रि को=रमणसामग्री को बनाते हैं, अर्थात् जो संसार की सुखसमृद्धि में वृद्धि के साधनों को प्रस्तुत करते हैं, और 'जो रात्रि के समय अनुष्ठान करते हैं', एकान्त समय में भगवान् की आराधना और धर्मार्थ का चिन्तन करते हैं। भाव यह कि मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह संसार को अधिक सुखी बनाने का निरन्तर यत्न करे तथा एकान्त समय में भगवद्भक्ति, आत्मचिन्तन, धर्म्मार्थ-विचार किया करे।

(२) **'ये च भूतेषु जाग्रति'**=जो भूतों में जागते रहते हैं, अर्थात् जिन्हें पदार्थों के गुण-धर्म्मों का ज्ञान है। यह सारा संसार मनुष्य के लिए है. उसे यदि संसारस्थ पदार्थों के गुणों, धर्म्मों का ज्ञान न हो, तो वह उनसे उपयोग कैसे लेगा? प्रत्येक पदार्थ से योग्य उपयोग लेने के लिए यह ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

(३) **'पशून् सर्वान् ये रक्षन्ति'**=जो सभी पशुओं की रक्षा करते हैं। इस निर्देश पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पशुभक्षकों को इसका मनन करना चाहिए। रक्षा करनी है तो सभी रक्षा के अधिकारी हैं। अथर्ववेद [१९।५०।३] में कहा है—**'रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम्'**=हम किसी भी रात्रि में हिंसा न करते हुए इसी शरीर से तर जाएँ।

दूसरे शरीर की प्रतीक्षा न करनी पड़े, अतः इसी शरीर में अहिंसादि सद्गुणों का अनुष्ठान करे। इसी तत्त्व को सामने रखते हुए पूर्वोक्त बातों का गम्भीर आशय इस भाँति है—

(१) एकान्त समय में प्रभुभक्ति करनी चाहिए। उसके लिए (२) सब भूतों में सावधान रहना चाहिए, अर्थात्—**'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** [य० ४०।७]=जिस समय ज्ञानी की दृष्टि में सभी प्राणी आत्मसमान हो गये, उस समय समदर्शी को क्या शोक? और क्या मोह? सबको अपने समान मानना चाहिए। उसका आचरण द्वारा प्रमाण देने के लिए (३) सब पशुओं की रक्षा करनी चाहिए, अर्थात् किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। यज्ञप्रधान कहे जानेवाले यजुर्वेद के पहले मन्त्र में भी **'यजमानस्य पशून् पाहि'** [यजमान के पशुओं की रक्षा कर] प्रार्थना है। जो इन गुणों से सम्पन्न हैं, सचमुच वे सभी के आत्माओं में जागते हैं, वे उन्हें कोई पीड़ा नहीं देते। वे सभी के पशुओं के विषय में भी सावधान हैं। ऐसा नहीं कि अपनों की रक्षा और परायों की हिंसा। नहीं, सबकी रक्षा। अथर्ववेद [१७।१।४] में प्रार्थना है—**'प्रियः पशूनां भूयासम्'**=मैं पशुओं का प्यारा बनूँ। पशुओं का हिंसक उनका प्रिय कैसे बन सकता है?

२२०. अपनी शक्ति

ओ३म् । अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥

ओ३म् । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥

—अ० १९।५१।१-२

शब्दार्थ—**अहम्** मैं **अयुतः** हजारों शक्तियों से सम्पन्न हूँ । **मे** मेरा **आत्मा** आत्मा, देह, मन **अयुतः** अयुत है **मे** मेरा **चक्षुः** चक्षु **अयुतम्** अयुत है **मे** मेरा **श्रोत्रम्** कान **अयुतम्** अयुत है **मे** मेरा **प्राणः** प्राण **अयुतः** अयुत है **मे** मेरा **अपानः** अपान **अयुतः** अयुत है **मे** मेरा **व्यानः** व्यान **अयुतः** अयुत है और **अहम्** मैं **सर्वः** सम्पूर्ण ही **अयुतः** अयुत हूँ । **त्वा** तुझ **सवितुः** शुभप्रेरक **देवस्य** प्रभु की **प्रसवे** प्रेरणा में **अश्विनोः** अश्वियों की, प्राण-अपान की **बाहुभ्याम्** धारक-मारक शक्तियों के साथ तथा **पूष्णः** पोषक तत्त्व के **हस्ताभ्याम्** पुष्टि तथा धृतिरूप हाथों से **प्रसूतः** प्रेरित हुआ **आरभे** कार्य्य आरम्भ करता हूँ ।

व्याख्या—इस मन्त्र में आत्मा की शक्ति का निरूपण है । आत्मा की शक्ति को समझने के लिए संसार पर दृष्टि डालिए, सूर्य्य में कितनी गर्मी है ! साढ़े नौ करोड़ मील दूर रहते हुए भी यह पृथिवी को झुलस डालता है । जल का बल देखिए, जंगल में आग लगी है, मनुष्य अपनी अशक्ति का विचार कर निराधार-सा हो जाता है, किन्तु ऊपर से होती है वृष्टि, दावाग्नि शान्त हो जाता है । वायु के सामर्थ्य का क्या कहना ! पलभर में जाने कितना अनर्थ कर देता है । विद्युत् का प्रताप देखिए, चमकती है तो देखनेवालों की आँखें चौंधिया जाती हैं । यदि कहीं गिरती है तो उसे भस्म कर देती है । इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक शक्तियों का विचार कर लीजिए । इसके साथ मानव-आत्मा का माहात्म्य देखिए । सूर्य्य से बचने के लिए इसने आतप-त्रान्त (Sun-Proof) साधन निर्माण कर लिये । बिना अग्नि जलाये सूर्य्य से अपना भोजन बनवाता है । जिस जल में दावानल को अबल करने का बल है, उस जल को, कल बना, मनुष्य नल में ले आया है । और जो आग जंगल-के-जंगल भस्मसात् कर देती है, वही मनुष्य का भोजन पकाती है, कपड़ा बुनती है, चक्की पीसती है, और जाने कितनी सेवाएँ मनुष्य की करती है । विद्युत् को तार में बाँधकर मनुष्य समुद्रपार सन्देश भेजता है, घरों में प्रकाश कराता है । इससे दूरस्थ के गाने सुनता है । सभी जीवनोपयोगी कार्य्य इसी से लेता है । ये सारे बलवान् भूत मनुष्य के आज्ञावशवर्त्ती दास बने हुए हैं । यह सब कैसे हो पाता है ? इन सबका विधाता मनुष्य है, अतः कहता है—**'अयुतोऽहमयुतो म आत्मा'**—मैं हज़ारों शक्तियोंवाला हूँ, मेरा आत्मा भी अयुत है ।

इतने महनीय कार्य्य किसी तुच्छ से नहीं हो सकते । आत्मा के सभी प्रमुख करणों में भी आत्मा की शक्ति है, अतः उनमें भी अयुत सामर्थ्य है । अथर्ववेद [७।११५।३] में कहा है—

एकशतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥

जन्म से ही, शरीर के साथ ही मनुष्य की सैकड़ों लक्ष्मियाँ उत्पन्न होती हैं । उनमें से अत्यन्त बुरी को यहाँ से दूर करते हैं । हे सर्वज्ञ ! भली हमें दे ।

मनुष्य में स्वभाव से अतुल सामर्थ्य है । उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए । अथर्ववेद [१७।१।३०] में प्रार्थना-सी है—**'सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम्'** मुझमें हजारों प्राण उद्योग करें ।

अपान-व्यान आदि प्राण के ही भेद हैं। जीवनी शक्ति की प्रबलता की कामना है।

इतना सामर्थ्य पाकर मनुष्य उद्धत न हो जाए, घमण्ड न करने लग जाए, अतः अपने विपुल बल का अनुभव करता हुआ भी कहता है—**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे**···**आरभे**=सर्वप्रेरक भगवान् के आज्ञा-विधान में रहता हुआ कार्य करूँ। सबसे प्रबल आत्मा परमात्मा के आगे निर्बल है, अतः इतना बल रखता हुआ भी उसके विधान का मान करने को उद्यत हुआ है। सच पूछो तो आत्मा के बल का मूल भी भगवान् है। भगवान् आत्मा को शरीर न दे तो यह अपने बल का चमत्कार भी न दिखा सके, अतः तत्त्वज्ञानी जन बल के मूलोद्गम भगवान् के साथ सम्बन्ध बनाये रखते हैं।

२२१. अकेला जाना होता है

ओ३म् । यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्षि धीरः ।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥

—ऋ० १।९।५६।१

शब्दार्थ—हे ज्ञानिन् ! **यमस्य** नियन्त्रणकर्त्ता न्यायकारी भगवान् के **लोकात्+अधि** लोक से, प्रकाश से **आ+बभूविथ** तू समर्थ हुआ है, तू **धीरः** धीर होकर **मर्त्यान्** मनुष्यों को, मरण-धर्म्माओं को **प्रमदा** मस्ती से **प्र+युनक्षि** युक्त करता है । तू **विद्वान्** विद्वान् **असुरस्य** असुर=प्राणप्रद के **योनौ** ठिकाने में **स्वप्नम्+मिमानः** सपने लेता हुआ **सरथम्** रमण-साधनों=कृतकर्म्मों की वासनाओं के साथ **एकाकिना** अकेला ही **यासि** जाता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में मार्मिक बातें कही गई हैं—

(१) मनुष्य को बताया गया है तू कहाँ से आया है ? **'यमस्य लोकादध्या बभूविथ'**=तू तो न्यायकारी भगवान् के लोक से आया है अर्थात् इस जन्म-मरण के प्रवाह में पड़ने से पूर्व तू ब्रह्मलोक=मुक्ति में था ।

(२) **'प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः'**=यदि तू धीर हो जाए तो मनुष्यों को आनन्द-सम्पन्न कर सके अर्थात् मनुष्य का एक कार्य यह भी है कि वह दूसरों को सुखी करे । दूसरों को सुखी करने के लिए बहुत बड़ा धैर्य्य चाहिए । अधीर, चञ्चल, चपल मनुष्यों में दूसरों को शान्त करने का साहस कहाँ ?

(३) मनुष्य का यह जीवन एक विशाल स्वप्न है । स्वप्न लेता-लेता तू यहाँ से अकेला चला जाएगा । भले मनुष्य ! कुछ करेगा भी, अथवा केवल स्वप्न लेता रहेगा, कल्पनाएँ करता रहेगा । स्वप्न की दशा थका देती है, अतः इससे ऊपर उठ । स्वप्न हटने पर स्वप्नदृष्ट कोई भी पदार्थ दीखता नहीं । कार्य्य में परिणत न हुई कल्पना स्वप्न-समान मिथ्या है ।

ये तेरी कल्पनाएँ यहीं रह जाएँगी, तू अकेला जाएगा, साथ होंगी तेरी वासनाएं । **'एकाकिना सरथं यासि विद्वान्'** । मनु महाराज ने इसी का भाव लेकर कहा है—

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ —४।२४०

प्राणी अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है । अकेला ही सत्कर्म्मों का फल भोगता है और अकेला ही बुरे कर्म्मों का ।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥—४।२३९

परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न कलत्र और न कोई सम्बन्धी सहायता दे सकते हैं । केवल धर्म्म साथ जाता है । वेद ने जिसे रथ=रमणसाधन कहा है, मनु ने उसे धर्म्म कहा है । सावधान ! मनुष्य सावधान ! यह सब सामान यहीं धरा रह जाएगा ।

२२२. पत्नीसमेत यज्ञ

ओ३म् । यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥
ओ३म् । ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम् ।
इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥

—अ० १६।५८।५-६

शब्दार्थ—मैं **यज्ञस्य** यज्ञ को **प्रभृतिः** उत्तम पालक होकर **चक्षुः** नेत्र **च** और **मुखम्** मुख को **वाचा** वाणी के साथ **श्रोत्रेण** कान के साथ तथा **मनसा** मन के साथ **जुहोमि** हवन करता हूं । **विश्वकर्मणा** जगद्-विधाता विश्वकर्त्ता प्रभु के द्वारा **विततम्** रचे, फैलाये **इमम्** इस **यज्ञम्** यज्ञ को **देवाः** देव=दिव्यगुणसम्पन्न महामनुष्य **सुमनस्यमानाः** उत्तम मन से युक्त होते हुए **यन्तु** प्राप्त हो जाएँ । **ये** जो **देवानाम्** विद्वानों के **ऋत्विजः** ऋत्विक् हैं **च** और **ये** जो स्वयं **यज्ञियाः** यज्ञ में पूज्य अर्थात् यज्ञयोग्य हैं, **येभ्यः** जिनके लिए **हव्यम्** हव्य, हविः, हवन करने का सामान, भोजन-सामग्री **भागधेयम्** भाग **क्रियते** दिया जाता है, **यावन्तः** जितने भी **देवाः** देव हैं वे सब **पत्नीभिः+सह** पत्नियों के साथ **इमं+यज्ञम्** इस यज्ञ में **एत्य** आकर **तविषा** शक्ति से **मादयन्ताम्** मस्त हों, आनन्दित हों ।

व्याख्या—यज्ञ में वेदमन्त्रों का प्रयोग होता है, जैसा कि वेद का आदेश है—**'उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये'** [ऋ० १।७४।१]=यज्ञ का सम्पादन करते हुए हम ज्ञानवान् भगवान् के प्रति मन्त्र बोलें । जब वेद का प्रचार न रहा तो कुछ वेदानभिज्ञ लोगों ने स्त्रियों के लिए वेद पढ़ना वर्जित ठहरा दिया, और चूँकि यज्ञ समन्त्रक होते हैं, अतः उनसे यज्ञाधिकार भी छीन लिया, जो सर्वथा वेद-विरुद्ध है । वेद में स्पष्ट आदेश है—**'इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य'**=इस यज्ञ में पत्नियोंसमेत आकर । ऋग्वेद [८।३१।५] में भी कहा है—**'या दम्पती समनसा सुनुतः'**=जो दम्पती=पति-पत्नी एक मन से यज्ञ करते हैं ।

इन स्पष्ट वचनों के होते हुए स्त्रियों से वेदाधिकार तथा यज्ञाधिकार का अपहार करना स्पष्ट अत्याचार है । भगवान् के रचे यज्ञ=संसार को देखो, इसमें सभी—स्त्री, पुरुष, द्विज, शूद्र—सम्मिलित हैं तो मनुष्य के रचे यज्ञ में स्त्री—मनुष्य की माता—को सम्मिलित न होने देना घोर अनाचार है । इस यज्ञ की रक्षा करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है । इसमें उसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को अर्थात् उनके विषयों को, होम करना होगा । तभी इसमें देव आएँगे ।

२२३. युद्ध जीतो

ओ३म् । तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥ —अ० ११।६।२६

शब्दार्थ—**तेषाम्** उन **सर्वेषाम्** सबके **ईशानाः** शासक होते हुए **उत्तिष्ठत** तुम सब उठ खड़े होओ । **यूयम्** तुम सब **मित्राः** एक-दूसरे से स्नेह करनेवाले **देवजनाः** देवजन, विजयाभिलाषी लोग **संनह्यध्वम्** [शस्त्रास्त्रों से अपने को] तय्यार करो, [हथियार] बांधो । **इमम्** इस **संग्रामम्** संग्राम को **संजित्य** भली-भाँति जीतकर **यथालोकम्** अपने-अपने ठिकानों पर **वितिष्ठध्वम्** स्थिर होओ ।

व्याख्या—आर्य्यभाव देव=विजयी हैं । वेद में स्थान-स्थान पर जय प्राप्त करने का आदेश है । पुरोहित अपने यजमान क्षत्रियों से कह रहा है—**'प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः'** (अ० ३।१६।७) =हे अग्रगामी वीरो ! चढ़ाई करो और विजय प्राप्त करो, तुम्हारे भुज उग्र हों ।

प्रस्तुत मन्त्र में भी जीतने का उपदेश है । जीतने से पहले की तय्यारी का भी संकेत है—

(१) **उत्तिष्ठत**—उठो । पड़े मत रहो । उठने के भाव को अथर्ववेद (१०।६।३) में स्पष्ट किया है—**'उत्तिष्ठतमारभेथामादानसंदानाभ्याम् । अमित्राणां सेना अभिधत्तमर्बुदे'**=तुम दोनों (सेनापति तथा सेना) उठो ! और धर-पकड़ आरम्भ करो । शत्रु की सारी सेना को बाँध डालो । युद्ध में ढीली-ढाली नीति से सफलता नहीं मिला करती ।

(२) **'संनह्यध्वम्'**—तैयारी करो, शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो जाओ । अथर्ववेद (११।१०।१) में कहा है—**संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह**=उदार होकर अपने झण्डों के साथ तय्यार हो जाओ । झण्डा ले-चलने का भाव है युद्ध के लिए सज्जित होना । तुम्हारी तय्यारी, शस्त्रास्त्र, युद्धोत्साह देखकर शत्रु **'सं विजन्ताम्'** (अ० ११।६।१२)—घबरा उठें । तू उनको **'उद्वेपय'** (अ० ११।६।१२)=कँपा और **'भियाऽमित्रान्त्संसृज'** (अ० ११।६।१२)=शत्रुओं को भयभीत कर दे ।

(३) **मित्राः**—तुम्हारी सेना के सैनिक और सेनापति तुम सभी परस्पर प्रीतियुक्त होकर तय्यारी करो । जिस सेना में फूट होगी, पारस्परिक स्नेह न होगा, उसका पराजित होना, हारना निश्चित है, अतः विजयाभिलाषियों में पारस्परिक प्रीति का होना अत्यन्त प्रयोजनीय है ।

(४) **देवाः**—देव के अनेक अर्थों में से एक अर्थ है **विजिगीषु**=विजयाभिलाषी । चढ़ाई करने-वालों को देव बनकर जाना चाहिए ।

यदि अपने अन्दर सन्दिग्ध भावना हो अथवा पराजय का भय हो तो पराजय अवश्यम्भावी है, अतः विजय के भावों से हृदय भरभूर होना चाहिए—**'सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत'** (अथर्व० ११।१०।१)=ये शत्रु सर्प हैं, इतरजन हैं, इन वैरी राक्षसों के पीछे दौड़ो और इन्हें पवित्र करो अर्थात् युद्ध को धर्मयुद्ध बनाओ । संग्राम जीतने का परिणाम यह हो कि **'अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन'** (अ० ११।६।२०)=सेनापति उन शत्रुओं में से किसी को न छोड़े । शत्रुरहित होकर, संग्राम जीतकर **'यथालोकं वितिष्ठध्वम्'**=यथास्थान स्थित होओ ।

२२४. नौ द्वारोंवाला पुण्डरीक (कमल)

ओ३म् । पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ —अ० १०।८।४३

शब्दार्थ—त्रिभिः तीन **गुणेभिः** गुणों से **आवृतम्** ढका हुआ **नवद्वारम्** नौ द्वारोंवाला **पुण्डरीकम्** कमल है । **तस्मिन्** उसमें **यद्** जो **आत्मन्वत्** आत्मावाला **यक्षम्** पूजनीय है, **ब्रह्मविदः** ब्रह्मवेत्ता **तत्** उसको **वै** ही **विदुः** जानते हैं, प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या—मानस-कमल को यहाँ एक गृह से उपमा दी है, तभी तो **'पुण्डरीकं नवद्वारं'** कहा है । उपनिषत् में इस 'नवद्वार' विशेषण के कारण पुण्डरीक के साथ 'वेश्म' शब्द जोड़ दिया गया है, ताकि सन्देह ही न रहे । तथा—**'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म'** (छां० ८।१।१)=इस ब्रह्मपुर में छोटा-सा कमल-समान जो मकान है । वह कमल-समान मकान **'त्रिभिर्गुणैरावृतम्'** तीन गुणों से घिरा है । सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों ने मन को घेर रखा है और वह **नवद्वारं**=नौ दरवाजोंवाला है । 'इस नगरी के नौ दरवाजे' प्रसिद्ध हैं । **'तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्'**=उस कमल-समान मकान में आत्मा-सहित यक्ष=पूजनीय परमात्मा रहता है । छान्दोग्य (८।१।१) में कहा **'तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्'**=उसके भीतर जो है, उसकी खोज करनी चाहिए । वेद कहता है, उसमें **'आत्मन्वत् यक्ष'** है । वेद का आशय यह है कि हृदय-मन्दिर में आत्मा परमात्मा दोनों रहते हैं । उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर **'गुहां प्रविष्टौ'**=(हृदय-गुफा में प्रविष्ट हुए दोनों) शब्दों से यह अर्थ प्रतिध्वनित हुआ है ।

अथर्ववेद (१०।२।३१-३२) में यही बात एक-दूसरे प्रसंग में कही है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

देवों की न जीती जा सकनेवाली नगरी के आठ चक्र तथा नौ द्वार हैं । उस नगरी में प्रकाश से घिरा हुआ आनन्द तक ले-जानेवाला सुवर्णमय कोष है । उस तीन अरोंवाले, तीन के सहारे रहनेवाले सुवर्णमय कोश में आत्मन्वान् जो यक्ष है, ब्रह्मवेत्ता उसे ही प्राप्त करते हैं । मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक इस शरीर में आठ चक्र हैं । उत्थान के समय प्राण कभी-कभी इनमें रुका करता है । आँख-कानादि **नौ द्वार** प्रसिद्ध हैं । इस शरीर में हिरण्यय कोश है; मानस-मन्दिर कह लीजिए, दहर पुण्डरीक वेश्म कह लीजिए । सत्त्व, रजस् और तमस् इनके तीन अरे हैं । उस मानस-मन्दिर में आत्मा परमात्मा का वास है, अतः वह प्रकाशमय है । आनन्दमय परमात्मा का वासस्थान होने से वह स्वर्ग=स्वर्+ग=आनन्द तक ले-जाने-वाला है । ब्रह्मवेत्ता लोग उसी यक्ष को पाते हैं ।

२२५. यज्ञ में आने का प्रयोजन

ओ३म् । ऋतधीतय आ गत सत्यधर्माणो अध्वरम् । अग्नेः पिबत जिह्वया॥

—ऋ० ५।५१।२

शब्दार्थ—हे **सत्यधर्म्माणः** सत्यधारियो ! **ऋतधीतये** ऋत के मनन के लिए **अध्वरम्** यज्ञ को **आगत** आओ और **जिह्वया** जिह्वा से **अग्नेः** अग्नि का **पिबत** पान करो, अथवा **अग्नेः** अग्नि की **जिह्वया** जिह्वा द्वारा **पिबत** पान करो ।

व्याख्या—वैदिकधर्म्म यज्ञप्रधान धर्म है। **'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'** (जीवन यज्ञ से सफल हो) वाक्य यजुर्वेद में कई बार आया है। यज्ञ के अध्वर, मख आदि कई नाम हैं। यहाँ 'अध्वर' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'अध्वर' शब्द के सम्बन्ध में थोड़ा-सा जान लेने से मन्त्र का भाव समझने में आसानी होगी। अध्वर पर लिखते हुए यास्काचार्य्यजी लिखते हैं—**'ध्वरतिर्हिंसाकर्म्मा तत्प्रतिषेधः'** (निरुक्त) अध्वर= दो शब्द हैं—**अ** (न)+**ध्वर**। ध्वर का अर्थ है हिंसा। अध्वर का अर्थ है—न हिंसा=अहिंसा। भाव यह हुआ कि अध्वर उन कर्म्मों का नाम है जिनमें हिंसा न हो, अथवा हिंसा का निषेध किया जाता हो। यज्ञ में हिंसा माननेवालों का खण्डन तो इस 'अध्वर' शब्द से ही हो जाता है। अध्वर का एक दूसरा अर्थ भी है—अध्व+र=मार्ग देना, मार्ग दिखलाना। यज्ञ शब्द का एक अर्थ है संगतिकरण=सत्संगति। उस अर्थ को अध्वर=मार्ग दिखलाना के साथ मिलाएँ तो अध्वर=यज्ञ का थोड़ा-सा भाव स्पष्ट हो जाता है।

अध्वर में=सत्संग में आने का प्रयोजन बतलाया—**ऋतधीतये**=ऋत के मनन के लिए। सत्संग के बिना ऋत का ज्ञान हो ही नहीं सकता। पाठशाला, विद्यालय आदि में जाना सत्संग करना है। वहाँ विद्यार्थी गुरु की संगति करता है। पुस्तक पढ़ते हुए उस पुस्तक के लेखक का संग हो रहा है। ऋतधीति ऋत का मनन ही है, जैसा कि ऋग्वेद (९।९७।३३) में लिखा है—**'ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्'**=ऋत की धीति ब्रह्म=ज्ञान का मनन है। ऋत के मनन का उद्देश्य मनन ही होना चाहिए—**'ऋतमृताय पवते सुमेधाः'** (ऋ० ९।९७।२३)=महाबुद्धिमान् ऋत के लिए ऋत को पवित्र करता है, ऋत के लिए, ऋतानुसार आचरण करने के लिए, क्योंकि यदि ऋत के अनुसार आचरण न हुआ तो कल्याण न होगा—**'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः'** (ऋ० ९।७३।६)=दुराचारी ऋत का मार्ग पार नहीं कर पाते। जो ऋतानुसारी नहीं है, वह दुराचारी है, अतः ऋत के मनन के साथ ऋत का धारण=आचरण भी आवश्यक है। ऋतधीति कौन कर सकते हैं ? इसका समाधान है कि **'सत्यधर्म्माणः'**—सत्यधर्म्मा, सत्यधारी। वेद में कहा भी तो है—**'ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति'** (ऋ० ४।२३।८)=ऋत का मनन पापों को नष्ट कर देता है अर्थात् ऋत-मनन से निष्पाप होकर मनुष्य सत्यधारण सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। ऋत का पान अग्नि की=ज्ञान की जुबान से करना चाहिए। उसमें बहुत मिठास होता है—**'ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम्'** (ऋ० ९।७५।२)=ऋत की जिह्वा अभीष्ट मिठास देती है।

२२६. षड्रिपुदमन

ओ३म् । उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ —ऋ० ८।४।२२

शब्दार्थ—**उलूकयातुम्** उल्लू की चाल को **शुशुलूकयातुम्** भेड़िये की चाल को **श्वयातुम्** कुत्ते की चाल को **उत** और **कोकयातुम्** चिड़िया की चाल को **सुपर्णयातुम्** गरुड़ की चाल को **उत** और **गृध्रयातुम्** गिद्ध की चाल को **जहि** नाश कर, त्याग दे । हे **इन्द्र** ऐश्वर्य्याभिलाषी आत्मन् ! **रक्षः** राक्षस को **दृषदा+इव+प्र+मृण** मानो पत्थर से, पत्थर-समान कठोर साधन से मसल दे ।

व्याख्या—योगिजन कामक्रोधादि विकारों को पशु-पक्षियों से उपमा देते हैं । उनका यह व्यवहार इस मन्त्र के आधार पर है । उलूक=उल्लू अन्धकार से प्रसन्न होता है । अन्धकार और मोह एक वस्तु है । मूढ़जन मोह के कारण अज्ञानान्धकार में निमग्न रहना पसन्द करता है । उलूकयातु का सीधा-सादा अर्थ हुआ मोह । मोह सब पापों का मूल है । वात्स्यायन ऋषि ने लिखा है—**मोहः पापीयान्**=मोह सबसे बुरा है, राग-द्वेषादि इसी से उत्पन्न होते हैं ।

शुशुलूक—भेड़िया । मोह से राग-द्वेष उत्पन्न होता है । भेड़िया क्रूर होता है, बहुत द्वेषी होता है । शुशुलूकयातुम् का भाव हुआ द्वेष की भावना । द्वेषी मनुष्य में क्रोध की मात्रा बहुत होती है ।

श्वान=कुत्ता । कुत्ते में स्वजातिद्रोह तथा चाटुकारिता बहुत अधिक मात्रा में होती है । स्वजातिद्रोह द्वेष का ही एक रूप है और मत्सर=जलन के कारण होता है । दूसरे की उन्नति न सह सकना मत्सर है । चाटुकारिता लोभ के कारण होती है । लोभ राग के कारण हुआ करता है । श्वयातु का अभिप्राय हुआ—मत्सरयुक्त लोभवृत्ति । लोभवृत्ति की जब पूर्त्ति नहीं होती, तो मत्सर और क्रोध उत्पन्न होते हैं ।

कोक=चिड़ा । चिड़ा बहुत कामातुर होता है; कोक का अर्थ हंस भी होता है । हंस भी बहुत कामी प्रसिद्ध है । कोकयातु का तात्पर्य हुआ कामवासना ।

सुपर्ण=सुन्दर परोंवाला गरुड़ । गरुड़ पक्षी को अपने सौन्दर्य का बहुत अभिमान होता है । सुपर्णयातु का भाव हुआ—अहंकार-वृत्ति=मन ।

गृध्र=गिद्ध । गिद्ध बहुत लालची होता है । गृध्रयातुम् का भाव हुआ लोभवृत्ति ।

वेद ने इन सबका एक नाम रक्षः=राक्षस रखा है अर्थात् मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद और लोभ राक्षस हैं । राक्षस या रक्षस् शब्द का अर्थ है—जिससे अपनी रक्षा की जाए, अपने-आपको बचाया जाए । मोह आदि आत्मा के शत्रु हैं । इनको मार देना चाहिए । जिसे आध्यात्मिक या लौकिक किसी भी प्रकार के ऐश्वर्य की कामना हो, वह इन राक्षसों को मसल दे । मोह आदि में से एक-एक ही बहुत प्रबल एवं प्रचण्ड होता है । यदि किसी मनुष्य पर ये छहों एक साथ आक्रमण कर दें, तो उसकी क्या अवस्था होगी ? अतः मनुष्य को सदा सावधान एवं जागरूक रहना चाहिए, और इनको नष्ट करना चाहिए—**'प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन'** [ऋ० ८।४।१९]=आगे से, पीछे से, नीचे से, ऊपर से, सब ओर से राक्षसों को वज्र से मार दे, अर्थात् दुष्टवृत्तियों का सर्वथा सफाया कर दे ।

२२७. सभा

ओ३म् । विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ —अ० ७।१२।२

शब्दार्थ—हे **सभे** सभे ! **ते** तेरा **नाम** नाम **विद्म** हम जानते हैं। **वै** सचमुच तू **नरिष्टा** मानव-हितकारिणी **नाम** प्रसिद्ध **असि** है। **ये** जो **के+च** कोई **ते** तेरे **सभासदः** सभासद् हों **ते** वे **मे** मेरे लिए **सवाचसः** वाणीयुक्त, बोलनेवाले **सन्तु** हों।

व्याख्या—सभा, समाज, संगठन बनाकर कार्य्य साधना नया आयोजन नहीं है। यह अत्यन्त पुराना है, उतना पुराना, जबसे कि इस संसार की रंगस्थली पर मनुष्य आया। उसे यह बोध भगवान् ने कराया। जिस संघ या व्यक्ति ने अपने प्रतिनिधि चुनकर सभा में भेजे हैं, वह मानो कह रहा है—**'विद्म ते सभे नाम'**=हे सभे ! हम तेरा नाम (यश) जानते हैं। सभा में बैठने योग्य को 'सभ्य' कहते हैं, 'सभ्य' के चालचलन को 'सभ्यता' कहते हैं। तनिक ध्यान दीजिए, तो स्पष्ट भान हो जाएगा कि सभ्यता संगठन के बिना नहीं हो सकती। सभा का एक अर्थ है प्रकाशयुक्त, अर्थात् सभा एक ऐसे जनसमुदाय को कहते हैं जिसमें सब मिलकर ज्ञानपूर्वक और ज्ञानरक्षक कार्य करते हैं, छिपकर अन्धकार में कार्य्य नहीं करते। इसीलिए आगे कहा है—**'नरिष्टा नाम वा असि'**=तू सचमुच नरहितकारिणी है।

इस छोटे-से मन्त्रखण्ड में सभा का उद्देश्य बता दिया गया है। यदि सभा से जनहित न हो, तो वह सभा नहीं है, उसे तोड़ देना चाहिए। उत्तरार्ध में सभासदों के कर्त्तव्य बताये गये हैं—**'ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः'**=जो कोई तेरे सभासद् हों, वे मेरे लिए बोलनेवाले हों। यदि कोई सभासद् सभा में जाकर चुप रहता है, बोलता नहीं, वह वेदविरुद्ध आचरण करता है। मनुजी ने कहा है—**'सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्'** [८।१३]=सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए; प्रवेश करने पर युक्त=उचित बोलना चाहिए। अन्यथा—**'अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी'** [८।१३]=न बोलता हुआ अथवा उलटा बोलता हुआ मनुष्य पापी होता है।

जो ढोंगी सभा में बैठकर Neutral पक्षरहित होने का दम्भ करते हैं, वे अवश्य पापी हैं, क्योंकि उन्होंने अपना अथवा निर्वाचकों का पक्ष न बताकर अन्याय और विश्वासघात किया है। उन्हें चाहिए कि —**'सभां न प्रवेष्टव्यं'**—वे सभा में जाएँ ही नहीं। जो इस प्रकार के पक्षहीन दम्भी हैं, मनुजी उनके सम्बन्ध में कहते हैं—**'यत्र धर्म्मो ह्यधर्म्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः'** [८।१४]=जिस सभा में सभासदों के देखते-देखते अधर्म्म से धर्म्म और झूठ से सच मारा जाता है, उस सभा के सभासद् मरे हुए हैं, अतः वेदभक्त सभासद् कहता है—**'चारु वदानि पितरः संगतेषु'** [अ० ७।१२।१]=हे पूज्यो, पितरो, City fathers ! संगतों=सभाओं में मैं सुन्दर बोलूँ।

२२८. विद्वानों का यज्ञ

ओ३म् । मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ —ऋ० ७।५।५

शब्दार्थ—मुग्धाः मोह लेनेवाले **देवाः** विद्वान् **उत** या तो **शुना+यजन्त** ज्ञानदाता भगवान् का यजन करते हैं **उत** अथवा **गोः+अङ्गैः** वाणी के विविध अङ्गों से **पुरुधा** अनेक प्रकार या बहुधा **यजन्त** यज्ञ करते हैं। **यः** जो **इमम्** इस **यज्ञं** यज्ञ को **मनसा** मन से **चिकेत** जानता है, उसके सम्बन्ध में तू **नः** हमें **प्र+वोचः** भली-भांति कह, **तम्** उसके सम्बन्ध में **इह-इह** अभी-अभी **ब्रवः** तू बोल।

व्याख्या—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अश्वमेध, ज्योतिष्टोम आदि अनेक प्रकार के यज्ञ हैं। सबमें भिन्न-भिन्न प्रकार की सामग्री का प्रयोग होता है। राजसूय आदि यज्ञ प्रायः सभी सकाम कर्म्म हैं। जैसा कि लिखा है—**'राजा राजसूयेन यजेत स्वराज्यकामः'**=स्वराज्य का अभिलाषी राजसूय यज्ञ करे; किन्तु विद्वान् जिन्होंने सब-कुछ जान लिया है, जिन्हें संसार की असारता का बोध हो चुका है, ऐसे—**'मुग्धा···यजन्त'**=मोह लेनेवाले विद्वान् भगवान् का यज्ञ करते हैं। सचमुच जो संसार की असारता के कारण इससे ऊपर उठ गये हैं, इनमें कोई विशेष चमत्कार होता है। दूसरों को वे अपने वश में कर लेते हैं। इनके इस गुण का हेतु है भगवद्भजन तथा भगवद्वाणी-प्रवचन। भगवान् का ध्यान तथा भगवान् का व्याख्यान इनका प्रधान कार्य्य होता है।

ऋग्वेद [१।१६४।५०; १०।९०।१६] में कहा भी है—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'**=विद्वान् यज्ञ=स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा भगवान् का यजन करते हैं, उनके यही कार्य्य मुख्य धर्म्म हैं। यज्ञद्वारा यज्ञपुरुष=पूज्य भगवान् की पूजा सरल नहीं, वरन् कठिन है। अग्निहोत्र आदि में घृत, तण्डुल, समिधा, सामग्री आदि से काम चल जाता है, किन्तु इसमें अपना-आपा देना होता है—

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥—ऋ० ७।५।४

विद्वान् लोग जो पुरुषरूप हवि के द्वारा यज्ञ करते हैं, इसी कारण से वह यज्ञ उससे अधिक ओजस्वी है, जो विहव्य=विविध प्रकार की हवन-सामग्री से किया जाता है।

निस्सन्देह आत्मयाजी महात्मा घृतादि लेकर नहीं बैठते, किन्तु वे तो उस यज्ञाग्नि=ब्रह्माग्नि में अपना-आपा होम कर रहे होते हैं। इसके बतलानेवाला विरला ही कोई मिलता है।

२२९. स्वर्ग

ओ३म् । यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व१ः॒ स्वायाः॑ ।
अश्लो॑णा॒ अङ्गै॒रह्रु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान् ॥

—अ० ६।१२०।३

शब्दार्थ—यत्र जिस अवस्था में **सुहार्दः** पवित्र हृदयवाले, पुनीत विचारवाले **सुकृतः** अच्छे आचारवाले सज्जन **स्वायाः** अपने **तन्वः** शरीर का **रोगम्** रोग **विहाय** छोड़कर अर्थात् पूर्णतया नीरोग होकर **अङ्गैः**+**अश्लोणाः** अङ्ग-भङ्गरहित अर्थात् पूर्णाङ्गावयवयुक्त शरीरवाले और **अह्रुताः** शरीर, आत्मा तथा मन की कुटिलता से विरहित हुए **मदन्ति** आनन्दित रहते हैं **तत्र स्वर्गे** उस स्वर्ग में हम **पितरौ** माता-पिता **च** और **पुत्रान्** पुत्रों=सन्तान को **पश्येम** देखें अर्थात् हमारे माता-पिता तथा सन्तान सदा सुखी रहें।

व्याख्या—अनेक लोगों की यह धारणा है कि स्वर्ग किसी एक स्थान का नाम है, जहाँ मरने के पीछे सुकृति लोग जाकर रहते हैं। वेद का स्वर्ग इससे भिन्न है, वहाँ जीते-जीते जाना होता है। उस स्वर्ग का निरूपण होता है। देखिए—

'यत्रा सुहार्दः···मदन्ति'=जहाँ पवित्र हृदयवाले आनन्दित होते हैं। अपवित्र हृदयवाले को आनन्द मिल ही नहीं सकता। वह तो चिन्ता-चिता की आग में जलता रहता है।

'सुकृतो मदन्ति'—सुकर्म्मा=भले कर्म्म करनेवाले जहाँ सुख पाते हैं। उत्तम आचार और शुद्ध व्यवहारवाले ही सुख पाते हैं।

'विहाय रोगं तन्वाः स्वायाः'=अपने शरीर का रोग छोड़कर। वैद्य कहते हैं—**शरीरं व्याधि-मन्दिरम्** शरीर रोग का घर है। जिसके शरीर में किसी प्रकार का रोग न हो, उससे बढ़कर संसार में—साधारण लोगों की दृष्टि में—और कौन सुखी हो सकता है?

केवल रोगरहित ही न हो, अपितु—**'अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः'**—अङ्ग-भङ्ग-रहित तथा शारीरिक, आत्मिक, मानसिक कुटिलता से रहित हो। जिस भाग्यशाली को यह अवस्था प्राप्त हो, वह स्वर्ग में रहता है।

'तत्र स्वर्गे पश्येम पितरौ च पुत्रान्'—उस स्वर्ग में माता-पिता तथा पुत्रों को देखे। यह वाक्य स्पष्ट ही इस लोक में गृहस्थ को ही स्वर्ग बता रहा है।

२३०. सांमनस्य (मन की एकता)

ओ३म् । सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता ।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ —ऋ० ६।७४।१

शब्दार्थ—**वः** तुम्हारे **तन्वः** शरीर **सं+पृच्यन्ताम्** समता से मिले रहें और **मनांसि** तुम्हारे मन, विचार **सम्** एकसमान हों और तुम्हारे **व्रता** व्रत, आचार उ भी **सम्** समान हों। **अयम्** यह **ब्रह्मणस्पतिः** वेदपति **वः** तुम्हें **सम्+अजीगमत** एकसमान प्राप्त हो। **भगः** ऐश्वर्य **वः** तुम्हें **सम्** एक-सा प्राप्त हो।

व्याख्या—शरीर, मन=विचार, व्रत=आचार एक-सा हो, तो मनुष्यजाति ज्ञान तथा मन से एक-सी समृद्ध हो। वेद इस एकता का उपाय भी बतलाता है—**'संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः । अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः'** [अ० ६।७४।२]—तुम्हारे मन का संज्ञपन=एकसमान बोधन हो, तुम्हारे हृदय का एकसमान बोधन हो और ऐश्वर्य्य के लिए जो श्रम है, उससे तुम्हें एकसमान बोधन करता हूँ।

यहाँ एक सूक्ष्म सूचना है—मन और हृदय एक ही बोध से बोधित हों। ऐश्वर्य्य के लिए परिश्रम करना पड़ता है। जबतक हृदय और मन का समीकरण नहीं होता, तबतक अपने शरीर में भी समता नहीं हो सकती अर्थात् समाज में समता लाने के लिए पहले अपने हृदय और मन में समता स्थापित करनी चाहिए। अपने अन्दर समता करनेवाला ही सफलता प्राप्त कर सकता है—**'अहृणीयमानः····इमान् जनान् संमनसस्कृधीह'** [अ० ६।७४।३]—कुटिलतारहित होकर यहाँ ही इन लोगों को समान मनवाले कर अर्थात् दूसरे को अपने साथ मिलाने से पूर्व अपने छलछिद्र दूर करने होंगे। यदि स्वयं कुटिलता का त्याग न किया जा सके, तो दूसरों से मेल कैसे होगा? कुटिलता ज्ञान से दूर होगी, अतः पहले मन और हृदय को ज्ञान से संस्कृत करना चाहिए। मन तथा हृदय का संस्कार समान रूप से करना उचित है। ऐसा न हो कि दोनों का विषम संस्कार हो। मन का अधिक परिष्कार हो और हृदय का उससे कम, तो सूक्ष्म तथा ललित भावों का पूर्ण विकास न हो सकेगा। यदि हृदय की अपेक्षा मनःसाधन पर कम ध्यान दिया जाएगा, तो सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन न हो सकेगा, अतः मन तथा हृदय का समान परिष्कार करना चाहिए। मन और हृदय के परिष्कार के समान शरीर-संभार का यत्न भी होना चाहिए, तभी मानव-समाज की उन्नति होगी।

२३१. ब्राह्मण अवध्य है

ओ३म् । तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ —अ० ५।१९।८

शब्दार्थ—**इव** जैसे **उदकम्** जल **भिन्नाम्** टूटी हुई **नावम्** नौका को डुबा देता है, वैसे **वै** सचमुच **तत्** वह **राष्ट्रम्** राष्ट्र **आ+स्रवति** बह जाता है, नष्ट हो जाता है **यत्र** जिस राष्ट्र में **ब्रह्माणम्** ब्रह्मवेत्ता को **हिंसन्ति** मारते हैं, **तद्** वह ब्रह्महत्याकर्म **दुच्छुना** दुर्गति से **राष्ट्रम्** राष्ट्र को **हन्ति** मार देता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में ब्राह्मण की हत्या का कुफल वर्णन किया गया है । बतलाया है कि जैसे नौका में छिद्र हो जाए, उसमें जल आने लगे और निकालने का कोई उपाय न किया जाए तो नौका डूब जाती है, ऐसे ही जिस राष्ट्र में ब्राह्मण की हिंसा होती है, वह देश भी नष्ट हो जाता है, डूब जाता है; क्योंकि वह ब्रह्महत्या लौटकर राष्ट्र को मार देती है । सचमुच यह अद्भुत बात है ।

ब्राह्मण की हत्या का निषेध वेद में अन्यत्र भी है । यथा—

(१) **'यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य'** [अ० ५।१८।४]—वह घोला हुआ विष पीता है, जो ब्राह्मण को अन्न ही मानता है ।

(२) **'न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव'** [अ० ५।१८।६]—प्रिय शरीर की आग के समान ब्राह्मण की हत्या नहीं करनी चाहिए ।

(३) **'यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्'** [अ० ५।१८।१३]—जो देवबन्धु ब्राह्मण को मारता है, वह पितृयाण=खानदान चलाने की अवस्था को भी नहीं प्राप्त करता ।

इन निर्देशों से स्पष्ट सिद्ध है कि ब्राह्मण की हत्या नहीं करनी चाहिए; किन्तु ब्राह्मण है कौन ? साधारणतः लोगों की धारणा है कि कुलविशेष में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण है । इस धारणा के निर्मूल होने का प्रमाण लोकव्यवहार है, अनेक ब्राह्मण-नामधारी मनुष्यों की हत्या चोर-डाकुओं द्वारा, अथवा राजा की आज्ञा से होती है, किन्तु उस राष्ट्र का कुछ भी नहीं बिगड़ता। इससे प्रतीत होता है कि वेद में ब्राह्मण शब्द का अभिप्राय कुछ और ही है । अथर्ववेद [५।१८।१३] में 'ब्राह्मण' का विशेषण 'देवबन्धु' आया है । इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण देवबन्धु होना चाहिए । किसी कुलविशेष में उत्पन्न होने से देवबन्धु नहीं बनता, वरन् जो देव का बन्धु बनेगा, वह देवबन्धु होगा । प्रतिदिन भगवान् से प्रार्थना करते हुए हम कहते हैं—**'स नो बन्धुर्जनिता'** [य० ३२।१०]=वह परमेश्वर हमारा बन्धु तथा उत्पादक है। जो मनुष्य सचमुच परमेश्वर का बन्धु बन जाता है, उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, वह सच्चा देवबन्धु है। इसी प्रकार ब्राह्मण शब्द का अर्थ है—जो ब्रह्म का हो । दोनों का अर्थ एक है अर्थात् ब्राह्मण देवभक्त का नाम है । ब्रह्मभक्त वही हो सकता है, जो परमेश्वर की भाँति संसार के उपकार में तत्पर रहता हो । लोकोपकारी देवबन्धु की हत्या तो सचमुच राष्ट्र में विप्लव उत्पन्न कर देती है । उसकी हत्या से राष्ट्र की नौका डूबने में कोई सन्देह नहीं रहता ।

२३२. जिस ग्राम में मैं जाता हूँ वहाँ से पिशाच नष्ट

ओ३म् । न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ —अ० ४।३६।७

शब्दार्थ—मैं **पिशाचैः** पिशाचों के साथ **न** नहीं **सं+शक्नोमि** एकता कर सकता, **न** ना ही **स्तेनैः** चोरों के साथ और **न** ना ही **वनर्गुभिः** बनैले डाकुओं या हिंसकों के साथ। **यम्** जिस **ग्रामम्** ग्राम में **अहम्** मैं **आविशे** प्रवेश करता हूँ, अथवा जोश भरता हूँ, **पिशाचाः** पिशाच **तस्मात्** उससे **नश्यन्ति** नष्ट हो जाते हैं ।

व्याख्या—'पिशाच' शब्द का अर्थ है मांसाहारी। जो लोग जनता को डरा-धमकाकर उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं, वे पिशाच हैं। मन्त्र में पिशाच, स्तेन तथा वनर्गु, तीन का वर्णन है। स्तेन का अर्थ है चोर, वनर्गु का अर्थ है वन में रहनेवाले, असभ्य, दस्यु, डाकू। ये दोनों पतित मनुष्य हैं, दोनों ही जन-धन का अपहरण करते रहते हैं, अतः पिशाच भी कोई इन-जैसा होना चाहिए। मन्त्र के शब्दविन्यास से ऐसा प्रतीत होता है कि पिशाच वे लोग हैं, जो जनता के बीच रहकर उनका लोहू पीते रहते हैं। एक तेजस्वी नायक कहता है कि मैं इनके साथ एक स्थान पर अथवा एकमत होकर नहीं रह सकता। तो क्या वहाँ से वह भाग जाता है ? नहीं, वरन् वह उत्साह से कहता है—**'पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे'** =पिशाच वहाँ से भाग जाते हैं, जिस ग्राम को मैं जोश से भर देता हूँ अर्थात् यदि जनता में साहस और उत्साह हो, और उनके उत्साह को तीव्र करनेवाला कोई नेता मिल जाए, तो ऐसे पिशाचों का सफ़ाया ही हो जाता है। पिशाच-नाश का अर्थ है, पिशाचपन का त्याग। जैसे—

यं ग्राममाविशत् इदमुग्रं सहो मम ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥—अ० ४।३६।८

जिस ग्राम या जनसमुदाय में मेरा यह तीव्र बल घुसता है, पिशाच उससे भाग जाते हैं, वे पाप को जानते भी नहीं।

पापी के प्राण लेने से उसका उतना कल्याण नहीं होता, जितना उससे पापवासना छुड़ाने से होता है। पिशाचों के भागने के साथ **'न पापमुप जानते'** [पाप को नहीं जानते, नहीं पहचानते] विशेष विचारने के योग्य है। वही पिशाचों का नाश है कि जो उनका भाव बदलकर उन्हें पाप से अपरिचित=असम्बद्ध कर देना है। वीर सुधारक ही कह सकता है—

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥—अ० ४।३६।६

जैसे गौओंवाले के लिए व्याघ्र+बाघ होता है, वैसे ही मैं पिशाचों को तपानेवाला हूँ। सिंह को देखकर कुत्तों की भाँति वे भी गति-ठिकाना प्राप्त नहीं करते। कुत्ता गली में आते-जाते को देखकर भूंकता रहता है, किन्तु सिंह को देखकर वह ग्रामसिंह मौन होकर दुम हिलाने लगता है, ऐसे ही पिशाच जनता को सताता, डराता, धमकाता रहता है, किन्तु किसी सिंहसमान वीर सुधारक के आने पर वह सीधा हो जाता है।

२३३. भगवान् सर्वज्ञ

ओ३म् । यस्तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यश्च॒ वञ्च॑ति॒ यो नि॒लायं॒ चर॑ति॒ यः प्र॒तङ्क॑म् ।
द्वौ सं॑नि॒षद्य॒ यन्म॒न्त्रये॑ते॒ राजा॒ तद्वे॑द॒ वरु॑णस्तृ॒तीय॑ः ॥ —अ० ४।१६।२

शब्दार्थ—**यः** जो **तिष्ठति** गति नहीं करता है, और जो **चरति** गति करता है **च** और **यः** जो **वञ्चति** ठगी करता है, और **यः** जो **निलायम्** छिपकर **प्रतङ्कम्** आतङ्क, भय का **चरति** प्रचार, सञ्चार करता है, **द्वौ** दो मनुष्य **सं**+**निषद्य** साथ बैठकर **यत्** जो **मन्त्रयेते** गुप्त मन्त्रणा करते हैं, **राजा** राजा **वरुणः** वरुण, अन्तर्यामी भगवान् **तृतीयः** तीसरा होकर **तत्** उसको **वेद** जानता है ।

व्याख्या—पापवासना से प्रेरित होकर मनुष्य नानाविध पाप करता है । कोई कहीं न जाकर और कोई कहीं जाकर पाप करता है । कोई ठगी करता है, कोई लोगों में भय, आतङ्क का सञ्चार करता है, कहीं दो जने गुप्त स्थान में बैठकर कोई गुप्त मन्त्रणा कर रहे होते हैं, और समझते हैं हमें कोई नहीं देख रहा, हमारी बात हमारे सिवा कोई नहीं सुन रहा । वेद ऐसों को सावधान करता हुआ कहता है—**'राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः'**=भगवान् उनके बीच तीसरा होकर उन्हें जान रहा है अर्थात् भगवान् अन्तर्यामी तथा सर्वज्ञ है । उनकी दृष्टि से कोई नहीं बच सकता—**'उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः'** [अ० ४।१६।४]—चाहे कोई द्यौ से भी परे चला जाए, वह राजा वरुण से नहीं छूट सकता, क्योंकि **'सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् । संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्'** [अ० ४।१६।५]—जो कुछ इस त्रिलोकी में है, राजा वरुण उस सबको विशेषरूप से देखता है, लोगों के निमेष तक तो इसके गिने हुए हैं ।

संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जो अन्तर्यामी भगवान् से छिपा हो; उसको सभी प्रत्यक्ष हैं । लोगों के=जीवों के निमेषोन्मेष तक उसके गिने हैं अर्थात् संसार के प्राणी=जीव परिसंख्यात हैं । भले ही मनुष्य की गिनती से उनकी संख्या परे हो, किन्तु उस सर्वज्ञ के सामने यह संख्या परिमित है । तभी तो—**'बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति'** [अ० ४।१६।१]—इन सबका अधिष्ठाता मानो समीप से देख रहा है । जो हुआ ही आत्मा के अन्दर, वह तो पास से ही देखेगा । भगवान् सर्वत्र विराजमान, सर्वज्ञ, सर्वान्तिर्यामी तथा सर्वाधिष्ठाता है । उससे कोई कहीं छिप नहीं सकता ।

२३४. क्रमिक उन्नति

**ओ३म् । पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम् ।।** —अ० ४।१४।३

शब्दार्थ—अहम् मैं पृथिव्याः पृथिवी के **पृष्ठात्** पृष्ठ से [ऊपर उठकर] **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्ष को **आ+अरुहम्** चढ़ा हूँ । **अन्तरिक्षात्** अन्तरिक्ष से **दिवम्** द्यौ को **आ+अरुहम्** आरूढ़ हुआ हूँ । **नाकस्य** दुःखरहित **दिवः** द्यौ के **पृष्ठात्** पृष्ठ से **अहम् मैं स्वः+ज्योतिः** आनन्दमय प्रकाश को **अगाम्** प्राप्त हुआ हूँ ।

व्याख्या—इस मन्त्र में साधक की क्रमिक आध्यात्मिक उन्नति की चर्चा है । निम्न से उच्च, उच्च से उच्चतर, उच्चतर से और उच्चतर और अन्त में उच्चतम दशा की प्राप्ति का यहाँ निदर्शन कराया गया है । पृथिवी, अन्तरिक्ष, नाक, द्यौ, स्वर्ज्योति—ये गुह्य परिभाषाएँ हैं । स्थूल देह को पृथिवी कहते हैं । आरम्भ में प्राकृतिक मनुष्य इस स्थूल शरीर को ही सब-कुछ समझता है । श्रवण से उसे ज्ञान होता है कि इससे ऊपर एक और शरीर है, जो इसकी अपेक्षा सूक्ष्म है । उसका चिन्तन करते-करते वह इनसे पृथक् प्रकाशमय आत्मा का भान करता है । आत्मदर्शन के अनन्तर उसे परमात्मप्राप्ति होती है । सूक्ष्म और कारणशरीर को यहाँ अन्तरिक्ष कहा गया है, आत्मा को 'नाक द्यौ' कहा है, आत्मा में प्रकाश है; साथ ही सुख भोगने की नैसर्गिक लालसा है । उससे उत्कृष्ट परमात्मा है जो आनन्दमय ज्योति है ।

'पृथिवी'[1] स्थूल देह को कहते हैं । जब निद्रा आ घेरती है, और शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, स्वप्न आते रहते हैं, पण्डितजन बतलाते हैं कि ये स्वप्न मन की सत्ता का प्रमाण है । जब स्वप्न आने बन्द होकर गहरी निद्रा आती है जिससे जागकर मनुष्य कहता है, मैं ऐसा सोया कि मुझे कुछ पता न लगा । 'कुछ पता न लगा' यह पता किसको लगा ? ज्ञानीजन कहते हैं कि यह आत्मा है । देह की अपेक्षा मन सूक्ष्म, मन की अपेक्षा आत्मा सूक्ष्म है । आत्मा देह और मन दोनों पर शासन करता है । आत्मा की चेष्टा से ही ये दोनों सचेष्ट हैं । द्यौ के आलोक से ही पृथिवी और अन्तरिक्ष आलोकित होते हैं । शरीर त्यागने में विवश हुआ आत्मा स्वर्ज्योति=परमात्मा की सत्ता का अनुभव करता है । उसे प्राप्त करके और कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रहता । द्यौ से ऊपर उठकर स्वर्ज्योति की प्राप्ति मुक्ति है—**'दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्'** [अ० ४।१४।२]=द्यौ के पालक स्वः=आनन्द को प्राप्त करके देवों के साथ=मुक्तों के साथ मिल बैठो । देवों के साथ मिल बैठने के लिए 'स्वः' प्राप्त करना ही होगा । 'स्वः' को प्राप्त करने का मार्ग सीधा है—**'स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी । यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे'** [अ० ४।१४।४]=जो उत्तम ज्ञानी 'विश्वतोधार' यज्ञ का विस्तार करते हैं, वे 'स्वः' को प्राप्त करने के लिए अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं करते । पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तक वे वैसे ही चढ़ जाते हैं ।

सामने बिठाकर समझाने योग्य बात का इतना उल्लेख भी बहुत है ।

---

१. 'पृथिवी' का अर्थ शरीर भी है, इसके लिए लेखक की पुस्तक 'योगोपनिषत्' देखिए ।

२३५. दान दिलाओ

ओ३म् । वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥

—अ० ३।२०।८

शब्दार्थ—हम **च** और **इमा** ये **विश्वा** सब **भुवनानि** लोक-लोकान्तर भी **अन्तः** बीच में **वाजस्य** अन्न, धन, ज्ञान के **नु** ही **प्रसवे** उत्पादन के लिए **सं+बभूविम** समर्थ हुए हैं, इकट्ठे हुए हैं। **प्रजानन्** ज्ञानी **अदित्सन्तम्** न देने की इच्छावाले से **उत** भी **दापयतु** दिलाये। हे ज्ञानिन् ! **नः** हमें **सर्ववीरम्** सभी वीरों से युक्त **रयिम्** धन **नियच्छ** दे, दिला।

व्याख्या—हम और यह सारा संसार एक ही कार्य्य के लिए उत्पन्न हुए हैं—**'वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविम'**=हम वाज के ही उत्पन्न करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। हमें यदि वाज=ज्ञान, अन्न-धन न मिलेगा, तो इहलोक तथा परलोक में हमारा किसी प्रकार भी निर्वाह नहीं हो सकेगा। अन्न, धन के बिना यह लोक तो चल ही नहीं सकता। शरीर-रक्षा के लिए, जीवन-यात्रा चलाने के लिए अन्न-धन की अत्यन्त आवश्यकता है। किन्तु अन्न-धन का अर्जन ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, अतः हमारी इहलोकयात्रा के निर्विघ्न निर्वाह के लिए सबसे प्रथम ज्ञान की आवश्यकता है। परलोक में संगति=सद्गति होगी ही तभी, जब इहलोक में सम्यग्ज्ञान, यथार्थ विद्या प्राप्त कर ली जाए। अकेले हम—शरीरधारी प्राणी हों और यह विश्वब्रह्माण्ड न हो, तब अन्न-धन का अर्जन कहाँ से हो ? अतः हमारे साथ इनका होना भी आवश्यक है। हाँ, हम धन-अन्न आदि लेनेवाले हैं और ये देनेवाले।

जब अन्न-धन इतने आवश्यक हैं, तो इनके लिए यत्न भी करना चाहिए, अतः कामना है—**'उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन्'**=न देनेवाले को भी देने की प्रेरणा कर अर्थात् दे और दिला। इसीलिए अथर्ववेद [३।२०।५] में प्रार्थना की है—हे देव ! तू हमें धन दान देने की प्रेरणा कर। केवल लेते ही न रहें, वरन् दें भी। ऐसी प्रवृत्ति होनी चाहिए—**'त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय'**। उपनिषत् में तभी कहा है—**'श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।'** [तै० उ० १।११।३] श्रद्धा से देना चाहिए। अश्रद्धा से देना चाहिए। शोभा से देना चाहिए। लज्जा से देना चाहिए। भय से देना चाहिए। संवित्=पात्रापात्र के विचार से देना चाहिए।

२३६. दुःखी मन से पुकारता हूँ

ओ३म् । इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥

—अ० २।१२।३

शब्दार्थ—हे **सोमप** सोमरक्षक **इन्द्र** परमेश्वर ! **यत्** जो कुछ **त्वा** तुझको **शोचता** दुःखभरे **हृदा** हृदय से **जोहवीमि** कहता हूँ, पुकारता हूँ, **इदम्** इसको **शृणुहि** तू सुन । **कुलिशेन**+**वृक्षम्**+**इव** वज्र या कुठार से वृक्ष की भाँति **तम्** उसको **वृश्चामि** काटता हूँ, **यः** जो **अस्माकम्** हमारे **इदम्** इस **मनः** मन को, विचार को **हिनस्ति** मारता है ।

व्याख्या—संसार-अङ्गार के ताप से तपे हुए की पुकार है । संसार में सुख की कामना से आया जन सुख न पाकर रो उठता है । कहीं से सहारा न पाकर वह अगतिकगति, अशरण-शरण, दुःखविशरण, चिन्ताहरण, शमभरण की शरण में जाता है और रोकर कहता है—**'इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि**—सोमरक्षक ईश्वर ! सुन ! जो कुछ मैं चिन्तातुर हृदय से तुझे कहता हूँ । संसार में उसकी पुकार किसी ने नहीं सुनी । अब वह 'आश्रुत्कर्ण' के पास अपनी पुकार सुनाना चाहता है ।

संसार के व्यवहार से वह डरा हुआ है, उसे सन्देह होता है कि कहीं इस दरबार में भी पुकार बेकार न जाए, अतः अतीव कारुणिक स्वर में कहता है—**'इदमिन्द्र......जोहवीमि ।'** दुःखी की पुकार में सार होता है, अतः कहता है—मैं शोकाकुल हृदय से यह कहता हूँ ।

सब मनुष्यों को सब-कुछ सिखानेवाले की चातुरी देखो कि 'क्या कहता है' इसे नहीं बताया । बताने का ढङ्ग, सुनाने का साधन समझा दिया । किन्तु क्या सुनाना है—यह न बताना उचित भी था । **'भिन्नरुचिर्हि लोकः, मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'** प्रत्येक की रुचि-प्रवृत्ति में भेद होता है । किसी के मस्तिष्क में कोई विचार है, किसी के में कोई । अपनी-अपनी गाथा आप ही कहनी चाहिए ।

भगवान् के पास जानेवालों को जगत् में रोकनेवाले असंख्य हैं । भक्त तपा बैठा है, इन विघ्नकारियों के कारण वह अपने अन्दर इतनी गर्मी का अनुभव करता है कि उसके विचार में—**'त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने'** [अ० २।१२।१]=उसके तपने पर इस संसार में सभी तप जाएँगे । आह ! कितना जोश है ! इस जोश में अपने विघ्नकारी को मारने पर उतारू हुआ कहता है—**वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं य अस्माकं मन इदं हिनस्ति**—जो हमारे इस विचार को मारता है, उसको मैं ऐसे काटता हूँ जैसे कुल्हाड़े से वृक्ष को ।

भगवद्भक्ति के भावों के विरोधी सबसे अधिक अपनी ही सांसारिक वासनाएँ हैं, अतः उनका उच्छेद करना आवश्यक है । सचमुच तीव्र और सच्ची पुकार संसार को हिला देती है ।

२३७. मृत्यु सब पर सवार है

ओ३म् । मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।
तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः । —अ० ८।२।२३

शब्दार्थ—द्विपदाम् दोपायों पर **मृत्युः** मृत्यु **ईशे** शासन करता है; और **मृत्युः** मृत्यु ही **चतुष्पदाम्** चौपायों पर **ईशे** शासन करता है । **तस्मात्** उस **गोपतेः** गोपति **मृत्योः** मृत्यु से **त्वाम्** तुझको **उद्भरामि** ऊपर उठाता हूँ, उद्धार करता हूँ, बचाता हूँ, **सः** ऐसा तू **मा** मत **बिभेः** डर ।

व्याख्या—'द्विपात् और चतुष्पात्' उपलक्षण हैं प्राणिमात्र के । क्या महाविद्यावान् और क्या ज्ञानशून्य, क्या बलवान् और क्या अबल; मृत्यु इन सबसे प्रबल है । पूर्वार्द्ध में इस सर्वजनप्रत्यक्ष सत्य का निरूपण करके वेद कहता है—**तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः**=तू मत डर, तुझे उस गोपति मृत्यु से छुड़ाता हूँ ।

वेद की यह निराली शैली है कि एक लघु-से संकेत से महान् अर्थ का बोध करा देता है; पूर्वार्द्ध में बताया—**मृत्युरीशे**=मृत्यु शासन करता है अर्थात् सबका शासक है । मृत्यु का शासन यहाँ से प्रयाण में ही प्रतीत होता है । इससे मनुष्य डर गया है । उसे सर्वोच्छेद का भय सताने लगा है । शरीर के साथ क्या आत्मा का भी नाश हो जाएगा ? चूँकि वह अविद्या के कारण आत्मा और शरीर में अभेद-सा मान रहा है, अतः मृत्युभय से विह्वल हो उठता है । उसे वेद ने बताया, निस्सन्देह मृत्यु शासक है, दोपायों, चौपायों, सभी प्राणियों पर उसका शासन चलता है किन्तु वास्तव में वह केवल **गोपति** है । उसका शासन इन्द्रियों पर है, शरीर पर है अर्थात् आत्मा पर मृत्यु का अधिकार नहीं है, आत्मा अजर-अमर है । वेदोपदेशक कहता है, तू डर मत, तू चाहे तो मैं तुझे इस गोपति मृत्यु से बचा सकता हूँ । इसी से अथर्ववेद [८।२।२] में कहा है—'**अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि**'=अशस्ति रूपी मृत्युपाशों को छुड़ाता हुआ तुझे अत्यन्त दीर्घ आयु देता हूँ अर्थात् शरीरवियोग मृत्यु नहीं । मृत्यु तो अशस्ति=निन्दित आचरण है । इसको छोड़ दो, फिर मृत्युपाश=मौत के फन्दे टूट जाएँगे । तभी तो भगवान् ने कहा—

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ —अ० ८।२।२४
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ —अ० ८।२।२५

हे अहिंसित ! तू मत डर, तू नहीं मरेगा । वहाँ नहीं मरते, और ना ही नीच=घोर अन्धकार को प्राप्त करते हैं, प्रत्युत वहाँ गौ, अश्व, पुरुष, पशु सभी जीते हैं, जहाँ यह आनन्ददायक ब्रह्म जीवन के लिए परिधि बना लिया जाता है । अशस्ति से छूटने का साधन है ब्रह्म को अपना घेरा बना लेना । वेद में कहा है—'**ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि**' [अ० ८।२।१०]=इस अशस्तिरूप मृत्यु से डरनेवाले के लिए हम ब्रह्म को कवच बना देते हैं । ब्रह्म-कवच पर अशस्ति वार ही नहीं कर सकती । जीवन की इच्छा है, तो हृदय से कह—'**ब्रह्म वर्म ममान्तरम्**' [ऋ० ६।७५।१९]=ब्रह्म मेरा अन्दर का कवच है ।

२३८. वैदिक राष्ट्र

ओ३म् । आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ —य० २२।२२

शब्दार्थ—**हे ब्रह्मन्** सर्वतो महान् भगवन् ! **राष्ट्रे** राष्ट्र में **ब्रह्मवर्चसी** ब्रह्मतेज से युक्त **ब्राह्मणः** ब्राह्मण, ब्रह्मवेत्ता **आ+जायताम्** उत्पन्न हो । **शूरः** शूर **इषव्यः** इषु=शस्त्रास्त्र चलाने में कुशल **अतिव्याधी** अत्यन्त उद्विग्न करनेवाला **महारथः** महारथी **राजन्यः** राष्ट्रहितकारी क्षत्रिय **आ+जायताम्** उत्पन्न हो **दोग्ध्री** दूध देनेवाली **धेनुः** गौ, **वोढा** भार उठानेवाला **अनड्वान्** बैल, रथ ले-जानेवाला **आशुः** शीघ्रगामी **सप्तिः** घोड़ा, **पुरन्धिः** अतिबुद्धिमती, नगरधारिका **योषा** स्त्री और **अस्य** इस **यजमानस्य** यजमान का **जिष्णुः** जयशील **रथेष्ठाः** रथारूढ़ **सभेयः** सभ्य, सभा-संचालन में चतुर, सभा का भला करने-वाला **युवा** युवा, जवान **वीरः** वीर सन्तान **जायताम्** उत्पन्न हो । **नः** हमारी **निकामे-निकामे** इच्छाओं के अनुसार **पर्जन्यः** बादल **वर्षतु** बरसे **नः** हमारी **ओषधयः** ओषधियाँ **फलवत्यः** फलवाली होकर **पच्यन्ताम्** पकें **नः** हमारा **योगक्षेमः** योगक्षेम **कल्पताम्** समर्थ हो, सिद्ध हो ।

व्याख्या—जिन-जिन पदार्थों से एक राष्ट्र समृद्ध हो सकता है, उनका अत्यन्त स्पष्ट निरूपण इस मन्त्र में हुआ है । कोई राष्ट्र समृद्ध नहीं हो सकता, जिसमें ब्राह्मण न हों, ब्रह्मवेत्ता न हों, सकल विद्याओं की शिक्षा देनेवाले महाचार्य्य न हों। वह राष्ट्र तो अज्ञानान्धकार में फँसकर अपना स्वातन्त्र्य नष्ट कर बैठेगा, जिसमें सकल कलाकलाप के आलाप करनेवाले महाविद्वान् न हों, अतः राष्ट्रहितचिन्तकों का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वे यत्न करके अपने राष्ट्र में बड़े-बड़े प्रामाणिक विद्वानों को बसाएँ, ताकि 'विद्या की वृद्धि और अविद्या का नाश' सदा होता रहे । नित्य नये-नये आविष्कारों से राष्ट्र की श्रीवृद्धि होती रहे । किन्तु केवल विद्याव्यसनी ब्राह्मणों से ही राष्ट्र का संचालन नहीं हो सकता । राष्ट्ररक्षा के लिए बुद्धिबल के साथ बाहुबल (युद्धबल) भी चाहिए । चाहे कहा किसी और प्रसंग में है किन्तु सनत्कुमार ने कहा ठीक है कि—**बलं वाव विज्ञानाद्भूयः, अपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते**' (छां० ७।८।१)=बल विज्ञान से बढ़कर है, एक बलवान् सैकड़ों विज्ञानियों को कँपा देता है ।

अतः ब्राह्मणों के साथ योद्धाओं का भी आकलन करें। योद्धा नाममात्र के ही न हों, वरन् वे शस्त्रास्त्र-व्यवहार में निपुण, शत्रु को कंपा देनेवाले महारथ और शूरवीर हों । देश में दुधारू गौओं की भरमार हो, घोड़े, बैल, यातायात के समस्त साधन हों । स्त्रियाँ बुद्धिमती, नागरी, एवं आवश्यकता पड़ने पर नगर तथा राष्ट्र का प्रबन्ध करने में समर्थ हों । सन्तान बलवान्, साधनवान् हो । अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि और उनके कारण होनेवाले दुर्भिक्ष भी न हों। जब हम चाहें, तभी वृष्टि हो जाए । आजीविका कमाने में कोई बाधा न हो, कमाई सफल तथा सुरक्षित हो । धनधान्य की त्रुटि न हो । समय पर सभी सस्य पकें ।

२३९. इन्द्र ! श्रेष्ठ धन दे

**ओ३म् । इन्द्र॒ श्रेष्ठा॑नि॒ द्रवि॑णानि धेहि॒ चित्ति॒ दक्ष॑स्य सुभग॒त्वम॒स्मे ।
पोषं॑ रयी॒णामरि॑ष्टिं त॒नूनां॑ स्वा॒द्मानं॑ वा॒चः सु॑दिन॒त्वमह्ना॑म् ॥**

—ऋ० २।२१।६

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** अखिलैश्वर्य्यसम्पन्न परमेश्वर ! **अस्मे** हमारे लिए **श्रेष्ठानि** श्रेष्ठ **द्रविणानि** धनों को **धेहि** दे । **दक्षस्य** उत्साह के, चतुरता के, सत्कर्म्म के **चित्तिम्** ज्ञान को, **सुभगत्वम्** सौभाग्य को, **रयीणाम्+पोषम्** धनों की पुष्टि को **तनूनाम्+अरिष्टिम्** शरीर की हानि के अभाव को=नीरोगता को **वाचः+ स्वाद्मानम्** वाणी के स्वाद को **अह्नाम्+सुदिनत्वम्** दिनों के सुदिनत्व को तू हमें दे ।

व्याख्या—ध्यान से देखो तो इस मन्त्र में सभी आवश्यक भद्र, श्रेष्ठ पदार्थों की प्रार्थना ईश्वर से कर दी गई है—

(१) **'दक्षस्य चित्तिम्'**—उत्साह, सत्कर्म्म का ज्ञान । जीवन में सफलता के लिए सबसे पूर्व कर्तव्य-कर्म्म का ज्ञान होना चाहिए और उस कर्म्म के लिए भरपूर उत्साह भी होना चाहिए । कोरे ज्ञान से कभी सफलता प्राप्त नहीं होती । ना ही ढीले-ढाले बेढंगे, आस्थारहित भाव से किया कर्म्म सफल होता है, अतः सबसे प्रथम उत्साहपूर्ण सुकर्म्म का ज्ञान और अनुष्ठान होना चाहिए ।

(२) **सुभगत्वं**—सौभाग्य । सारे साधन हों और भाग्य अच्छा न हो, तो महान् प्रतिबन्ध खड़ा हो जाता है, किन्तु सौभाग्य-दौर्भाग्य का मिलना मनुष्य के अपने अधीन है । इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए ही भगवान् ने पहले 'दक्ष की चित्ति' का विधान किया अर्थात् भाग्य कर्म्मानुसार ही बनेगा । पिछले में परिवर्तन नहीं हो सकता । आगे को भाग्य अच्छा बने, इसके लिए कर्म्म करने की आवश्यकता है । इसी भाव से योगिराज पतञ्जलिजी ने **'हेयं दुःखमनागतम्'** [यो० द० २।१६]—कहा । पूर्वकर्म्म का फलस्वरूप दुःख भोगना ही पड़ेगा, जो वर्तमान में फलोन्मुख है, वह फल देकर ही हटेगा । भविष्यत् दुःख से बचा रहे, इसके लिए पुरुषार्थ करना चाहिए । भाग्य कर्म्माधीन है, यह सर्वथा निश्चित है ।

(३) **पोषं रयीणाम्**—धन की पुष्टि । सांसारिक जीवन में धन की आवश्यकता का अपलाप नहीं किया जा सकता । वेद में प्रार्थना भी है—**'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** [ऋ० १०।१२१।१०]—हम धनों के स्वामी होवें । दूसरे स्थान पर कहा है—**'वस्वी ते अग्ने सन्दृष्टिरिषयते मर्त्याय'** (ऋ० ६।१६।२५)= हे अग्ने ! धनाभिलाषी मनुष्य के लिए तेरी 'सन्दृष्टिः' वस्वी=धनदात्री हो । कर्म्म और भाग्य, पुरुषार्थ और प्रारब्ध मिलकर धनवृद्धि के साधन देते हैं ।

(४) **अरिष्टिं तनूनाम्**—शरीर की अक्षति । वैद्य कहते हैं—**'शरीरं धर्म्मसाधनम्'**=शरीर धर्म्म का साधन है, अतः शरीर सदा नीरोग रहे, बलवान् रहे । ऋग्वेद (६।७५।१२) में कहा है—**'अश्मा भवतु नस्तनूः'**=हमारा शरीर वज्रसमान हो ।

(५) **स्वाद्मानं वाचः**—वाणी की मिठास । वाणी आग और जल दोनों का कार्य्य करती है । सन्तप्त हृदयों को मधुरभाषी उपदेशकुशल अपने वाक्कौशल से शान्त करके उनका ताप मिटा देता है और इसी वाणी से झगड़े भी होते हैं । तलवार का घाव भर जाता है किन्तु—**'वाक्क्षतं न प्ररोहति'**= वाणी की चोट नहीं भरती, अतः वाणी का सँभालकर प्रयोग करना चाहिए । सन्ध्या में **'ओं स्वः पुनातु कण्ठे'** का मनन करो ।

(६) **सुदिनत्वमह्नाम्**=दिन अच्छे बीतें। किसी कवि ने कहा—'**वेदशास्त्रविचारेण कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा**'—बुद्धिमानों का समय वेदों और शास्त्रों के विचार में व्यय होता है, किन्तु मूर्खों का व्यसन, निद्रा और कलह में बीतता है। भले कर्म करेंगे, तो भले दिन बनेंगे।

ये छह श्रेष्ठ धन हैं। यजुर्वेद में श्रेष्ठ धन का एक लक्षण लिखा है, वह बहुत सुन्दर है—'**सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम्**' (य० १५।३४)=लोगों के लिए उत्तम ब्रह्मायुक्त और उत्तम शान्ति देनेवाला यज्ञ ही धनों में से दिव्य धन है। ब्रह्मा पर यज्ञ का निर्भर है। यज्ञ का फल उत्तम शान्ति—मृत्युसमान शान्ति नहीं—है। यह यदि मिल जाए तो फिर क्या कहना! सामवेद में भी कहा है—'**शं पदं मघं रयीषिणे**'=शान्ति ही धनाभिलाषी के लिए प्राप्त करने योग्य धन है। जिसके पास यह नहीं, वह या निर्धन है, या निधन-अवस्था में है।

२४०. विचित्र धन दे

ओ३म् । सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र ।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥

—ऋ० १०।४७।३

शब्दार्थ—हे इन्द्र धनेश्वर परमेश्वर ! तू **अस्मभ्यम्** हमें **सुब्रह्माणम्** उत्तमज्ञानप्रदाता **देववन्तम्** देवोंवाला, दिव्यगुणोंवाला **बृहन्तम्** बड़ा, **उरुम्** विशाल **गभीरम्** गम्भीर **पृथुबुध्नम्** बड़े आश्रयवाला **श्रुतऋषिम्** ऋषियों का भी श्रवणीय **उग्रम्** तेजस्वी **अभिमातिषाहम्** अभिमान को दबानेवाला **चित्रम्** विचित्र **वृषणम्** सुखवर्षक **रयिम्** धन **दाः** दे ।

व्याख्या—शास्त्रों का रहस्य समझने की एक युक्ति है कि भिन्न-भिन्न स्थलों में पढ़े वाक्यों को मिलाकर, एकवाक्यता के द्वारा उनका समन्वय किया जाए। उदाहरणार्थ—वेद में आता है—**'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'**=हम धनों के स्वामी होवें । अब धन से क्या अभिप्राय है ? वेद किस प्रकार के धन को धन कहता है ? इसका थोड़ा-सा निर्देश इससे पूर्व के प्रवचन में आ चुका है । उसको विचारपूर्वक पढ़ने और मनन करने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद का वास्तविक अभिप्राय किसी उच्च धन की प्राप्ति कराने का है । इस मन्त्र को ही लीजिए । इसमें प्रार्थना है—**'अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः'**—हमें विचित्र [चित्त को लुभानेवाला] सुखकारक धन दे । वह कैसा हो, इसके लिए मन्त्र में दिये अन्य विशेषणों पर ध्यान देने की आवश्यकता है—

(१) **सुब्रह्माणम्**=उत्तम-ज्ञान-प्रदाता । ब्रह्म शब्द के निम्नलिखित प्रसिद्ध अर्थ हैं—परमेश्वर (तथा जीव और प्रकृति), वेद-ज्ञान, धन, अन्न, स्तोत्र, तप । धन ऐसा होना चाहिए, जिससे परमेश्वर की प्राप्ति उत्तमता से हो सके । जिससे उत्तम ज्ञानी संगृहीत किये जा सकें, जिसकी उत्तम प्रशंसा हो; जिससे उत्तम तप की प्राप्ति हो । क्या ऐसा धन केवल प्राकृत धन हो सकता है ?

(२) **देववन्तम्**=देववाला=दिव्य गुणोंवाला; अथवा देववाला । देववाला का सीधा अर्थ है, परमेश्वरपरायण करनेवाला, अर्थात् धन ऐसा न हो जिसे प्राप्त करके परमेश्वर ही विस्मृत हो जाए, वरन् वह आस्तिकता के भावों की वृद्धि करनेवाला हो ।

(३-४) **बृहन्तम्**+**उरुम्**=बड़ा और विशाल । थोड़े-से कार्य्य नहीं चल सकता । **'नाल्पे सुखमस्ति'** (छां०) थोड़े में सुख नहीं होता है ।

(५) **गभीरम्**=गम्भीर । ज्ञान भी गम्भीर कहलाता है । भाव भी गम्भीर होते हैं । स्वभाव भी गम्भीर होता है, किन्तु धन गम्भीर नहीं सुना । परन्तु वेद कह रहा है । **'य एव लोके, स एव वेदे** (जो लोक में है, वही वेद में है)' इस सिद्धान्तानुसार यह धन भावात्मक या ज्ञानात्मक ही होना चाहिए ।

(६) **पृथुबुध्नम्**=महान् आश्चर्यवाला । प्राकृत धन का आश्रयमूल विशाल नहीं होता ।

(७) **श्रुतऋषिम्**=ऋषियों का भी श्रवणीय । ऋषि लोग तो कहते हैं—**किं तेन धनेनाहं कुर्यां येनाहं नामृता स्याम्**—जिससे मुक्ति न मिले, ऐसे धन को मैं क्या करूं ! अतः मानना चाहिए कि यह धन **कोई और ही धन है ।**

(८) **उग्रम्**—तेजस्वितापूर्ण। प्रकृति-धन के धनी तो प्रायः भीरु, तेजोहीन देखे जाते हैं

(९) **अभिमातिषाहम्**—अभिमाननाशक। प्रकृति-धन तो अभिमान उत्पन्न करता है।

ऐसा चित्र—चित्त को भुलानेवाला, सुख देनेवाला धन वैदिक चाहता है, और कहता है—**'यत्त्वा यामि दद्धि तन्नः'** [ऋ० १०।४७।८]=प्रभो! जो तुझसे माँगूं वह हमें दे।

२४१. मेरे भजन मेरे दूत हैं

ओ३म् । वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः ।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥

—ऋ० १०।४७।७

शब्दार्थ—**सुमतीः+इयानाः** उत्तम बुद्धियों को प्राप्त करनेवाले **हृदिस्पृशः** हृदयस्पर्शी **मनसा+वच्यमानाः** मन से कहे जाते हुए, दिल से निकले हुए, अथवा मन से उच्चारे जाते हुए **वनीवानः** अतिशय भक्ति से भरपूर **स्तोमाः** स्तुतिसमूह **मम** मेरे **दूतासः** दूत बनकर **इन्द्रम्** इन्द्र के पास **चरन्ति** जाते हैं । प्रभो ! तू **अस्मभ्यम्** हमें **चित्रम्** मनोमोहक **वृषणम्** धर्म्मयुक्त **रयिम्** धन **दाः** दे ।

व्याख्या—भावुक भक्त के मन में भगवान् तक अपना सन्देश भेजने की बात आई है । उसने भगवान् से सुना है—**'मामायन्ति कृतेन कर्त्वेन च'** [ऋ० १०।४८।३]—मेरे पास कृत और करिष्यमाण के द्वारा आते हैं अर्थात् लोगों के किये कर्म्मों का फल भोगने के लिए तथा आगे करिष्यमाण कर्म्मों से होनेवाले सुख की अभिलाषा से मेरे पास आते हैं, अतः भक्त अब भगवान् के पास करिष्यमाण द्वारा जाना चाहता है । उससे पहले दूत भेजता है । **स्तोम**=भगवद्भक्तिभरे भजन इसके दूत हैं । दूत के लिए नीतिकारों ने लिखा है कि बुद्धिमान् हो ताकि अपनी बात भली प्रकार समझा सके, और दूसरे की बात समझ सके । भक्त के दूत भी **सुमतीरियानाः**=उत्तम ज्ञान करानेवाले हैं अर्थात् भगवद्भक्ति के स्तोम बुद्धिपूर्वक रचे गये हैं । भगवान् का भजन करते समय सुमति से काम लेना चाहिए । प्रभु की स्तुति के वाक्य तोता-रटन्त न हों, वरन् वे **'मनसा वच्यमानाः'**=मन से बोले गये हों, दिल से निकले हों और साथ ही **'हृदिस्पृशः'**=हृदय को स्पर्श करनेवाले हों, दिल हिला देनेवाले हों । नीतिकार कहते हैं, दूत नम्र होना चाहिए । भक्त के दूत भी **'वनीवानः'**=अतिशय भक्तिभावों से भरपूर हैं । दूत का औद्धत्य कार्य्य बिगाड़ दिया करता है । इसी प्रकार भगवान् के पास स्तुति-दूत भी नम्रता से प्रणत हों ।

भगवान् के पास तुम्हारा सन्देश लेकर और कोई व्यक्ति नहीं जा सकता । यदि अन्य कोई जा सकता है, तो तुम भी जा सकते हो । यदि फिर भी आग्रह है कि दूत ही भेजने हैं, तो भगवद्भजनों को दूत बनाओ और उन दूतों में वे सारे लक्षण होने चाहिएँ । तुम्हारे दूत तुम्हारा सन्देश देते हैं—**'अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः'**=हमें मनोमोहक[1] धर्म्मयुक्त धन दो । भगवान् कह चुके हैं—**'अहं भूमिमददामार्याय'** [ऋ० ४।२६।२]=मैं आर्य्य को भूमि देता हूँ । भगवान् से धन लेना है तो आर्य्य बनो । आर्य्य का लक्षण वेद में **यजमान**=परोपकार-परायण किया गया है । आर्य्य बनो, सब भूमि तुम्हारी है ।

---

१. मनु० ८।१६ में धर्म्म को 'वृष' कहा है—**'वृषो हि भगवान् धर्म्मः'**=भगवान् धर्म्म वृष है; अतः हमने यहाँ **'वृषणम्'** का अर्थ 'धर्मयुक्त' किया है ।

२४२. हम विजयघोष करते हैं

ओ३म् । एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥

—ऋ० ४।३१।४

शब्दार्थ—हे **मन्यो** मननशील, शत्रु पर क्रोध करनेवाले विजिगीषो ! तू **एकः** अकेला **बहूनाम्** बहुतों का **ईडिता** सत्कार करनेवाला **असि** है । तू **अकृत्तरुक्** क्षति न उठाता हुआ **विशं-विशम्** समस्त प्रजाओं को **युद्धाय** युद्ध के लिए **सं+शिशाधि** भली-भाँति उत्तेजित कर और हम **त्वया+युजा** तुझसे युक्त होकर **द्युमन्तम्** तेजस्वी **घोषम्** घोष, घोषणा **विजयाय** विजय के लिए **कृण्मसि** करते हैं ।

व्याख्या—युद्धविद्याविशारद विचारशील सेनापति को उत्साहित करते हुए कहा जा रहा है कि —**एको बहूनामसि मन्य ईडिता**=हे मन्यो ! तू अकेला ही बहुतों की पूजा करनेवाला है । युद्ध केवल सैनिकों या अस्त्रशस्त्रों से ही नहीं लड़ा जाता । युद्ध में विजय का निर्भर बहुत-कुछ सेनासञ्चालन पर निर्भर होता है । यदि सेनासञ्चालन बुद्धिपूर्वक किया जाए तो विजय अवश्यम्भावी है । सञ्चालक को यहाँ 'मन्यु' कहा गया है। 'मन्यु' शब्द का मूल अर्थ है—मनन करना, विचार और साथ ही अभिमानपूर्वक क्रोध । जिस सेनासञ्चालक में मनन और विचार नहीं है, वह शत्रु की चाल और नीति को न समझ सकने के कारण अवश्य पराजित होगा और यदि उसमें अभिमानपूर्वक शत्रु के प्रति क्रोध न हो, तो वह क्या लड़ेगा और क्या लड़ाएगा ? किन्तु अकेला मननकर्त्ता क्रोधयुक्त सेनासञ्चालक कुछ नहीं कर सकता, यदि राष्ट्र से उसे अपेक्षित जन और धन की सहायता न मिले, और यह तब ही मिल सकती है जब कि प्रजा में विजय के लिए वैसा ही उत्साह हो, अतः सेनापति को कहा गया है—'**विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि**'=प्रजामात्र को युद्ध के लिए एकसमान उत्तेजित कर ।

प्रजा यदि युद्ध के लिए पूर्णतया उत्तेजित और उत्साहित हो, तो फिर जयघोष करने में देर नहीं लगानी चाहिए । अतः कहा—**त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि**=तुझसे युक्त होकर हम तेजस्वी-घोष करते हैं । सेनापति मननशील है, राष्ट्र उत्साहित है, सेना का पूर्ण सहयोग है, फिर विजयघोष करने में कोई क्षति नहीं है । यजुर्वेद (१७।४२) में मानो विजयघोष की सामग्री का निर्देश किया है—

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनाँसि ।
उद् वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥

हे मघवन् ! हथियारों को तीक्ष्ण कर तथा मेरे उत्तम शक्तिसम्पन्न योद्धाओं के मनों को हर्षित और उत्साहित कर । शत्रुनाशक ! वाजियों=घोड़ों=युद्धोपकरणों के वेगों को उग्र कर । तब जीतते हुए रथों के घोष होंगे ।

इस सामग्री के बिना विजय-घोषणा विडम्बना-मात्र होती है ।

२४३. ब्रह्मद्वेषी को द्यौ भी सन्तप्त करता है

**ओ३म् । अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसन्तपाति ॥** —ऋ० २।१२।६

शब्दार्थ—हे **मरुतः** मरुतो ! **यः** जो **नः** हमें **इव** मानो **अति** उल्लंघन करके, तिरस्कार करके **मन्यते** अभिमान करता है; **वा** अथवा **यः** जो **क्रियमाणम्** किये जाते हुए **ब्रह्म** वेदस्तोत्र की **निन्दिषत्** निन्दा करता है **तस्मै** उसके प्रति **वृजिनानि** वर्जित **तपूंषि** सन्ताप **सन्तु** हों । **ब्रह्मद्विषम्** ब्रह्मद्वेषी को तो **द्यौः** द्यौ भी **अभि+सन्तपाति** सब ओर से सन्तप्त करता है ।

व्याख्या—मनुष्य को अनुचित अभिमान से बचना चाहिए। संसार में एक-से-एक बढ़कर गुणवान् हैं । कोई किसी गुण का गुणी है, तो कोई किसी का । किस गुण को हीन कहा जाए और किसे महिमा से महान् माना जाए ? गुण को गुण मानकर उसका सर्वत्र मान्य करने में कल्याण है । यह तत्त्व हृदय में पैठ जाए तो फिर क्यों कोई अभिमान और दूसरों का तिरस्कार करे ! उसे तो सर्वत्र गुणगण दृष्टिगोचर होंगे । किन्तु जो इस तत्त्वज्ञान से विमुख होकर अभिमान करे और साथ ही ज्ञान की निन्दा करे, सचमुच वह अभिमानी ज्ञानविहीन हो जाता है । उसके ज्ञान पर अभिमान काला आवरण डाल देता है, इस कारण वह ज्ञान की निन्दा करने लगता है । अभिमानी ज्ञाननिन्दक को वेद ब्रह्मद्वेषी मानकर कहता है—'**तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभि सन्तपाति**'=उसके प्रति वर्जित सन्ताप हों । ब्रह्मद्वेषी को तो द्यौ भी सब ओर से सन्तप्त करता है । मनुष्य को यदि सचमुच अपनी भूल पर सन्ताप हो तो उसका प्रताप फिर उज्ज्वल होने लगता है । अपराध के बिना सन्ताप वर्जित वस्तु है, अतः 'तपूंषि' के साथ 'वृजिनानि' विशेषण दिया ।

दिन के समय प्रायः सभी को सूर्य्य ताप देता है किन्तु रात्रि को चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है । चन्द्रमा रात्रि को न भी हो, तब भी दिन की अपेक्षा ताप बहुत कम होता है, किन्तु ब्रह्मद्वेषी की व्याकुलता इतनी बढ़ जाती है कि उसे रात्रि को भी चैन नहीं पड़ता, मानो द्यौ उसे सब ओर से ताप दे रहा है । तात्पर्य्य यह कि वेदनिन्दक, ज्ञानद्रोही, परमात्मविमुख को शान्ति नहीं मिलती । वेद ब्रह्मद्वेषी के प्रति, अप्रीति करने को कहता है—'**ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने**' [ऋ० ७।१०४।२]—मांसाहारी, घोरदर्शी, सर्वभक्षी, ब्रह्मद्वेषी के प्रति निरन्तर अप्रीति करो अर्थात् अपने-आपको इन दुर्गुणों से बचाकर रखो, क्योंकि जब मनुष्य ज्ञान से द्वेष करने लगता है, तब उसका आचार शिथिल पड़ जाता है, उसमें दुर्व्यसन डेरा जमा लेते हैं ।

२४४. प्रभो ! अपना खजाना खोल

ओ३म् । महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात् ।
घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः ॥ —ऋ० ५।८३।८

शब्दार्थ—हे सबको तृप्त करनेवाले प्रभो ! **महान्तम्** महान् **कोशम्** खजाने को **उदच** खोल, और **नि+सिञ्च** निरन्तर सींच । **पुरस्तात्** सामने से **विषिताः** खुली हुई **कुल्याः** नालियाँ, नहरें **स्यन्दन्ताम्** बह निकलें । **घृतेन** जल से **द्यावापृथिवी** द्यौ और पृथिवी को, त्रिलोकी को **व्युन्धि** गीला कर, ताकि **अघ्न्याभ्यः** गौओं के लिए, अहिंसनियों के लिए **सुप्रपाणम्** उत्तम और श्रेष्ठ पान **भवतु** होवे ।

व्याख्या—यह अन्योक्ति है । प्रत्यक्ष रूप से यह अभ्यर्थना पर्जन्य=बादल से की गई है, और परोक्ष में परमात्मा से । भगवान् को बादल मानकर भक्त कहता है—**'महान्तं कोशमुदचा निषिच'**=अपना बड़ा खजाना खोल और सींच । सूखे को, मरुभूमि को बादल का जल ही सींच सकता है, अतः उस बादलों के बादल से कहा गया है—प्रभो ! अपना खजाना खोल । हम तेरे प्रेमवारि के बिना सर्वथा मरुस्थली हो गये हैं । तू हमपर बरस, खूब बरस । भक्त स्वार्थी नहीं है, अतः कहता है—**'घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि'**= जल से त्रिलोकी को गीला कर । मुझ—अकेले को नहीं, वरन् सभी को गीला कर । वेद में दूसरे स्थान पर बड़े सरल भाव में कहा है—

इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत् ।
मयोभुवो वृष्टयः सन्त्वस्मे सुपिप्पला ओषधीर्देवगोपाः ॥—ऋ० ७।१०१।५

स्वतःप्रकाश पर्जन्य के प्रति यह मेरे हृदय के भीतर का वचन हो, वह इसे प्रेम से स्वीकार करे। सुखकारी वृष्टियाँ हों, और देवरक्षित ओषधियाँ हमारे लिए उत्तम फल देनेवाली हों । काला बादल न बात सुनता है और न 'स्वराट्'=स्वतःप्रकाश है, न ही वह हृदय की बात सुनता है । हृदय की बात कौन कहे, वह तो वाणी की बात भी नहीं सुन पाता, वह अचेतन है । हृदय की बात सुननेवाला कोई और है, वही 'धर्म्ममेघ' बरसाता है । तभी तो उस पर्जन्य से कहा है—तू **'अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम्'** [ऋ० ५।८३।१०]—खाने की ओषधियाँ=तू शाक-पातादि उत्पन्न करता है, और प्रजाओं को 'मनीषाम्'=बुद्धि=मननशक्ति देता है । मननशक्ति बादल नहीं देता, वरन् धर्म्ममेघ बरसानेवाला पर्जन्य ही यह बल देता है । जब यह जल का खजाना खोलता है तब सभी रसज्ञ भीग जाते हैं ।

२४५. यज्ञ में मन्त्र बोलें

ओ३म् । उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये । आरेऽअस्मे च शृण्वते ॥

—यजु० ३।११

शब्दार्थ—अध्वरम् यज्ञ के **उप-प्रयन्तः** समीप जाते हुए हम **आरे+च** दूर से भी **अस्मे** हमें **शृण्वते** सुननेवाले **अग्नये** अग्नि=सबकी उन्नति करनेवाले भगवान् के प्रति **मन्त्रम्** मन्त्र **वोचेम** बोलें ।

व्याख्या—भगवान् की आराधना कैसे करनी चाहिए, इसका आभास इस मन्त्र में है । भगवान् की आराधना के लिए सबसे प्रथम उसके गुणज्ञान की आवश्यकता है । भगवान् का यथार्थ गुणज्ञान भगवान् के अतिरिक्त और कौन करा सकता है ? भगवान् जीवों के उद्धारार्थ, जीवों के भोग और मोक्ष के सकल साधनों का उपदेश सृष्टि के आरम्भ में वेद के रूप में देता है । भगवान् की आराधना का एक साधन यज्ञ भी है, जैसा कि वेद में लिखा है—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** [य० ३१।१६]=विद्वान् लोग यज्ञ के द्वारा पूजनीय भगवान् की पूजा करते हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यज्ञ भी पूजन का अन्यतम साधन है । ब्राह्मण-ग्रन्थों में आता है कि यज्ञ में मानुषी वाणी का व्यवहार नहीं करना चाहिए, प्रत्युत वैष्णवी=विष्णु=परमेश्वर से प्रदत्त वाणी का व्यवहार करना चाहिए । यही बात मन्त्र में कही है—**'उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये'**=सर्वाग्रणी भगवान् के प्रति, यज्ञ को प्राप्त करते हुए मन्त्र=वेदमन्त्र बोलें । यज्ञ शब्द से ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि सभी यज्ञ अभिप्रेत हैं, अतः सन्ध्यादि सभी यज्ञों में मन्त्रों से ही कार्य्य करना चाहिए । ऋग्वेद [५।४५।४] में इस बात को और प्रकार से कहा है—

सूक्तेभिर्वो वचोभिर्देवजुष्टैरिन्द्रा न्वग्नी अवसे हुवध्यै ।
उक्थेभिर्हि ष्मा कवयः सुयज्ञा आविवासन्तो मरुतो यजन्ति ॥

हे मरुतो ! मैं तुम्हें तथा इन्द्र और अग्नि को अपनी रक्षा के निमित्त प्रभुप्रीति-साधक सूक्त=मन्त्र-समूह-वचनों से पुकारता हूँ, क्योंकि उत्तम यज्ञोंवाले कविजन उत्तम वेदमन्त्रों के द्वारा सेवा करते हुए यज्ञ करते हैं ।

वेद में अनेक स्थलों पर ऐसे निर्देश हैं कि हम अपनी पूजा-आराधना वेदमन्त्रों द्वारा करें । प्रकृत मन्त्र में अग्नि का एक विशेषण दिया है—**'आरे अस्मे च शृण्वते'**=दूर से भी हमारी बात सुननेवाला, अथवा हमारी तथा दूरस्थों की सुननेवाला । इस विशेषण से स्पष्ट हो गया कि यहाँ अग्नि का अर्थ जड़, भौतिक अग्नि नहीं, वरन् सुनने की शक्ति से सम्पन्न कोई चेतन है ।

२४६. हमें अबाध शरण दो

**ओ३म् । सुगो हि वो अर्यमन्मित्र पन्था अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति ।
तेनादित्या अधि वोचता नो यच्छता नो दुष्परिहरन्तु शर्म्म ॥**

—ऋ० २।२७।६

शब्दार्थ—हे **अर्यमन्** न्यायनिष्ठ भाव ! हे **मित्र** स्नेह ! हे **वरुण** लोकसंग्रह ! **हि** सचमुच **वः** तुम्हारा **पन्थाः** मार्ग **सुगः** सुगम **अनृक्षरः** कण्टकादिरहित तथा **साधुः** उत्तम **अस्ति है** । हे **आदित्याः** आदित्यो =न्यायादि अखण्डनीय भावो ! **तेन** उस मार्ग से **नः** हमें **अधि+वोचत** लक्ष्यपूर्वक बतलाओ, और **नः** हमें **दुष्परिहरन्तु** न हटाया जा सकनेवाला **शर्म्म** शर्म्म, कल्याण, अथवा शरण **यच्छत** दो ।

व्याख्या—संसार-पथ अनेक विघ्न-बाधाओं से व्यस्त तथा लथपथ होने के कारण अत्यन्त विषम हो रहा है । ईर्ष्या-द्वेष, राग, मत्सर, क्रोध, लोभ आदि के कारण यहाँ घातपात, असत्य, लूट, चोरी, डाका, व्यभिचार, अशुचिता, असन्तोष, भोग-विलास, मिथ्या प्रलाप, नास्तिकता आदि नाना पापभावनाओं का साम्राज्य हो रहा है । परिस्थिति के वशीभूत होकर अथवा अल्पज्ञता आदि किन्हीं अन्य कारणों से परि-चालित होकर मनुष्य इनसे अभिभूत अवश्य हो जाता है, किन्तु मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति इधर नहीं है । ऋषि कहते हैं—"मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है ।" अतः सत्यज्ञान होने पर वह सत्य की ओर ही प्रवृत्त होता है । सत्यज्ञान होने पर उसे द्वेष-मत्सर आदि दुर्गुणों से ग्लानि होती है और वह अपने हृदय की सूक्ष्म, ललित, उत्तम भावनाओं को जगाता है और कहता है—**सुगो हि वो पन्था साधुरस्ति**=तुम्हारा मार्ग सुगम, बाधारहित तथा प्रशस्त है ।

निसन्देह न्यायनिष्ठा, मैत्रीभावना तथा लोकसंग्रह की चेष्टा मनुष्य के हृदय का मल-धो डाली है । जिस मार्ग से मन की शुद्धि हो, हृदय विमल हो, उस मार्ग के साधु होने में सन्देह ही क्या ? जब मनुष्य ने मैत्री-भावना का परिपाक कर लिया तब उसका विरोध न होने से उसका मार्ग सचमुच अनृक्षर =कण्टकरहित हो गया । जब मार्ग में कोई बाधा ही न हो, तब वह अवश्य=सुगः=सुगम होता है । वेद में अनेक स्थानों पर मित्र, वरुण तथा अर्यमा भावों को आदित्य कहा गया है । आदित्य का लक्षण वेद में इस प्रकार किया गया है—**'आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः'** [ऋ० २।२७।२] —पवित्र धारा से पवित्र करनेवाले, निर्दोष, अनिन्द्य और अहिंसक आदित्य होते हैं । सचमुच ऐसों का मार्ग सुगम होता है । इनकी शरण भी अवश्य दुष्परिहर होती है । आदित्यों का मार्ग किनके लिए हितकारी होता है, इसका उत्तर ऋग्वेद [१।४१।४] में इस प्रकार दिया है—

'सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते'=हे आदित्यो ! ऋतगामी के लिए मार्ग सरल और बाधारहित होता है । उत्तम भावों की प्राप्ति के लिए ऋतज्ञान तथा ऋतानुसार आचरण आवश्यक है ।

२४७. अभय ज्योति प्राप्त करूँ

ओ३म् । न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद्युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥

—ऋ० २।२७।११

शब्दार्थ—हे **आदित्याः** आदित्यो ! **न** न **दक्षिणा** दाहिना **विचिकिते** पहचानता हूँ, **न** न **सव्या** बायाँ, **न** ना ही **प्राचीनम्** सामने का **उत्** और **न** ना ही **पश्चा** पीछे का **विचिकिते** विशेष जानकार हूँ। हे **वसवः** बसानेवालो ! मैं **पाक्या+चित्** परिपक्व और **धीर्या+चित्** धैर्यशालिनी बुद्धि के द्वारा **युष्मानीतः** तुमसे ले-जाया जाता हुआ **अभयम्** भयरहित **ज्योतिः** प्रकाश को **अश्याम्** प्राप्त करूँ।

व्याख्या—किसी से जब कुछ लेना हो और विशेषकर मार्ग—जीवनयात्रा-मार्ग का ज्ञान लेना हो तो अत्यन्त विनम्र होकर पूछना चाहिए। इसी भाव से जिज्ञासु आदित्यों की शरण में आकर कहता है—**'न दक्षिणा···नोत पश्चा'** मुझे दायाँ-बायाँ, आगा-पीछा कुछ नहीं सूझता अर्थात् मैं दिग्विमूढ़ हूँ, मार्ग नहीं सूझता। मैं अन्धकार में फँस गया हूँ। मैंने अपनी परिपक्व तथा धृतिमती बुद्धिसे निश्चय किया है कि आपकी शरण में रहना ठीक है। मुझे विश्वास है कि—**'युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्'**—तुम्हें आगे रखकर मैं अभय प्रकाश को प्राप्त कर सकूँगा। तुम्हारे सम्बन्ध में मैंने सुना है—

त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः ।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥—ऋ० २।२७।९

हितरमणीय पवित्र धाराओं से पवित्र करनेवाले [पवित्रता की धारा बहानेवाले], निद्रा-तन्द्रा-रहित दबंग, अतिप्रशंसनीय आदित्य सरल मनुष्यों के लिए तीन दिव्य ज्योतियाँ धारण करते हैं। आपकी इस महिमा को जानकर मैं **'युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव दुरितानि वृज्याम्'** [ऋ० २।२७।५] हे मित्र, वरुण और अर्यमन् ! तुम्हारी उत्तम नीति में चलकर मैं स्वच्छता को धारकर दुरितों=बुराइयों को छोड़ दूँ। अतः मैं आपकी नीति का अनुसरण करता हूँ। भगवान् कहते हैं—**'नं किष्टं घ्नन्त्यन्तितो न दूराद्य आदित्यानां भवति प्रणीतौ'** [ऋ० २।२७।१३]—उसे न दूर से कोई मार सकते हैं, न समीप से, जो आदित्यों की उत्तम नीति में चलता है। और—

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशंसः ॥
यस्मै पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥—ऋ० १०।१८५।२,३

उन्हें कोई रोग नहीं होता, ना ही उनके मार्गों तथा उपकरणों पर पापप्रचारक शत्रु समर्थ होता है, जिस मनुष्य को आदित्य जीने के लिए अखण्ड ज्योति देते हैं। अतः आदित्यो ! भगवान् से प्रार्थना है—**'उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः'** [ऋ० २।२७।१४]—हे प्रकाशकों-के-प्रकाशक ! मैं बहुत विशाल अभय-ज्योति प्राप्त करूँ, मुझे लम्बी अन्धकारमयी रात्रियाँ प्राप्त न हों। जीवन में प्रकाश रहने से सरलता होती है। अन्धकार में भटकना ही भटकना है।

२४८. पाप का अपाकरण तुम जानते हो

ओ३म् । वि॒दा दे॑वा अ॒घाना॒मादि॑त्यासो अ॒पाकृ॑तिम् ।
प॒क्षा वयो॒ यथो॒परि॒ व्य१॒स्मे शर्म॑ यच्छतान॒हसो॑
व ऊ॒तयः॑ सु॒ऊ॒तयो॑ व ऊ॒तयः॑ ॥ —ऋ० ८।४७।२

शब्दार्थ—हे **आदित्यासः** आदित्य **देवाः** दिव्यगुणो ! अथवा दिव्यगुणवाले महात्माओ ! तुम **अघानाम्** पापों का **अपाकृतिम्** अपाकरण **विद** जानते हो । **यथा** जैसे **वयः** पक्षी **पक्षा** पक्षों को [अपने बच्चों के] **उपरि** ऊपर [कर देते हैं] तद्वत् **अस्मे** हमारे लिए **शर्म** रक्षा, कल्याण, शरण **वि+यच्छत** दो । **वः** तुम्हारी **ऊतयः** रक्षाएँ, प्रीतियाँ **अनेहसः** त्रुटिरहित, निर्दोष हैं **वः** तुम्हारी **ऊतयः** रक्षाएँ, प्रीतियाँ ही **सु-ऊतयः** उत्तम रक्षाएँ तथा प्रीतियाँ हैं ।

व्याख्या—आदित्य देवों को ही पापनाश की युक्ति आती है, क्योंकि—

त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः ।
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति ॥—ऋ० २।२७।३

वे विशाल, गम्भीर, दबंग, पाप को दबाने की इच्छावाले और अनेक आँखोंवाले आदित्य पापों को भली प्रकार भीतर देखते हैं । अतः—**'महि वो महतामवो वरुण मित्र दाशुषे । यमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेमघं नशत्'** [ऋ० ८।४७।१] हे वरुण ! मित्र ! अर्यमन् आदित्यो ! तुम महापुरुषों की, दाता के लिए, बड़ी रक्षा और प्रीति है । तुम उसे द्रोह से=हिंसा से बचाते हो और उसे पाप नहीं लगता । द्रोह से बचना पाप से बचना है । हिंसा सब पापों की जड़ है । वेद में बड़े सुन्दर शब्दों में उपदेश है—**'सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा । मित्रः पान्त्यद्रुहः'** [ऋ० ८।४६।४] निस्सन्देह वह मनुष्य सुनीथ=उत्तम नीतिवाला है, जिसे मित्र, वरुण, अर्यमा हिंसा से बचाते हैं ।

यदि मन-वचन-कर्म में हिंसा न रहे तो संसार में कोई भी वैरी न रहे । जैसाकि पतञ्जलिजी ने योगदर्शन में कहा है—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'** [यो० द० २।३५]—अहिंसा के परिपक्व होने पर उसके समीप वैर का त्याग होता है । जब सबके साथ प्रीति ही प्रीति है, तब वैर को अवकाश कहाँ ? हमारे शास्त्र तो सब कामों में अहिंसा को स्थान देते हैं—**'अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्'** [मनु० २।१५९]—प्राणियों को कल्याणोपदेश भी अहिंसा के द्वारा ही करना चाहिए अर्थात् न किसी वैरभाव से और न ही घृणा की रीति से, वरन् परम प्रेम का अवलम्बन करके उपदेश करना चाहिए । श्रोता को विश्वास हो जाए कि यह उपदेष्टा मेरी मङ्गलकामना से मुझे मार्ग बता रहा है, तो वह सुनेगा, तब वह अपने दोषों को सुनकर उनका समर्थन न करेगा, वरन् अनुताप के अश्रुओं के नाश का प्रयास करेगा, अतः आदित्यो ! पक्षी अपने बच्चों की रक्षा के लिए जैसे उनपर अपने पर फैला देते हैं, वैसे तुम अपनी प्रीति-नीति के पक्ष हमपर फैला दो । आपके उन प्रीतिरक्षा-पक्षों में सुरक्षित रहकर हम पाप के पाश से बचे रहें ।

२४६. हे अग्ने ! हमपर कृपालु हो

ओ३म् । भवा॑ नो अग्ने सु॒मना॒ उपे॑तौ॒ सखे॑व स॒ख्ये॑ पि॒तरे॑व सा॒धुः ।
पु॒रु॒द्रुहो॒ हि क्षि॒तयो॒ जना॑नां॒ प्रति॑ प्र॒तीची॑र्दहता॒दरा॑तीः ॥

—ऋ० ३।१८।१

शब्दार्थ—हे **अग्ने** ज्ञानस्वरूप ! उन्नतिसाधक भगवन् ! **उपेतौ** सामीप्य-प्राप्ति के निमित्त तू **नः** हमारे लिए **सुमनाः** उत्तम मनवाला, भले भाववाला, कृपालु **भव** हो । **इव** जैसे **सख्ये** सखा के लिए **सखा** सखा **साधुः** भला है, **इव** जैसे सन्तान के लिए **पितरा** माता-पिता साधु होते हैं । **हि** चूँकि **क्षितयः** मनुष्य **जनानाम्** मनुष्यों के **पुरुद्रुहः** बहुत वैरी होते हैं, अतः ऐसे **प्रतीचीः** उलटे मार्ग पर चलनेवाले **अरातीः** अदानियों को **प्रति+दहतात्** प्रतिकूलता से दग्ध कर दे ।

व्याख्या—हे ज्ञानदाननिपुण ! अग्रगन्तः ! आदर्श ! ज्ञान-विज्ञान की खान ! प्रकाशकों-के-प्रकाशक ! परम प्रकाशमय ! अज्ञानान्धकारविनाशक ! दुर्गुणघातक ! सद्गुणप्रापक ! ज्ञानज्योतिः-द्योतक ! धर्म्मसुशिक्षक ! अधर्म्मनिवारक ! प्रीतिसाधक ! शत्रुताविनाशक ! सुधर्म्मसुसाधक ! अधर्म्म-सुबाधक ! विद्यार्कप्रकाशक ! सर्वानन्दप्रद ! पुरुषार्थप्रापक ! अनुत्साहविदारक ! उत्साहसुधारक ! सज्जनसुखद प्रभो ! हमारी इच्छा तेरे पास आने की है । तू **'सखा सखीनामविताः'** मित्रों का रक्षक मित्र है । सखे ! जब तू हमारा सखा है, तब तेरे पास आने में हमें प्रतिबन्ध क्यों है ? मित्र ! स्नेहागार ! चाहे हम पापी हैं, दुर्व्यसनी हैं, किन्तु हैं तेरे मित्र । सखे ! तूने स्वयं ही कहा—**'सखा सख्युर्न प्रमिनाति संगिरम्'** [ऋ० ६।८६।१६]=मित्र मित्र की बात कभी नहीं काटता । तो हे मित्र ! हम कह तो रहे हैं कि तेरे पास आना चाहते हैं, तुझे प्राप्त करना चाहते हैं । क्यों सखे ! क्या अपराध ? तू केवल हमारा सखा ही नहीं, वरन्—**'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे'** [ऋ० ८।६८।११]=सबको बसेरा देनेहारे ! तू ही हमारा पिता है । नाना-कर्म्म-प्रवीण ! तू हमारी माता है। हम तेरी मङ्गलकामना की कामना करते हैं ।

पितः ! क्या पुत्र को पिता के पास आने का अधिकार नहीं रहा ? मातुश्री ! तेरे स्नेह से क्या मैं वञ्चित रहूँगा, तेरी प्रेमसनी गोदी में पुनः स्थान न पा सकूँगा ? माँ ! माँ में तो अथाह ममता होती है । पिता तो पुत्रवत्सल होता है । पितः ! अतः—**'स न पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये'** [ऋ० १।१।६]—हे अग्ने ! पिता पुत्र के लिए जैसे सुपायन=सुगम्य, सरलता से प्रापणीय होता है, वैसे ही तू हमारे लिए हो, और हमें कल्याण से युक्त कर । पितः ! मातः ! तुमसे बढ़कर हमारा कौन हितकारी है ? भगवन् ! जन-जन में वैराग्नि प्रदीप्त हो रही है । समाजशत्रु दानधर्म्म से विच्युत होकर संसार पर हिंसा के अंगार बरसा रहे हैं । उनकी इस प्रतिकूल भावना को भगवन् ! भस्म कर दे । ईश्वर ! कोई किसी का अमङ्गल चाहनेवाला न रहे । सभी सबके हितसाधक हों । तू हमारे लिए 'सुमना' हो और हमें 'सुम्न' दे ।

२५०. आत्मसाक्षात्कार करो

ओ३म् । अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः ॥

—ऋ० ६।९।४

शब्दार्थ—**अयम्** यह [आत्मा] **प्रथमः** पहला, मुख्य **होता** होता, दानादान करनेवाला है । **इमम्** इसको **पश्यत** देखो, साक्षात् करो । **मर्त्येषु** मरनेवालों=शरीर-इन्द्रियादि में **इदम्** यह **अमृतम्** अविनाशी, अमृत **ज्योतिः** ज्योति, प्रकाश है । **अयम्** यह **सः** पूर्वोक्त **ध्रुवः** ध्रुव, अविनश्वर **आ+निषत्तः** स्थित हुआ [गर्भस्थ होकर] **जज्ञे** जन्मता है, और **अमर्त्यः** अविनाशी **तन्वा** शरीर द्वारा **वर्धमानः** बढ़ता रहता है ।

व्याख्या—स्त्री-पुरुष जब सन्तान की कामना से परस्पर संगत होते हैं, तो अनेक बार उनका प्रयत्न व्यर्थ जाता है । उसका कारण यह है कि केवल रजोवीर्य्य के संयोग से ही सन्तान नहीं हो जाया करती । जबतक जीव का संयोग न हो, शरीर बन नहीं पाता । शरीर की वृद्धि आदि सब आत्मा के आश्रित होता है, अतः सबसे पहले आत्मा आता है । यही बात वेद अपनी अपूर्व शैली से बतलाता है—**अयं होता प्रथमः**=यह आत्मा सबसे पहला दाता और प्रतिग्रहीता है । आत्मा शरीर और इन्द्रियों को ग्रहण करता है, अतः प्रतिग्रहीता है; और शरीर में वृद्धि-चेष्टा का हेतु होने से दाता है । इन दोनों भावों को वेद के एक शब्द **'होता'** ने प्रकट कर दिया है । वेद का आदेश है—**इमं पश्यत**=इसे देखो, साक्षात् करो । देखने का प्रधान साधन है हृदय और मन का योग । जैसा कि वेद में कहा है—**'पतंगमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः'** [ऋ० १०।१७७।१]—प्राणप्रद परमेश्वर की कुशलता से शरीर-सम्बन्ध के कारण व्यक्त हुए आत्मा को पण्डितजन हृदय और मन से जानते हैं । हृदय अर्थात् भक्ति [योग की परिभाषा में ईश्वरप्रणिधान] तथा मन=ज्ञान दोनों मिलें, तो आत्मा के दर्शन हो सकें । यह स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वरकृपा के बिना आत्मदर्शन सर्वथा असम्भव है ।

इसी मन्त्र में आत्मा का थोड़ा-सा लक्षण भी बताया गया है—**इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु**=यह मरनेवालों में अमर ज्योति है । शरीर विनाशी है । इन्द्रियाँ क्षणभंगुर हैं । एक आत्मा है जो अमर है । तभी तो [ऋ० ६।९।५] में कहा है—**ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कम्**=यह सुखदायी अविनाशी ज्योति दर्शन के लिए शरीर में रखी गई है अर्थात् मानव-जीवन का एक उद्देश्य आत्मदर्शन है । सब-कुछ जाना और आत्मा को नहीं जाना, तो कुछ भी नहीं जाना । इसका जन्म होता है अर्थात् शरीरादि के साथ सम्बन्ध का होना जन्म है । यह स्वयं तो अजन्मा और अविनाशी है, यह सदा ध्रुव रहता है अर्थात् मर्त्य देह में रहता हुआ भी आत्मा अमृत है—**'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः'** [ऋ० १।१६४।३८]=अमृत होता हुआ मर्त्यों=विनाशियों के साथ एक ठिकाने में रहता है । अपने कर्म्मों के कारण इसका जन्म होता है—**'अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतः'** [ऋ० १।१६४।३८]—अपनी कर्म्मशक्ति से पकड़ा हुआ उलटा-सीधा जाता है । कर्म्मों के कारण सद्गति और दुर्गति होती है, अतः **'पश्यतेमम्'** इसे देखो ।

२५१. सभी इन्द्रियों का एक उद्देश्य

ओ३म् । ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः ।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥

—ऋ० ६।९।५

शब्दार्थ—दृशये दर्शन के लिए **कम्** सुखकारी **ध्रुवम्** अविनाशी **ज्योतिः** ज्योति **निहितम्** रखी है, डाली गई है । **पतयत्सु+अन्तः** विनाशियों में, गतिवालों में **मनः** मन **जविष्ठम्** सबसे अधिक वेगवान है । **समनसः** मनसमेत **विश्वे** सब **देवाः** इन्द्रियाँ **सकेताः** ज्ञानपूर्वक **एकम्** एक **क्रतुम्** कर्म्म को, अथवा कर्त्ता को **अभि** लक्ष्य करके **साधु** भली प्रकार **वियन्ति** विशेषतया प्राप्त हो रही हैं ।

व्याख्या—दर्शनीय ज्योति शरीर में मानो छिपी है, किन्तु है वह सुखकारी । उपनिषदों तथा वेदों में आत्मा को अनेक स्थानों पर सुख का हेतु और सबसे प्यारा बताया गया है । यथा—**'तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यति, इति ।'** [बृहदा० १।४।८]—इसलिए वह जो आत्मा है, वह पुत्र से अधिक प्यारा है, धन से अधिक प्यारा है, अन्य सबसे अधिक प्यारा तथा अन्तरतर=अधिक अन्दर या गुप्त है । जो कोई आत्मा से अधिक किसी को प्यारा कहता है, वह प्यारे के लिए रोएगा ।

याज्ञवल्क्य ने ठीक ही कहा है । आत्मा अविनाशी है । आत्मा से अतिरिक्त धन, जन, तन, मन, इन्द्रियगण सभी विनाशी हैं । इनके विनाश होने पर इनका प्रेमी इनके प्रेम में अवश्य रोएगा । संसार के सारे पदार्थ तभी तक प्यारे लगते हैं, जबतक आत्मा का सम्बन्ध है । आत्मा से वियुक्त होने पर वे प्रीति का साधन नहीं रहते, अतः आत्मा को वेद ने 'क'=सुखकारी कहा है । इन्द्रियों में मन सबसे जविष्ठ है, चञ्चल है । मन के वेग का गीता [६।३४] ने अतीव सुन्दर वर्णन किया है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण ! मन चञ्चल है, उखाड़-पुखाड़ करनेवाला, बलवान तथा हठी है । वायु के समान उसका वश करना अतीव कठिन है । मन और इन्द्रियाँ सब जड़ हैं, अचेतन हैं । अचेतन दूसरे के लिए होता है । वेद इस तत्त्व को इन शब्दों में कहता है—**'विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वियन्ति साधु'**= मन और बुद्धि के साथ सारी इन्द्रियाँ एक कर्त्ता अथवा कर्म्म को लक्ष्य करके भली-भाँति विशेष रूप से प्राप्त होती हैं अर्थात् इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सबका एक उद्देश्य है, एक लक्ष्य है । वह है 'क्रतु'=कर्म्म करनेवाला । कर्म्म करना आत्मा का धर्म्म है । इसका भाव यह है कि मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ आत्मा के कर्म्म-साधन हैं, करण हैं । जब इन सबका लक्ष्य एक है, तो ये भिन्न-भिन्न होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं हैं । यदि आत्मा क्रतु=कर्म्म करनेवाला=याज्ञिक बना रहे, तो इन्द्रियाँ भी 'देव' रहती हैं अर्थात् इन्द्रियों का देवत्व क्रतु पुरुष के अधीन है ।

२५२. क्या कहूँ और क्या सोचूँ

ओ३म् । वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वी३दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूरआधीः किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ।।

—ऋ० ६।६।६

शब्दार्थ—मे मेरे **कर्णा** कान **वि+पतयतः** विविध दिशाओं में गिरा रहे हैं, भगा रहे हैं। **चक्षुः** मेरी आँख भी **वि** विविध रूपों में मुझे गिरा रही हैं। इनके कारण **इदं+ज्योतिः** यह ज्योति भी, **यत्** जो **हृदये** हृदय में **आहितम्** निहित है **वि** विविध वासनाओं में दौड़ रही है। **मे** मेरा **मनः** मन **दूरे** दूर के **आधीः** विचारों में **विचरति** विचर रहा है **किं+स्वित्** क्या **वक्ष्यामि** मैं कहूँ और **किम्+उ+नु** क्या तो मैं **मनिष्ये** मनन करूँ।

व्याख्या—कितनी करुण पुकार है ! भगवान् ने आत्मज्योति के साक्षात्कार का आदेश दिया। जीव समझा, यह भी कोई इन्द्रियगोचर पदार्थ है, अतः इन्द्रियों से उसे देखने का, जानने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु उसे पता लगा कि इन्द्रियाँ मेरे बस में हैं ही नहीं। कानों को कहा—कहीं से आत्माराम की बात सुनना तो बताना। कान चले, किन्तु मार्ग में बाजा सुनाई पड़ा, कान वहीं रुक गये। वापस न आये। आँख को भेजा, तुम जाओ, तुम आत्मा को देखो, खोजो। रूप की प्यासी आँख के सामने नयनाभिराम दृश्य आया। आँख सर्वात्मना उसके देखने में तन्मय हो गई। इसी भाँति अन्य इन्द्रियों ने कार्य्य किया। यहीं तक बात होती तो कदाचित् सहन कर ली जाती, किन्तु ये तो जब कहीं गई, आत्मज्योति को भी साथ लेती गईं।

वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्=यह हृदय के भीतर रहनेवाली ज्योति—आत्म-ज्योति भी इन्द्रियों के साथ विविध विषयों में गिर रही है। शास्त्र कहते हैं—**आत्मा जिज्ञासते, अनन्तरं मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततो ज्ञानोद्भवः।** आत्मा पहले जानने की इच्छा करता है, तब मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रियों से, इन्द्रिय-पदार्थ से, तब ज्ञान होता है। जब आत्मा ही इधर-उधर भाग रहा है, तब उसके साथ करण—अन्तःकरण—अन्तरंग साधन—बनकर मन कहाँ ठहर सकता है ? अतः कहा है—**'वि मे मनश्चरति दूर आधीः'**=मेरा मन भी दूर-दूर के विचारों में विचर रहा है अर्थात् इन्द्रियों के विषयों के चक्कर में पड़कर आत्मा अपना लक्ष्य खो बैठा है, अतः रोता हुआ कहता है—**'किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये'**=क्या कहूँ और क्या विचारूँ। आत्मा ने अपनी भूल से सेवकों को स्वामी बना दिया है। इसी से दुर्दशाग्रस्त हो रहा है। यह उलटी अवस्था पाप को पैदा करनेवाली है। जैसा अथर्ववेद [५।१८।२] में कहा है—**'अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः'**[1]=इन्द्रियों के विद्रोह से आत्मपराजय होता है, और वही पाप है। आत्मा को पुनः स्वामी बना दो, राजा बना दो। इन्द्रियों का द्रोह दब जाएगा, और पाप भी नष्ट हो जाएगा।

---

१. इस मन्त्र की विशेष व्याख्या "वैदिक स्वदेश भक्ति" में देखिए।

२५३. कौन उपदेश करे

ओ३म् । ज्यायाँसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते ।
यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदद्य उ स्वयं वहते सो अरं करत् ॥

—ऋ० ५।४४।८

शब्दार्थ—**यासु** जिनमें **ते** तेरा **नाम** नाम, यश है, उनमें **यः** जो **अस्य** इस **यतुनस्य** यत्नशील के **केतुना** ज्ञानानुसार **ज्यायांसम्** श्रेष्ठ **ऋषिस्वरम्** ऋषि-उपदेश को, वेदोपदेश को **चरति** आचरण में लाता है । **यादृश्मिन्** जैसे में **धायि** धारण किया गया है, **तम्** उसको **अपस्यया** क्रिया के द्वारा **विदत्** प्राप्त करे । **यः+उ** जो तो **स्वयम्** अपने-आप **वहते** धारण करता है **सः** वह **अरम्** उचित **करत्** करता है ।

व्याख्या—आजकल यह रीति-सी चल पड़ी है कि जिसे थोड़ा-सा कुछ बोलना आता है उसे व्यासवेदी पर बिठा दिया जाता है । परिणाम ? श्रोताओं के समय की हत्या । केवल बोलने से ही कोई उपदेश करने का अधिकारी नहीं हो जाता; वरन् उसमें कुछ अन्य गुण भी अपेक्षित हैं। उनमें से कुछ-एक का कथन इस मन्त्र में है—

१. **यतुनस्य केतुन ज्यायांसं ऋषिस्वरं**=इस यत्नशील के संकेत के अनुसार जो श्रेष्ठतर वेदोपदेश का आचरण करता है अर्थात्—

(क) पहले आत्मा और परमात्मा के संकेतों को समझे । परमात्मा के सम्बन्ध में श्वेताश्वतर महात्मा कहते हैं—**'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'**=परमात्मा में ज्ञान, बल और अनुष्ठान स्वाभाविक हैं। भाव यह कि परमात्मा निरलस होकर सदा कर्म्म करता रहता है । मन्त्र में इसी कारण भगवान् को 'यतुन' कहा गया है । जीवात्मा में प्रयत्न स्वाभाविक गुण है, अतः पहला संकेत यह है कि उपदेशक सदा क्रियाशील हो, पुरुषार्थी हो । दूसरा संकेत, धर्म्मज्ञान के लिए सृष्टिनिरीक्षण अनिवार्य है । उपदेशक का कोई उपदेश और आचरण सृष्टिनियम के विरुद्ध नहीं होना चाहिए । सृष्टिनियम का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञान-विज्ञान, पदार्थविद्या, वेद, दर्शन, आदि विविध शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन, मनन अत्यन्त आवश्यक है । साथ ही संसार में आँखें खोलकर चलना भी नितान्त अपेक्षित है। उसके बिना सृष्टिनियम का बोध हो ही नहीं सकता ।

(ख) उस संकेत को समझकर ऋषियों के स्वर-में-स्वर मिलाकर उत्कृष्टतर वेदोपदेश पर आचरण करे ।—**'ऋषिर्दर्शनात्' 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'**—दर्शन=साक्षात्कार के कारण ऋषि बनता है; पदार्थों के यथार्थ धर्मों का साक्षात् करनेवाले ऋषि होते हैं । ऋषियों के स्वर के साथ स्वर तभी मिल सकेगा, जब उन्हीं की भाँति पदार्थों के तल तक पहुँचा जाए, प्रत्येक का निगूढ़ तत्त्व जानने का पुरुषार्थ किया जाए । वेदोपदिष्ट तत्त्वों को साक्षात् करने के लिए वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि साधनों की आवश्यकता है । इनसे सम्पन्न होने पर ऋषियों के स्वर-में-स्वर मिला सकेगा ।

(ग) परमात्मा, आत्मा के संकेत और वेदोपदेश दूसरों को ही न करता हो, वरन् स्वयं भी चरति=आचरण करता हो । तात्पर्य्य यह कि उपदेशक का आचरण अपने उपदेश का विरोधी न हो ।

३. **यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदत्**—जैसे में धारण किया गया, उसको क्रिया से प्राप्त कराये । कई उपदेश ऐसे होते हैं, जो कह देनेमात्र से श्रोता की बुद्धि में नहीं बैठते, वे क्रिया द्वारा समझाने होते

हैं। उपदेशक को यह भी देखना होगा कि जिनको मैं उपदेश कर रहा हूँ वे धारण करने में समर्थ भी हैं या नहीं अर्थात् वे उपदेश को क्रियात्मक रूप दे सकते हैं वा नहीं। पात्रापात्र-विचार के विना उपदेश प्रायः विफल हो रहे हैं।

४. य उ स्वयं वहते सो अरं करत्—जो स्वयं धारण करता है, वही उचित करता है। आचरण द्वारा उपदेश वाणी द्वारा दिये उपदेश से श्रेष्ठ होता है। जो कहो, उसके अनुसार चलने से शोभा होती है।

२५४. गण-सेवक दोनों भलाइयों को प्राप्त करता है

ओ३म् । स॒दा॒पृ॒णो य॒ज॒तो वि द्विषो॑ वधीद् बाहुवृ॒क्तः श्रु॑त॒वित्तर्यो॑ व॒: सचा॑ ।
उ॒भा स व॒रा प्रत्ये॑ति॒ भाति॑ च॒ यदीं॑ ग॒णं भज॑ते सुप्र॒याव॑भिः ॥

—ऋ० ५।४४।१२

शब्दार्थ—जो **सदापृणः** सदा प्रसन्न करनेवाला तथा सदा प्रसन्न रहनेवाला **यजतः** याज्ञिक **बाहुवृक्तः** बाहुओं से शत्रुनाश करने में समर्थ **श्रुतवित्** सुने को जाननेवाला **तर्य्यः** तारनेवाला **वः** तुम्हारा **सचा** सम्बन्धी **विद्विषः** शत्रुओं को **वधीत्** मार दे तो **सः** वह **उभा** दोनों **वरा** भलाइयों को **प्रत्येति** प्राप्त करता है **च** और **भाति** चमकता है **यत्** जब वह **गणम्** जनसमूह का **ईम्** ही **सुप्रयावभिः** उत्तम चालों से अथवा उत्तम ज्ञानियों के द्वारा **भजते** सेवन करता है ।

व्याख्या—वैयक्तिक हित तथा सामाजिक हित दो भलाइयाँ हैं । मनुष्य इन्हें प्राप्त करने के लिए यत्नशील रहते हैं, किन्तु कोई भाग्यशील ही सिद्धि प्राप्त करता है । किसी ने कहा है—**'सिद्धये यतमानानां सिद्धि कोपि प्रयाति च'**—सिद्धि के लिए यत्न करनेवालों में से कोई मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है । इसका कारण यह है कि सिद्धिदायक उपाय का अवलम्बन नहीं किया जाता । इस वेदमन्त्र में इन दोनों भलाइयों की प्राप्ति का उपाय वर्णित है—

१. **सदापृणः**—सदा प्रसन्न रहनेवाला तथा प्रसन्न करनेवाला, अथवा सज्जनों को प्रसन्न करनेवाला । अप्रसन्न रहनेवाले में उत्साह ही नहीं रहता । सर्व कार्य्यों की सिद्धि का मूल उद्योग है । कहा है—**उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः**=सम्पत्ति उद्योगी, उत्साही नरसिंह को प्राप्त होती है ।

२. **यजतः**—यजनशील=क्रियाशील । केवल उत्साही न हो, प्रत्युत उत्साह और प्रसन्नता के साथ क्रियाशीलता भी चाहिए । कर्म्मण्य लोग ही संसार में कुछ कर पाये हैं ।

३. **बाहुवृक्तः**—बाहुओं से विघ्ननाश करने में समर्थ । उत्साह भी है, कर्म्मशीलता भी है, किन्तु यदि भुजों में बल नहीं तो बस……। उत्साह तथा कर्म्मण्यता के साथ भुजबल कार्य्यसिद्धि को सरल कर देता है ।

४. **श्रुतवित्**—सुने को जाननेवाला=सुने को धारण कर सकनेवाला । संसार में श्रोता तो अनेक हैं, किन्तु बोद्धा, सुने को समझनेवाले, उसको कर सकनेवाले अत्यन्त थोड़े हैं ! उत्साह, कर्म्मण्यता तथा भुजबल के साथ विद्याबल भी होना चाहिए । ज्ञान के बिना किसी भी कार्य्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती, अतः उत्साहादि के साथ ज्ञान और ज्ञान भी महान् होना चाहिए ।

५. **तर्य्यः**—तार सकनेवाला अर्थात् परमार्थी, परार्थी, स्वार्थशून्य । जो केवल स्वार्थ को सम्मुख रखकर किसी भले कार्य्य में भी प्रवृत्त होता है, उसे कोई सहायक नहीं मिलता । हाँ, उसके मार्ग में प्रबल विघ्नों का झंझावात अवश्य आता है जो उसे उधर से निवृत्त होने को विवश कर देता है ।

६. **यदीं गणं भजते सुप्रयावभिः**—जब वह उत्तम व्यवहारों से गण की सेवा करता है अर्थात्—**'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए ।'** स्वार्थी मनुष्य की दृष्टि अपने तक ही सीमित रहती है, अतः वह केवल अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट रहना चाहता है । किन्तु मनुष्य के सब कामों में दूसरों की सहायता की अपेक्षा हुआ करती है ।

अपने से अतिरिक्त उसे किसी का ध्यान नहीं, इसलिए उसे दूसरों से अपेक्षित सहायता नहीं मिलती। फलतः उसकी अपनी उन्नति भी नहीं हो सकती। इसके विपरीत जो गण की, समुदाय की, समाज की, समष्टि की उन्नति में अपनी उन्नति समझता है, वह गण के उत्कर्ष के लिए यत्न करता है। गण की उन्नति के साथ उसकी भी उन्नति हो जाती है। गण के साथ वह भी तर जाता है, अतः वेद ने कहा—**'उभा स वरा प्रत्येति भाति च'**—वह दोनों—वैयक्तिक, सामाजिक भलाइयों को प्राप्त कर लेता है और इस कारण चमकता है।

२५५. बलदातः ! बल दे

ओ३म् । बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः ।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि ॥

—ऋ० ३।५३।१८

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** अतुल बलपराक्रमशालिन् प्रभो ! **नः** हमारे **तनूषु** शरीरों में **बलम्** बल **धेहि** डाल दे । **नः** हमारे **अनळुत्सु** शरीररूपी छकड़े को चलानेवाली इन्द्रियों में **बलम्** बल डाल । **तोकाय+तनयाय** बाल-बच्चों के लिए तथा **जीवसे** जीने के लिए **बलम्** बल दे । **हि** सचमुच **त्वम्** तू ही **बलदाः** बलदाता **असि** है ।

व्याख्या—बलदा:=निर्बलों के बल ! प्रबलों से प्रबल ! सबसे सबल ! तेरी दया से मुझमें बड़ी-बड़ी शक्तियाँ हैं, मैं अद्भुत कार्य्य करने का सामर्थ्य रखता हूँ । किन्तु फिर भी मैं अनुभव करता हूँ कि मैं निर्बल हूँ । जीव-जन्तु के अतिरिक्त रोग-शोक भी मुझे प्रबल दीखते हैं । मुझे समय-समय पर आ दबाते हैं । परमदेव ! तू बल का भण्डार है और तेरा भण्डार अखुट है । थोड़ा-सा बल मुझे दे, मेरा शरीर बल-हीन है, इसे सबल बना दे । शरीर मेरा भारी-भरकम है, इसको चलानेवाले, इसकी क्रिया को करनेवाले बैल—आँख, नाक, कान दुबले हैं । ये कैसे भार ढोएँगे ? दुर्बल, ज्योतिःक्षीण नयन रूप कैसे पहुँचाएगा ? साँय-साँय करनेवाले बधिरप्राय कान तेरे यशोगान को कैसे सुनेंगे ! जिह्वा निगोड़ी दुर्बल है, न रस ले सके, न बोल सके । प्रभो ! इन सबको बल दे, यशोबल दे ।

बलवाले ! तेरे दिये बल का फल सन्तान हो । मुझे मेरी सन्तान के लिए बल दे । जीवन के लिए बल दे । निर्बल क्या जीता है ? तुझी से माँगूँगा, क्योंकि तू ही बलदाता है ।

२५६. तुझ जागरूक को सभी नमस्कार करते हैं

ओ३म् । त्वां दूतमग्ने अमृतं युगेयुगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यम् ।
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा नि षेदिरे ॥

—ऋ० ६।१५।८

शब्दार्थ—हे **अग्ने** ज्ञानाधार प्रभो ! **त्वाम्** तुझ **दूतम्** दुःखविनाशक **अमृतम्** अविनाशी **हव्यवाहम्** जीवनसामग्री देनेवाले **पायुम्** रक्षक **ईड्यम्** पूजनीय को, विद्वान् जन **युगे-युगे** युग-युग में **दधिरे** धारण करते हैं, **च** और **देवासः** निष्काम ज्ञानी, जीवन्मुक्त **च** तथा **मर्त्तासः** जन्म-मरण के चक्कर में पड़े मनुष्य तुझ **जागृविम्** जागरूक **विभुम्** व्यापक **विश्पतिम्** प्रजापति को **नमसा** नमस्कार द्वारा **नि+षेदिरे** प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या—अग्नि को वेद में अनेक स्थानों पर दूत कहा गया है । दूत का मूल अर्थ दुःख हरनेवाला है । लौकिक संस्कृत में दूत का अर्थ एक का सन्देश लेकर दूसरे तक पहुँचानेवाला और उसे सन्देश भेजनेवाले के सन्देशानुकूल चलने की प्रेरणा करनेवाला है अर्थात् दूत अत्यन्त बुद्धिमान्, ज्ञानवान् होना चाहिए । भगवान् से बढ़कर और कोई ज्ञानवान् नहीं है । जैसा कि ऋग्वेद [६।१४।२] में कहा है—**'अग्निरिद्धि प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः'**—अग्नि=ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही सचमुच उत्तम चितानेवाले हैं, और भगवान् ही सबसे अधिक मेधावी, ज्ञानी, हैं अतः—

त्वां दूतमग्ने अमृतं युगे युगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यम् ।

युग-युग में अविनाशी, भोगसामग्रीप्रदाता, रक्षक, पूज्य भगवान् को विद्वान् दूत बनाते हैं । विद्वान् अपने मन के सन्देश भगवान् को दे देते हैं, वह जैसा उचित समझता है, वैसा कर देता है, उसे दूत बनाना विकट तथा कठिन कार्य्य है । उसे दूत बनाने से पूर्व उसे धारण करना पड़ता है । परम अग्नि को दूत बनाने से पूर्व उसे धारण करना होगा । अन्यथा उसे दूत न बनाया जा सकेगा । धारण करने से पूर्व उसके पास जाना होता है । सभी को उसके पास जाना होता है—

देवासश्च मर्त्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा निषेदिरे ।

देव और अदेव सभी उस जागरणशील, व्यापक, प्रजापति को नमस्कार से प्राप्त होते हैं अर्थात् सारा संसार उसके सामने झुक रहा है । अपने से श्रेष्ठ को सभी नमस्कार करते हैं । भगवान् मर्त्य-अमर्त्य सभी से श्रेष्ठ है—**'देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठः'** [ऋ० ६।१५।१३]=देवों और मर्त्यों का जो सबसे श्रेष्ठ पूजनीय है ।

नम्र होकर भगवान् की शरण में जाने से सब दुःखों का विशरण हो जाता है ।

२५७. कर्म्म-फल-प्रदाता

ओ३म् । वि॒भूष॑न्नग्न उ॒भया॒ँ अनु॑ व्र॒ता दू॒तो दे॒वानां॒ रज॑सी॒ समी॑यसे ।
यत्ते॑ धी॒तिं सु॑म॒तिमा॑वृ॒णीम॒हेऽध॑ स्मा नस्त्रि॒वरू॑थः शि॒वो भ॑व ॥

—ऋ० ६।१५।६

शब्दार्थ—**अग्ने** सब गुणियों को सत्कृत करनेवाले सर्वज्ञान-निधान भगवन् ! **देवानाम्** देवों का **दूतः** दुःखविनाशक होता हुआ **उभयान्** देवों और मर्त्तों को, निष्काम ज्ञानी तथा साधारण मनुष्य को, जीवन्मुक्त तथा मृत्युग्रस्त को **व्रता+अनु** उनके कर्म्मों के अनुसार **विभूषन्** विभूषित करता हुआ, उत्तम गति देता हुआ, तू **रजसी** दोनों लोकों को **सम्+ईयसे** एकरस व्याप रहा है । **यत्** यतः **ते** तेरे **धीतिम्** ध्यान तथा **सुमतिम्** उत्तम ज्ञान को **आवृणीमहे** हम स्वीकार करते हैं, धारण करते हैं, **अध** अतः **त्रिवरूथः** तीनों में श्रेष्ठ तू **नः** हमारे लिए **शिवः** कल्याणकारी **स्म** हो ।

व्याख्या—इस मन्त्र में भगवान् का कर्म्मफलप्रदातृत्व निरूपण किया गया है—**'विभूषन् उभयां अनु व्रता'**—दोनों को कर्म्मों के अनुसार सजाता है । संसार में पापी और पुण्यात्मा दो प्रकार के मनुष्य हैं, दोनों की वासनाओं में भेद के कारण उनके कर्म्मों में भेद होता है । भगवान् उन दोनों के कर्म्मों के अनुसार ही उनके लिए सुख-दुःख की सामग्री प्रस्तुत करते हैं ।—**'विभूषन्'** शब्द में एक अद्भुत स्वारस्य है, जो दूसरी किसी भाषा के एक शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता । विभूषन् का अर्थ है विशेष रूप से सजाना और भूषारहित करना । पुण्यवानों को उनके पुण्य के अनुसार उत्तम गति मिलती है, वह सजाना है । पापियों को उनके पाप के अनुकूल दुर्गति मिलती है, यह भूषारहित करना है । परमेश्वर किसी के साथ पक्षपात नहीं करता, प्रत्युत—**'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'** [य० ४०।८]=अपनी सनातन प्रजाओं [जीवों] के लिए याथातथ्य रूप से पदार्थों को बनाता है । जैसा जिसने अपना अधिकार बनाया है, उसके अनुसार भला अधिकार है तो भला, बुरा है तो बुरा, फल मिलता है ।

उत्तरार्ध में उत्तमकर्म्मा बनने का एक उपाय निर्दिष्ट हुआ है—**'यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहे ऽध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो भव'**—चूँकि हम तेरे ध्यान-चिन्तन और उत्तम ज्ञान को ग्रहण करते हैं, अतः तीनों में श्रेष्ठ तू हमारे लिए सुखकारी हो । यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहे तो उसे भगवान् का ध्यान और उत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । भगवान् प्रकृति, जीव तथा ब्रह्म इन तीनों में श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ का ध्यान अवश्य ही श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ का ज्ञान भी श्रेष्ठ है । श्रेष्ठतम को वरण करना—अपनाना सर्वथा श्रेष्ठ कर्म्म है । श्रेष्ठतम कर्म्म का फल भी श्रेष्ठतम होना चाहिए । भगवान् के दिये कल्याण से बढ़कर और क्या श्रेष्ठ हो सकता है ? अतः भगवान् से प्रार्थना है कि तू ही हमारे लिए शिव=कल्याणकारी बन । भगवान् सर्वत्र व्यापक है, अतः वह सबके कर्म्मों को जानता है, अतः उसे कर्म्मफल प्रदान करने में किसी बिचौलिया की अपेक्षा नहीं होती ।

२५८. शरीर पतनशील है

ओ३म् । तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन् तव चित्तं वातऽइव ध्रजीमान् ।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ॥ —य० २९।२२

शब्दार्थ—हे **अर्वन्** जीवात्मन् ! **तव** तेरा **शरीरम्** शरीर **पतयिष्णु** पतनशील, विनाशवान् है । **तव** तेरा **चित्तम्** चित्त **वातः+इव** वायु के समान **ध्रजीमान्** चञ्चल है, वेगवान् है । **तव** तेरी **जर्भुराणा** अत्यन्त पुष्ट **शृङ्गाणि** इन्द्रियाँ **पुरुत्रा** बड़े-बड़े **अरण्येषु** जंगलों में—विषयवनों में **विष्ठिता** स्थित हुई **चरन्ति** विचरती हैं ।

व्याख्या—वेद कल्याणी माता की भाँति जीव का उद्धार करने के लिए अनेक प्रकार से प्रबोध के उपाय प्रस्तुत करता है । कहीं उसे **'ध्रुवं ज्योतिः'** कहकर मृत्यु के भय से मुक्त करता है, कहीं इसके शरीर की अनित्यता का वर्णन करके संसार की असारता दिखा इसे मोहपाश से छूटने की प्रेरणा करता है । इस मन्त्र में शरीर की विनाशिता का ज्ञान कराने के लिए कहा—**तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्**=हे आत्मन् ! तेरा शरीर पतनशील है । इसका शील=स्वभाव ही पतन है, नाश है, स्वभाव के सम्बन्ध में ऋषियों का मत है—**'स्वभावो ह्यनपायी वै'**=स्वभाव तो नहीं बदलता । जब स्वभाव नहीं बदल सकता, तब एक दिन अवश्य ही इसका नाश होगा, भले ही पर्य्याप्त दीर्घकाल तक शरीर बना रहे । किन्तु इसका सदा बना रहना असम्भव—सर्वथा असम्भव है, अतः ज्ञानी जन शरीर में एकान्त रति नहीं करते, वरन् उदास हो जाते हैं ।

शरीर के साथ लगा मन तो सबसे चञ्चल है । वेद में अनेक स्थानों पर उसे जविष्ठ कहा है । यहाँ भी उसी प्रकार कहा गया है कि वह **'वात इव ध्रजीमान्'**=वायु की भाँति चञ्चलतर है । शरीर पतनशील है, सदा संग रहनेवाला नहीं है । मन भी चञ्चल है, सदा इधर-उधर भागता रहता है अर्थात् ये दोनों विश्वासयोग्य नहीं हैं । जाने कहाँ और कब संग छोड़ दें ! बुद्धिमान् मनुष्य इस रहस्य को जानकर इससे सिद्ध होनेवाले कार्य्यों को शीघ्रातिशीघ्र सम्पादन करते हैं । क्या इन्द्रियाँ आत्मा को पूरा सहयोग दे रही हैं ? वेद इसका समाधान अद्भुत ढंग से करता है—

तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ।

तेरी इन्द्रियाँ अनेक जंगलों में स्थित होकर पुष्ट हुई विचरती हैं अर्थात् इन्द्रियाँ भी आत्मा से विमुख होकर विषय-वनों में विचर रही हैं । उपनिषत् ने कहा—**'इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्'** [कठो०]—ज्ञानीजन इन्द्रियों को घोड़े मानते हैं, और विषयों को उनके चरने का स्थान ।

उपनिषत् के गोचर को वेद ने **अरण्य**=जंगल कहा, और कहा कि वे **'पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति'**=अनेक जंगलों में पुष्ट हुई विचरती हैं या चर रही हैं । प्रत्येक इन्द्रिय का विषय पृथक्-पृथक् है । नेत्र का विषय है रूप, रूप अनेक प्रकार के हैं । रसना का विषय रस है, रस भी नाना हैं । घ्राण=नाक का विषय गन्ध है, गन्ध भी अनेकविध हैं । कान को शब्द बाँधता है, शब्द के भी विविध भेद हैं । त्वचा को सुख देनेवाला स्पर्श भी एक प्रकार का नहीं है । फिर मन के विषयों का परिशीलन मन की भाँति दुरूह है । इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ही ग्रहण कर सकती हैं, इस बात को कहने के लिए 'विष्ठिता' विशेषणपद का प्रयोग हुआ है, अतएव नाना वनों की सत्ता का निर्देश हुआ है । आत्मन् ! तेरा इनमें कोई भी पक्का साथी नहीं ।

२५६. पञ्च कोश

ओ३म् । केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतद् ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किं स्विन्नः प्रति वोचास्यत्र ॥
ओ३म् । पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानोऽअस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥

—य० २३।५१, ५२

शब्दार्थ—प्रश्न—**केषु+अन्तः** किनमें **पुरुषः** पुरुष **आविवेश** आविष्ट है, समाया है ? और **कानि** कौन **पुरुषे+अन्तः** पुरुष में या पुरुष के लिए **अर्पितानि** अर्पित हैं । **ब्रह्मन्** हे ब्रह्मन् ! चतुर्वेदवित् अथवा साक्षात् ब्रह्म ! **एतत्** यह **त्वा** तुझसे **उप** समीप आकर **वल्हामसि** हम प्रश्न करते हैं । **अत्र** इस विषय में **नः** हमें **किं+स्वित्** क्या **प्रति+वोचासि** प्रत्युत्तर देते हो, समाधान देते हो ?

उत्तर—**पञ्चसु+अन्तः** पाँच में **पुरुषः** पुरुष **आ+विवेश** आविष्ट है । **तानि** वही पाँच **पुरुषे+अन्तः** पुरुष में या पुरुष के लिए **अर्पितानि** अर्पित हैं । **त्वा** तुझको **अत्र** इस विषय में **एतत्** यह **प्रतिमन्वानः+अस्मि** प्रत्युत्तर देता हूँ=समाधान देता हूँ । तू **मायया** बुद्धि के द्वारा **मत्** मुझसे **उत्तरः** उत्कृष्ट **न** नहीं **भवसि** है ।

व्याख्या—पुरुष=जीव पाँच में आविष्ट हैं, और पाँच पुरुष के अर्पित हैं । पाँच से यहाँ तात्पर्य्य पाँच कोश हैं । जीवात्मा उनमें रहता हुआ उनसे पृथक् है । वे पाँच कोश निम्नलिखित हैं—१. अन्नमय कोश, २. प्राणमय कोश, ३. मनोमय कोश, ४. विज्ञानमय कोश, तथा ५. आनन्दमय कोश । आचार्य इन कोशों का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

१—पहला "अन्नमय" जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है ।

२—दूसरा "प्राणमय" जिसमें निम्न पञ्चविध प्राण समाविष्ट हैं—१. "प्राण" अर्थात् जो भीतर से बाहर आता है; २. "अपान" जो बाहर से भीतर जाता है; ३. "समान" जो नाभिस्थ होकर शरीर में सर्वत्र रस पहुँचाता है; ४. "उदान" जिससे कण्ठस्थ अन्नपान खींचा जाता है और बल-पराक्रम होता है; ५. "व्यान" जिससे सब शरीर में चेष्टादि कर्म जीव करता है ।

३—तीसरा "मनोमय" जिसमें मन के साथ अहंकार वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं ।

४—चौथा "विज्ञानमय" जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है ।

५—पाँचवाँ "आनन्दमय कोश" जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द और आनन्द का आधार कारणरूप प्रकृति है । ये पाँच कोश कहाते हैं, इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है । (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास)

इस सन्दर्भ से स्पष्ट सिद्ध है कि जीवात्मा इन सबसे पृथक् है, और मानो इनके अन्दर छिपा हुआ है । इन कोशों को=पर्दों को दूर करो, तो आत्मा का दर्शन सुलभ हो जाता है । ये पाँच कोश स्थूल और कारणशरीर से भिन्न हैं । कोई-कोई यहाँ "पाँच" से पाँच प्राण लेते हैं, जैसाकि मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥—३।१।९

पूर्वोक्त जीवात्मा चित्त से=चिन्तन से जाना जा सकता है। इसमें "प्राण" प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान भेदों से संविष्ट हुआ है। सब प्राणियों का चित्त प्राणों से ओतप्रोत है, जिसके शुद्ध होने पर यह आत्मा विभूतियोंवाला हो जाता है।

उपनिषद् के इस भाव का वेद में भी वर्णन किया गया है—

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः ।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित् ॥—यजु० ३४।११

स्रोतोंसहित पाँच नदियाँ=इन्द्रियाँ, सरस्वती=ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त हो रही हैं और वह सरस्वती=आत्मा भी शरीररूप देश में पाँच प्रकार की सरित्=गतिवाला हो गया है। पाँच इन्द्रियाँ बाहर से लाकर आत्मा को ज्ञान देती हैं, और आत्मा सब शरीर में इन्द्रियों द्वारा अपना प्रकाश करता है।

यही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जब पुरुष के वश में आ जाती हैं तब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥—२।६।१०

जब मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने व्यापार से विरत हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसे परमगति कहते हैं।

२६०. चार वर्ण

ओ३म् । ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ॥ —य० ३१।११

शब्दार्थ—अस्य+मुखम् इस समाज का मुख **ब्राह्मणः+आसीत्** ब्राह्मण होता है। **बाहू** और भुजाएँ **राजन्यः+कृतः** क्षत्रिय बनाई जाती हैं। **अस्य** इस समाज का **यत्+ऊरू** जो मध्यस्थान है, **तत्+वैश्यः** वह वैश्य है। **पद्भ्याम्** पैरों के लिए **शूद्रः+अजायत** शूद्र होता है।

व्याख्या—इस मन्त्र में आलंकारिक रीति से चार वर्णों का संकेत है।

सिर की भाँति विचारप्रधान मनुष्य ब्राह्मण-पद का अधिकारी है, भुजा की भाँति रक्षा तथा प्रहार में तत्पर का नाम क्षत्रिय है। मध्यभाग=पेट आदि की भाँति जो समस्त समाज के ऐश्वर्य का केन्द्र हो, उसे वैश्य कहते हैं। जिस प्रकार पैर सारे शरीर का भार उठाते हैं, उसी प्रकार जो समस्त समाज की सेवा करे, उसे शूद्र कहते हैं। कई सज्जन यह आक्षेप करते हैं कि वेद में चार वर्णों की चर्चा नहीं, वरन् केवल दो वर्णों आर्य्य और दास का उल्लेख है, और इसके लिए वे निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—(क) **'दासं वर्णमधरं गुहाकः'** [ऋ० २।१२।४] और (ख) **'आर्यं वर्णमावत्'** [ऋ० ३।३४।९]। आक्षेपकर्त्ताओं का कहना है कि (क) में दासवर्ण को नीचा करने तथा (ख) में आर्य्यवर्ण की रक्षा करने की बात कही गई है।

ऐसे महानुभावों की सेवा में निवेदन है कि वर्ण शब्द अपने भिन्न रूपों में कोई २३ बार ऋग्वेद में आया है। उनमें केवल निम्नलिखित स्थलों में उसके साथ कोई विशेषण पद आया है—

१. **कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः**।—ऋ० १।७३।७
२. **समानं वर्णमभि शुम्भमाना**।—ऋ० १।९२।१०
३. **सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम्**।—ऋ० २।३४।१३
४. **प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्**।—ऋ० ३।३४।५
५. **असुर्यं वर्णं नि रिणीते अस्य तम्**।—ऋ० ९।७१।२
६. **यस्य वर्णं मधुश्चुतं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः**।—ऋ० ९।६५।८
७. **परि वर्णं भरमाणो रुशन्तम्**।—ऋ० ९।९७।१५
८. **शुचिं ते वर्णं अधि गोषु दीधरम्**॥—ऋ० ९।१०५।४
९. **स्पार्हे वर्णे**।—ऋ० २।१।१२
१०. **उभौ वर्णौ**।—ऋ० १।१७९।६
११. **रुशद्भिर्वर्णैरभि**।—ऋ० १०।३।३
१२. **दासं वर्णमधरं गुहाकः**।—ऋ० २।१२।४
१३. **हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्**।—ऋ० ३।३४।९

यदि 'वर्ण' शब्द के साथ विशेषण रूप में पढ़ा होने के कारण 'आर्य' और 'दास' दो ही वर्ण मानें, तो 'कृष्ण', 'अरुण', 'समान', 'सुश्चन्द्र', 'सुपेशः', 'शुक्रः', 'असुर्य', 'मधुश्चुत', 'हरि', 'रुशत्', 'शुचि' और 'स्पार्हे' भी वर्ण मानने पड़ेंगे। ऐसी दशा में वादी को दो वर्णों के स्थान में कम-से-कम १४ वर्ण मानने पड़ेंगे। चार वर्ण हटाकर दो वर्णों की घोषणा की थी, किन्तु निकल पड़े चौदह, दो के साथ बारह और

जुड़ गये। यदि कहो कि इन सब स्थलों में वर्ण का अर्थ वर्ण-व्यवस्थावाला 'वर्ण' नहीं, तो 'आर्य्य' और 'दास' के साथ पढ़े वर्ण शब्द का अर्थ वही है, यह कैसे माना जाए?

प्रश्न होता है, यदि वर्ण चार हैं तो इसके लिए प्रमाण क्या है? इसके उत्तर में निवेदन है कि विराट् पुरुष=मानव-समाज को वेद चार भागों में बाँटता है; चारों मिलकर एक देह बनाते हैं। उसका वर्णन **'ब्राह्मणोऽस्य'**—मन्त्र में है। इस कारण हम कहते हैं कि मनुष्यजाति के गुणकर्म्मस्वभावानुसार चार विभाग हैं। उन चार विभागों को स्मृतिकारों ने 'चार वर्ण' कहा है और उसका मूल यही मन्त्र है।

२६१. जहाँ दान नहीं मिलता वह घर नहीं है

ओ३म् । न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

—ऋ० १०।११७।४

शब्दार्थ—**यः** जो **पित्वः**+**सचमानाय** अन्न को चाहनेवाले **सचाभुवे**+**सख्ये** सहकारी मित्र को **न ददाति** नहीं देता है **सः** वह **सखा न** मित्र नहीं है। **अस्मात्** इससे **अप**+**प्रेयात्** बहुत दूर चला जाए, क्योंकि **तत्** वह **ओकः** घर [मित्र का घर] **न** नहीं **अस्ति** है। **अन्यम्** दूसरे **अरणम्** सरलता से आश्रय देनेवाले, अथवा असम्बन्धी **पृणन्तम्**+**चित्** दाता को ही **इच्छेत्** चाहे।

व्याख्या—ऋग्वेद का १०।११७ सूक्त समूचा-का-समूचा दानप्रेरक है। सारे मन्त्रों के अर्थ लेखक के लिखे 'वेदामृत' ग्रन्थ में देखिए। वेद कहता है कि भूखे अन्नाभिलाषी मित्र को जो अन्न नहीं देता, उसकी भूख मिटाने का साधन नहीं करता, वह मित्र नहीं है। मित्र के सम्बन्ध में हम कई बार वह वेदवचन उद्धृत कर चुके हैं—**'सखा सखायमतरद् विषूचोः'** [ऋ० ७।१८।६]=मित्र मित्र को विषमावस्था से बचाता है। मित्र सामने भूख से तड़प रहा है। ऐसी विषम दशा में भी जो मित्र उद्धार नहीं करता, **वेद** कहता है, ऐसा मनुष्य मित्र नहीं है। वेद ऐसे पत्थर-दिल=पाषाणहृदय के सम्बन्ध में कहता है—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते ॥—ऋ० १०।११७।२

जो दुर्दशाग्रस्त, दुःखित, समीपप्राप्त अन्नाभिलाषी को अन्नवान् होता हुआ भी अन्न नहीं देता, और मन को कठोर कर लेता है, प्रत्युत उसके सामने ही खाता है, उसे कोई सुखदायी नहीं मिलता। कितना ही कोई धनी-मानी क्यों न हो, यदि उसमें दीन-दुःखियों के दुःख दूर करने की रुचि-प्रवृत्ति नहीं है, तो उसके दुःखशोक में भी उसे कोई सान्त्वना नहीं देता, कोई उसके साथ सहानुभूति या समवेदन का प्रकाश नहीं करता। यह ठीक है कि समीपस्थ का दुःख दूर करने में विशेष वाहवाही नहीं होती, किन्तु वास्तविक दान तो वही है। जैसाकि ऋषि दयानन्द ने अपने उपदेश में कहा है—

"अन्न-जल का दान कोई भी भूखा-प्यासा मिले, उसे दे देना चाहिए। ऐसा दान पहले अपने दीन-दुःखी पड़ोसी को देना चाहिए। पास के रहनेवाले का दारिद्र्य दूर करने में सच्ची अनुकम्पा और उदारता को अवकाश मिलता है। इसे वाह-वाह नहीं मिलती, इसीलिए अभिमान को भी अवकाश नहीं मिलता। समीपस्थ दुःखी को देखकर और पीड़ित का अवलोकन करके ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं। जो समीपवर्त्ती जन पर तो दया आदि भावों को नहीं दिखलाता, किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के लिए उनका प्रकाश करता है, उसे दयावान्, अनुकम्पाकर्त्ता और सहानुभूतिप्रकाशक नहीं कह सकते। ऐसे मनुष्यों का दान बाहर का दिखावा और ऊपर का आडम्बर है। दान आदि वृत्तियों का विकास दीपक की ज्योति की भाँति समीप से दूर तक फैलना उचित है।"

वेद कहता है, ऐसे अदाता से दूर भाग जाना चाहिए, उसके घर को घर नहीं मानना चाहिए। वेद कहता है—**'पृणीयादिन्नाधमानाय'** [ऋ० १०।११७।५]—याचक को प्रसन्न ही करना चाहिए। जो याचक को नहीं देता, वेद उसके अन्न को व्यर्थ बताता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य !
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ।।—ऋ० १०।११७।६

वह मूर्ख व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है, सच कहता हूँ वह अन्न नहीं, वह तो उसकी मौत है, जो न तो धर्मात्मा को पालता है और न मित्र को—ऐसा अकेला खानेवाला केवल पाप को ही खाता है, अतः असमर्थ, अशक्त को अन्नादि का दान अवश्य करना चाहिए।

२६२. सब एक-समान नहीं होते

ओ३म् । समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्य्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥

—ऋ० १०।११७।९

शब्दार्थ—**हस्तौ** दोनों हाथ **समौ+चित्** एक-समान होते हुए भी **समम्** एक-समान **न** नहीं **विविष्टः** कर्म्म कर पाते । **सम्मातरा+चित्** एक मातावाली होती हुई भी दो बछड़ियाँ **समम्** एकसमान **न** नहीं **दुहाते** दुहातीं, दूध देतीं । **यमयोः+चित्** दो जोड़ियों के **समा** एक-समान **वीर्य्याणि** बल **न** नहीं होते । **ज्ञाती+सन्तौ+चित्** नातेदार होते हुए भी **समम्** एक-समान **न** नहीं **पृणीतः** दूसरों की तृप्ति करते, अथवा दान नहीं देते ।

व्याख्या—संसार में विषमता का राज्य दीखता है । दृष्टान्तों द्वारा वेद ने इस तत्त्व का बोध कराया है । शरीर में दायें-बायें हाथ में एक-सी शक्ति नहीं होती । एक गौ की दो बछड़ियाँ एक-समान दूध नहीं देतीं, साथ उत्पन्न दो भाई एक-से बलवान् नहीं होते, इसी भाँति दो सम्बन्धी एक-समान दानी नहीं होते । सृष्टि में यह विषमता प्रत्यक्ष है । इस विषमता से उलटी शिक्षा मत लो—अमुक दान नहीं देता, तो हम क्यों दें । प्रत्युत जो तुमसे हीनतर दशा में हैं, उनकी सहायता करो, उनके दुःख दूर करने के लिए प्रयत्न करो । इस विषमता का ऋग्वेद [१०।७१।७] में बड़ा सुन्दर निरूपण है । यहाँ दान का प्रकरण है, वह ज्ञान का प्रकरण है—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥

आँखोंवाले, कानोंवाले होते हुए सखा=एक-साथ ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्य मन के वेगों में एक-समान नहीं होते । कोई मुख तक जलवाले तालाब के समान, कोई कक्ष=बगल तक आनेवाले जलाशय के तुल्य और कोई डुबकी लगाकर नहाने योग्य जलाशयों के सदृश देखे जाते हैं । गुरु शिष्यों को पढ़ा रहा है, आँख-नाक सभी के एक-साथ दीख रहे हैं किन्तु कोई पाठ को समझ पाता है और कोई नहीं । इसका कारण यह है कि सबके मन एक-समान नहीं होते । इसी मन की भिन्न अवस्था के कारण कोई महाज्ञानी हो जाते हैं, कोई मध्यम कोटि के विद्वान् और कोई साधारण ज्ञानवान् और कोई-कोई सर्वथा मूढ़ रह जाते हैं ।

यह विषमता आकस्मिक नहीं है । जैसे विद्या के सम्बन्ध में मन की भिन्न अवस्थाएँ सबको एक-समान विद्वान् नहीं बनने देतीं, इसी प्रकार मन की ये भिन्न अवस्थाएँ मनुष्यों को एक-समान कर्म्म भी नहीं करने देतीं । कर्म्मभेद के कारण ही सारी विषमता है । जीवों की रुचियों के भेद के कारण प्रवृत्ति-भेद इस विषमता का समाधान है । अल्पज्ञता के कारण किसी समय हमसे भी दुर्गतिदायक कर्म्म हो सकते हैं, उनके फलस्वरूप हम भी परमुखापेक्षी बन सकते हैं । उस दशा का विचार कर विचारशील मनुष्य अपने चित को करुणार्द्र बनाकर दीन-दुःखियों की सहायता में तत्पर हो जाता है ।

२६३. चित्ति, उक्ति, कृति की एकता
(विचार, उच्चार, आचार की समानता)

ओ३म् । सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ —ऋ० १०।१९१।२

शब्दार्थ—यथा जैसे **पूर्वे** पूर्ववर्त्ती अथवा पूर्ण **देवाः** विद्वान् **सं+जानानाः** भली प्रकार जानते हुए **भागम्** सेवन करने योग्य, मोक्ष, प्रभु की **उपासते** उपासना करते हैं, वैसे ही तुम सब **सं+गच्छध्वम्** एक-सा चलो, **सं+वदध्वम्** एक-सा बोलो । **वः+जानताम्** तुम ज्ञानियों के **मनांसि** मन **सम्** एक-समान हों।

व्याख्या—ऋग्वेद [१०।१९१।१] में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि प्रभो ! हमें धन दो। भगवान् ने तीन मन्त्रों में धन-साधन का उपदेश किया है । उन तीनों में से यह पहला मन्त्र है । भगवान् का आदेश है—

१. **सं गच्छध्वम्**=तुम सब एक-सा चलो, अथवा एक-साथ चलो । किसी कार्य्य की सिद्धि के के लिए कार्य्य करनेवालों की चाल, गति भिन्न-भिन्न होगी, तो कार्यसिद्धि में बड़ी बाधा आ खड़ी होगी, अतः सभी की गति, कृति, आचार एक-सा होना चाहिए।

२. **सं वदध्वम्**=तुम सब एक-सा बोलो । चाल की समानता के लिए बोल की समानता अत्यन्त आवश्यक है । बोली=भाषा के भेद के कारण बहुधा विचित्र किन्तु निरर्थक झगड़े हुए हैं । एकता स्थापित करने के लिए एक भाषा का होना अत्यन्त आवश्यक है । एक भाषाभाषी एक गुट बना लेते हैं, प्रायः उनका दूसरी भाषा बोलनेवालों से सम्पर्क न्यून ही रहता है, फलतः उनसे उचित सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, अतः मनुष्यों की बोली, भाषा, उक्ति, उच्चार एक-सा होना चाहिए।

३. **सं वो मनांसि जानताम्**=तुम ज्ञानियों के मन एक-समान हों। एक-जैसा बोल तभी हो सकता है, जब मनों के भाव एक-से हों, अर्थात् जबतक मनुष्यों का ज्ञान, विचार एक-सा न हो, तबतक उच्चार और आचार की एकता असम्भव है । उच्चार और आचार का मूल विचार है, क्योंकि जो कुछ मन में होता है, वही वाणी पर आता है और जो वाणी से बोला जाता है, वही कर्म्म में परिणत होता है। पूर्ण विद्वान् सदा ही एक-सा व्यवहार करते हैं। अथर्ववेद [६।६४।१] में भी इसी प्रकार का मन्त्र है । उसके पूर्वार्द्ध में थोड़ा-सा भेद है। उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—**'सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** एक-सा चलो, एक-साथ मिलो । तुम सब ज्ञानियों के मन एक-समान हों।

ऋग्वेद में **'संवदध्वम्'** है, अथर्ववेद में **'संपृच्यध्वम्'** है। इस एक शब्द के भेद ने बहुत ही चमत्कार किया है। ज्ञानीजन यह कर सकते हैं कि अपने ज्ञान द्वारा विचार में समानता उत्पन्न करके उच्चारों, आचारों में समानता ला दें । किन्तु अज्ञानीजनों के विचारों में एकता नहीं हो सकती । अथर्ववेद के मन्त्र में उसी का साधन बताया है—तुम सब इकट्ठे चलो, और एक-दूसरे के साथ मिल जाओ, तब ज्ञानियों के समान तुम्हारे विचार भी एक-से हो जाएँगे । ऋग्वेद में साध्य पहले कहा है। अथर्ववेद में उन्हीं शब्दों द्वारा, केवल एक शब्द का भेद करके, साधन—सिद्धि का उपाय—बतला दिया है।

२६४. एक मन्त्र, एक सभा

**ओ३म् । समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥**

—ऋ० १०।१६१।३

शब्दार्थ—तुम्हारा **मन्त्रः** गुप्त विचार, अथवा मन्त्र=पूजा का मन्त्र **समानः** एक हो । **समितिः** समिति **समानी** एक हो । **एषाम्** ऐसे तुम लोगों का **मनः सह चित्तम्** मन के साथ चित्त भी **समानम्** समान हो । मैं **वः** तुमको **समानम्** समान=एक **मन्त्रम्** वेदोपदेश **अभिमन्त्रये** देता हूँ और **वः** तुमको **समानेन** एक-जैसी **हविषा** भोग-सामग्री **जुहोमि** देता हूँ ।

व्याख्या—विचार, उच्चार और आचार की समानता के कुछ अन्य साधनों का उपदेश करते हैं—

(१) **समानो मन्त्रः**=पूजा का या गुरुमन्त्र एक-सा होना चाहिए । भिन्न पूजासाधनों से भेद और आग्रह की वृद्धि होती है । भेद और आग्रह कलह को बढ़ाते हैं ।

(२) **समितिः समानी**=विचार करने की, मन्त्रणा की जगह भी एक होनी चाहिए ।

(३) **समानं मनः सह चित्तमेषाम्**=मन के साथ चित्त भी एक हो । केवल मनों की एकता से कार्य्यसिद्धि नहीं हुआ करती; वरन् जिसके आचार, उच्चार, विचार, मन्त्र, समिति, सभी एक-से हैं, यदि उनके मन के साथ उनके चित्त का=हृदय का सहयोग नहीं, तो सफलता सन्दिग्ध रहती है. क्योंकि हृदय में उल्लास और उत्साह न होने से कार्य्य का सम्पादन उचित रीति से नहीं हो पाता ।

ये सब क्यों समान हों, भगवान् इसका हेतु देते हैं—

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः⋯⋯जुहोमि

तुम सबको मैंने एक मन्त्र से दीक्षा दी है और एक-सी भोग-सामग्री दी है ।

सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने जीवों के कल्याण के लिए वेदज्ञान दिया है । वह सबके लिए समान है । तभी तो वेद को 'विश्वजन्या'=विश्वजन की हितकारिणी वाणी कहा है । सूर्य्य, चन्द्र भूमि, जल, अग्नि, वायु आदि सभी के लिए दिये हैं । जब सबको ज्ञान तथा ज्ञेय एक-से दिये हैं, तो आचार-विचार आदि में भेद क्यों हो !

अथर्ववेद में इसी जैसा मन्त्र [६।६४।२] है, उसके पूर्वार्द्ध में **'मनः'** के स्थान में **'व्रतम्' है** । 'व्रत' का अर्थ उद्देश्य होता है । मन्त्र और समिति की समानता तभी हो सकती है, जब 'व्रत'=उद्देश्य=ध्येय=लक्ष्य की एकता हो । देखिए, एक शब्द के भेद ने अर्थ में कितना चमत्कार कर दिया है । उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—**'समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभि संविशध्वम्'** [६।६४।२]=तुम सबको समान भोग, सामान देता हूँ, अतः तुम एक चेतः=चित्त में घुस जाओ, अथवा एकचित्तता का अनुभव करो । भगवान् के इस उपदेश का गम्भीर भाव है । प्रतीयमान विषमता के अन्दर भी समता है । इसको समझकर तुम सब एक-सा चिन्तन करो और अन्त में एकचित्तता धारण करो ।

२६५. संकल्प एक-जैसे

ओ३म् । समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ —ऋ० १०।१६१।४

शब्दार्थ—**वः** तुम्हारी **आकूतिः** संकल्प-शक्ति अथवा विवेचन-शक्ति **समानी** समान हो । **वः** तुम्हारे **हृदयानि** हृदय **समाना** समान हों । **वः** तुम्हारा **मनः** मन, मननसाधन **समानम्** समान **अस्तु** हो । **यथा** ताकि **वः** तुम्हारा **सह** बल, सहनसामर्थ्य **सु+असति** उत्तम रीति से चमके ।

व्याख्या—काम=संकल्प=आकूति एक न हो तो फिर किसी तरह एकता नहीं हो सकती । इस सूक्त में आचार, उच्चार, विचार की एकता का प्रचार है । उसके सभी वैज्ञानिक साधन-प्रकार बतलाकर अन्त में इन सबके मूल का उपदेश किया है—**'समानी व आकूतिः'**=तुम्हारा संकल्प एक हो, क्योंकि—**'कामस्तदग्रे समवर्त्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** [अ० १९।५२।१]=मनन का=विचार का जो पहला बीज है, वह काम=संकल्प सबसे पहले होता है ।

संकल्प की एकता से हृदयों और मनों की एकता का प्राप्त करना सरल होता है । जब हृदयों और मनों की एकता हो जाती है तब शक्ति तो स्वतः ही आ जाती है ।

'संगच्छध्वम्', 'समानो मन्त्रः' और **'समानी व आकूतिः'** इन तीन मन्त्रों पर विचार करने से निम्नलिखित तत्त्वों का ज्ञान होता है—उत्तम शक्ति-प्राप्ति के लिए १. एकता की आवश्यकता है । एकता के लिए २. एक चाल, एक आचार अनिवार्य्य है । आचार की एकता के लिए ३. बोली की एकता=समान-उच्चार का प्रचार करना चाहिए । बोली की अभिन्नता के लिए ४. विचार की अभिन्नता परम आवश्यक है । विचार की अभिन्नता के लिए ५. विचारणीय विषय=मन्त्र तथा ६. विचार-स्थान एक होना चाहिए । इसके लिए ७. मन और चित्त के समीकरण के साथ व्रत की=उद्देश्य की एकता चाहिए । लक्ष्य की एकता भोगसामग्री के भेद से टूटती है, अतः ८. भोग का सामान भी समान होना उचित है तथा ९. पूजा का प्रकार और धर्म्मग्रन्थ भी एक हो और इन सबके साथ हो १०. संकल्प की एकता । फिर जो शक्ति आएगी वह अटूट होगी ।

इन मन्त्रों पर ध्यान दीजिए । ये मनुष्यमात्र की एकता का उपदेश कर रहे हैं । ऋग्वेद में सूक्ष्म परमाणु से लेकर महान् ब्रह्म का ज्ञान देकर अन्त में ज्ञान का फल एकता बतलाने के लिए इन मन्त्रों का उपदेश किया गया है ।

२६६. यज्ञमय जीवन

ओ३म् । आयुर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा प्राणो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहाऽपानो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा व्यानो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहोदानो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा समानो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा वाग्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा मनो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहाऽऽत्मा यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा स्वर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा पृष्ठं यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा यज्ञो यज्ञेन कल्पताꣳ स्वाहा ॥

—य० २२।३३

शब्दार्थ—**आयुः** आयु=जीवन **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** सफल हो, ऐसा **मैं स्वाहा** सच्चे हृदय से कहता हूँ । **प्राणः** प्राण **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, ऐसा **मैं स्वाहा** ठीक-ठीक कहता हूँ । **अपानः** अपान **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, ऐसा **मैं स्वाहा** हृदय से चाहता हूँ । **व्यानः** व्यान **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो **स्वाहा** ऐसा मैं ठीक-ठीक कहता हूँ । **उदानः** उदान **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसा मैं अपनी वाणी से कहता हूँ । **समानः** समान **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसा मैं ठीक-ठीक कहता हूँ । **चक्षुः** चक्षु=नेत्र **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** सफल हो, **स्वाहा** ऐसा मैं अन्तस्तल से कहता हूँ । **श्रोत्रम्** कान **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** सफल हो, **स्वाहा** ऐसा मैं कहता हूँ । **वाग्** वाणी **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, यह मैं **स्वाहा** ठीक-ठीक कहता हूँ । **मनः** मन **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसा मैं ठीक-ठीक कहता हूँ । **आत्मा** आत्मा **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसा मैं ठीक-ठीक कहता हूँ । **ब्रह्मा** ब्रह्मा **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसा मैं ठीक-ठीक कहता हूँ । **ज्योतिः** ज्योति =प्रकाश **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसा मैं उचित रीति से कहता हूँ । **स्वः** आनन्द **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसी मेरी हार्दिक कामना है । **पृष्ठम्** पृष्ठ=पीठ, या परोक्ष **यज्ञेन** यज्ञ द्वारा **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसा मेरा भाव है । **यज्ञः** यज्ञ **यज्ञेन** यज्ञ से **कल्पताम्** समर्थ हो, **स्वाहा** ऐसी मेरी कामना है ।

व्याख्या—यज्ञ के सम्बन्ध में पहले बताया जा चुका है । वैदिकधर्म्म यज्ञप्रधान धर्म्म है । इस मन्त्र में यज्ञ को जीवन की प्रत्येक क्रिया में ओतप्रोत करने की कामना की गई है और यज्ञ की सफलता, समर्थता भी यज्ञ से चाही गई है ।

सबसे पहले आयु को यज्ञ से सफल करने की कामना की गई है अर्थात् सारा-का-सारा जीवन यज्ञ-मय हो । अनन्तर जीवन के साधनभूत पाँचों प्राणों को यज्ञ से समर्थ करने की प्रार्थना की है । भीतर से बाहर आनेवाले प्राणवायु को 'प्राण', बाहर से भीतर आनेवाले प्राणवायु को 'अपान', जो प्राणवायु नाभिस्थ होकर सर्वशरीर में रस पहुँचाता है उसे 'समान', जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान खींचा जाता है और बल-पराक्रम होता है वह प्राणवायु 'उदान', जिससे समस्त शरीर में जीव चेष्टा आदि कर्म्म करता है वह प्राणवायु 'व्यान' है । ये पाँच प्राण मिलकर प्राणमयकोश बनाते हैं अर्थात् प्राणमयकोश भी यज्ञ से, उचित संगतिकरण से= प्राणायाम से समर्थ हो । इसके बाद चक्षुः और श्रोत्र इन्द्रियों की [जो ज्ञानेन्द्रिय मात्र के उपलक्षण हैं] यज्ञ से सफलता माँगी है, तनिक इसके साथ सन्ध्या में आनेवाले **'ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः'** और **'ओं चक्षुश्चक्षुः' 'ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्'** ऋषिवाक्यों को स्मरण कर लीजिए । आँख-कान तभी पवित्र होंगे, जब ये यज्ञमय होंगे ।

अनन्तर वाणी की समर्थता,बलवत्ता की अभिलाषा की गई है। शास्त्र में वाणी को **'वाग् वा अग्निः'** कहा गया है। यदि अग्नि यज्ञादि क्रियाओं में नियन्त्रित रहे तो महाकल्याण हो, अन्यथा सब-कुछ भस्म हो जाता है। वाणी की यज्ञ=देवपूजा, हितोपदेश में सफलता है। मन का यज्ञ है ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्म्मेन्द्रियों को आत्मा के कार्य्य में नियुक्त रखकर स्वयं भी आत्मा की कार्य्यसिद्धि करना। स्वार्थ से रहित होना, आयुः-प्राण आदि परम गुरु परमेश्वर के अर्पण करना आत्मा का यज्ञ है। आत्मा का ज्ञान-सम्पन्न होकर अपने ज्ञान का प्रसार करना ब्रह्म=ज्ञान की सफलता है। आध्यात्मिक मार्ग पर चलते-चलते जो ज्योति प्राप्त होती है, उससे आगे चलते जाना उस ज्योति की सफलता है। उस ज्योति-मार्ग के आक्रमण से, उसकी ओर कदम रखने से, स्वः=आनन्द प्राप्त होता है। आनन्द-प्राप्ति के साथ दूसरों को उस आनन्द का उपभोग कराना ही 'स्वः' की यज्ञ द्वारा सफलता है। आनन्द के आधार की भी सफलता यज्ञ में है।

तनिक ध्यान देने से पता लगता है कि परोपकार, प्राणायाम, इन्द्रिय-निग्रह, दम, आत्मज्ञान, परमात्मबोध आदि सभी पदार्थ यज्ञ हैं। यज्ञ में 'स्वाहा' करके स्वार्थत्याग की घोषणा करनी होती है।

२६७. फ़सादियों को नीचा दिखा

ओ३म् । वि न॑ इन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः ।
अ॒ध॒मं ग॑मया॒ तमो॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥ —अ० १।२१।२

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** राजन् ! सेनापते ! **नः** हमारे **मृधः** मसलनेवालों को **वि** विशेष रूप से **जहि** मार दे । **पृतन्यतः** फ़साद की कामना करनेवाले को **नीचा** नीचे **यच्छ** दबा दे । **यः** जो **अस्मान्** हमको **अभिदासति** दबाना चाहता है, बाँधना चाहता है, नष्ट करना चाहता है, उसको **अधमं** घोर **तमः** अन्धकार में **नय** ले जा ।

व्याख्या—**'रुचीनां वैचित्र्यात्'** मनुष्य-समाज में भले-बुरे दोनों प्रकार के मनुष्य होते हैं । राष्ट्र का हित इसी में है कि स्थिर शान्ति रहे । अशान्ति और उपद्रव के कारण विद्या, शिल्प, व्यवसाय आदि देशोन्नतिकारक सभी शुभ उद्योगों का ह्रास होता है, वृद्धि नहीं होती । राष्ट्रहितैषी का कर्त्तव्य है कि वह प्राणपण से देश में शान्ति स्थापित रखे । राष्ट्रवासी जन राष्ट्रपति से कह रहे हैं—**'वि न इन्द्र मृधो जहि'** =इन्द्र ! राजन् ! हमारे मृधों=मसलनेवालों को मार दे । राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजापीड़कों को, चाहे वे उच्चपदस्थ ही क्यों न हों, मार दे । प्रजा राज्य का मूल है । जिस प्रकार किसी वृक्ष का मूल मसल देने से उस वृक्ष की बाढ़ रुक जाती है और वह क्रमशः सूखकर भूमि पर आ गिरता है, इसी प्रकार यदि प्रजा को राज-कर्मचारी, अथवा चोर डाकू व अन्य आततायी दस्यु आदि मसलते रहें, पीड़ित करते रहें और उसका उपाय या प्रतीकार न किया जाए तो उसके सूख जाने से राज्य ही अन्त में सूखेगा । राज्य के साथ राजा या राष्ट्रपति भी समाप्त होगा, अतः राष्ट्रवादियों की यह माँग कि **'वि न इन्द्र मृधो जहि'** सर्वथा उचित और मान्य है । अथर्ववेद [१।२१।३] में मानो इस माँग का विस्तार है—**'वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज'**=राक्षसों को, प्रजोत्पीड़कों को मार दे और प्रजाशोषक के हनु तोड़ दे अर्थात् प्रजा-घाती दुष्टों को कठोर-से-कठोर दण्ड देना चाहिए । प्रजा की दूसरी माँग है—**'नीचा यच्छ पृतन्यतः'** फ़सादियों को नीचा दिखा, दबा दे ।

फ़साद, फ़ितना=उपद्रव के कारण प्रजा में विह्वलता तथा विकलता बढ़ी रहती है, इससे प्रजा कोई भी सत्कार्य्य नहीं कर सकती । जिन देशों में राष्ट्रप्रबन्ध की अव्यवस्था के कारण सदा पृतना=फ़ितना=फ़साद=उपद्रव-झगड़े होते रहते हैं, वे देश जीवनोपयोगी सामग्री के लिए सदा परमुखापेक्षी ही रहते हैं । राष्ट्रपति का यह एक प्रधान कर्त्तव्य है कि देश की अन्तरङ्ग शान्ति स्थिर रखे । ऋग्वेद [१०।१५२।२] में इन्द्र=राजा के सम्बन्ध में कहा गया है—

स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा वि मृधो वशी । वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥

राजा स्वस्तिदा=कल्याणदाता, शान्तिप्रदाता, प्रजापालक, पापनाशक, प्रजोत्पीड़कों का नियन्त्रणकारी, सुखवर्षक, ऐश्वर्यरक्षक, और अभयङ्कर=भयरहित करनेवाला हमारा नेता हो । राजा का काम है कि प्रजा में स्वस्ति स्थापन करे और प्रजा के ऐश्वर्य्य की रक्षा द्वारा उनको निर्भय करे । अन्तरङ्ग-शान्ति के साथ बाह्य आक्रमणों से भी रक्षा करना राजा का धर्म्म है । **'अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभि दासति'**=उन्हें घोर अन्धकार में पहुँचा, जो हमें बाँधना चाहता है ।

राजा यदि परराज्यापहारी से प्रजा की रक्षा न करेगा तो अपना राज्य खो बैठेगा ।

२६८. हिंसा-निषेध

ओ३म् । प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम् ।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥ —य० १२।३२

शब्दार्थ—हे **अग्ने** विद्वन् ! ज्ञानिन् ! **त्वम्** तू **बृहद्भिः+भानुभिः** महान् ज्ञानप्रकाशों से **भासन्** चमकता हुआ और **शिवेभिः** कल्याणकारिणी **अर्चिभिः** किरणों से, ज्वालाओं से, पूजाओं से **ज्योतिष्मान्** ज्योतिर्मय होता हुआ **इत्** ही **प्रयाहि** उत्तम गति प्राप्त कर और **प्रजाः** प्रजाओं को **तन्वा** शरीर से **मा** मत **हिंसीः** मार ।

व्याख्या—ज्ञान का फल तो सबमें समानता का ज्ञान है । किसी ने कहा भी है—**'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति'**—सब प्राणियों को जो अपने समान जानता है, वही ज्ञानी है । जब सबको अपने समान जाना और पहचाना, तब किसी को किसी की हत्या करने का साहस कैसे हो सकेगा ? क्या कोई वीर है जो दूसरों से उत्पीड़ित होना पसन्द करता है ? कोई भी नहीं चाहता कि उसकी कोई हत्या करे, फिर वह दूसरों की हत्या के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? नीतिकार कहते हैं—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**=अपने विपरीत बातें दूसरों के लिए न करे ।

वैदिक जन व्यर्थ की हिंसा कर ही नहीं सकता, क्योंकि उसकी घोषणा है—**'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'** [य० ३६।१८]—मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ । क्या कोई मित्र मित्र की हत्या कर सकता है ? केवल मैं अकेला ही नहीं, प्रत्युत हम सब—**'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'**=मित्र की दृष्टि से देखें अर्थात् हम किसी का घात-पात न करें । बुद्धि-भ्रष्ट होने पर हिंसा की प्रवृत्ति होती है । जैसा कि वेद में कहा है—**'यत्र वि जायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती'** [अ० ३।२८।१] =जिस अवस्था में बुद्धि विशेष बिगड़ जाती है, तब वह शस्त्राघात से मारती हुई तथा अन्य उपायों से हत्या करती हुई पशुओं को नष्ट करती है ।

कई लोग पशुजगत् में हिंसा—मार-काट देखकर हिंसा को प्राकृतिक नियम बतलाते हैं । वे भूल जाते हैं कि वे मनुष्य हैं, पशु नहीं हैं । पशुओं का अनुकरण करने से मनुष्य में पशुपन ही बढ़ेगा । पशुओं में सन्तान को खा जाने की प्रवृत्ति है । क्या मनुष्य यह करने को तैयार है ? यदि नहीं तो हिंसा को स्वाभाविक या प्राकृतिक नियम बताना निस्सार है । वेद में **'पशून् पाहि'** [पशुओं की रक्षा कर] का विधान है और **'मा हिंसीः'** तथा **'मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः'** हिंसानिषेध स्पष्ट है । इन विधि-निषेधों के होते हिंसा को वेदानुमोदित बतलाना वेद के साथ अन्याय करना है ।

२६६. सुकर्म्मों से पवित्रता

ओ३म् । स मृज्यते सुकर्मभिर्देवो देवेभ्यः सुतः ।
विदे यदासु सन्ददिर्महीरपो वि गाहते ॥ —ऋ० ६।६६।७

शब्दार्थ—देवेभ्यः देवों से देवों के लिए **सुतः** निष्पादित किया हुआ **सः** वह **देवः** देव **कर्म्मभिः** कर्म्मों द्वारा **मृज्यतेः** पवित्र किया जाता है । **सन्ददिः** उत्तम दानी **यत्** जब **आसु** इनमें **विदे** प्राप्त करता है तब वह **महीः** महान् **अपः** जलों में **वि-गाहते** अवगाहन करता है ।

व्याख्या—बड़े कुल में जन्मा है, माता-पिता का लक्ष्य भी ऊँचा है, वे इसे देवों के अर्पण करना चाहते हैं, किन्तु किसी महनीय वंश में उत्पन्न होने-मात्र से तथा माता-पिता की महनीय इच्छामात्र से कोई महान् नहीं बन गया । प्रसिद्ध खान में से हीरा निकला है, सान पर चढ़ाये बिना उसकी शान नहीं बनती । किसी कवि ने कहा है—**'अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति'**=जब तक हीरों को सान पर न कसा जाए, तबतक वे राजमुकुट का अलंकार—चूड़ामणि नहीं बन सकते । इसी प्रकार महाकुलप्रसूति के साथ स्वकरतूति भी चाहिए । इसी बात को वेद अपनी हृदयहारिणी शैली में कहता है—**'स मृज्यते कर्म्मभिर्देवो देवेभ्यः सुतः'**=देवों से देवों के लिए निष्पन्न वह देव—कर्म्मों द्वारा शुद्ध होता है । तभी तो वेद में यावज्जीवन कर्म्म करने का विधान है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥—य० ४०।२

सारी आयु मनुष्य कर्म्म करता हुआ इस संसार में जीने की इच्छा करे; इस प्रकार के मनुष्य में कर्म्म बन्धन का कारण नहीं होता । इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है । इस तरह निरन्तर कर्म्म करने से आत्मा की शुद्धि होती है । शुद्ध होने पर आत्मा का तेज बहुत बढ़ जाता है । जैसा कि योगदर्शन [२।२८] में वर्णित है—

'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'

योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि-नाश होने पर तबतक ज्ञानप्रकाश बढ़ता जाता है, जबतक प्रकृति-पुरुष का पूर्णतया भेद ज्ञान नहीं होता । जब मनुष्य इस प्रकार अपने आत्मा की शुद्धि कर लेता है, तब वह—**'महीरपो वि गाहते'**=बड़े-बड़े जलों में घुसता है । जल का अभिप्राय यहाँ सूक्ष्म क्रियाएँ हैं अर्थात् गम्भीर कार्य्यों का सामर्थ्य आत्मशुद्धि के बिना अशक्य है ।

२७०. सात मर्य्यादाएँ

ओ३म् । सप्त मर्य्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

—ऋ० १०।५।६

शब्दार्थ—**कवयः** ज्ञानी महात्माओं ने **सप्त** सात **मर्यादाः** मर्यादाएँ **ततक्षुः** बनाई हैं । यदि **तासाम्** उनमें से **एकाम्+इत्** एक को भी, मनुष्य **अभि+अगात्** उल्लंघन करता है, तो वह **अंहुरः** पापी होता है । किन्तु वह मनुष्य **ह** सचमुच **आयोः** प्रगति का, उन्नति का, अभ्युदय का, ज्ञान का **स्कम्भः** स्तम्भ है, जो **धरुणेषु** विपत्ति के अवसरों पर, धैर्य्य की परीक्षा के समयों पर और **पथां+विसर्गे** मार्गों के चक्कर पर भी **उपमस्य** उपमा देने योग्य भगवान् के **नीळे** आश्रय में **तस्थौ** स्थिर रहता है ।

व्याख्या—निम्नलिखित सात मर्य्यादाएँ हैं—

(१) अहिंसा=मन वचन और कर्म्म से किसी को पीड़ा न पहुँचाना । (२) सत्य=यथार्थ का ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार आचरण करना । (३) अस्तेय=पराये पदार्थ को स्वामी की आज्ञा के बिना कभी न लेना । (४) ब्रह्मचर्य्य=व्यभिचारत्याग, वेदाध्ययनपूर्वक वीर्य्यरक्षा । (५) शौच=शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शुद्धि रखना=व्यवहारशुद्धि । (६) स्वाध्याय=आत्मचिन्तन, आत्मानात्मविवेचन । (७) ईश्वरप्रणिधान=सब कर्म्म प्रभु के अर्पण कर देना । इनमें से किसी का भी उल्लंघन करनेवाला पापी हो जाता है । इन मर्य्यादाओं पर ध्यान दीजिए । सभी का किसी-न-किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध है । यथा अहिंसा शरीर, वाणी और मन तीनों से सम्बद्ध है । सत्य का वाणी से सम्बन्ध है । अस्तेय का शरीर से सम्बन्ध है । ब्रह्मचर्य्य का जननेन्द्रिय से सम्बन्ध है । शौच का सभी इन्द्रियों से सम्बन्ध है । स्वाध्याय का मन और वाणी से सम्बन्ध है । ईश्वरप्रणिधान का मन से सम्बन्ध है । इसका भाव यह हुआ कि इन मर्य्यादाओं की रक्षा के लिए इन्द्रिय-निग्रह नितान्त प्रयोजनीय है । अतएव मनुजी ने कहा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं, क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥—मनु० २।९९

सभी इन्द्रियों में यदि कोई भी स्खलित होती है, तो मनुष्य का नाश होता है, जैसे चमड़े के पात्र से जल बह जाता है, अतः—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥—मनु० २।१००

इन्द्रियसमुदाय तथा मन को वश में करके और योग द्वारा शरीर को पीड़ा न देता हुआ सब कार्य्यों को सिद्ध करे ।

सचमुच वह वीर है जो कठिन परीक्षा के समय, मर्य्यादाभंग का प्रलोभन प्राप्त होने पर भगवान् को स्मरण कर दृढ़ रहता है । मनु ने भी ऐसे ही वीर को जितेन्द्रिय कहा है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥—मनु० २।९८

जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर, सूँघकर हर्ष-शोक को प्राप्त नहीं होता, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिए । जिसपर इन्द्रियाँ अपना प्रभाव नहीं डाल सकतीं, सचमुच वह वीर है ।

२७१. मुक्ति के अधिकारी

ओ३म् । नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥

—ऋ० १०।६३।४

शब्दार्थ—जो **ज्योतीरथाः** ज्ञानरूपी ज्योतिर्मय रथ पर आरूढ़, **अहिमायाः** अहीनशक्ति, कर्म्म-कुशल विद्वान्, महाबुद्धिमान्, अतएव **अनागसः** निर्दोष, पापरहित मनुष्य **स्वस्तये=सु-अस्तये** जगत् की उत्तम स्थिति के लिए, संसार के कल्याण के लिए **दिवः** प्रकाशमय प्रभु के **वर्ष्माणम्** सुखवर्षक धाम में **वसते** रहते हैं, अथवा अपने-आपको प्रभु की कृपा से आच्छादित कर लेते हैं, वे **नृचक्षसः** जगद्गुरु, मनुष्यमात्र के शिक्षक **अनिमिषन्तः** निर्निमेष होते हुए, आलस्य-प्रमाद आदि से रहित होकर, धारणा-ध्यान-समाधि का अनुष्ठान करनेवाले, परम उत्साही **अर्हणाः** योग्य **देवासः** सर्वस्वत्यागी, निष्काम विद्वान् **बृहत्** महान् **अमृतत्वम्** मोक्ष को **आनशुः** प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या—जन्म-मरण के क्लेश से छूटकर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का नाम मुक्ति है। वेद में अनेक स्थानों पर इसे अमृत नाम दिया गया है । शास्त्रों में इसे परम पुरुषार्थ, अत्यन्त पुरुषार्थ, कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष आदि नाम दिये गये हैं । संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं, जो यह चाहता हो कि मैं दुःख से न छूटूँ । किन्तु कोई विरला ही दुःख से छूट पाता है । मन्त्र में दुःख से छूटकर ब्रह्मानन्द पानेवालों के कुछ लक्षण बताये गये हैं—

(१) **नृचक्षसः**—जगद्गुरु तथा मनुष्य को देखनेवाले, जिन्हें मनुष्यत्व की परख हो । पशुपक्षियों से मनुष्य का भेद जानकर, भोगभाव से ऊपर उठकर, आत्मा-परमात्मा-चिन्तन में स्वयं रत होकर दूसरों को वैसी प्रेरणा करनेवाले ।

(२) **अनिमिषन्तः**—आलस्य-प्रमादादि-रहित, मुक्तिसाधनों के अनुष्ठान में जो क्षणभर भी प्रमाद न करें, वरन् **'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म्ममाचरेत्'**—धर्म्माचरण करते ऐसा सोचें कि मानो मृत्यु ने केश पकड़ रखे हैं, जाने कब झटका दे दे ।

(३) **अर्हणाः**—स्वयं पूज्य तथा भगवत्पूजापरायण ।

(४) **देवासः**—निष्काम तत्त्वज्ञानी ।

(५) **ज्योतीरथाः**—ज्ञानरथारूढ़ । आत्मा, परमात्मा तथा संसार के भेद का रहस्य जिन्होंने भली-भाँति जान लिया है ।

(६) **अहिमायाः**—अहीनशक्ति, ज्ञानानुसार कार्य्य करने में कुशल ।

(७) **अनागसः**—निर्दोष, पापरहित । यथार्थ ज्ञान के कारण जिन्होंने विकर्म्मों का सदा त्याग कर दिया है ।

(८) **दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये**—जो ज्ञानबल को धारण करते हैं, प्रभु के सुखवर्षक तेज को धारण करते हैं । उस ज्ञान व तेज का प्रयोजन संसार-दशा-सुधार होता है ।

सार यह है कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके, उस ज्ञान के अनुसार सत्कर्म्म करनेवाले निर्दोष लोकोपकारक महात्मा मोक्ष पाते हैं ।

२७२. तेरे बिना मुक्त आनन्द नहीं पाते

ओ३म् । म॒हाँ अ॑स्यध्व॒रस्य॑ प्रके॒तो न ऋ॒ते त्वद॒मृता॑ मादयन्ते ।
आ विश्वे॑भिः स॒रथं॑ याहि दे॒वैर्न्य॑ग्ने॒ होता॑ प्रथ॒मः स॑दे॒ह ॥

—ऋ० ७।११।१

शब्दार्थ--हे **अग्ने** ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! तू **अध्वरस्य** मार्गप्रदर्शन का **महान्** बड़ा **प्रकेतः** उत्तम बोधक **असि** है, अथवा अध्वरस्य—अहिंसामय, हिंसारहित मङ्गल कार्य्यों का महान् ज्ञानदाता है। **अमृताः** मुक्त आत्मा **त्वत्+ऋते** तेरे बिना **न मादयन्ते** आनन्द नहीं पाते। हे प्रभो ! तू **विश्वेभिः** सम्पूर्ण **देवैः** दिव्य गुणों के साथ **सरथम्** रमण-साधन के समेत **आ+याहि** सर्वत्र प्राप्त हो। हे भगवन् ! तू ही **इह** इस संसार में **प्रथमः** सबसे पहला **होता** होता होकर **नि+सद** नितरां रहता है।

व्याख्या—मोक्ष की अभिलाषा मनुष्यों को इस कारण होती है कि उस दशा में दुःख से सदा छुटकारा होकर आनन्द मिलता है। आनन्द-प्राप्ति के लिए ही समस्त प्राणियों की चेष्टा है। इसका ठीक-ठीक उपदेश कोई मनुष्य नहीं कर सकता। इसका यथार्थ ज्ञान भगवान् ही करा सकते हैं। वेद ने कहा है कि भगवान् ही—**'महान् अध्वरस्य प्रकेतः'**=मार्गप्रदर्शन का महान् उत्तम बोधक है, अतः उससे प्रार्थना की है—**'आ विश्वेभिः सरथं याहि देवैः'**=रमणसाधन-समेत सभी दिव्य गुणों के साथ तू हमें प्राप्त हो, क्योंकि—**'यस्य देवैरासदो बर्हिरग्नेऽहान्यस्मै सुदिना भवन्ति'** [ऋ० ७।११।२]—जिसके हृदय में दिव्य गुणों के साथ भगवान् आ विराजते हैं, उसके दिन सुदिन हो जाते हैं।

भगवान् का संग प्राप्त होते ही दुःख-दारिद्र्य, असामर्थ्य आदि सभी नष्ट हो जाते हैं और सुख, समृद्धि, ऐश्वर्य्य-शक्ति की प्राप्ति होती है। उसकी कृपा के बिना ये सब नहीं मिलते—**'न ऋते त्वदमृता मादयन्ते'**=तेरे बिना मुक्त आनन्द नहीं पाते। किसी में आनन्द है ही नहीं, पाएँ कैसे ? भगवान् आनन्द-धाम है, अतः—**'त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते'** [ऋ० १।५९।१]—उसी में सभी मुक्त आनन्द पाते हैं। प्रति-दिन की प्रार्थना में भी आता है—**'यत्र देवा अमृतमानशानाः'** [य० ३२।१०]—जिस भगवान् में रहकर सभी जीवन्मुक्त अमृत=मोक्षानन्द का उपभोग करते हैं। जब भगवान् से ही मोक्षानन्द मिलता है, तब तो ऋषियों का कहना युक्तियुक्त है कि—**'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ। अमृतस्यैष सेतुः'** (मुण्ड० २।२।५)—उसी एक व्यापक परमात्मा को जानो, पहचानो, दूसरी बातें छोड़ो, वही अमृत का **सेतु**=दाता है।

२७३. मुक्ति से पुनरावृत्ति

ओ३म् । ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥
ओ३म् । य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥
ओ३म् । य ऋतेन सूर्य्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि ।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥
ओ३म् । अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन ।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥

—ऋ० १०।६२।१-४

शब्दार्थ—ये जिन महात्माओं ने **यज्ञेन** यज्ञ, देवपूजा=परमेश्वरपूजा, संगतिकरण=विद्वत्सत्संग, दान=प्रत्येक पदार्थ से स्वस्वत्वत्यागपूर्वक ब्रह्मसत्वापादन से **दक्षिणया** दक्षिणा=दान-पुण्य से कर्मों में कुशलता के द्वारा---(कर्म्म के तीन प्रकार सम्भव हैं—कर्म्म, अकर्म्म, विकर्म्म । यजु० ४०।१-२ से विकर्म=उल्टे-उल्टे कर्म्मों, तथा अकर्म्म=न करने योग्य कर्म्मों का निषेध है, शेष रहे कर्म्म, वे निष्काम कर्म्म ही हो सकते हैं, अतः कर्म्मों में कुशलता का तात्पर्य है--निष्काम कर्म्मों में तत्परता] **इन्द्रस्य** अखण्डैश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मा के **अमृतत्वं सख्यं** मोक्षरूप समान गुण को **आनश** प्राप्त किया है। हे ऐसे **सुमेधसः** उत्तम धारणावती बुद्धि से युक्त **अङ्गिरसः** ज्ञानियो ! **मानवम्** मनुष्य-सम्बन्धी शरीर को **प्रतिगृभ्णीत** लौटकर पुनः ग्रहण करो । **तेभ्यः वः** ऐसे तुम लोगों का **भद्रं अस्तु** कल्याण हो ॥ **ये पितरः** जिन पदज्ञ=वेदवेत्ता विद्वानों ने **गोमयं** वाणीमय **वसु** धन **उद्+आजन्** उत्तम रीति से प्राप्त किया है, अथवा **गोमयं** पार्थिव **वसु** धन **उद्+आजन्** फेंक दिया है, त्याग दिया है और **ऋतेन** सृष्टि-नियम के ज्ञान के द्वारा **परिवत्सरे** सर्वथा निवास करने योग्य मानव-देह में **बलम्** आच्छादक अज्ञानान्धकार को **अभिन्दन्** तोड़ दिया है, दूर कर दिया है, हे ऐसे **सुमेधसः** उत्तम संगतिवाले **अंगिरसः** प्राणशक्तिसम्पन्न महात्माओ ! **मानवम्** मनुष्य-देह को **प्रतिगृभ्णीत** फिर से ग्रहण करो । **वः** तुम्हारी **दीर्घायुत्वं** लम्बी आयु **अस्तु** हो ॥ **ये** जिन्होंने **ऋतेन** ज्ञानपूर्वक नियमाचरण से **सूर्य्यम्** चराचर के आत्मा प्रभु को **दिवि** दिव्यगुणयुक्त मन में=हृदयाकाश में=ब्रह्मरन्ध्र में **आरोहयन्** प्राप्त किया है वा धारण किया है और **मातरम्** मान प्राप्त करनेवाली **पृथिवीम्** देववाणी का **वि-अप्रथयन्** विशेष विस्तार किया है अथवा जिन्होंने अपने तपों से पृथिवी माता की, शान्ति-स्थापनादि पुण्य कर्म्मों द्वारा, विशेष प्रसिद्धि की है; हे ऐसे **सुमेधसः** पापवृत्तिनाशक **अंगिरसः** ज्ञानानन्द-युक्त महापुरुषो ! तुम **मानवं प्रतिगृभ्णीत** मनुष्य-जन्म को पुनः ग्रहण करो । **वः** तुम्हारी **सुप्रजास्त्वं** उत्तम सन्तति, श्रेष्ठ शिष्य-श्रेणी **अस्तु** हो ॥ **नाभा** सब संसार का बन्धु **अयम्** ज्ञानवान् **वः** तुम्हारे **गृहे** अन्तःकरण में **वल्गु** मनोहर=मधुर **वदति** उपदेश करता है । हे **देवपुत्राः ऋषयः** परमात्मा के पुत्रो, ऋषियो ! **तत्** परमात्मा के उस उपदेश को **शृणोतन** सुनो । हे **सुमेधसः** उत्तम मेधाशक्तिसम्पन्न श्रेष्ठ याज्ञिको ! **अंगिरसः** ब्रह्मानन्दप्राप्त महाशयो ! **मानवं प्रतिगृभ्णीत** पुनः मनुष्य-शरीर ग्रहण करो । **वः** तुम्हें **सुब्रह्मण्यं** उत्तम वेदज्ञान **अस्तु** प्राप्त हो ॥

व्याख्या—इन चारों मन्त्रों में प्रत्येक के अन्त में **'प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः'** वाक्य आता है। इसमें 'प्रति' का अर्थ 'लौटकर' या 'पुनः' किया गया है। लोक में यही अर्थ है, जैसे 'प्रत्यागच्छ'=लौटकर आ, या फिर आ। 'गृभ्णीत' तो है ही लोट् लकार का रूप, जिसका अर्थ विधि=आज्ञा तथा आशीर्वाद होता है। इस प्रकार 'प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः' का अर्थ बिना किसी खींच-तान के 'लौटकर मनुष्य-शरीर ग्रहण करो' सर्वथा संगत है।

इन मन्त्रों में प्रयुक्त 'अंगिरसः' पद का अर्थ हमने १. ज्ञानी, २. प्राणशक्तिसपन्न, ३. ज्ञानानन्दयुक्त तथा ४. ब्रह्मानन्दप्राप्त किया है। इसमें प्रमाण—१. 'तस्मादङ्गिरसोऽधीयानः' (गो० ब्रा०) अर्थात्=अङ्गिरस अधीयान=ज्ञानी का नाम है। २. 'योऽङ्गिरसः—स रसः' (गो० ब्रा०) जो अङ्गिरस है, वह रस=आनन्द है। तथा ३. 'प्राणो वा अङ्गिराः' (शत०) प्राण का नाम अङ्गिराः=अङ्गिरस है। 'सुमेधसः' और 'अङ्गिरसः' शब्द बहुत विचारणीय हैं। ये अत्यन्त रहस्यमय शब्द हैं। यह मुक्ति-प्राप्ति से पूर्व तथा मुक्ति से लौटने के पश्चात् की अवस्था द्योतित करते हैं।

प्रथम मन्त्र में दक्षिणा—कर्म्म को मुक्ति का साधन बतलाया है। ऋग्वेद १।१२५।६ में भी इसी भाव को कहा है और बहुत स्पष्ट कहा है **'दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः'**—दक्षिणावाले=सुकर्म्मा लोग मोक्ष पाते हैं; और दक्षिणावाले=उत्साही कर्म्मी आयु को दीर्घ करते हैं—अर्थात् मौत को परे फेंकते हैं। यजुर्वेद के **'विद्यां चाविद्यां च'** मन्त्र में भी यही बात कही गई है।

'सूर्य' शब्द का अर्थ हमने 'चराचर का आत्मा' किया है। इसके लिए सन्ध्या में आये उपस्थान-मन्त्र में **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**=**जगत्**=जंगम=चर **च** और **तस्थुषः**—स्थावर—अचर का आत्मा सूर्य कहाता है—यह वाक्य प्रमाण है। पृथिवी का अर्थ हमने वाणी किया है। जैमिनिब्राह्मण में 'वागिति पृथिवी' उसका प्रमाण है। चौथे मन्त्र में मुक्ति से लौटनेवालों को 'देवपुत्र'=परमात्मा के पुत्र कहा गया है। इसपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

नाभा शब्द 'णह बन्धने' से बनता है। 'सुमेधसः' तथा 'अङ्गिरसः' शब्दों का भाव जब समझ लिया जाए तो १. भद्रं २. दीर्घायुत्वं ३. सुप्रजास्त्वं, तथा ४. सुब्रह्मण्यं का रहस्य समझने में कठिनता नहीं होती। मन्त्रों में ये शब्द इसी क्रम से प्रयुक्त हुए हैं और इसमें विशेषता है। पहले भद्रता—कल्याण, गुण-सम्पत्ति सर्जन की जाती है, तब दीर्घ आयु, उत्तम प्रजा=पुत्र-शिष्यादि की प्राप्ति होती है। यदि सबका लक्ष्य सुब्रह्मण्य—उत्तम वेदज्ञान और उसके द्वारा मुक्ति-प्राप्ति है, यदि 'दीर्घायुत्वं' का अर्थ विपुल आय कर लें—आयु तथा आय का मूल धातु एक ही है—तो उपर्य्युक्त चारों शब्दों की अर्थ-संगति होती है—१. भद्रं=धर्म्म २. दीर्घायुत्व=विपुल आय=अर्थ, ३. सुप्रजास्त्व=काम तथा ४. सुब्रह्मण्य=मोक्ष अर्थात् मुक्ति से लौटकर फिर उसकी प्राप्ति के लिए यत्नवान् होना चाहिए।

गृह शब्द का अर्थ हमने अन्तःकरण किया है **'गृह्णन्ति जानन्ति येन तत् गृहम्'** जिनके द्वारा ग्रहण किया जाए, जाना जाए। अन्तःकरण को सभी ज्ञानसाधन मानते ही हैं।

२७४. झण्डा ऊँचा रखो

**ओ३म् । आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् ।
सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ॥** —ऋ० ३।८।८

शब्दार्थ—**सुनीथाः** उत्तम नीतिवाले **आदित्याः** आदित्य, **रुद्राः** रुद्र, **पृथिवी** विशाल **द्यावाक्षामा** द्यौ और पृथिवी, **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्ष, **देवाः** और परोपकारी विद्वान् **सजोषसः** तुल्य प्रीतिवाले होकर **यज्ञम्** यज्ञ की **अवन्तु** रक्षा करें, और **अध्वरस्य** यज्ञ के **केतुम्** झण्डे को **ऊर्ध्वम्** ऊँचा **कृण्वन्तु** करें, रखें ।

व्याख्या—झण्डा जातियों के चिरकाल से सञ्चित उदात्त धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रिय भावों का द्योतक होता है । जीवित जातियाँ अपने झण्डे की रक्षा के लिए जानें तक लड़ा देती हैं । आर्य्यजाति में झण्डे से इतना प्रेम था कि प्रत्येक गृहस्थ अपने घर पर झण्डा लहराता था । गृहप्रवेश संस्कार का आरम्भ ही मुख्य द्वार के आगे ध्वजारोपण से होता है । पारस्कर के प्रमाण से ऋषिवर दयानन्द लिखते हैं—"**ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा** [पार० ३।४।३] इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ, जिसमें ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर चार ध्वजा खड़ी करे ।" (संस्कारविधि, शालाकर्मविधि)

उद्धृत पारस्कर-वचन में 'अच्युत' शब्द ध्यान देने योग्य है । अच्युत—जो च्युत न किया जाए, गिराया न जाए अर्थात् चाहे यह झण्डा भूमि में गाड़ा जा रहा है, किन्तु इस बात में सदा सावधानता रखना कि झण्डा गिरने न पाये । वेद ने तो कहा है—**'ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम्'**—यज्ञ का झण्डा ऊँचा रखो । आर्य्यों के सभी कार्य्य यज्ञ से आरम्भ होते हैं, अतः आर्य्यों का झण्डा यज्ञ का झण्डा है । इसे ऊँचा ही रखना चाहिए, नीचे नहीं गिरने देना चाहिए । जाति की ध्वजा की रक्षा किसी एक का कार्य्य नहीं, वरन् सबका है । इसी भाव से कहा—**'सजोषसो यज्ञमवन्तु देवाः'**—परोपकारी विद्वान् तुल्य प्रीतिवाले होकर यज्ञ की रक्षा करें । झण्डे की रक्षा, झण्डे को ऊँचा बनाये रखना एक यज्ञ है, ऐसा यज्ञ जिसपर समस्त जाति की आन-बान और शान अवलम्बित है, अतः सभी देव प्रीतिपूर्वक इसकी रक्षा करें ।

राष्ट्ररक्षक केवल यही देव नहीं हैं ? देव का अर्थ है जीतने की इच्छावाला । आर्य्य—देवभाव सदा विजिगीषा के रहे हैं । झण्डे की रक्षा में सभी को सम्मिलित होना चाहिए—**'आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम्'** आदित्य—नेता, रुद्र—सैनिक, वसु—धनिक, द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष उत्तम नीति से रक्षा करें । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा राष्ट्र की समूची शक्ति राष्ट्र के झण्डे को, मान को ऊपर रखें ।

२७५. पारिवारिक व्यवहार

ओ३म् । सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
ओ३म् । अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
ओ३म् । मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ —अ० ३।३०।१-३

शब्दार्थ—वः तुम्हारे लिए **सहृदयम्** सहृदयता, एकचित्तता **सांमनस्यम्** एकमनस्कता=मन के उत्तम भाव तथा **अविद्वेषम्** निर्वैरता को **कृणोमि** विहित करता हूँ। **अन्यो अन्यम्** एक-दूसरे को ऐसा **अभिहर्यत** चाहो, प्रेम करो **इव** जैसे **जातम्** उत्पन्न **वत्सम्** बछड़े को **अघ्न्या** गौ प्यार करती है ॥ **पुत्रः** पुत्र **पितुः** पिता के **अनुव्रतः** अनुव्रतवाला, समान उद्देश्यवाला **भवतु** हो, और **मात्रा** माँ के साथ **संमनाः** एक मनवाला हो। **जाया** पत्नी **पत्ये** पति के प्रति **मधुमतीम्** मिठासभरी **शन्तिवाम्** शान्ति देनेवाली **वाचम्** वाणी को **वदतु** बोले ॥ **भ्राता** भाई **भ्रातरम्** भाई को और **स्वसारम्** बहिन को **मा** मत **द्विक्षत्** द्वेष करे, **उत** और **स्वसा** बहन, भाई और बहन को **मा** मत द्वेष करे। **सम्यञ्चः** एक चालवाले, **सव्रताः** एक व्रतवाले **भूत्वा** होकर **भद्रया** भली रीति से **वाचम्** वाणी को **वदत** तुम बोलो।

व्याख्या—राष्ट्र या परिवार की सुखसंविधान की समृद्धि तभी हो सकती है, जब परस्पर प्रीति हो, किसी को किसी से वैर-विरोध न हो। इसके लिए सभी की हार्दिक तथा मानसिक दशा में समता होनी चाहिए अर्थात् सभी के दिल एक हों, दिमाग़ एक हों, और साथ ही दिलों और दिमाग़ों में भी एकता हो। जैसे गौ अपने बछड़े पर प्रेम करती है, वैसा पारस्परिक प्रेम हो!

वेद की उपमाओं में एक निरालापन है, एक अनुपम शान है। प्रेम के लिए गौ को दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत किया है। माता-पिता का सन्तान पर अत्यन्त गहरा स्नेह होता है, किन्तु उसमें स्वार्थ की गन्ध होती है, माता-पिता बालक को लाड-चाव से पालते हैं, उनके हृदय में यह भाव होता है कि बुढ़ौती में यह हमारी सेवा करेगा। स्वार्थ का प्रेम स्थायी नहीं रह सकता। स्वार्थ सिद्ध होने पर वह नहीं रह सकता। प्रेम वही स्थिर रहता है जो स्वार्थशून्य हो। इसीलिए वेद ने गौ और बछड़े के प्रेम का दृष्टान्त दिया है। गौ को बछड़े से किसी प्रकार के स्वार्थ की आशा या सम्भावना नहीं है। जिस परिवार या राष्ट्र में ऐसा अद्भुत स्वार्थरहित प्रेम होगा, उसमें सदा ही सुमति तथा सुगति रहेगी।

वेद का अन्तिम उद्देश्य समस्त संसार को एक सूत्र में पिरोना है, सबको प्रेम से अपनाना है। उस विशालता को प्राप्त करने के लिए परिवार तथा राष्ट्र दो सोपान हैं। इस प्रेम का अभ्यास सबसे पहले परिवार में होना चाहिए। परिवार में माता, पिता, पुत्र, भाई, बहन, पत्नी आदि होते हैं। इन सबमें परस्पर प्रीति स्थिर रखने का उपाय है कि सबका व्रत=उद्देश्य एक हो। पुत्र अपना कर्त्तव्य समझे कि उसे माता-पिता के व्रत=शुभ उद्देश्य पूरा करने हैं। भाई-भाई में, बहन-बहन में, भाई-बहन में, पति-पत्नी में परस्पर प्रीति से घर का सामञ्जस्य बना रह सकता है।

२७६. पारिवारिक समता का साधन

ओ३म् । येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒ नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः ।
तत् कृ॒ण्मो॒ ब्रह्म॑ वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः ॥ —अ० ३।३०।४

शब्दार्थ—येन जिससे **देवाः** देव, विद्वान्, व्यवहारकुशल जन **न** नहीं **वि+यन्ति** वियुक्त होते **च** **और नो** ना ही **मिथः** परस्पर **विद्विषते** अप्रीति करते हैं, वैर करते हैं, **तत्** उस **संज्ञानम्** समानता का बोध करानेवाले **ब्रह्म** ज्ञान को **वः** तुम्हारे **गृहे** घर में, हृदय में **पुरुषेभ्यः** तुम मनुष्यों के लिए **कृण्मः** हम करते हैं।

व्याख्या—कहावत है **'सौ सियाने एक मत ।'** इस कहावत में जो तत्त्व है, वह वेद ने सर्गारम्भ में सुझा दिया—**'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः'**=जिसके कारण विद्वान् परस्पर वियुक्त नहीं होते [प्रत्युत मिले रहते हैं] और परस्पर द्वेष नहीं करते [प्रत्युत प्रीति करते हैं] । ज्ञान का फल ही ऐसा होना चाहिए । जिस ज्ञान से फूट उत्पन्न हो, विद्वेष बढ़े, वह ज्ञान नहीं, ज्ञानाभास है, उलटा ज्ञान है, मिथ्या ज्ञान है ।

प्रीति का प्रमाण मधुर भाषण है, अतः अथर्ववेद [३।३०।३] में आदेश है—**'वाचं वदत भद्रया'**= भली रीति से वाणी बोलो । अन्यत्र [५।७।४] कहा—**'वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु'**= देवों की पुकारों पर मैं प्रीतियुक्त मीठी वाणी बोलता हूँ । **'संज्ञानं ब्रह्म'** एकता का बोध करानेवाला ज्ञान सचमुच मनुष्य को उत्कर्ष के उच्च शिखर पर ले जाता है । इसके विपरीत वैर-विरोध से मृत्यु प्राप्त होती है । जैसा कि अथर्ववेद [६।३२।३] में कहा है—**'मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्'** परस्पर घात-पात करनेवाले न किसी परिचित को प्राप्त होते हैं और न प्रतिष्ठा को; वरन् मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

प्रतिष्ठा तो तब मिले, जब एक-दूसरे की प्रतिष्ठा करते हों । ये तो एक-दूसरे की प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिलाने का यत्न कर रहे हैं । प्रतिष्ठा मिलेगी तब जब—**'सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता ।'** [अ० ६।७४।१]—तुम्हारे शरीर एक-दूसरे के साथ मिले होंगे, जब तुम्हारे मन एक होंगे और होंगे तुम्हारे व्रत=संकल्प, उद्देश्य एक । इसी कारण वेद कहता है—

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥—अ० ६।७४।२

तुम्हारे मनों का संज्ञपन=एकसमान बोधन हो, और तुम्हारे हृदयों का एकरस संज्ञपन हो, और भग=ऐश्वर्य्य-प्राप्ति के लिए जो परिश्रम है, उससे तुम्हें संज्ञानयुक्त करता हूँ । पारिवारिक या राष्ट्रिय सम्पत्ति के लिए सम्मिलित प्रयत्न करने से सफलता मिलती है। संसार में जितना दुःख है, उसका मूलकारण उलटा ज्ञान तथा अज्ञान है । अज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान का हान ज्ञान=संज्ञान से होता है, अतः ज्ञान-अर्जन तथा ज्ञान-दान में सदा तत्पर रहना चाहिए ।

२७७. एक धुरावाले होकर परस्पर मीठा बोलो

ओ३म् । ज्याय॑स्वन्तश्चित्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः॒ सधु॑रा॒श्चर॑न्तः ।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ सध्रीचीना॑न्वः संम॑नसस्कृणोमि ॥
—अ० ३।३०।५

शब्दार्थ—ज्यायस्वन्तः बड़ोंवाले [जिनके घरों में बड़े उपस्थित हैं] **चित्तिनः** विचारशील, **संराधयन्तः** एकमत से कार्य्य-सिद्धि करनेवाले **सधुराः** एक धुरावाले होकर **चरन्तः** विचरते हुए **मा+ वियौष्ट** तुम मत वियुक्त होओ । **अन्यो अन्यस्मै** एक-दूसरे के लिए **वल्गु** मनोहर, मधुर **वदन्तः** बोलते हुए **एत** तुम आगे आओ । **संमनसः** समान मनवाले **वः** तुम लोगों को **सध्रीचीनान्** समान गतिवाले, अथवा उत्तम गतिवाले **कृणोमि** करता हूँ ।

व्याख्या—जो बात पिछले मन्त्रों में संकेत से कही गई है, उसे इस मन्त्र में अधिक स्पष्ट रूप से कह दिया गया है । आदेश है—**'मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः'**=एकमत से कार्यसिद्धि में तत्पर समान धुरा=भार होकर मत जुदा होवो । फूट जुदा कराती है । वेद जुदा होने का निषेध करके फूट से परे रहने का आदेश कर रहा है । एक धुरा में जुटे दो बैल यदि एक-दूसरे से विरुद्ध हो जाएँ तो भार नहीं ले-जा सकेंगे, हल नहीं चला सकेंगे, क्योंकि दोनों एक कार्य्य की सिद्धि करने के लिए एक धुरा में जुटे थे, किन्तु पृथक् हो गये हैं । वेद के समझाने की शैली पर ध्यान दीजिए ।

अविचारशील इस मर्म को नहीं समझ सकते, अतः कहा—**चित्तिनः**=विचारशील । विचार वृद्धों के संग से आएगा, अतः कहा—**ज्यायस्वन्तः**=बड़ोंवाले । विदुरजी तो उस सभा को सभा ही नहीं मानते जहाँ वृद्ध=बड़े न हों—**'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, वृद्धा न ते ये न वदन्ति सत्यम्'** [विदुरनीति] । वह सभा, सभा नहीं, जहाँ वृद्ध=बड़े-बूढ़े न हों, और वे वृद्ध, वृद्ध भी नहीं जो सत्य नहीं बोलते हों ।

जिस परिवार में कोई बड़ा-बूढ़ा होता है, वह परिवार को मिलाकर रखता है । वेद का 'ज्यायान्' शब्द वृद्ध से अधिक गम्भीर है । ज्यायान् का अर्थ केवल आयुर्वृद्ध ही नहीं, प्रत्युत गुणवृद्ध भी है । जिस परिवार में वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध बड़े रहते हों, उस घर में सभी विचारशील ही रहेंगे । वे **'अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तः'**=एक-दूसरे के साथ मनोहर बातचीत करेंगे ।

तात्पर्य=ऐसा बोलो कि दूसरों का हृदय खींच लो । जब सभी मधुरभाषी हों, तब सब एक-दूसरे को आकृष्ट करते हुए एकगति और एकमति होंगे ।

२७८. समान उद्देश्य

ओ३म् । समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
ओ३म् । सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन् संवननेन्सर्वान् ।
देवाइवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ —अ० ३।३०।६, ७

शब्दार्थ—**वः** तुम्हारा **प्रपा** प्याऊ, पानी पीने का स्थान **समानी** एक-साथ हो **और** तुम्हारा **अन्नभागः** भोजन-सेवन भी **सह** साथ हो । **वः** तुमको **समाने** एक, एक-जैसे **योक्त्रे** जुए में **सह**+**युनज्मि** एक-साथ जोड़ता हूँ । **सम्यञ्चः** एक गतिवाले होकर **अग्निम्** ज्ञान को, भगवान् को **सपर्यत** सेवन करो, पूजो, **इव** जैसे **अराः** अरे **अभितः** सब ओर से **नाभिम्** रथ की नाभि के धुरे का सेवन करते हैं ॥ **संमनसः** समान मनवाले और **सध्रीचीनान्** समान चालवाले **वः** **सर्वान्** तुम सबको **सं**+**वननेन** एक-से संभजन द्वारा **एकश्नुष्टीन्** समान खान-पानवाला **कृणोमि** करता हूँ, बनाता हूँ । **देवाः**+**इव** इन्द्रियों की भाँति **अमृतम्** जीवन को तुम **रक्षमाणाः** बचाते रहो । **सायंप्रातः** साँझ-सवेरे **वः** तुम्हारी **सौमनसः**+**अस्तु** सुमनस्कता हो, भलाई हो ॥

व्याख्या—आजकल मनुष्यों में खानपान के कारण विषम भेदभाव बढ़ रहा है । यह सर्वथा वेद-विरुद्ध है । वेद तो घोषणा करता है—'**समानी प्रपा सह वो अन्नभागः**'=तुम्हारा प्याऊ और भोजन-स्थान एक हो । खान-पान को समान करने का साधन है—'**समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि**'=तुम सबको एक-साथ एक जुए में जोड़ता हूँ । भगवान् का आदेश है कि तुम्हें मैंने एक लक्ष्य बताया है । वेद का आदेश है, जिस प्रकार रथ-चक्र में अरे जुड़े रहते हैं. अरों का साध्य रथचक्र की नाभि है । ऐसे ही सब मनुष्यों के जीवन का लक्ष्य एक होना चाहिए । वेद ने लक्ष्य का भी संकेत कर दिया है—'**सम्यञ्चोऽग्नि सपर्यत**'= समानगतिवाले होकर अग्नि=ब्रह्माग्नि की, ज्ञानाग्नि की पूजा करो ।

पहले मन्त्र में खानपान की एकता सम्पादन करके मानो एक लक्ष्य की सिद्धि का निर्देश किया है, दूसरे में एक आचारवालों के खान-पान समान=एक करने का विधान किया है । आवश्यक नहीं कि जिनका खान-पान समान हो उनका मन या ज्ञान भी समान हो, अतः वेद कहना चाहता है कि केवल खान-पान की समानता से ही समता स्थापित नहीं हो जाती । समता के लिए विचार-आचार की समानता उत्पन्न करो, फिर खान-पान की समानता आसान हो जाएगी । जिस प्रकार सारी इन्द्रियाँ मिलकर जीवन तथा अमृतात्मा की रक्षा करती हैं, उसी प्रकार जीवन का एक लक्ष्य बनाने से सदा कल्याण प्राप्त होता रहेगा ।

२७९. आत्मीयों की उन्नति

ओ३म् । नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ।। —ऋ० ३।१६।३

शब्दार्थ—**ये** जो **नः** हमारे **सूरिम्** विद्वान् और **मघवानम्** धनवान् से **पृतन्यान्** फ़ितना करते हैं, उपद्रव करते हैं, वे **नीचैः** नीचे **पद्यन्ताम्** गिरें, **अधरे** अधम **भवन्तु** होवें । **अहम्** मैं अपने **ब्रह्मणा** ब्रह्म से, ज्ञान से, तप से **अमित्रान्** अमित्रों को **क्षिणामि** क्षीण करता हूँ और **स्वान्** अपनों को, आत्मीयों को **उन्नयामि** उन्नत करता हूँ ।

व्याख्या—राष्ट्रनायक=पुरोहित=Leader की सुन्दर कामना है । राष्ट्र का आधार ज्ञान और धन हैं । यदि कोई राष्ट्र के धन तथा ज्ञान का अवलुम्पन करना चाहता है, तो राष्ट्रनायक का कर्त्तव्य है, कि वह उनको दबाये, नीचा दिखाये । इसका उपाय बतलाते हुए कहा गया है—

'एषामहमायुधा सं स्यामि' [ऋ० ३।१६।५]—मैं इनके हथियार तीक्ष्ण करता हूँ । राष्ट्ररक्षा के लिए तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र बहुत आवश्यक हैं। केवल हथियारों से कार्य्यसिद्धि नहीं होती, अतः कहा—**'एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वे ऽवन्तु देवाः'** [ऋ० ३।१६।५]—इन राष्ट्रवासियों का क्षत्र=क्षात्रबल, अजर=जीर्ण न होनेवाला तथा जिष्णु=जयशील हो और सभी विजयाभिलाषी इनका चित्त बढ़ाएँ । सम्पूर्ण राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि राष्ट्ररक्षा के पवित्र कार्य में लगे हुओं का उत्साह और साहस प्रत्येक प्रकार बढ़ाएँ ।

विद्वान् और धनवान् की रक्षा जिष्णु और अजर क्षत्रबल से ही हो सकती है । इस क्षत्रशक्ति के बल के भरोसे राष्ट्रनायक कह सकता है—**'क्षिणामि ब्रह्मणामित्रान्'**=अपने तपोबल से मैं अमित्रों का क्षय करता हूँ । यदि राष्ट्र अनुकूल न हो, तो शत्रुओं की, अमित्रों की संख्या अधिक हो जाएगी, पुनः शत्रु-विनाश में बड़ी बाधा पड़ती है । इसको समझनेवाला राष्ट्रनायक कहता है—**'उन्नयामि स्वानहम्'**=मैं अपनों की उन्नति करता हूँ । राष्ट्र की प्रतिकूलता तभी होती है, जब स्वराष्ट्रवासियों की उपेक्षा करके परराष्ट्रवासियों को मान्यता दी जाती है । यदि स्वराष्ट्रवासियों की उपेक्षा न की जाए, यदि अपनों की सर्वात्मना उन्नति की जाए, उनको आगे बढ़ाया जाए, तो असन्तोष का नाश होकर राष्ट्र की सर्वविध उन्नति और पुष्टि होती है । इसके लिए स्व और पर का विवेक अत्यन्त प्रयोजनीय है ।

२८०. पुरोहित की घोषणा

ओ३म् । संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥
ओ३म् । समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्य्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ —अ० ३।१९।१, २

शब्दार्थ—मे मेरा **इदम्** यह **ब्रह्म** ज्ञान-बल **संशितम्** भली प्रकार तीक्ष्ण किया हुआ है । **वीर्य्यम्** वारक शक्ति तथा **बलम्** सम्बल भी **संशितम्** भली प्रकार तीक्ष्ण है । उनका **संशितम्** भली प्रकार से तीक्ष्ण किया हुआ **क्षत्रम्** क्षात्रबल **अजरम्** जीर्ण न होनेवाला **अस्तु** है, **येषाम्** जिनका मैं **जिष्णुः** जयशील **पुरोहितः** पुरोहित **अस्मि** हूँ ।। **अहम्** मैं **एषाम्** इनके **राष्ट्रं** राष्ट्र को **सं+स्यामि** एक सूत्र में बाँधता हूँ, और इनके **ओजः** ओज, तेज **वीर्य्यम्** वारक शक्ति तथा **बलम्** रक्षा के सामर्थ्य को **सम्** एक सूत्र में बाँधता हूँ । **अहम्** मैं **अनेन** इस **हविषा** सामग्री द्वारा **शत्रूणाम्** शत्रुओं की **बाहून्** भुजाओं को **वृश्चामि** काटता हूँ ।

व्याख्या—राष्ट्र के पुरोहित=नायक में किन भावों का समावेश हो, यह संक्षेप से इन मन्त्रों में अङ्कित है । पुरोहित में सब प्रकार का बल होना चाहिए—क्या ब्राह्मबल और क्या क्षात्रबल । वैदिक पुरोहित की गम्भीर घोषणा सचमुच सबके मनन करने योग्य है—**'संशितं म इदं ब्रह्म'**=मेरा यह ब्राह्म-बल सुतीक्ष्ण है; केवल ब्राह्मबल ही नहीं, प्रत्युत **संशितं वीर्य्य बलम्**=वारक सामर्थ्य और रक्षण-शक्ति भी तेज़ है । दूसरों पर आक्रमण करके उनको भगा देने का नाम वीर्य्य और दूसरों से आक्रान्त होने पर अपनी रक्षा कर सकने को बल कहते हैं । क्षात्रबल के ये दो प्रधान अंग हैं । पूरी शान्ति वहीं होती है—**'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह'** [य० २०।२५]=जहाँ ब्राह्मबल और क्षात्रसामर्थ्य समान गतिवाले होकर एक-साथ विचरते हैं । क्षत्रिय में केवल क्षात्रबल है किन्तु ब्राह्मण में ब्राह्मण तथा क्षात्रबल दोनों हैं । यही ब्राह्मण का उत्कर्ष है । क्षात्रबलविहीन ब्राह्मण सचमुच हीन है, वह पूर्ण ब्राह्मण नहीं है । जिस राष्ट्र का नेता वेदानुकूल होगा, सचमुच उसका क्षात्रतेज अजर=अक्षीण=अहीन ही रहेगा ।

राष्ट्र को संगठित रखना, तथा राष्ट्र के ओज-वीर्य्य आदि की रक्षा करना पुरोहित का काम है—

'समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्'—मैं इनके राष्ट्र को तथा ओज, बल, वीर्य्य को एक सूत्र में पिरोके रखता हूँ । नेता को चाहिए कि समूचे राष्ट्र के सामने एक महान् उद्देश्य रखे । इससे राष्ट्र में एकता बनी रहती है । इस एकता के रहने से ही पुरोहित कह सकेगा—**'एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि'** [अ० ३।१८।५]—मैं इनके राष्ट्र को सुवीर बनाकर बढ़ाता हूँ ।

जिस प्रकार के शिक्षक होंगे, वैसे ही शिष्य होंगे । यदि शिक्षक हीनवीर्य्य, हतोत्साह होंगे तो राष्ट्र में उत्साह-बलादि का अभाव रहेगा । वैदिक पुरोहित तो कहता है—

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥—अ० ३।१९।४

उनके हथियार कुठार से तीक्ष्णतर और आग से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, इन्द्र के वज्र=बिजली से भी तेज़ हैं जिनका मैं पुरोहित हूँ । उग्र पुरोहित के शिष्य सभी प्रकार से उग्र होंगे, अतः राष्ट्र की उन्नति चाहनेवालों को उग्र पुरोहित उत्पन्न करने चाहिएँ ।

२८१. अग्निहोत्र

ओ३म् । अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः ।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥

—अ० ६।६७।१

शब्दार्थ—**यज्ञः** यज्ञ **अभिभूः** सबको दबानेवाला है या सब ओर विद्यमान है। **अग्निः** आग **अभिभूः** अभिभू है। **सोमः** सोम **अभिभूः** अभिभू है। **इन्द्रः** इन्द्र **अभिभूः** अभिभू है। **अहम्** मैं **विश्वाः** सब **पृतनाः** फसादों को, उपद्रवों को, लड़ाकी सेनाओं को **यथा** जैसे **अभि+असानि** दबा सकूँ, **एवा** ऐसे ही **अग्निहोत्राय** अग्निहोत्रोपयोगी **इदम्** इस **हविः** हवि को **विधेम** बनाएँ।

व्याख्या—यज्ञ में अग्नि, सोम, इन्द्र (आत्मा) तथा यथायोग्य सामग्री अपेक्षित होती है। जिसमें सामग्री यथाविधि हो, वह यज्ञ अवश्य ही **अभिभूः** होता है। शतपथ ब्राह्मण में कथा है कि यज्ञ के द्वारा देवों ने असुरों को अभिभूत किया। सचमुच यज्ञ सर्वाभिभू है। यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाला अग्नि—चाहे भौतिक चाहे आध्यात्मिक—भी अभिभू होना चाहिए। अग्नि का गुण सर्वजन प्रत्यक्ष है। सोम का यह गुण ऋग्वेद के नवम मण्डल में वर्णित है। एक उदाहरण पर्य्याप्त होगा—**'अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या। रुज यस्त्वा पृतन्यति'** [ऋ० ९।५३।३]=इस पवमान सोम के नियम को कोई दुर्बुद्धि नहीं दबा सकता। अतः हे सोमवाले! तू उसे तोड़ दे जो तुझसे उपद्रव करे। सोम को कोई नहीं दबा सकता, अतः सोम अभिभू है। सोमपान करनेवाला इन्द्र तो अवश्य ही अभिभू होना चाहिए। वेद में आदेश है—

अभिभुवेऽभिभङ्गाय वन्वतेऽषाळ्हाय सहमानाय वेधसे।
तुविग्रये वह्नये दुष्टरीतवे सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत॥—ऋ० २।२१।२

अभिभू, सब ओर तोड़-फोड़ करनेवाले, सम्भजनीय, असह्य, सब-कुछ सहन करनेवाले, मेधावी, महाज्ञानी, कार्यवाहक, दुस्तर, सदासहिष्णु इन्द्र को नमस्कार कहो। जो सबको अभिभूत करनेवाला है, उसे नमस्कार अवश्य करना चाहिए। यज्ञ, अग्नि, सोम तथा इन्द्र को अभिभू देखकर साधक के मन में भी 'अभिभू' बनने की भावना जागरित हुई है। वह कहता है—**'अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासानि'**—मैं भी सब पृतनों=फ़ितनों को दबा सकूँ, उनका अभिभू बन सकूँ। अभिभू बनने की युक्ति है। सब पृतनों=फ़ितनों को दबा देना। जिसने काम, क्रोध, मोह, मत्सर, अहङ्कार मार दिये, उनमें उठनेवाले सब पृतने=फितने मिटा दिये, वह आत्मिक क्षेत्र में अभिभू है। जिसने राष्ट्र से सब वैर-विरोध हटा दिये, दुःख-दारिद्रय, अभाव मिटा दिये, वह सचमुच राष्ट्र में अभिभू है। यज्ञ=परोपकार तथा संगठन सबको दबाता है। आग सबको जला देती है। सोम ओषधियों का राजा है। इन्द्र=विद्युत् सभी भौतिक पदार्थों में बलवान् है। इन सबकी भाँति जो अभिभू बनना चाहता है, वह सामग्री भी वैसी ही बनाता है। अतः कहा—**'एवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः'**=अतः अग्निहोत्र के लिए यह सामग्री तय्यार करें। कैसा अद्भुत अग्नि-होत्र है!

२८२. मृत्यु का ब्रह्मचारी

ओ३म् । मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात्पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ।।

—अ० ६।१३३।३

शब्दार्थ—अहम् मैं **मृत्योः** मृत्यु का **ब्रह्मचारी** ब्रह्मचारी हूं, **यत्** क्योंकि मैं **भूतात्** भूतमात्र से **यमाय** संयम के लिए **पुरुषम्** पौरुष=पुरुषार्थ को **निर्याचन् अस्मि** माँग रहा हूँ । **तम्** उसे **अहम्** मैं **ब्रह्मणा** ज्ञान से **तपसा** तप से तथा **श्रमेण** परिश्रम से **आनय** लाकर **एनम्** इसको **मेखलया** मेखला से **सिनामि** बाँधता हूँ ।

व्याख्या—ब्रह्मचारी की महिमा अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के पाँचवें सूक्त में विस्तार से वर्णित हुई है । अ० ६।१३३ सूक्त भी ब्रह्मचर्य्य-सम्बन्धी है । इसमें ब्रह्मचर्य्य के बहिरंग साधन मेखला—कोपीन-धारण—का माहात्म्य बताया गया है । इस मन्त्र में जिस ब्रह्मचारी की चर्चा है, वह सभी ब्रह्मचारियों से विलक्षण है । यह है—मृत्यो...ब्रह्मचारी=मौत का ब्रह्मचारी ।

मौत को गुरु बनाना अति दुष्कर है । मौत का ब्रह्मचारी तो कोई विरला नचिकेता=सन्देह-शून्य ज्ञानी ही बन सकता है । जिसने समस्त संसार का सार देखकर इसे असार मान लिया, जिसे मृत्यु अवश्यम्भावी और नूतन भोगसामग्री देनेवाला अथवा मुक्ति का साधन दीख गया है, वह मृत्यु के पास जाता है । अथर्ववेद [११।५।१४] में कहा है—**'आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः । जीमूता आसन् सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्'** आचार्य्य, मृत्यु, वरुण [श्रेष्ठ गुणधारण] सोम [शान्ति] ओषध, जल या दूध, बादल ये शक्तियाँ हैं जिन्होंने स्व=सुख धारण कर रखा है । इस जीवन की चिन्ता से छुड़ाकर नये जीवन में नयी भोगसामग्री दिलाना मृत्यु द्वारा सुख दिलाना है । किसी ने कहा है—

जिस मरने से जग डरे मो को सो आनन्द । कब मरिये कब पाइये पूरन परमानन्द ।

मौत का ब्रह्मचारी भिक्षा के लिए निकला है । माँगता है—**'भूतात्पुरुषं यमाय'**=यम के लिए=संयम के लिए, अथवा मृत्यु के लिए भूतमात्र से पुरुष=पुरुषार्थ ।

आचार्य्य के लिए प्रिय धन लगाकर दक्षिणा देनी है । मृत्यु से जीवन माँगता है । जीवन के लिए बल चाहिए, अतः समस्त पदार्थों से बल माँग रहा है । ब्रह्मचारी को भिक्षा मिल गई है । ब्रह्मचारिन् ! यह कैसे मिली ? **'तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेण...'** मैं उसे ज्ञान, तप और परिश्रम से प्राप्त कर सका हूँ । अर्थात् ब्रह्मचर्य्य में ज्ञानार्जन, तपोऽनुष्ठान तथा परिश्रम आवश्यक है । मृत्यु सबका—द्विपात्-चतुष्पात् सभी प्राणियों का—ईश है, अतः वह प्रजापति है । उपनयन संस्कार की समाप्ति पर आचार्य्य कहता है—**'प्रजापतये त्वा परिददामि'**=तुझे प्रजापति=मृत्यु को सौंपता हूँ ।

अर्थात् मृत्यु का रहस्य जानने के लिए तू ब्रह्मचारी बना है । ब्रह्मचारी जब सचमुच मृत्यु का ब्रह्मचारी बनकर मृत्यु को परे हटा देता है तब उसका नया जन्म होता है । और—**तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः'** [अ० ११।५।३]=उस नवोत्पन्न को देखने के लिए सभी ओर से विद्वान् आते हैं ।

२८३. हवि-रहित यज्ञ

ओ३म् । यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ —ऋ० ७।५।४

शब्दार्थ—देवाः निष्काम ज्ञानी **पुरुषेण**+**हविषा** पुरुषसम्बन्धी हवि से **यत्** जो **यज्ञम्** यज्ञ **अतन्वत** करते हैं, **नु** सचमुच वह यज्ञ **तस्मात्** उससे **ओजीयः** अधिक ओजस्वी **अस्ति** है, **यत्** जिसका वे **विहव्येन** हविरहित सामग्री से **ईजिरे** यजन करते हैं।

व्याख्या—यज्ञ में अग्नि, समिधा, घृत और हवि आवश्यक हैं। अग्नि में समिधा डालकर, उसे प्रदीप्त करके घृत तथा हवि के द्वारा जहाँ उस अग्नि को अधिक प्रदीप्त करना होता है, वहाँ घृत और हवि अग्नि में पड़कर अधिक उपयोगी हो जाते हैं। हविः अग्नि में पड़ने से पूर्व कोई विशेष सुगन्ध नहीं देता, अग्नि में पड़कर वह सुगन्ध देने लगता है और अग्नि वायु की सहायता से उस सुगन्ध का प्रसार करके, जहाँ-जहाँ वह सुगन्ध पहुँचता है वहाँ-वहाँ से दुर्गन्ध को दूर करके वायु-शुद्धि आदि का कार्य्य करता है। यही अवस्था घृत की है। यह एक वैज्ञानिक सचाई है, जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के यज्ञों को द्रव्ययज्ञ या हविर्यज्ञ कहते हैं। इन द्रव्ययज्ञों से वायु आदि द्रव्यों की शुद्धि के साथ अन्तःकरण की शुद्धि भी थोड़ी-बहुत हो जाती है, क्योंकि इस प्रकार के यज्ञों से परोपकार अवश्य होता है।

वेद इस प्रकार के यज्ञों का विधान करता हुआ इससे भी उत्कृष्ट यज्ञ का विधान करता है, जिसमें किसी द्रव्य की आहुति न देकर अपनी आहुति देनी होती है। इस प्रकार के हविरहित यज्ञ को वेद बलवत्तर मानता है। उस यज्ञ का सांकेतिक निरूपण अथर्ववेद [१६।४२] में है—

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः । अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥१॥
ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । शमिताय स्वाहा ॥२॥

ब्रह्म होता है, ब्रह्म यज्ञ है, ब्रह्म से स्वर बनाये गये हैं। ब्रह्म से अध्वर्यु उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म से हवि आच्छादित है ॥ ब्रह्म ही घृत से भरी स्रुचाएँ हैं, ब्रह्म से वेदी बनाई गई है। ब्रह्म ही यज्ञ का तत्त्व हवि डालनेवाले ऋत्विक् हैं, अतः शान्ति के लिए स्वाहा।

सबसे बड़ा यज्ञ वही है, जिससे संसार में शान्ति फैले। उस यज्ञ का होता, अध्वर्यु और अन्य सब ऋत्विक् ब्रह्म होना चाहिए। इतना ही नहीं, यज्ञ का सकल साकल्य भी ब्रह्म हो, यज्ञ के साधन, स्रुवा, वेदी आदि भी ब्रह्ममय हों, यज्ञ का तत्त्वसार भी ब्रह्म हो, उससे 'शमिताय स्वाहा' कहा जा सकता है। यह महान् यज्ञ तभी हो सकता है जब अपना-आपा सर्वथा ब्रह्म के अर्पण कर दिया हो और अपने-आपको ब्रह्म का हथियार बना दिया हो। तब कर्तृत्व हमारा न होगा, ब्रह्म का होगा। द्रव्ययज्ञ उस यज्ञ की पहली सीढ़ी है। तभी प्रत्येक आहुति के साथ **'इदन्न मम'** [यह मेरा नहीं है] कहना होता है। जिस दिन वास्तव में समझकर **'इदन्न मम'** कहा जाएगा, उस दिन उस यज्ञ का प्रारम्भ होगा।

२८४. स्वप्न और उससे बचाव

ओ३म् । यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ —अ० ७।१०१।१

ओ३म् । पर्य्यावर्त्ते दुःस्वप्न्यात्पापात्स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ —अ० ७।१००।१

शब्दार्थ—**यत्** जो **अन्नम्** अन्न **स्वप्ने** स्वप्न में **अश्नामि** खाता हूँ, वह **प्रातः** प्रातःकाल [जागने पर] **न** नहीं **अधिगम्यते** प्राप्त होता, **तद्** वह **दिवा** दिन में जागरित दशा में **नहि** नहीं **दृश्यते** दीखता, अतः **तत्** वह **सर्वम्** सब **मे** मेरे लिए **शिवम्** सुखदायी **अस्तु** होवे ॥ **दुः+स्वप्न्यात्** दुःस्वप्न से होनेवाले **पापात्** पाप से तथा **स्वप्न्यात्** स्वप्न से होनेवाली **अभिभूत्याः** अभिभूति, दबाव, तिरस्कार से मैं **पर्य्यावर्त्ते** लौटता और लौटाता हूँ, **अहम्** मैं **ब्रह्म** ब्रह्म को **अन्तरम्** बीच में **कृण्वे** करता हूँ, इससे मैं **स्वप्नमुखाः** स्वप्नादि **शुचः** शोक को **परा** दूर करता हूँ ॥

व्याख्या—तीन अवस्थाएँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति प्रत्येक मनुष्य पर आती हैं। जब सभी इन्द्रियाँ—आँख, नाक, कान आदि अपना-अपना कार्य्य कर रही हैं, उस अवस्था को जाग्रत् कहते हैं। साधारणतया जीव उस समय बहिर्मुख होता है, तभी बाहर के विषयों का ज्ञान होता है। जिस अवस्था में बाह्य इन्द्रियों ने कार्य्य करना छोड़ दिया है किन्तु अन्तरिन्द्रिय—मन—ने कार्य्य नहीं छोड़ा, उस अवस्था को स्वप्न कहते हैं; इस अवस्था में बहुत बेजोड़ विचार सामने आते हैं। जिस अवस्था में मन भी विश्राम लेने लगता है, कोई इन्द्रिय कार्य्य नहीं कर रही होती, उस अवस्था को सुषुप्ति या गहरी नींद कहते हैं। उस समय आत्मा का बाह्य विषयों से सम्बन्ध न होकर अज्ञात रूप से परमात्मा से सम्बन्ध होता है। यहाँ स्वप्न और दुःस्वप्न का, तथा उनसे होनेवाले अनिष्ट और उनसे बचने के उपाय का वर्णन है। **'यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि'** में स्वप्न का बहुत सुन्दर लक्षण-सा कर दिया है। स्वप्न में प्राप्त पादार्थ जाग्रत् में कभी उपलब्ध नहीं होता। कभी-कभी अनिष्ट स्वप्न दिखाई देते हैं, डरावने और भयानक सपने आने से मनुष्य के मन पर कुप्रभाव भी पड़ता है, अतः प्रार्थना की—'**सर्वं तदस्तु मे शिवम्**'=वह सब मेरे लिए भला हो। मैं ऐसा कोई स्वप्न न देखूँ जिससे मेरा किसी प्रकार अनिष्ट या अमङ्गल हो।

बुरे स्वप्न आने से बहुधा शरीर की हानि भी हुआ करती है। लोग उसकी दवाइयाँ खाकर चिकित्सा करते हैं, किन्तु उससे लाभ नहीं होता। वेद उसकी चिकित्सा बतलाता है—**'ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः**=मैं ब्रह्म को बीच में करता हूँ और इस प्रकार स्वप्न आदि शोक दूर करता हूँ अर्थात् ब्रह्म-चिन्तन से दुःस्वप्न नष्ट होते हैं। अनुभवियों के अग्रगण्य दयानन्दजी इस विषय में उपदेश करते हैं—"जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को रात-दिन प्रणव का जाप करना चाहिए। रात को यदि जाप करते हुए आलस्य आदि बहुत बढ़ जाए तो दो घण्टाभर निद्रा लेकर उठ बैठे और पवित्र प्रणव [ओम्] का जाप करना आरम्भ कर दे। बहुत सोने से स्वप्न अधिक आने लगते हैं ये, जितेन्द्रियजन के लिए अनिष्ट हैं।" मन को ब्रह्म में लगा दो, विषयों से हट जाएगा। फिर विषयों के स्वप्न भी न दिखाएगा।

२८५. उत्तम चाल चल

ओ३म् । अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्त्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ —अ० ७।१०५।१

शब्दार्थ—पौरुषेयात् पुरुषसम्बन्धी [वचन] से **अपक्रामन्** दूर भागता हुआ [और] **दैव्यम्** देव-प्रणीत **वचः** वचन को **वृणानः** वरण करता हुआ, अपनाता हुआ तू **विश्वेभिः** सम्पूर्ण **सखिभिः** सखाओं के **सह** साथ **प्रणीतीः** उत्तम चालों को **अभ्यावर्तस्व** सब ओर से बर्ताव में ला।

व्याख्या—मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है, इस विषय में बहुत थोड़े मनुष्य संसार में सतर्क हैं। मनुष्यों की बहुत अधिक संख्या तो अपने लक्ष्य के विषय में कुछ जानती ही नहीं। खाना, पीना, पहनना, भोग भोगना—यही उनके लिए मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य है, परन्तु यह तो कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी आदि को भी प्राप्त है ? क्या मनुष्य की विशेषता (ज्ञान) केवल इन पशुवृत्तियों की तृप्ति के लिए मनुष्य को मिली है ? यदि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य कुछ अन्य ही है, तो उसका उपदेश भी कहीं होगा। मनुष्यों की अधिकांशता क्या वाणी से और क्या कार्य्य से भोगसामग्री जुटाने को ही मनुष्य-जीवन की सिद्धि समझ रही है। भगवान् ने मनुष्य को उसकी उत्पत्ति के साथ ज्ञान भी दिया था। उस ज्ञान को वेद कहते हैं। वेद के शब्दों में उसे **'दैव्यं वचः'** भी कहते हैं। वेद कहता है—**'अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः'**=पौरुषेय वचन से दूर हटकर दैव्य वचन को वरण कर।

मनुष्य-जीवन का उद्देश्य, उद्देश्यसिद्धि के साधन सभी **'दैव्यं वचः'**=वेद में उक्त हैं। उसको अपना ! महान्-से-महान् विद्वान् भी मनुष्य-जीवन की इतिकर्त्तव्यता का पूर्ण ज्ञान नहीं दे सकता, अतः भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में सर्व मनुष्यों के कल्याणार्थ वेदवाणी का उपदेश किया। वेद-ज्ञान सब प्रकार के अज्ञान तथा उससे होनेवाले पाशों का विनाश करता है—**'उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि'** [अ० ८।१।३]—दैवी वाक् द्वारा पाप के पाशों से हम तेरा उद्धार करते हैं। वेद में इस दैवी वाक् को **'कल्याणी वाणी'** (य० २६।२) भी कहा गया है। इसको अपनाने का अर्थ है—**'प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह'**=सम्पूर्ण मित्रों के साथ उत्तम चालों को सब ओर से बर्ताव में ला।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। कोई एक मनुष्य दूसरों से सहायता—प्रत्यक्ष या परोक्ष में—लिये बिना अपनी शरीर-यात्रा नहीं चला सकता। यही परमुखापेक्षिता समाज-निर्माण का मूल कारण है। समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए विशेष व्यवस्थाओं का विधान करना पड़ता है। वेद का आदेश है कि हे मनुष्य ! तू सब सखाओं=अपने-जैसों के साथ प्रणीति=उत्तम **चाल चल** अर्थात् ऋजुमार्ग से चलकर अपनी उन्नति करनेवालों के साथ वैर-विरोध तथा कुटिलता का व्यवहार न कर।

२८६. दीर्घ जीवन का उपाय

ओ३म् । जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥

—अ० ८।२।२

शब्दार्थ—**जीवताम्** जीवितों के **ज्योतिः** प्रकाश को **अर्वाङ्** सामने होकर **अभि आ इहि** उद्योग से प्राप्त कर। मैं **त्वा** तुझको **शत-शारदाय** सौ वर्ष के जीवन के लिए **आ+हरामि** चलाता हूँ। **अशस्तिम्** अप्रशस्तता, गन्दगीरूप **मृत्युपाशान्** मौत के फन्दों को **अवमुञ्चन्** दूर कराता हुआ **ते** तुझे **प्रतरम्** बहुत बड़ी **द्राघीयः** लम्बी **आयुः** आयु **दधामि** देता हूँ।

व्याख्या—मनुष्य की साधारण जीवन-अवधि सौ वर्ष की है, जैसाकि यजुर्वेद [४०।२] में कहा गया है—'**जिजीविषेच्छतँ समाः**' [मनुष्य सौ वर्ष जीने की इच्छा करे] प्रकृत मन्त्र में भी भगवान् ने कहा है—'**आ त्वा हरामि शतशारदाय**'=तुझे इस संसार में सौ वर्षों के जीवन के लिए लाया हूँ। जैसे जलते दीपक से दूसरे दीपक जलाये जा सकते हैं, ऐसे ही जीते-जागतों से ही जीवन-ज्योति मिल सकती है। इसी भाव से कहा है—'**जीवतां ज्योतिरभ्येहि**'=जीते-जागतों से जीवन-प्रकाश ले अर्थात् दीर्घजीवी लोगों के पास उठो, बैठो, उनकी दिनचर्य्या का निरीक्षण करो कि कैसे उन्हें दीर्घ जीवन मिला। जैसी संगति होती है, प्रायः वैसे ही आचार-विचार बनते हैं, अतः दीर्घजीवन के अभिलाषियों को दीर्घजीवियों का सङ्ग करना अतीव उपयुक्त है। इसी प्रकार मरों का चिन्तन छोड़ देना चाहिए। जो मर गये, सो गये। इस रूप में वे आने के नहीं। उनको पुनः-पुनः स्मरण करने से मरण के संस्कार ही पुष्ट होंगे। अतः वेद कहता है—'**मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।**' [अ० ८।१।८] मरों का चिन्तन मत कर, वे जीवन से परे ले जाते हैं। प्रत्युत '**आ रोह तमसो ज्योतिः**' [अ० ८।१।८]=मृतक चिन्तनरूप अन्धकार से ऊपर उठकर जीवन-ज्योति प्राप्त कर।

जीवन के विघ्नों का नाम मृत्यु या मृत्युपाश है। दीर्घजीवन के अभिलाषी को इन मृत्युपाशों को काटना होगा। वेद कहता है—'**अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिम्**'=अर्थात् अशस्ति=गन्दगी, दुराचाररूप मृत्युपाशों को छोड़।

समस्त अशस्त=निन्दित आचार, यथा व्यभिचारादि, युक्त आहार-विहार का अभाव जीवन को घटानेवाले हैं। ये मृत्यु को समीप लानेवाले हैं, अतः इनका त्याग ही करना चाहिए। अशस्ति के विपरीत ब्रह्मचर्य्य=परमात्मा के आदेशानुसार आचार, मौत को मारने का प्रबल हथियार है। जैसा कहा है—'**ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत**' (अ० ११।५।१९)=ब्रह्मचर्य्यरूपी तप के द्वारा विद्वान् मृत्यु को मार भगाते हैं। ब्रह्मचर्य्य से दीर्घजीवन मिलता है, जैसा कि वेद में आदेश है—'**यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे। सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले।।**' [अ० ६।१३३।५]—हे मेखले [कौपीन] ! जिस तुझको सत्यकारी पूर्ण ऋषि बांधते हैं, वह तू मुझे दीर्घजीवन के लिए आलिंगन कर। मेखला ब्रह्मचर्य्य का बाह्य चिह्न है। दीर्घजीवन-अभिलाषी को ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिए और उसके साधनों **मेखलाबन्धन—आदि में कभी प्रमाद न करना चाहिए।**

२८७. मन लगाने का फल

ओ३म् । यत्र क्वं च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् । तत्रा सदः कृणवसे ॥

—ऋ० ६।१६।१७

शब्दार्थ—यत्र जहाँ **क्व च** कहीं भी **ते** अपने **दक्षम्** दक्ष, चतुर और **उत्तरम्** इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ **मनः** मन को **दधसे** तू लगाता है, **तत्र** वहाँ **सदः** ठिकाना **कृणवसे** तू बना लेता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में मन लगाने का फल बताया गया है । इससे मन का महत्त्व भली-भाँति हृदयंगम हो सकता है । मन अति चञ्चल है, प्रायः कहीं एक स्थान पर टिकता नहीं है । जैसाकि ऋग्वेद [१०।५८] में कहा है—

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो·········॥१॥ **यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो**···॥२॥
यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो·········॥३॥ **यत्ते चतस्त्रः प्रदिशो मनो**···॥४॥
यत्ते समुद्रमर्णवं मनो·········॥५॥ **यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो**···॥६॥
यत्ते अपो यदोषधीर्मनो·········॥७॥ **यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो**···॥८॥
यत्ते पर्वतान् बृहतो मनो·········॥९॥ **यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो**···॥१०॥
यत्ते पराः परावतो मनो·········॥११॥
यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् । तत्त आवर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥१२॥

जो तेरा मन वैवस्वत यम, द्यौ-अन्तरिक्ष, चतुर्भृष्टि पृथिवी, चारों दिशाओं, जलमय समुद्र, दूरस्थ किरणों, जल और ओषधियों, सूर्य्य, उषा, बड़े-बड़े पर्वतों, इस सम्पूर्ण जगत् से भी परे, भूत-भविष्य को बहुत दूर जाता है, उसे हम यहाँ रहने और जीने के लिए लौटा लाते हैं । स्पष्ट है कि जहाँ मन लगता है, वहीं घर बन जाता है । मन का स्वभाव भागने का है । संसारभर में और संसार से भी परे यह मार करता है। कभी अतीत की चिन्ता से चिन्तित है और कभी भविष्य की आशा-प्रतीक्षा में है । जाता यह दूर-दूर है, कौन-सा इसका जाने का समय है, जाग्रत् में भी भाग जाता है, स्वप्न का तो कहना ही क्या ?

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥—य० ३४।१

जो दैव मन जाग्रत् दशा में दूर चला जाता है, स्वप्न दशा में भी वह वैसे ही दूर चला जाता है । दूरगामी होने पर इन्द्रियों का प्रकाशक है, वह मेरा मन शुभ भावोंवाला हो ।

भाग-दौड़ के कारण मन ने स्थान-स्थान की धूलि संग्रह कर ली है । वह कहीं ठहरे, तो उसके मल-प्रक्षालन का आयोजन हो । भाग-दौड़ के कारण जहाँ जाता है, अपना ठिकाना बना लेता है—इससे प्रतीत होता है कि ठिकाना बनाने=टिकने का इसका अभ्यास है, अतः इसे टिकाओ । ऋषियों का कहना है, सान्त पदार्थों का अन्त यह शीघ्र पा लेता है, अतः वहाँ से शीघ्र भाग आता है । अनन्त-अपार कर्त्तार में इसे लगाओ । पार न पाने से वहीं लगा रहेगा, और परिणामतः हे जीव ! **'तत्रा सदः कृणवसे'**=तू भी वहीं ठिकाना बना लेगा ।

२८८. पहले आक्रमण

ओ३म् । य उ॒ग्र इ॑व शर्य॒हा ति॒ग्मशृ॑ङ्गो॒ न वंस॑गः । अग्ने॒ पुरो॑ रु॒रोजि॑थ ॥

—ऋ० ६।१६।३९

शब्दार्थ—हे **अग्ने** अग्ने ! अग्रणी ! **यः** जो तू **उग्र+इव** तेजस्वी के समान **शर्य्यहा** तीरों से बींधने योग्यों का मारनेवाला होकर, **तिग्मशृङ्गः+न** तीक्ष्ण किरणवाले सूर्य्य की भाँति **वंसगः** संभजनीय को प्राप्त होनेवाला होकर **पुरः** शत्रु के नगरों को **रुरोजिथ** तोड़ता है, अथवा **पुरः** पहले **रुरोजिथ** आक्रमण करता है।

व्याख्या—यह मन्त्र व्यवहारनीति का एक तत्त्व बताता है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए कभी कोमल बनना पड़ता है और कभी कठोरता की ठोकर खानी और मारनी पड़ती है। जो मनुष्य यथासमय इनका व्यवहार करना जानता है और कर सकता है, वह अवश्य सफलता प्राप्त करता है। वेद का आदेश है—**'य उग्र इव शर्यहा'**=जो तेजस्वी की भाँति हन्तव्य को मार देता है। तात्पर्य्य यह है कि जो शत्रु हथियार की मार में आया है, उसे छोड़ना नहीं चाहिए, उसको मार ही देना चाहिए। तेजस्वी मनुष्य इस प्रकार हाथ में आये को कभी नहीं छोड़ता। ऐसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में जब वृत्तियाँ दुर्बल हैं, तभी मार देनी चाहिएँ, प्रबल होकर उनका उखाड़ना कठिन होगा। प्रबल तेजवाला सूर्य्य ही वृत्र=पानी रोक रखनेवाले मेघ को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी आदि पर पूर्ण प्रकाश कर सकता है। इसी भाँति जो नेता शत्रु के पुरों को, दुर्गों को तोड़-फोड़ देता है, वह विजय पाता है।

'पुरो रुरोजिथ'—में एक ध्वनि और भी है। पहले आक्रमणवाला लाभ में रहता है। आत्मरक्षा में लगना अतीव दुस्सह कार्य है, उसमें सफलता सन्दिग्ध रहती है, किन्तु यदि रक्षणस्थिति में आने से पूर्व शत्रु पर आक्रमण कर दिया जाए, तो शत्रु का उत्साह-भंग आदि होकर बहुधा वह पराजित हो जाता है। भाव यह कि मनुष्य को सदा तेजस्वी रहना चाहिए, विघ्नों को पाते ही उन्हें मार देना चाहिए। साधन सभी तीक्ष्ण अर्थात् कार्य्यसिद्धिसमर्थ रखने चाहिएँ, किन्तु साथ ही सम्भजनीयों का संग भी निरन्तर करते रहना चाहिए; इस सबका उद्देश्य शत्रु को प्रबल न होने देना है।

जो लोग कहा करते हैं कि वेद केवल यज्ञ-याग या पारलौकिक विषयों का ही उपदेश करता है, वे इस मन्त्र का मनन करें। वेद स्पष्ट ही यहाँ लोकव्यवहार का उपदेश दे रहा है। वास्तविक बात यह है कि वेद मनुष्य-जीवन के उपयोगी सभी तत्त्वों का उपदेश करता है, चाहे वे लौकिक हों या पारलौकिक। वेद का लक्ष्य मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनाना है।

२८९. हाथ उठाकर नमस्कार

ओ३म् । वीती यो देवं मर्तो दुवस्येदग्निमीळीताध्वरे हविष्मान् ।
होतारं सत्ययजं रोदस्योरुत्तानहस्तो नमसा विवासेत् ॥

—ऋ० ६।१६।४६

शब्दार्थ—यः जो **मर्तः** मनुष्य **वीती** कान्ति से **देवम्** भगवान् की **दुवस्येत्** परिचर्य्या करता है, **और हविष्मान्** श्रद्धासम्पन्न होकर, हविः=सामग्रीवाला होता हुआ **अध्वरे** यज्ञ में **अग्निम्** भगवान् की **ईळीत** पूजा करता है, वह **रोदस्योः** द्यावापृथिवी के **सत्ययजम्** ठीक-ठीक मिलानेवाले **होतारम्** महादानी को **उत्तानहस्तः** उत्तानहस्त होकर, ऊपर हाथ उठाकर **नमसा** नमस्कार से **विवासेत्** सत्कार करे ।

व्याख्या—मनुष्य भगवान् की पूजा रूखे-फीके ढंग से न करे अर्थात् भगवान् की आराधना के समय भक्त के हृदय में तेजस्वी और कमनीय भाव होने चाहिएँ। ऋग्वेद [६।१६।४१] में आदेश है—**'प्र देवं देववीतये भरता वसुवित्तमम्'**—सर्वाधिक धनी भगवान् को भगवत्प्राप्ति के लिए धारण करो। धन मत चाहो, धनी को चाहो । भगवान् सबसे अधिक धनी है । उसको धारण करो । भगवान् मिल जाए, भगवान् अपना हो जाए तो फिर भगवान् का सब-कुछ हमारा ही है, अतः उसे ही चाहो । दोनों मन्त्र-खण्डों को मिलाकर पढ़ने से भाव निकलता है—भगवान् को प्राप्त करने के लिए शान्ति से भगवान् की पूजा करो, अर्थात् उसकी धारणा करो । यज्ञ में अग्नि की पूजा=भगवान् की पूजा करो । यज्ञ का उद्देश्य भगवान् और ज्ञानी की पूजा है । ऋग्वेद का आरम्भ है—**अग्निमीळे**=मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ । इसका भाव भी यही है कि अग्नि को, भगवान् को, ज्ञान को धारण करो—**'आ ते अग्न ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि'** [ऋ० ६।१६।४७]=हे अग्रणी भगवन् ! तुझे मन्त्रों से, हृदय से तय्यार की हुई हवि भेंट करते हैं । हृदय से तय्यार की हुई हवि स्पष्ट ही श्रद्धा और भक्ति की भावना है, अतः **'अग्निमीळीताध्वरे हविष्मान्'** का अर्थ हुआ 'श्रद्धाभक्तिसम्पन्न होकर यज्ञ में भगवान् का पूजन करे।'

गुरु के पास, राजा के पास, वैद्य के पास, विद्वान् के पास, संन्यासी तथा किसी अन्य मान्य के पास रिक्त हाथ जाने का निषेध है । कुछ-न-कुछ हाथ में लेकर ही उनके पास जाने का विधान है । भगवान् के पास जाते हुए क्या लेकर जाएँ ? संसार में जो कुछ है सभी उसी का है । संसार में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसे हम अपना कहकर भगवान् की भेंट धर सकें । सब-कुछ उसी का दिया हुआ है, अतः उसको—**'उत्तानहस्तो नमसा विवासेत्'**=हाथ उठाकर नमस्कार से पूजा करे । यजुर्वेद [४०।१६] के मन्त्र-खण्ड **'भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम'** में भी यही बात कही है । भाव यह है कि नम्रता से आत्मसमर्पण कर दे। इससे एक ध्वनि और भी निकलती है कि पारस्परिक नमस्कार के समय हाथ ऊपर उठाने चाहिएँ ।

२६०. अपने पुरुषार्थ से कच्चों में परिपक्वता डाल

ओ३म् । तव क्रत्वा तव तद्दंसनाभिरामासु पक्वं शच्या नि दीधः ।
और्णोर्दुर उस्रियाभ्यो वि दृळ्होदूर्वाद् गा असृजो अङ्गिरस्वान् ॥

—ऋ० ६।१७।६

शब्दार्थ—तू **तव** अपने **क्रत्वा** बुद्धि से, कर्म से, पुरुषार्थ से तथा **तव** अपने **दंसनाभिः** दृष्टान्तों से **आमासु** कच्चों में **शच्या** बुद्धिपूर्वक **तत्** प्रसिद्ध **पक्वम्** सर्वथा परिपक्वता **नि-दीधः** डाल । **उस्रियाभ्यः** किरणों के लिए अथवा किरणों पर **दृढ़ा दुरः** दृढ़ प्रतिबन्धकों को **वि+और्णोः** खोल दे, दूर कर दे और **अङ्गिरस्वान्** ज्ञानवान् होकर **ऊर्वात्** हिंसावृत्ति से **गाः** इन्द्रियों को **उत्+असृजः** मुक्त कर ।

व्याख्या—किसी को कोई उपदेश देना है । वाणी की अपेक्षा क्रिया द्वारा दिया वह उपदेश अधिक प्रभावशाली होता है । गुरु अपरिपक्व मति, कच्चे विचारवाले शिष्यों में परिपक्वता लाना चाहता है, यह कथनमात्र से नहीं आएगी, करके समझानी होगी—**'तव क्रत्वा तव तद्दंसनाभिरामासु···दीधः'**=अपने कर्म तथा दृष्टान्तों से बुद्धिपूर्वक कच्चों में प्रसिद्ध परिपक्वता डाल । परिपक्वता लानेवाले कर्म स्वयं भी करते रहना चाहिए । उनको देखकर शिष्य को उत्साह मिलेगा । अपने उत्कर्ष की सिद्धि के साधन भी बनाते रहना चाहिए ।

एक बात का विचार करना आवश्यक है, वह यह कि कच्चों को परिपक्व करते हुए उनके सामर्थ्य और योग्यता की परीक्षा कर लेनी चाहिए । दूसरे की योग्यता की परीक्षा के लिए बुद्धि चाहिए, अतः वेद कहता है—**'शच्या निदीधः'** बुद्धि से परिपक्वता डालनी चाहिए । आग अधिक हो, तो जल जाता है । कम हो तो कच्चा रह जाता है । यह ज्ञान से निर्णय करना होगा कि किसमें कितनी आँच दी जाए । कच्चे पात्र तक जाने के लिए तपानेवाली किरणों के मार्ग में प्रबल बाधाएँ हैं, अतः वेद आदेश करता है—**'और्णोर्दुर उस्रियाभ्यो वि दृढा'**=किरणों पर से प्रबल, कठोर प्रतिबन्धकों=द्वारों को खोल दो । जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार मनुष्य को सत्यज्ञान प्राप्त नहीं करने देते । आलस्य, प्रमाद, सुखलिप्सा आदि अनेक विघ्न हैं जिनसे ज्ञान-प्रकाश प्राप्त होने में बाधा रहती है । उन सबको हटाये बिना ज्ञानकिरण रुकी रहेगी । मनुष्यों के सभी दोषों में हिंसा प्रधान दोष है । वेद इससे इन्द्रियों को बचाना चाहता हुआ कहता है—**'ऊर्वाद्गा असृजो अंगिरस्वान्'**=ज्ञानवान् होकर हिंसा वृत्ति से इन्द्रियों को मुक्त करना है । अङ्गिरस्वान् का अर्थ है—प्राणवान् । प्राण को वश करके इन्द्रियों को हिंसा से बचाना चाहिए ।

२६१. सभी पुष्टि के लिए तुझ एक बली को धारते हैं

ओ३म् । अधं त्वा विश्वें पुर इन्द्र देवा एकं तवसं दधिरे भराय ।
अदेवो यद्भ्यौहिष्ट देवान्त्स्वर्षाता वृणत इन्द्रमत्रं ॥ —ऋ० ६।१७।८

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** बलवन् भगवन् ! **अध** अतएव **विश्वे** सब **देवाः** विद्वान् ज्ञानी **भराय** भरण-पोषण के लिए, संग्राम के लिए **त्वा** तुझ **एकम्** अद्वितीय **तवसम्** बल को, बलवान् को **पुरः+दधिरे** आगे धरते हैं, आदर्श बनाते हैं । **अदेवः** मूर्ख. अज्ञानी **यत्** चूंकि **देवान्** विद्वानों के **अभि+औहिष्ट** सम्मुख तर्क-वितर्क करता है, अतः **अत्र** इस विषय में इस संसार में **स्वर्षाता** सुख-प्राप्ति के लिए, ज्ञानी **इन्द्रम्** अज्ञान-नाशक को **वृणते** चुनते हैं, वरण करते हैं ।

व्याख्या—इससे पूर्व (६।१७।७) मन्त्र आया है—

पप्राथ क्षां महि दंसो व्युर्वीमुप द्यामृष्वो बृहदिन्द्र स्तभायः ।
अधारयो रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य ॥

जगद्धारक भगवान् ने महती पृथिवी, विशाल अन्तरिक्ष, महान् प्रकाशाधार द्यौलोक को प्रथित किया, बनाया तथा थाम रखा है । ऋत के बली, देवपुत्र द्यावापृथिवी को वही धारण करता है । जब वही सबको धारण करता है, तो सभी का भरण-पोषण भी वही करता है । ज्ञानीजन इस तत्त्व को जानते हैं, अतः—**'त्वा विश्वे···भराय'**=संग्राम के लिए, जीवन संग्राम के लिए, भरण-पोषण के लिए विद्वान् उस महाबली को आगे रखते हैं । जो इन अप्रतर्क्य, अचिन्त्य, असंख्य ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करता, पालता, तथा धारता है । उसके बल का क्या कहना ? बलप्राप्ति के लिए ज्ञानीजन उसी को आदर्श बनाने हैं । जितना बड़ा आदर्श होता है, उतना अधिक साधक में उत्साह होता है । विद्वान् और मूर्खों में जब तर्क-वितर्क हो, तब भी विद्वान् जन, **वृणत इन्द्रमत्र'** अज्ञाननिवारक भगवान् का वरण करते हैं ।

धीरे से वेद ने समझा दिया कि भगवान् में केवल भरण-पोषण-धारण का अतुल बल ही नहीं है, प्रत्युत अज्ञाननिवारण का पूर्ण सामर्थ्य भी उसी में है । इसका एक आचारिक अर्थ है कि जो महाविद्वान् अज्ञानियों के अज्ञाननिवारणरूप पुण्य कार्य में लगते हैं, उन्हें सदा भगवान् को अपनाये रखना चाहिए, ताकि उस महास्रोत से सम्बन्ध बना रहे, और ताजा प्रवाह सदा मिलता रहे । मूर्ख को भी कह दिया कि तर्क-वितर्क करना है, तो ज्ञानी से कर, मूर्ख से मत कर । इस प्रकार महान् बलवान्, अज्ञानत्रिदारक भगवान् को आदर्श बनाने से मनुष्य में भी उत्ततरोत्तर ज्ञान और बल की वृद्धि होकर अज्ञान तथा दुर्बलता का सतत् ह्रास और नाश होता रहता है ।

२९२. शिल्पी सहस्रभृष्टि वज्र बनाये

ओ३म् । अध॒ त्वष्टा॑ ते म॒ह उ॑ग्र॒ वज्रं॑ स॒हस्र॑भृष्टिं ववृतच्छ॒ताश्रि॑म् ।
निका॑मम॒रम॑णसं॒ येन॒ नव॑न्त॒महिं॒ सं पि॑णगृजीषिन् ॥ —ऋ० ६।१७।१०

शब्दार्थ—हे **ऋजीषिन्** सीधा करनेवाले ! और हे **उग्र** उग्र ! **अध** और **त्वष्टा** शिल्पी **ते** तेरे लिए **महः** महान् **सहस्रभृष्टिम्** हज़ारों को भून देनेवाले तथा **शताश्रिम्** सैकड़ों अश्रियों=कोणोंवाले **वज्रम्** वज्र को **ववृतत्** बनाये, **येन** जिसके द्वारा तू **निकामम्** नितरां **अरमणसम्** अरमणीय **नवन्तम्** झुकानेवाले **अहिम्** कुटिल शत्रु को **सं+पिणक्** भली प्रकार पीस दे ।

व्याख्या—वेद में सैकड़ों प्रकार के आयुधों के निर्माण तथा प्रयोग की चर्चा है । उनमें वज्र प्रधान प्रतीत होता है । वज्र भी कई प्रकार का है । एक आयस वज्र का वर्णन भी कई स्थानों में है। उदाहरणार्थ एक यहाँ उपस्थित किया जाता है—**'हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम्'** [ऋ० १।८१।४]=हरणशक्ति-सम्पन्न सैनिक हाथों में 'आयस वज्र' धारण करता है, 'आयस' का अर्थ है, लोहे का बना हुआ । इसी प्रकार 'हिरण्यवज्र' का उल्लेख भी है—**'त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्'** [ऋ० १।८५।९]=उत्तम कारीगर त्वष्टा उत्तम रीति से बने हुए 'सहस्रभृष्टि' 'हिरण्य वज्र' को बनाता है । सहस्रभृष्टि का अर्थ है एक साथ हजारों को भून डालनेवाला । कदाचित् यह आजकल की मशीनगन [घन]=Machine gun के समान कोई आयुध हो । एक 'सायक वज्र' की चर्चा भी है—**'वज्रं हिन्वन्ति सायकम्'** [ऋ० १।८४।११]='सायक वज्र' का प्रयोग करते हैं ।

इस प्रकृत मन्त्र में 'सहस्रभृष्टि शताश्रि' वज्र का वर्णन है । 'शताश्रि' का अर्थ सैकड़ों कोणों-वाला अथवा 'एक साथ सैकड़ों गोली-छर्रे आदि फेंकनेवाला' हो सकता है । इसी प्रकार 'तेजिष्ठा वर्त्तनि' 'शिता गभस्ति' 'अशनि' 'विद्युत्' 'ऋष्ठि' 'मुष्टि' 'स्वाधि' 'पवि' 'वाशी' 'वकुर' 'परशु' 'इषु' 'शर' 'सायक' 'निषङ्ग' 'धुनि' 'खादि' अनेक शस्त्रों-अस्त्रों का उल्लेख है । इनमें से कई ऐसे हैं जिनका ठीक-ठीक स्वरूप भी लोगों को भूल चुका है । वेदज्ञानकाल में वेद का एक उपवेद 'धनुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध था । उस उपवेद पर अगस्त्य, भरद्वाज, उशना: आदि अनेक ऋषियों ने अपने ग्रन्थ लिखे थे । क्षात्रधर्म्म का त्याग करने से क्षत्रियों के साथ क्षत्रियों के समस्त उपकरणों का भी लोप हो गया है ।

२६३. दो मार्ग

ओ३म् । द्वे स्रुती अंशृणवं पितॄणामहं देवानांमुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यांमिदं विश्वमेजत्समेंति यदंन्तरा पितरं मातरं च ।।

—ऋ० १०।८८।१५

शब्दार्थ—**मैं पितृणाम्** पितरों, **देवानाम्** देवों **उत** और **मर्त्यानाम्** मरणधर्म्माओं के **द्वे** दो **स्रुती** मार्ग **अशृणवम्** सुनता हूँ । **ताभ्याम्** उन दोनों से **इदम्** यह **विश्वम्** जगत् **एजत्** गति करता हुआ **समेति** आ-जा रहा है, और **यत्** जो **पितरम्**+**मातरं**+**च** माता-पिता के **अन्तरा** सम्बन्ध से है ।

व्याख्या—मनुष्यों में सकाम और निष्काम दो भेद हो सकते हैं । निष्काम मनुष्यों को देव कहते हैं । **'अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम'** [अ० ६।११४।३]=हम अकाम, कामनारहित देव तुम्हें शिक्षा देते हुए भी नहीं कर सके । निष्काम मनुष्यों=देवों का मार्ग देवयान होता है । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—**'सत्यं वै देवाः'**=देव सर्वथा सत्य होते हैं । अतएव—**'सत्येन पन्था विततो देवयानः, येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामाः'**=देवयान=देवों के जाने का मार्ग सत्य से विस्तृत है, इस मार्ग से आप्तकाम ऋषि चलते हैं । देवयान का फल मोक्ष है । दूसरा मार्ग पितृयान है । जिस मार्ग से चलने पर मनुष्य पिता बनता है । पिता बनने का अभिप्राय है जन्म-मरण के चक्कर में आते रहना । सारा संसार इन्हीं दो मार्गों से चल रहा है । मुण्डकोपनिषत् [१।२।१०-११] में इन दो गतियों का सांकेतिक वर्णन है—

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।।
तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।

इष्ट और पूर्त्त को ही सबसे बढ़िया माननेवाले अतिमूढ़जन उससे अतिरिक्त श्रेयः=कल्याण को नहीं जानते । वे अपने कर्म्म से जन्य सुखावस्था का अनुभव करके हीनतर दशा को प्राप्त होते हैं, किन्तु जो शान्त विद्वान् संन्यासी होकर वन में रहते हुए तप और श्रद्धा का अनुष्ठान करते हैं, वे निष्पाप महात्मा सूर्य्यद्वार से वहाँ पहुँचते हैं जहाँ वह अविनाशी, अविकारी पूर्ण पुरुष है । सांसारिक सुखसमृद्धि के साधनों को इष्टापूर्त कहते हैं । जो केवल शरीरसुख को ही सब-कुछ मानते हैं, मोक्ष का जिन्हें विचार तक नहीं आता, वे यदि सत्कर्म्मी हैं, तो अपने उन सत्कर्म्मों का फल सुख इस जन्म या दूसरे जन्म में भोगकर फिर हीन-अवस्था में आते हैं, क्योंकि सुखदायक उपाय अपना फल दे चुके होते हैं । इसके विपरीत विषयभोग में दोषदर्शन के द्वारा विरक्त, चंचलतारहित होकर मोहमाया के बन्धनों को जो काट चुके हैं, वे महापुरुष श्रद्धापूर्वक तप में लग जाते हैं, और परम पुरुष को प्राप्त कर परमानन्द को प्राप्त करते हैं । पहला मार्ग पितृयान है, दूसरा देवयान है । उपनिषदों में इन दोनों मार्गों का विस्तृत उल्लेख है ।

२९४. व्रतरहितों को व्रतसहित करना

ओ३म् । सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥

ओ३म् । अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥

—अ० ६।९४।१, २

शब्दार्थ—वः तुम्हारे **मनांसि** मनों को **सं+नमामसि** एकसमान हम झुकाते हैं। तुम्हारे **व्रता** व्रतों को **सम्** एकसमान झुकाते हैं। तुम्हारे **आकूतीः** संकल्पों को **सम्** एकसमान झुकाते हैं। **अमी ये ये** जो तुम **विव्रताः** व्रतरहित **स्थन** हो, **तान्** उन **वः** आपको हम **सं+नमयामसि** एकसमान झुकवाते हैं। **अहम्** मैं **मनसा** अपने मन से **मनांसि** तुम्हारे मनों को **गृभ्णामि** पकड़ता हूँ, लेता हूँ, ग्रहण करता हूँ। **चित्तेभिः** अपने चित्तों से **मम** मेरे **चित्तम्+अनु** चित्त के अनुकूल **एत** चलो। मैं **वः** तुम्हारे **हृदयानि** हृदयों को **मम** मेरे अपने **वशेषु** वश में **कृणोमि** करता हूँ। **मम** मेरे **यातम्** मार्ग के **अनुवर्त्मानः** अनुकूल मार्गवाले होकर **एत** चलो।

व्याख्या—आचार्य्य शिष्यों का उपनयन करते हुए कहते हैं—**'सं वो मनांसि···।'** आचार्य्य का कर्त्तव्य है कि उपनीत शिष्यों के मनों को संमन=उत्तम मनवाला बनाये। वे बालक हैं उन्हें अपने ध्येय का ज्ञान नहीं है, ज्ञान हो भी तो पूरा आभास नहीं होता। आचार्य्य का कर्त्तव्य है कि शिष्य की रुचि, प्रवृत्ति आदि देखकर उसके व्रत=संव्रत का निश्चय करे और शिष्य को उसके अनुकूल चलाये। मन के परिष्कार के लिए संकल्प का सुधार सबसे मुख्य है। मनोविज्ञान-शास्त्र के प्रकाण्ड पाण्डित्य के बिना यह कार्य्य नहीं हो सकता। मनोविज्ञान के महाविद्वान् आचार्य्य का कार्य्य है कि वह शिष्य की मनोवृत्तियों के आधार से उनके संकल्पों को जाने और उन्हें उद्विग्न किये बिना उनका सुधार कर दे। निस्सन्देह यह कार्य्य अत्यन्त कठिन है, किन्तु आचार्य्य का आचार्य्यपन भी इसी में है। यास्काचार्य्य ने कहा है—**'आचार्य्यः कस्मात् ? आचारं ग्राहयति'** (निरु०) आचार ग्रहण कराने के कारण आचार्य्य आचार्य्य है। आचार का ग्रहण कराना संकल्प-सुधार के बिना असम्भव है, अतः आचार्य्य कहता है—**'अमी ये विव्रता स्थन···'** ये जो तुम व्रतरहित हो, उनको व्रत के लिए झुकाता हूँ। जब सामने व्रत=लक्ष्य न हो, उसके लिए संकल्प बन ही नहीं सकता। व्रत का निश्चय होने पर ही मन और संकल्प को उसके अनुकूल करना आचार्य्य का कार्य्य है अर्थात् यह आचार्य्य के अधिकार में है कि वह शिष्य को जैसा चाहे बना दे। इसी कारण कदाचित् महर्षि मनु [२।१४८] ने लिखा है—

आचार्य्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥

वेदज्ञ आचार्य्य वेदाध्ययन द्वारा अपने शिष्य का जो वर्ण बनाता है, वही सच्चा है, वही अजरामर है।

इस मन्त्र के पूर्वार्ध का एक अर्थ यह भी है कि 'तुम्हारे मनो, व्रतों और संकल्पों के अनुकूल हम झुकते हैं।' अर्थात् आचार्य्य शिष्यों को कह रहे हैं, हम ऊपर से नीचे आएँगे और तुम्हारे मनों, व्रतों एवं

संकल्पों को जानकर तुम्हें ऊपर उठाएँगे। आचार्यों की यह उक्ति महत्त्वपूर्ण है। जबतक संसार के आचार्य्य इस वैदिक वाग् के अनुसार व्यवहार करते रहे, संसार में श्रेष्ठ मनुष्यों का बाहुल्य रहा। आचार्य्यों की इस सद्भावना को उत्तरार्ध में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। अगले मन्त्र में आचार्य्य शिष्यों को अपना अनुकरण करने का उपदेश कर रहा है। पारस्कर गृह्यसूत्र में इसी मन्त्र का अनुवाद कर इसे गुरु-शिष्य की पारस्परिक प्रतिज्ञा का रूप दे दिया गया है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

मैं अपने लक्ष्य में तेरे हृदय को लगाता हूँ तथा तेरे व्रत में अपने हृदय को लगाता हूँ। मेरा चित्त तेरे चित्त के अनुकूल हो, तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो। मेरी बात सावधान होकर सुन। भगवान् ने तुझे मेरे लिए किया है।

२९५. नीचे पड़े को ऊपर उठानेवाला प्रशंसनीय

ओ३म् । अरमयः सरपसस्तराय कं तुर्वीतये च वय्याय च स्रुतिम् ।
नीचा सन्तमुदनयः परावृजं प्रान्धं श्रोणं श्रावयन्त्सास्युक्थ्यः ॥

—ऋ० २।१३।१२

शब्दार्थ—तू **सरपसः** अपराधियों को, पापियों को **तराय** तारने के लिए **कम्** सुखपूर्वक **अरमयः** रमण करता है, **च** और **स्रुतिम्** विविध प्रकार की गति को **तुर्वीतये** साधनों से व्याप्ति के लिए **च** और **वय्याय** विस्तार के लिए, [कराता है], **नीचा**+**सन्तम्** नीच हुए को **उद्**+**अनयः** ऊपर उठाता है, उन्नत करता है, **परावृजम्** सर्वथा वर्जित को, **अन्धम्** अन्धे को **प्र** उत्तम रीति से दिखाता है; **श्रोणम्** बहिरे को **श्रावयन्** सुनाता है, श्रवण-शक्तियुक्त कर देता है । **सः** ऐसा तू **उक्थ्यः** प्रशंसा करने योग्य है ।

व्याख्या—अल्पज्ञता, अविद्या, और दुराग्रह की प्रबलता के कारण मनुष्य से अपराध होते हैं । यही मनुष्य की गिरावट है । गिरते पर हँसना खलों का, दुष्टों का काम है । सज्जन उसपर करुणा करते हैं । इसी भाव को लेकर वेद का उपदेश है—**'अरमयः सरपसस्तराय कं···'**=पापियों को तारने के लिए सुखपूर्वक रमण कराते हो । योग्य धार्मिक को सभी प्यार करते हैं । सच्ची वीरता पापी को पाप से हटाकर धर्म्म पर लाने में है । यह महत्कार्य्य पापी पर घृणा करने से नहीं हो सकता, पाप से घृणा करो पापी से मत करो । जिसकी प्राप्ति के लिए तुम दान-पुण्य, भगवदाराधन करते हो, उसी की प्राप्ति के लिए वह पाप-पथ का पथिक बना है । यह उसकी भूल है । भूला-भटका मनुष्य फटकार का पात्र नहीं होता, वह तो करुणा का पात्र है । अतः—**'नीचा सन्तमुदनयः···'** नीचे गिरे को ऊपर उठा, अन्धे को रूप दिखा और बहिरे को शब्द सुनवा । यह कार्य्य साधारणजनों का नहीं है, प्रत्युत देवों का है—

'उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

—अ० ४।१३-१

देव गिरे हुओं को बार-बार उठाते हैं, पाप करनेवाले को बार-बार जिलाते हैं ।

पाप करना मानो मरना है । पापी को पाप से हटाकर धर्म्ममार्ग पर लाना उसे जिलाना है, नया जीवनदान देना है । जीवनदान कितना महान् कार्य्य है ! जिसके आँखें नहीं हैं, उससे पूछो आँखों का मूल्य । बहिरे से श्रवणेन्द्रिय का महत्त्व सुनो । अन्धे को आँख देना उसको नया जीवन देना है । अन्धकार-मय संसार से उद्धार करके आलोकमय लोक में लाना है । अन्धे का संसार सूना होता है । आँखें देकर उसके उजड़े घर को बसाना है । पापी की भी हृदय की आँख फूट गई है । उसे पाप-पुण्य में भेद प्रतीत नहीं होता । विवेक-नेत्र, ज्ञान-चक्षु देकर उसका पुनर्जन्म करना है । पतितोद्धार सचमुच पवित्र कार्य्य है । इसकी जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है ।

२६६. भगवान् का मन्यु जो कुछ करता है उसे—

ओ३म् । न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः ।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि ॥

—ऋ० १०।८६।६

शब्दार्थ—न न **द्यावापृथिवी** द्यौ और पृथिवी, **न** न **धन्व** जल **न** न **अन्तरिक्षम्** अन्तरिक्ष **न** न **अद्रयः** पर्वत और **सोमः** सोम **यस्य** जिसके [सामर्थ्य को] **अक्षाः** प्राप्त करते हैं **यत्** जैसे **अधिनीयमानः** अधिकारपूर्वक प्रयोग किया जाता हुआ **अस्य** उस भगवान् का **मन्युः** मन्यु **शृणाति** काटता है, वह **स्थिराणि** स्थिर पदार्थों को भी **वीळु** बलपूर्वक **रुजति** तोड़-फोड़ देता है ।

व्याख्या—द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी, पर्वत, समुद्र आदि जगत् के पदार्थों के सामर्थ्य का तनिक विचार कीजिए। पृथिवी का एक नाम पूषा=पुष्टि करनेवाली, पालनेवाली है । समस्त प्राणियों की—कीट से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों की पालना करती है । इसी दृष्टि से वेद में अनेक स्थानों पर पृथिवी को माता कहा गया है। भारीभरकम पर्वतों का धारण करना, नदी-नाले, समुद्रों को अपने उरःस्थल पर स्थान देना महती शक्ति की सूचना दे रहा है । विविध पदार्थों की, जिनकी गणना और इयत्ता मनुष्य भी पूर्णरूपेण नहीं जान सका, उत्पादिका होने से यह पृश्नि कहलाती है । द्यौ कितना विशाल है ! पृथिवी से कई लाख गुणा विशाल सूर्य्य द्यौ में रहता है । वेद कहता है—**'सप्त दिशो नाना सूर्य्याः'** [ऋ० ६।११४।३] =अनन्त सूर्य्य हैं । असंख्य ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, ध्रुव, आकाश-गंगा आदि सभी द्यौ में रहते हैं । निस्सन्देह द्यौ ससीम है, किन्तु मनुष्य उसकी ससीमता का निर्धारण न कर सका । इसी भाँति पृथिवी और द्यौ के अन्तरालवर्ती अन्तरिक्ष की महिमा भी विशाल है ।

इन अति विशाल पदार्थों को जाने दीजिए । पृथिवी में कील के समान खड़े पर्वतों को देखिए । कहीं हिम से आच्छन्न हैं, कहीं वृक्षों से लदे हैं, कहीं सर्वथा निरावरण—नंगे हैं । इनमें आग है, पानी है, नीलम है, सोना है, चाँदी है, लोहा है, तांबा है और क्या नहीं है, यह कहना कठिन है । ये सब मिलकर भी उसकी महत्ता को नहीं पा सकते । इसके विपरीत उसका मन्यु देखिए, वह **'शृणाति'** काट-छाँट देता है । **'वीळु रुजति स्थिराणि'**=स्थिर पदार्थों को भी तोड़ देता है । मन्यु का अर्थ लौकिक संस्कृति में क्रोध होता है किन्तु वैदिक भाषा में सभी शब्दों के यौगिक होने के कारण उसका अर्थ है—मननपूर्वक, आवेश-पूर्वक किसी कार्य्य का सम्पादन । इस यौगिक सिद्धान्त के कारण ही मन्यु के सम्बन्ध में आता है—

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युं विश ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥—ऋ० १०।८३।२

मन्यु इन्द्र है, मन्यु ही देव है, मन्यु ही होता, वरुण और जातवेद है । मानुष प्रजाएँ मन्यु को पूजती या चाहती हैं, तप का प्रेमपूर्वक सेवन करनेवाले मन्यो ! तू हमारी रक्षा कर ।

ऋग्वेद [१०।८३] में मन्यु कई पदार्थों के लिए प्रयुक्त है । अन्यत्र ऋग्वेद [१०।८४।२] में मन्यु को सेनानी=सेनानायक भी कहा गया है—**'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि'**=हे मन्यो ! अग्नि की भाँति तेजस्वी सबको दबा, और सेनानी=सेनानायक होकर, आमन्त्रित होकर युद्ध में समर्थ हो । प्रकृत मन्त्र में मन्यु का अर्थ भगवान् का प्रलयकारक बल है । वह समुद्र को सुखा देता है, पृथिवी को धूलि बनाता है, तेजोमय सूर्य्यादि को निस्तेज कर देता है ।

२९७. उत्तम मननशील (मनुष्य)

ओ३म् । स यो न मुहे न मिथू जनो भूत्सुमन्तुनामा चुमुरिं धुनिं च ।
वृणक् पिप्रुं शम्बरं शुष्णमिन्द्रः पुरां च्यौत्नाय शयथाय नू चित् ॥

—ऋ० ६।१८।८

शब्दार्थ—**यः** जो **जनः** मनुष्य **न मुहे** मोह में नहीं पड़ता और **न** ना ही **मिथू** मिथ्यावादी **भूत्** होता है, जो **इन्द्रः** पापनाशक मनुष्य **चुमुरिम्** प्रजा को खानेवाले **च** और **धुनिम्** प्रजा को कँपानेवाले, **पिप्रुम्** अपना पेट भरनेवाले **शम्बरम्** प्रजासुख को रोकनेवाले **शुष्णम्** प्रजाशोषक को **पुराम्** पुरों को **च्यौत्नाय** प्राप्त करने तथा **शयथाय** सुलाने के लिए **नू+चित्** भी—**वृणक्** नष्ट कर देता है, **सः** वह **सुमन्तुनामा** सुमन्तु=उत्तम मननशील मनुष्य नामवाला है।

व्याख्या—इस मन्त्र में मनुष्य के 'सुमन्तु'=उत्तम मननशील नाम का प्रयोग किया गया है। शास्त्रों में मनुष्य का लक्षण लिखा है—'**मत्वा कर्म्माणि सीव्यति**'=जो मनन करके कार्य्य करे। मनुष्य, सुमन्तु, मनु, पर्य्यायवाची शब्द हैं। जो मननशील है, जिसका स्वभाव विचारपूर्वक कर्म्म करने का है, वह प्रायः मोह में नहीं पड़ता। उसे मोह उन्मादक, बुद्धिनाशक भासता है, अतः वह सदा सावधान रहता है। मनुष्य को मिथ्या भी नहीं बोलना चाहिए। इस सबसे बढ़कर उसका कर्त्तव्य है कि वह अन्याय और अत्याचार का विरोध करे। कदाचित् इसी मन्त्र का भाव हृदय में रखकर महर्षि ने लिखा है—

"मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्म्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे, इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हो रक्षा, उन्नति, और प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणी भी हों, तथापि उनका नाश, अवनति, और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जाएँ परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म्म से पृथक् कभी न होवे।"

इसी भाव से भर्तृहरिजी ने कहा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीतिनिपुण लोग चाहे निन्दा करें या स्तुति, सम्पत्ति आये चाहे जाए, आज ही मृत्यु आ जाए और चाहे युगयुग जीवन रहे, किन्तु धीर मनुष्य न्याययुक्त मार्ग से पग नहीं हटाते।

न्याययुक्त मार्ग कहो, धर्म्म कहो, एक ही बात है—'**न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्म्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः**' (महाभारत)—कामना के वश होकर, लोभ से अभिभूत होकर, जीवन के निमित्त भी कभी धर्म्म का त्याग न करे। व्यासजी ने भी वही बात कही। स्पष्ट है, सौ सियाने एक मत।

२६८. दुःखियों की सेवा करनेवाले की सभी प्रशंसा करते हैं

ओ३म् । अनु त्वाहिघ्ने अध देव देवा मदन् विश्वे कवितमं कवीनाम् ।
करो यत्र वरिवो बाधिताय दिवे जनाय तन्वे गृणानः ॥ —ऋ० ६।१८।१४

शब्दार्थ—अध अब, हे **देव** देव ! दिव्यगुणयुक्त ! **अहिघ्ने** पापनाश के निमित्त **विश्वे** सम्पूर्ण **देवाः** देव, दिव्यगुणसम्पन्न जन **त्वा** तुझ **कवीनाम्** कवियों में **कवितमम्** सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी के **अनु** अनुकूल **मदन्** आनन्दित हो रहे हैं, **यत्र** जिस काल में तू **तन्वे** शरीर के लिए **गृणानः** पुकारा जाता हुआ **दिवे** सुप्त, प्रमादग्रस्त **बाधिताय** पीड़ित **जनाय** जन के लिए [की] **वरिवः** सेवा **करः** करता है ।

व्याख्या—ज्ञानी कौन ? जिसे पाप से घोर घृणा हो । वह महाज्ञानी=महाकवि=कविराज, जिसके भीतर पाप से युद्ध करने की उग्र भावना हो और वह कवियों का कवि=**कवीनां कवितमः**, जो पाप को मार देता है । सचमुच उस जैसा क्रान्तदर्शी कौन हो सकता है, जो पाप से होनेवाले भयङ्कर परिणामों का विचार करके पाप-नाश कर देता है ! भयङ्कर-से-भयङ्कर युद्ध इतना भयङ्कर नहीं होता, जितना पाप से युद्ध । वेद में इस युद्ध का अनेक रूपों में वर्णन है । जिस प्रकार, सूर्य्य जब मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है तब संसार में हर्षोल्लास का विकास होता है, उसी प्रकार जब मनुष्य आत्मगत अहि—पाप को मार देता है तो उसके सारे दिव्य गुण चमकने लगते हैं । आत्मक्षेत्र में सफलता प्राप्त करके जब वह महाज्ञानी समाज-क्षेत्र में अवतीर्ण होता है और समाजगत दोषों, अपराधों के साथ युद्ध आरम्भ करता है और जब वह अपने पुरुषार्थ से समाजशुद्धि करने में सफलता प्राप्त करता है तब—**'अनु त्वाहिघ्ने अध देव देवा मदन् विश्वे कवितमं कवीनाम्'** पापनाश के निमित्त सब जीवजात इस कवियों के कवितम के विजय पर हर्षित होते हैं ।

पाप-विनाश का एक रूप है—दरिद्रों के दुःखों को दूर करना । समाज की विषम व्यवस्था के कारण दुःखियों को बहुत कष्ट होता है । समाजगत विषमता के विनाश का ढंग ही यही है कि पीड़ितों की पीड़ा को दूर किया जाए, अतः वेद कहता है—**'करो यत्र वरिवो बाधिताय जनाय'**=जब बाधित=पीड़ित—दुःखग्रस्तजन को सेवा करता है । किसी दुःखी की सेवा करने से सेवा करनेवाले के हृदय में कितना उल्लास होता है ! और जिस पीड़ित की सेवा की गई है, जिसका दुःख दूर किया गया है, उसके मन से पूछो, उसके मन की क्या अवस्था है ? वेद यह स्पष्ट कहता है कि जो बाधित हैं, पीड़ित हैं उनके बाधित होने में केवल समाज ही अपराधी नहीं है, वरन् बाधित का अपना भी अपराध है । वह अपराध है प्रमाद । इसको कहने के लिए वेद ने 'जनाय' का विशेषण भी दिया है । आलस्य और प्रमाद के कारण मनुष्य को अनेक प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ती हैं । सुप्त=प्रमादी को मानो दिव्य गुण भी नहीं चाहते ! अतः जो बाधित हैं, उन्हें प्रमाद, आलस्य, तन्द्रा-निद्रा को छोड़ पुरुषार्थ और उद्यम को अपनाना चाहिए ।

२९९. राजा

ओ३म् । तूर्वन्नोजीयान् तवसस्तवीयान् कृतब्रह्मेन्द्रो वृद्धमहाः ।
राजाभवन्मधुनः सोम्यस्य विश्वासां यत्पुरां दर्त्नुमावत् ॥
—ऋ० ६।२०।३

शब्दार्थ—**तूर्वन्** शत्रुनाशक **ओजीयान्** अधिक ओजस्वी **तवसः+तवीयान्** बलवान् से भी बलवान्, **कृतब्रह्मा** अन्न, धन, ज्ञानादि के सञ्चय का प्रबन्ध करनेवाला, **वृद्धमहाः** बड़ी शानवाला, बड़े-बूढ़ों का सत्कार करनेवाला मनुष्य **यत्** जब **विश्वासाम्** सम्पूर्ण **पुराम्** शत्रुनगरों की **दर्त्नुम्** विदीर्ण करनेवाली सेना का **आवत्** संग्रह करे और रखे, तब वह **सोम्यस्य** शान्तिदायक **मधुनः** मिठास का **राजा** राजा **अभवत्** होवे ।

व्याख्या—वेद में राष्ट्रधर्म्म का बहुत सुन्दर उपदेश है; राजा, प्रजा, सभा (Legislative Council), समिति (Military Council), परिषत् (Cabinet), सभासद् आदि सभी के कर्त्तव्यों का बहुत विशद वर्णन है । उस सबके लिये एक-एक पृथक् ग्रन्थ चाहिए । यहाँ केवल अत्यन्त थोड़े-से शब्दों में राजा के गुणों का वर्णन करते हैं ।

१. **तूर्वन्**=शत्रुनाशक । **प्रजारंजनात् राजा**=प्रजाओं को प्रसन्न रखने में राजा का राजत्व है । प्रजा की प्रसन्नता तभी रह सकती है जब वह अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रुओं के उपद्रवों से रहित हो ।

२. **ओजीयान्**=दूसरों से अधिक ओजस्वी । यदि दूसरों से अधिक ओजस्वी न हो, तो वह राज्य में व्यवस्था स्थिर न रख सकेगा ।

३. **तवसस्तवीयान्**=बलवान् से भी बलवान् । ओज के लिए बल चाहिए । ओजस्वी होने के साथ सर्वाधिक शक्तिमान् हो ।

४. **कृतब्रह्मा**=धन, अन्न, ज्ञान का सञ्चय करनेवाला । राज्य में व्यवस्था के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता हो, उनका संग्रह करनेवाला हो ।

५. **वृद्धमहाः**=वृद्धों की पूजा करनेवाला हो । इस कर्म्म से राष्ट्र में उसका शासन अक्षुण्ण बना रहता है ।

६. **विश्वासां पुरां दर्त्नुमावत्**=समस्त शत्रुनगरों को नष्ट करनेवाली सेना का रक्षक हो, अर्थात् विजयिनी सेना का अधिपति हो । ऋग्वेद [७।३४।११] में कहा है—**'राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु'**=राजा राष्ट्रों [राष्ट्रवासियों] तथा नदियों [गर्जनेवाली सेनाओं] का रूप होता है । इसके लिए सदा अदब्ध क्षत्र=क्षात्र बल हो । राजा एक प्रकार से समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है, अतः वह सबका रूप है । अथर्ववेद [४।२२।२] में राजा के सम्बन्ध में कहा है—**'वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजा'**=यह राजा सभी क्षत्रियों में श्रेष्ठ हो । उसी के सम्बन्ध में अथर्ववेद [४।२२।३] में पुनः कहा है—**'अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा'**=यह राजा धनियों का धनी हो, और प्रजाओं का स्वामी हो । राजा धनेश्वर, ज्ञानी, तेजस्वी, ओजस्वी, बली, विविध सद्गुण-सम्पन्न प्रजारञ्जक होना चाहिए ।

३००. वृद्धों की सेवा

ओ३म् । त्वं वृध इन्द्र पूर्व्यो भूर्वरिवस्यन्नुशने काव्याय ।
परा नववास्त्वमनुदेयं महे पित्रे ददाथ स्वं नपातम् ।।

—ऋ० ६।२०।११

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** ऐश्वर्य्यसम्पन्न **त्वम्** तू **वृधः** बूढ़ों की **वरिवस्यन्** सेवा करनेवाला और **पूर्व्यः** अपने पूर्वजों का हितकारी **भूः** हो, और **उशने काव्याय** चाहने योग्य ज्ञानी के लिए तथा **महे** पूज्य **पित्रे** पिता के लिए **नववास्त्वम्** नया बसने योग्य घर आदि सामान तथा **नपातम्** अखुट **स्वम्** धन तथा **अनुदेयम्** बाद में देने योग्य, दक्षिणादि **परादद‌ाथ** दिया कर ।

व्याख्या—ऐश्वर्य्य प्राप्त करके मनुष्य प्रायः प्रमादी हो जाता है और अपना कर्त्तव्य भूल जाता है। धन की ऐंठ में आकर माता-पिता आदि तथा ज्ञानियों की उपेक्षा=अनादर करने लगता है। वेद सावधान करता हुआ वृद्ध आदि की सेवा का आदेश करता है। युवक की अपेक्षा वयोवृद्धों को संसार का अनुभव अधिक होता है। उन्होंने अपने जीवन में अनेक ठोकरें खाई हैं, नाना उत्थान और पतन देखे हैं। विषम परिस्थिति में पड़कर उसका कैसे विस्तार हुआ, इत्यादि का जो ज्ञान उन्हें है, युवकों में प्रायः उसकी सम्भावना न्यून होती है। दूसरों के अनुभव से लाभ उठानेवाला मनुष्य बहुत-से दुःखों से बच जाता है, अतः वेद वृद्धों—ज्ञानवृद्धों, धर्मवृद्धों, वयोवृद्धों आदि की सेवा का विधान करता है। कोई भी मनुष्य इस बात को कहने का साहस नहीं कर सकता कि वह सब-कुछ जानता है। सब-कुछ केवल परमेश्वर जानता है। सब-कुछ न जानने से अज्ञात विषयों में सदा सन्देह बना रह सकता है। सन्देह होने से कर्त्तव्य पूरा करने में बाधा आती है, अतः बुद्धिमान् सदा ज्ञानियों की परिचर्य्या करते रहते हैं। मनुष्य को सदा अपना ज्ञान बढ़ाते रहना चाहिए। किसी ने कहा भी है—**'वयसा वर्द्धयेद्विद्याम्'**=आयु के साथ विद्या को भी बढ़ाए। यह तभी हो सकता है जबकि विद्यावृद्धों की सेवा की जाए। यही बात वेद ने कही है—**'वरिवस्यन्नुशने काव्याय'**=कमनीय, क्रान्तदर्शी विद्वान् की सेवा कर।

माता-पिता सन्तान के लालन-पालन, भरण-पोषण, संवर्द्धन में महान् कष्ट का अनुभव करते हैं। उसकी निष्कृति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती, अतः पुत्र माता-पिता आदि पूज्यों को स्थान, वस्त्र, अन्न, धन आदि जीवनोपयोगी पदार्थ सदा देता रहे। वैदिकधर्म्म में माता-पिता की सेवा नित्य कर्त्तव्य है, इसके लिए एक 'पितृयज्ञ' नाम के महायज्ञ का विधान है। हमारे सभी शास्त्र वृद्धों की सेवा का आदेश करते हैं। मनुजी कहते हैं—"**नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशोबलम्** [२।१२१]=" वृद्धों की नित्य सेवा करने से, आयु, विद्या, यश और बल ये चार बढ़ते हैं।

३०१. इन्द्र कहाँ है ?

**ओ३म् । यस्ता चकार स कुह स्विदिन्द्रः कमा जनं चरति कासु विक्षु ।
कस्ते यज्ञो मनसे शं वराय को अर्क इन्द्र कतमः स होता ॥**

—ऋ० ६।२१।४

शब्दार्थ—**यः** जो **ता** उन सब लोकलोकान्तरों को **चकार** बनाता है, **सः+इन्द्रः** वह इन्द्र **कुह+स्वित्** कहाँ है ? और **कासु+विक्षु** किन प्रजाओं में **कम्+जनम्** किस मनुष्य के पास **आ+चरति** विचरता है ? हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **ते** तेरा **कः** कौन **यज्ञः** यज्ञ **शम्** कल्याणकारी है ? **वराय** तुझे अपनाने के लिए **कः** कौन-सा **अर्कः** मन्त्र, पूजासाधन है ? और **सः** वह **कतमः** कौन है जो **होता** होता=स्वीकार करनेवाला **है** ?

व्याख्या—ऋ० ६।१९।१ में भगवान् के सम्बन्ध में आता है—**'सुकृतः कर्तृभिर्भूत्'** अपनी कर्तृत्व-शक्तियों के द्वारा वह सुकृत है । और भी लिखा है कि वह सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों का निर्माता है । **'तमुष्टुहि'** उसी की स्तुति कर, ऐसा आदेश भी वेद में है । सृष्टिरचना को देखकर अनुमान से निश्चय होता है कि इस विशाल संसार का कर्त्ता अवश्य होना चाहिए । किन्तु वह जब दीखता नहीं, तब मन में उद्वेग उत्पन्न होता है । उस उद्वेग को प्रश्न द्वारा व्यक्त किया है—**'यस्ता चकार स कुहस्विदिन्द्रः**=यह प्रश्न अनास्था या अश्रद्धा का द्योतक नहीं, वरन् गहरी श्रद्धा तथा भक्ति का प्रकाशक है । अनुमान से जानी हुई वस्तु के प्रत्यक्ष होने की इच्छा का होना स्वाभाविक ही है । अगले प्रश्न हमारी धारणा के सर्वथा पोषक हैं । यथा—**'कमा जनं चरति कासु विक्षु'**=वह किन प्रजाओं में [किस देश में] किस जन के पास विचरता है ? अर्थात् बताओ, भगवान् को कौन-सा देश प्यारा है ? कौन-सी जातिविशेष भगवान् को अभीष्ट है ? और कौन-सा मनुष्य ऐसा है जिसके पास भगवान् **'आ चरति'** सब ओर से प्राप्त है ? अर्थात् मुझे बताओ मैं किस प्रजा, किस देश में जा बसूँ ? भगवान् भक्त के वश में सुने जाते हैं । उस भक्त का पता बताओ । मैं उसके पास जाऊँगा । अहो ! कितनी व्यग्रता है !

यह व्यग्रता यहीं समाप्त नहीं हुई । अनुमान से भगवान् के सम्बन्ध में यह सामान्य ज्ञान हो चुका है कि वह सर्वत्र विद्यमान है, सर्वत्रविद्यमान होने से सबकी सुनता है, अतः उसे स्वयं सुनाने के भाव से पुकार उठता है—**'कस्ते यज्ञो मनसे शम्'**=तेरा कौन-सा यज्ञ=पूजाप्रकार मन के लिए शान्तिप्रद है ? मन में अशान्ति है । प्रभो ! तू स्वयं ही बता, कैसे इस मन को, व्याकुल मन को कल पड़ेगी ? कौन-सा यज्ञ है ? भगवन् ! मैं केवल मन की शान्ति ही नहीं चाहता, मैं तो तुझे चाहता हूँ, अतः बता, बता, पितः—**'वराय को अर्कः'**=तुझे अपनाने का कौन-सा मन्त्र है ? कौन-सा गुप्त उपाय तुझे अपनाने का है ? क्या कोई ऐसा भी है जिसने तुझे अपना रखा है ? **कतमः स होता**=वह स्वीकार करनेवाला कौन-सा है ? जबतक पूरी तड़प न हो, भगवान् नहीं मिलते । पूरी तड़प का यह एक नमूना है ।

३०२. जितना तुझे जानते हैं उतना पूजते हैं

ओ३म् । तं पृच्छन्तोऽवरासः पराणि प्रत्ना त इन्द्र श्रुत्यानु येमुः ।
अर्चामसि वीर ब्रह्मवाहो यादेव विद्म तात् त्वा महान्तम् ॥

—ऋ० ६।२१।६

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **तम्** उस तुझको **पृच्छन्तः** पूछते हुए, जिज्ञासा करते हुए **अवरासः** अवर, बाद में होनेवाले हम जिज्ञासुजन **ते** तेरे **प्रत्न** पुरातन और **पराणि** उत्तम कर्म्मों के **अनु** अनुकूल **श्रुत्या** वेदानुसार **येमुः** संयम करते हैं। हे **वीर** वीर ! **ब्रह्मवाहः** वेदधारी हम लोग **यात्**+**एव** जितना ही **विद्म** जानते हैं, **तात्** उतना ही **त्वा**+**महान्तम्** तुझ महान् को **अर्चामसि** पूजते हैं।

व्याख्या—भगवान् सदा से है, भगवान् का सृष्टि-रचनादि कर्म्म भी सदा से है। निस्सन्देह जीव सदा से है, किन्तु शरीर-संयोग के कारण व्यक्तिविशेष के रूप में तो वह अवर है, पश्चाद्भावी है। उसकी अपेक्षा प्रवाह से चली आती सृष्टि तथा उसमें काम करनेवाले नियम पुराने हैं। यह सृष्टि और उसमें कार्य्य करनेवाले नियम ही भगवान् के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न कराते हैं। जिज्ञासा उत्पन्न होते ही जिज्ञासु पहले भगवान् के आदेश को जानना चाहता है। उसके नियम—सनातन नियम—तथा वेद उनका उपदेश व्यक्त करके बतला रहे हैं, अतः जिज्ञासु उनके अनुसार अपने-आपको नियन्त्रित करता है, बाँध लेता है अर्थात् यदि उस महान् भगवान् को पाने की अभिलाषा है तो भगवान् के नियमानुसार संयमी जीवन बनाओ। भगवान् यह बता रहे हैं कि सृष्टि-नियम संयम का उपदेश करते हैं, उच्छृङ्खलता या विलासिता का प्रचार नहीं करते। इस प्रकार संयम का जीवन धारण करने से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान बढ़ते-बढ़ते मनुष्य **ब्रह्मवाद**=वेदधारी तथा स्वयं ब्रह्म को धारण करनेवाला बन जाता है। और **'ब्रह्मवाहो यादेव विद्म'**=ब्रह्मधारी जितना ही जानते हैं **'अर्चामसि तात् त्वा महान्तम्'**=उतना तुझ महान् को हम पूजते हैं।

जितना स्वाध्याय तथा विचार करते हैं, उतना ही निश्चय होता है कि—**'नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्म'** [ऋ० ६।२७।३]=प्रभो ! न तो तेरी महिमा के तुल्य और न तेरे धन के तुल्य किसी को जानते हैं और—**'पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा'** [ऋ० ६।३६।४] —तू संसार का अनुपम पालक है और समस्त संसार का अकेला राजा है। जो समस्त संसार का राजा है, समस्त लोक-लोकान्तरों का पालक है, जो सबसे महान् है, जिसके समान अन्य कोई भी महान् नहीं है, समस्त कल्याणों की प्राप्ति के लिए उस महतो महान् की अर्चा-पूजा करनी चाहिए।

३०३. तेरा जानकार विरला

ओ३म् । इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि ।
तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ॥

—ऋ० ३।३०।१

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **सोम्यासः** शान्तस्वभाव जन **सखायः** मित्र होकर **त्वा** तुझको **इच्छन्ति** चाहते हैं । इसके लिए वे **सोमम्** सोम को **सुन्वन्ति** कूटते हैं, अर्थात् सोमयज्ञ आदि का अनुष्ठान करते हैं **प्रयांसि** प्रयास, परिश्रम **दधति** धारण करते हैं और **जनानाम्** लोगों की **अभिशस्तिम्** निन्दा, आक्षेप, सख्ती=क्रूरता को **तितिक्षन्ते** सहते हैं । **हि** सचमुच **कश्चन** कोई विरला ही **त्वत्** तुझसे **आ+प्रकेतः** भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है ।

व्याख्या—भगवान् को वाचिकरूप में चाहनेवालों की संख्या विशाल है । सभी आस्तिक कहते हैं—हम भगवान् को चाहते हैं । चाहना का प्रकाश कई प्रकार से होता है—

(१) **'इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः'**—सोम्य=शान्तस्वभावजन मित्र होकर तुझे चाहते हैं । अनेक जन भगवान् के मित्र=सखा बनकर उससे प्रीति करते हैं । भगवान् के समानशील बनकर जीवन-यापन करते हैं ।

(२) **'सुन्वन्ति सोमम्'**—कई सोम-याग करते हैं । उन्होंने जान रखा है कि वह **'एकः पुरुप्रशस्तो अस्ति यज्ञैः'** [ऋ० ६।३४।२]—अकेला यज्ञों के द्वारा अनेक प्रकार से प्रशंसित होता है । यज्ञों में जिन मन्त्रों का पाठ होता है, उनमें क्रियमाण कर्म्मविधान के साथ भगवान् की महिमा का बखान भी होता है और निष्काम भाव से=केवल भगवान् का विधान मानकर किये गये यज्ञ-यागों का उद्देश्य भगवान् होता है, अतः कई लोग तप से भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं । वे—

(३) **'दधति प्रयांसि'**—परिश्रम, तप करते हैं । कई मनुष्य भगवान् की प्राप्ति के लिए नानाविध तप करते हैं । कठोपनिषत् में कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥—कठ० १।२।१५

सब वेद जिस पद का उपदेश करते हैं, सारे तप जिसका वर्णन करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए लोग ब्रह्मचर्य्य का आचरण करते हैं, वह पद तुझे संक्षेप से बतलाता हूँ, वह 'ओम्' है ।

सम्पूर्ण तपों का लक्ष्य परमात्मा ही है । ब्रह्मचर्य्य का तो अर्थ ही 'ब्रह्म=भगवान् चर्य्य=गम्य=प्राप्तव्य है; जिस क्रिया के द्वारा वह जाना जाए वह ब्रह्मचर्य्य है । इतना ही नहीं, वरन् कई भक्त—

(४) **तितिक्षन्ते अभिशस्ति जनानाम्**—लोगों की निन्दा, आक्षेप और सख्ती=कठोरता को सहन करते हैं । प्रभुभक्ति के मार्ग पर चलनेवालों की लोग अनेक प्रकार से फ़ब्तियाँ उड़ाते हैं । परिवार, परिजन के लोग उसे निकम्मा-निठल्ला कहकर उसके चित्त को चिढ़ाने का यत्न करते हैं, कोई उसकी साधना में बाधना डालते हैं । इतना होने पर भी **'त्वदा कश्चन हि प्रकेतः'**=उसे कोई विरला ही जान पाता है । यम ने भी नचिकेता को यही कहा था—**'आश्चर्योऽस्य लब्धा'**=इसको प्राप्त करनेवाला दुर्लभ है । दुर्लभ है, अलभ्य नहीं ।

३०४. बुद्धिद्वारा शीघ्र विजय

ओ३म् । एता धियं कृणवामा सखायोऽप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः ।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम् ॥

—ऋ० ५।४५।६

शब्दार्थ—हे **सखायः** मित्रो ! **एत** आओ । **धियम्** ऐसी बुद्धि या क्रिया **कृणवाम** करें, **या** जो **माता** माता की भाँति **गो+व्रजम्** गौ के बछड़े को=ज्ञान के समुद्र को **अप+ऋणुत** खोल दे, और **यया** जिसके द्वारा **मनुः** मनुष्य **विशि+शिप्रम्** प्रजा में शीघ्रकारी शान्त सौम्य स्वभाव जन को **जिगाय** जीत लेता है; और **यया** जिससे **वङ्कुः** बाँका **वणिक्** बनिया **पुरीषम्** ऐश्वर्य्य **आप** प्राप्त करता है ।

व्याख्या—संसार में सबसे प्रथम गुरु माता है । सबसे प्रथम ज्ञान की गति का रहस्य वही खोलती है । बालक को पदार्थों का नाम, आचार, व्यवहार की शिक्षा वह देती है । सन्तान को शिक्षा देते समय माता के मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि किसी भी कुत्सित भावना का लवलेश नहीं होता । वरन् मेरी सन्तान उत्तम हो, मुझसे बढ़ जाए; संसार में इसका नाम और यश चमके, ऐसी उदात्त भावना उसके मन में कार्य्य कर रही होती है । **'गोः व्रजम्'** का अर्थ है—गौओं का बाड़ा, ज्ञान का समुदाय, इन्द्रियों की गति । माता ही सब ज्ञान देती है । इन्द्रियों से ठीक-ठीक काम लेना भी माता ही सिखाती है । माता अपने इस व्यवहार से सन्तान के मन को जान लेती है । मनुष्य को अपने अन्दर मातृसमान बुद्धि का संचय करना चाहिए अर्थात् ऐसी बुद्धि का संचय करना चाहिए, जिससे हितभावना, कल्याणकामना और प्रीति की रीति-नीति ही जीती-जागती हो, द्वेष-मत्सर के अमङ्गल, अभद्र, मारक भाव न हों । पूर्व मन्त्र में इसी बात को कहा है—

एतोन्वद्य सुध्यो भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीयः ।
आरे द्वेषांसि सनुतर्दधामायाम प्राञ्चो यजमानमच्छ ॥—ऋ० ५।४५।५

आओ ! हम आज ही उत्तम बुद्धिवाले बनें, बुराई के द्वारा भलाई को प्राप्त करें । द्वेष को दूर फेंकें, और श्रेष्ठ चालवाले होकर यजमान=यज्ञपरायणता को प्राप्त हों । अच्छी बुद्धि का प्रमाण ही यह है कि मनुष्य में ईर्ष्या-द्वेष न हों, बुराई से भलाई प्राप्त करने की योग्यता हो तथा भले पुरुषों की संगति करे । यही वह बुद्धि है—**'यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय'**=जिससे मनुष्य प्रजा में सौम्यजन को जीत लेता है । द्वेषरहित मधुर व्यवहार की महिमा यहाँ तक है कि—**'यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्'**=जिससे बाँका बनिया भी धन प्राप्त करता है । बनिया मीठी-मीठी बातें करके ग्राहक को मोहकर उससे यथेच्छ धन प्राप्त करता है ।

स्पष्ट ही, अभिधावृत्ति में माता के समान प्रेममय, मधु, स्वच्छ व्यवहारयुक्त बुद्धि का संग्रह करना योग्य है ।

३०५. भगवान् की पूजा करता हूँ

ओ३म् । अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् । होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ।

—ऋ० १।१।१

शब्दार्थ—मैं पुरोहितम् सबसे पूर्व विद्यमान **यज्ञस्य** संसार-यज्ञ के **देवम्** प्रकाशक **ऋत्विजम्** ऋतुओं के संगत करनेवाले **होतारम्** महादानी **रत्नधातमम्** रत्ननिर्माता **अग्निम्** अग्रणी प्रभु की **ईळे** स्तुति करता हूँ।

व्याख्या—यह ऋग्वेद का पहला मन्त्र है, मानो भगवान् का सबसे पहला उपदेश है। मनुष्य से पूर्व प्रायः सारी सृष्टि रची जा चुकी है। मनुष्य अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाता है। विविध पदार्थ देखकर चकित और उद्भ्रान्त-सा हो जाता है। भगवान् ने उसे इन सब पदार्थों के नाम, गुण, धर्म्म बताने तथा उनसे उपयोग लेने के लिए वेद-ज्ञान का दान किया। सबसे पहले उसे श्लेषालङ्कार के द्वारा भगवान् ने अपना, जीव का तथा अग्नि का उपदेश किया है। जब यह जगत् न था, परमेश्वर तब भी था। जगत् से पूर्व वर्त्तमान होने के कारण भगवान् पुरोहित है। शरीर से पूर्व जीव विद्यमान होता है, अतः जीव भी पुरोहित है। संसार के सब पदार्थों से पहले अग्नि के सूर्य्य रूप में दर्शन होते हैं: अतः अग्नि 'पुरोहित' है। भगवान् इस संसार का रचयिता है, अतः वही इस संसार-यज्ञ का देव=द्योतयिता=प्रकाशक है। शरीर-यज्ञ का संचालन जीव द्वारा होता है, अतः वह भी 'यज्ञ का देव' है। भौतिक यज्ञ—अग्निहोत्र से अश्वमेध-पर्य्यन्त, तथा शिल्प-कला-कौशलादि—सभी अग्नि से साध्य हैं, अतः अग्नि भी यज्ञ का प्रकाशक है। ऋतुओं और व्यवस्थाओं को संगत करने से भगवान् 'ऋत्विक्' हैं। यज्ञ-याग करने से सभी जीव भी ऋत्विक् हैं। ऋतुओं का होना सूर्य्यरूप अग्नि पर निर्भर है, अतः अग्नि ऋत्विक् है। भगवान् के बराबर किसी का दान नहीं, अतः भगवान् 'होता' है। जीव कर्म्मफलभोक्ता होने के कारण 'होता' है। होम का साधन होने से अग्नि 'होता' है। सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, पय, पावक, पवन आदिरूप रत्न=पदार्थों का निर्माता होने से भगवान् **'रत्नधातमम्'**=रत्न का सर्वोत्तम निर्माता है। समस्त जगत् और जगत्स्थ सभी पदार्थों का उपयोक्ता तथा उपभोक्ता होने के कारण जीव 'रत्नधातम' है। भूगर्भ में पड़े पत्थर के कोयले को एक काल-विशेष में भूगर्भ का अग्नि रत्न बना देता है, अतः अग्नि 'रत्नधातम' है।

इस तरह तीनों अर्थों की सूचना होने पर भी मुख्य अर्थ परमेश्वर ही है। अग्नि आदि ये सब नाम मुख्यवृत्ति से परमेश्वर के हैं। जैसा कि यजुर्वेद [३२।१] में कहा है—**'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥'**—वही अग्नि, वही आदित्य, वही वायु तथा वही चन्द्रमा है। वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही आपः और प्रजापति है अर्थात् अग्नि, वायु, मित्र, वरुण आदि नाम मुख्यवृत्ति से भगवान् के नाम हैं। अग्नि शब्द का मूल अर्थ है—अग्रणी=आगे ले-जानेवाला, उन्नतिसाधक। भगवान् सबका उन्नतिसाधक है, अतः वह पूजनीय है। **असि होता न ईड्यः** [ऋ० १।१२।३] तू महादानी ईड्य=पूज्य है, अतः **'अग्निमीळे'**=मैं अग्रणी भगवान् की पूजा करता हूँ। वह **'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत'** [ऋ० १।१।२]—भगवान् पुरातन ऋषियों और विद्यार्थियों अर्थात् सभी बड़े-छोटों का पूजनीय है।

३०६. श्रेष्ठतम कर्म की प्रेरणा

ओ३म् । इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्व-मघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ —य० १।१

शब्दार्थ—सविता सर्वजगदुत्पादक भगवान् **त्वा** तुझको **इषे** इष्ट-प्राप्ति के लिए तथा **त्वा** तुझे **ऊर्जे** बलप्राप्ति के लिए प्रेरित करे। तुम सब **वायवः** बलवान् **स्थ** होवो **सविता** जगत् का उत्पन्न करने-वाला **देवः** भगवान् **वः** तुमको **श्रेष्ठतमाय** श्रेष्ठतम **कर्म्मणे** कर्म्म के लिए **प्रार्पयतु** अर्पित करे। तुम **अघ्न्याः** अहिंसनीय होकर **इन्द्राय** ऐश्वर्यनिमित **भागम्** भाग को **आप्यायध्वम्** बढ़ाओ। तुम सारी प्रजाएँ **प्रजावतीः** उत्तम सन्तानयुक्त **अनमीवाः** रोगबीज से मुक्त तथा **अयक्ष्माः** क्षय-रोग से रहित होवो। **वः** तुमपर **स्तेनः** चोर **मा+ईशत्** शासक न हो, और **मा** ना ही **अघशंसः** पापाभिलाषी [पाप-प्रचारक शासक हो]। **अस्मिन्** इस **गोपतौ** रक्षक के अधीन तुम **ध्रुवाः** निश्चल, हानिरहित और **बह्वीः** बहुत **स्यात्** होओ। हे राजन्! **यजमानस्य** यज्ञ करनेवाले परोपकारी के **पशून्** पशुओं की **पाहि** रक्षा कर।

व्याख्या—ऋग्वेद स्तुतिप्रधान वेद है। ऋषियों ने कहा है **'ऋग्भिः स्तुवन्ति'**=ऋचाओं के द्वारा स्तुति करते हैं। यजुर्वेद कर्म्मप्रधान वेद है। ऋषियों का कहना है—**यजुर्भिर्यजन्ति**=याजुष मन्त्रों से कर्म्म करते हैं। कर्म्मप्रधान वेद का आरम्भ कर्म्मप्रेरणा [प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे] से हुआ है। इसके अन्तिम अध्याय में भी कर्म्मप्रेरणा है—**'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**। [य० ४०।२]= इस संसार में मनुष्य सम्पूर्ण आयु कर्म्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे। यजुर्वेद [४०।१५] में पुनः कहा है—**'कृतं स्मर'** अपने कर्म्म स्मरण कर। मध्य में भी आता है—**अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा**=कर्म्म करनेवाले सुखदायी वाणी के साथ कर्म्म करते हैं। भाव यह कि सम्पूर्ण यजुर्वेद कर्म्म-प्रतिपादक है। साधारण कर्म्म भी नहीं, प्रत्युत 'श्रेष्ठतम कर्म्मों' का प्रतिपादक है। भगवान् का आदेश है—**'आप्यायध्वम्'**=फूलो-फलो। **'आप्यायध्वम् अघ्न्याः'**=अहिंसित होकर फूलो-फलो। हिंसा के साधनों का भी निर्देश कर दिया है। रोग से शरीरपीड़ा होती है। यदि शासक चोर-डाकू या पापी हो तो सर्वात्मना हिंसा की वृद्धि हो जाती है, अतः आदेश किया—**'मा वः स्तेन ईशत माघशंसः'**=तुमपर चोर और पापी शासन न करें।

वेद के मतानुसार प्रजा राजा का निर्वाचन करती है। राजा के चोर तथा पापी होने से प्रजा की मनोवृत्ति का पता लगता है। यदि प्रजा के हृदय में चोरी और पाप की वासना प्रबल होगी, तो वह अवश्य चोर को अपना सिरमौर चुनेगी। ध्वनि से वेद ने पाप का निषेध करके अन्त में **'यजमानस्य पशून् पाहि'** [=यजमान के पशुओं की रक्षा कर] कहकर हिंसा का स्पष्ट निषेध कर दिया है। सामान्यतः आजीविका के लिए कर्म्म करने होते हैं। अपनी उदरदरी की पूर्त्ति के लिए कहीं पशुओं की हिंसा में प्रवृत्त न हो जाए, इसलिए वेद ने कर्म्मप्रेरणा के साथ स्पष्ट ही कुकर्म्म का निषेध कर दिया है।

३०७. प्रभो आ

ओ३म् । अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ —सा० पू० १।१।१

शब्दार्थ—हे **अग्ने** सबके उन्नतिसाधक प्रभो ! **वीतये** प्रकाश के लिए तथा **हव्यदातये** भोग-शुद्धि के लिए **गृणानः** उपदेश करता हुआ तू **आयाहि** सब ओर से आ । **होता** दाता होकर तू **बर्हिषि** हमारे हृदय-आसन पर **नि+सत्सि** नितरां बैठता है ।

व्याख्या—यह सामवेद का प्रथम मन्त्र है । साम उपासना-प्रधान वेद है । उपासक को जिन अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है, उन सबका विशद वर्णन सामवेद में है । कइयों को साम के अन्त में युद्धपरक सूक्त देखकर भ्रम होता है कि यह वेद उपासनापरक नहीं है । उपासक भगवान् की उपासना करके प्रतिदिन भगवान् के गुण अपने अन्दर संचित करते-करते भगवान् के बल से बलवान् हो गया है । बल पाकर अब वह पाप के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करता है । जितना बड़ा उपासक होगा, उतना बड़ा वह पाप के विरुद्ध युद्ध करनेवाला होगा । जो उपासक नहीं, उसमें इस देवासुर-संग्राम में कूदने का हियाव ही कहाँ ?

उपासना का आरम्भ भगवान् की स्तुति और प्रार्थना से होता है, अतः कहा—**'अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये'**=सबको आगे ले-जानेवाले प्रभो ! तू ज्ञानप्रकाश और भोगशोधन का उपदेश करता हुआ आ । भगवान् मनुष्य को सब प्रकार का ज्ञान देते हैं । भोगसामग्री भी देते हैं । मनुष्य के अपने वश में है कि वह भोग को बिगाड़ दे अथवा भोग को सँवार दे । भगवान् तो भोग को सँवारने का ही उपदेश देते हैं । अज्ञान के कारण मनुष्य भोगसम्पादन में भूल कर सकता है । मनुष्य को उस भूल से बचाने के लिए ही भगवान् ने वेद का ज्ञान दिया, और साथ ही जब कभी पाप-भावना का उद्भव होने लगता है, तब वह हृदयस्थ पाप का वारण करने की प्रेरणा देता है । हम नहीं सुनते, सुनी-अनसुनी कर देते हैं, यह हमारा अपराध है । वह तो हमें हर समय चिताता है । इस स्तुति के साथ प्रार्थना है कि तू **'आयाहि'**=सब तरह आ ! भगवान् तो पहले ही हमारे पास है, फिर इस प्रार्थना का प्रयोजन ?

निस्सन्देह भगवान् हर समय हमारे पास है किन्तु हम अज्ञान के कारण उसे देख नहीं पाते, अतः उससे प्रार्थना है कि तू **'आ याहि वीतये'**=ज्ञानप्रकाश देने के लिए आ, अर्थात् प्रभो ! ऐसा उपाय कर, जिससे हमारे हृदय का मल धुल जाए, आवरण का वारण हो जाए, विक्षेप का प्रक्षेप हो जाए, ताकि हम देख सकें कि तू **'नि होता सत्सि बर्हिषि'**=दाता हमारे हृदय में बैठा है । जिस दिन यह ज्ञान हो जाए, कि भगवान् हमारे हृदय में विराजमान हैं, तो फिर उस अन्तर्यामी के सामने पाप कैसे करेंगे ? उपासना का अर्थ है—पास बैठना । भगवान् के केवल हम समीप ही नहीं बैठे हैं, वरन् वह हमारे हृदयों में रम रहा है । हृदय से विचार और संकल्प उठते हैं अर्थात् भगवान् केवल हमारे आचारों, कर्म्मों के ही साक्षी नहीं, वरन् वे हमारे विचारों के भी द्रष्टा हैं । तभी तो प्रार्थना-मन्त्र में कहा है—**'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्'** [य० ४०।१६]=हे देव ! तुम हमारे सारे विचारों और आचारों को जानते हो ।

३०८. सबका बल मुझे दे

ओ३म् । ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ —अ० १।१।१

शब्दार्थ—**विश्वा** सम्पूर्ण **रूपाणि** रूपों को **बिभ्रतः** धारण करते हुए **ये** जो **त्रिषप्ताः** तीन सात **परियन्ति** सब ओर प्राप्त हैं, **वाचस्पतिः** वेदपति परमेश्वर **तेषाम्** उनके **बला** बल **अद्य** आज **मे** मेरे **तन्वः** देह को **दधातु** दे ।

व्याख्या—सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन के समुदाय का नाम प्रकृति है । सत्त्व हल्का और प्रकाश गुणवाला पदार्थ है । रजस् चंचल [Active] है । तमस् उपष्टम्भक और गतिशून्य [inert] है । जहाँ प्रकाश दिखाई दे, समझो, वहाँ सत्त्व की सत्ता है । क्रिया रजोगुण की परिचायिका है । स्थिरता, अन्धकार, क्रिया का अभाव तमोगुण की सत्ता का प्रमाण है । इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से सात प्रकृति-विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं—महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र । इन सातों में किसी में अधिक, किसी में न्यून सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों होते हैं । संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसमें त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपनी सातों विकृतियों सहित विद्यमान न हो । अथर्ववेद [१०।८।३०] में प्रकृति-प्रसंग में कहा है—**'एषा पुराणी परि सर्वं बभूव'**=यह पुरानी=सनातन प्रकृति सब कार्य्यों में पूर्णतया रहती है ।

सूर्य्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी आदि सारे पदार्थ प्रकृति के कार्य्य हैं । ये कितने शक्तिशाली हैं ? उत्तरार्ध में इन सबका बल अपने शरीर में देने के लिए भगवान् से प्रार्थना है—**'वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे'**=वेदपति प्रभु उनका बल आज मेरे शरीर को दे ।

वेद में दूसरे स्थान पर कहा गया है—**'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे'** [अथर्व० १०।७।२७]=तेंतीस देव जिसके शरीर में बैठकर अंगों का सेवन कर रहे हैं । आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र=विद्युत् तथा प्रजापति मेघ—ये तेंतीस देव हमारे शरीर में अंग बनकर रहते हैं । इतने महाबल देव शरीर में वास कर रहे हैं किन्तु मनुष्य फिर भी दुर्बल है, अतः भगवान् से प्रार्थना है कि वह उन सबका बल हमारे शरीर में दे । माँगा तो है बल, किन्तु भगवान् को बलपति या बलदाता न कहकर 'वाचस्पतिः' कहा है । इस एक शब्द से ही वैदिक पदों की गम्भीरता तथा सार्थकता का बोध हो जाता है । वाचस्पति का अर्थ है वाणी का पति=उपदेशक, अर्थात् भगवान् बल की युक्ति का उपदेश करते हैं । जब सभी पदार्थों के प्रयोग की युक्ति भगवान् ने बतलाई है, तो बल—शारीरिक बल का प्रयोग भी उसी से पूछना चाहिए । शरीर-बल की प्राप्ति की युक्ति है शरीर-पुष्टि, जैसा कि—**'वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम'** [अ० ५।३।१]=हम शरीर-अग्नि को प्रदीप्त करते हुए शरीर को पुष्ट करें । सम्पूर्ण वेद में कहीं भी शरीर को क्षीण करने का संकेत तक नहीं है । अथर्ववेद में सभी संशयों के वारण की युक्ति है ।

३०६. मोक्ष का साधन-धर्म्म

ओ३म् । येन॒ दे॒वाः स्व॑रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म् ।
तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑ ॥—अ० ४।११।६

शब्दार्थ—देवाः निष्काम ज्ञानी **शरीरम्+हित्वा** शरीरत्याग करके [मृत्यु के पश्चात्] **अमृतस्य +नाभिम्** अमृत=मोक्ष के केन्द्र **स्वः** आनन्द-प्रकाश को **येन** जिसके द्वारा **आरुरुहुः** आरूढ़ होते हैं, **तेन** उस **घर्मस्य** यज्ञ के **व्रतेन** व्रतरूपी **तपसा** तप से **यशस्यवः** यशस्वी होते हुए **सुकृतस्य** सुकर्म्म के **लोकम्** लोक=प्रकाश को **गेष्म** हम प्राप्त करें।

व्याख्या—मोक्ष का जहाँ भी वर्णन आता है, उसमें प्रकाश और आनन्द की चर्चा अवश्य आती है जैसे—**'यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥'** [ऋ० ६।११३।६]=तीनों [आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक] दुःखों से रहित, तीनों [पारमात्मिक, आत्मिक तथा धार्मिक] प्रकाशों से युक्त जिस अवस्था में आत्मा को इच्छापूर्वक विचरना होता है। कर्म्मफल जहाँ प्रकाशमय है, उस अवस्था में मुझको मुक्त कीजिए। हे आनन्ददायक ! ऐश्वर्य्याभिलाषी पर कृपावृष्टि कीजिए।

मुक्तिदशा को या मुक्त को 'अमृत' इसलिए कहते हैं कि वहाँ से वापसी मृत्यु के द्वारा नहीं होती, वरन् जन्म के द्वारा होती है। वेद में मुक्ति के लिए 'स्वः' शब्द का प्रयोग भी बहुत बार आता है, जिसका अर्थ है प्रकाश, आनन्द। उसका मूल अर्थ है—सु+अस्=उत्तम अवस्था। मोक्ष से बढ़कर उत्तम अवस्था कोई नहीं है। इस अवस्था में जीव प्रकृति के संसर्ग से छूट चुकता है और परमात्मा का पूर्ण संसर्ग प्राप्त कर चुका होता है। प्रकृति का संसर्ग न होने से दुःखों का अभाव और परमात्मा से संसर्ग में ज्ञान और आनन्द चरम सीमा पर होते हैं। उसका उपाय बतलाया है—**'तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः'**=धर्म के तप और व्रत से यशस्वी होते हुए सुकृत के लोक=मोक्ष को प्राप्त करें। 'सुकृत का लोक' कहकर सुकर्म्मों को मुक्ति का साधन बतला दिया है, तथापि स्पष्ट करने के लिए 'घर्मस्य तपसा व्रतेन' कहा है।

'धर्म' का अर्थ स्वयं वेद ने स्पष्ट कर दिया है—**'इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः ॥'** [अ० ४।११।३]=मनुष्यों में उत्पन्न होकर, अत्यन्त दीप्तिमान् होकर तपस्या करता हुआ इन्द्र=जीव जब विचरता है, तब वह धर्म्म है अर्थात् मनुष्ययोनि में आकर ज्ञान, वैराग्य और तपः से युक्त जीव धर्म्म कहलाता है। **'घर्मस्य तपसा व्रतेन'** का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि तपस्वी ज्ञानी विरागी जीव का व्रतपूर्वक तप। तप के साथ व्रत विशेषण लगाने का विशेष प्रयोजन है। केवल तप तो दम्भ के लिए भी हो सकता है। जब तप व्रत के साथ, यमों के साथ हो, तब यह दम्भ नहीं हो सकता। योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह—यमों—को महाव्रत कहा है। व्रत का भाव ही यह है कि जो नियमपूर्वक, निरन्तर, श्रद्धा से किये जाएँ।

तप से अशुद्धि का नाश योगदर्शन में भी कहा है—**'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः'** [यो० द० २।४३]=तप से अशुद्धि का नाश होता है और शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि होती है। इसी सूत्र पर व्यासजी कहते हैं—**'निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम्'**=तप के अनुष्ठान से अशुद्धि, आवरण और मलनाश होता है। वह अशुद्धि आदि मुक्ति के प्रतिबन्धक हैं, इनके हटाने से आत्मज्योति पूर्णतया भासित होती है।

३१०. दाता को भगवान् देता है

ओ३म् । इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद् ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥

—ऋ० ४।२१।२

शब्दार्थ—इन्द्रः भगवान् **यज्वने** यज्ञ करनेवाले को **गृणते** उपदेश करनेवाले को **च** और **शिक्षते** शिक्षा देनेवाले को **उप** समीप होकर **स्वम्** धन **ददाति-इत्** देता ही है । **न+मुषायति** छिपाता नहीं । **भूयः +भूयः** बार-बार **अस्य** इसके **रयिम्** धन को **वर्धयन्+इत्** बढ़ाता हुआ ही **देवयुम्** ईश्वराभिलाषी को, भगवद्भक्त को **अभिन्ने** अखण्ड **खिल्ये** खिल्य में, स्थिति में, **निदधाति** नितरां धारण करता है ।

व्याख्या—दान का वैदिक धर्म्म में बड़ा मान है । दान देने की प्रेरणा करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है—**'पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्'** [ऋ० १०।११७।५]—धनवान् मनुष्य याचक को प्रसन्न ही करे, दे, उस लम्बे मार्ग को देखे । संसार का मार्ग बहुत लम्बा है अर्थात् जीवनयात्रा बड़ी लम्बी है, वह सारी हमारी दृष्टि के आगे नहीं है । जाने किस समय क्या सामने आ जाए ? दान देना मानो संसारयात्रा के लिए पाथेय [तोषा] संग्रह करना है, क्योंकि—**इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद् ददाति'**=भगवान् याज्ञिक, उपदेशक और शिक्षक को तो देता ही है ।

लोकोपकार में जिसने जीवन लगा रखा है, जो लोगों को उपदेश द्वारा सुमार्ग पर लाता रहता है और जो लोगों को उत्तम शिक्षा देता है, उसे यदि भगवान् न देंगे तो और किसको देंगे ? भगवान् उसपर सब-कुछ प्रकट कर देता है—**'न स्वं मुषायति'**=न धन छिपाता है और न अपना-आपा छिपाता है । भगवान् निरन्तर यज्ञ कर रहा है, निरन्तर शिक्षा और उपदेश दे रहा है । उसका जो अनुकरण करता है, मानो वह उसके कार्य्य में सहयोग देता है । सहयोगी से प्रभु कुछ नहीं छिपाता । धन क्या उसपर अपना 'अपनापन' भी प्रकट कर देता है; उस धन को कभी घटने नहीं देता, वरन्—**'भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्**=बार-बार इसके धन को बढ़ाता है, और—**'अभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्'**=भगवद्भक्त को अखण्ड खजाने पर बिठा देता है ! तभी तो ऐसे भक्तों के धन के सम्बन्ध में कहा है—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरादधर्षति ।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥—ऋ० ४।२१।३

गोपति जिन पदार्थों से देवयज्ञ करता है या जो पदार्थ दान में देता है, उनके साथ वह संयुक्त ही रहता है, क्योंकि न तो वे नष्ट होते हैं, न उन्हें चोर चुराता है, और न ही दुःखदायी शत्रु दबाता है । सचमुच धन वही है जो दूसरों की तृप्ति का साधन बन सके । दान, यज्ञ से ही वह दूसरों की प्रीति का साधन बन सकता है ।

३११. पाप पापी को लौट आता है।

ओ३म्। असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद्व्यचः।
तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु॥ —ऋ० ४।१९।६

शब्दार्थ—**असद्** बुराई **भूम्याः** भूमि से **समभवत्** होती है। **तत्** वह **महद्-व्यचः** महाविस्तारवाली होकर **द्याम्** आकाश को **एति** जाती है। **तत्** वह **वै** सचमुच **ततः** वहाँ से **विधूपायत्** तपकर **प्रत्यक्** उलटा **कर्त्तारम्** कर्त्ता को **ऋच्छतु** प्राप्त होती है।

व्याख्या—भूमि में प्रकाश नहीं है। भूमि अन्धकारमयी है। पाप अज्ञान में, अन्धकार में होता है। मनुष्य पाप करने के समय गुप्त स्थान खोजता है। वेद इस तत्त्व का वर्णन अपनी अलंकारमयी भाषा में करता है—**असद् भूम्या समभवत्**=पाप अन्धकार से होता है। किन्तु वह छिपा नहीं रहता। करते समय तो पाप छोटा-सा होता है, परन्तु—**तद् द्यामेति महदव्यचः**=वह बड़े विस्तारवाला होकर आकाश तक जाता है अर्थात् पाप की बात खुल जाती है, और दूर-दूर तक फैल जाती है। इससे यह न समझना कि दूर तक फैलने से तुम उसके ताप से बच जाओगे। नहीं, कदापि नहीं; वरन्—

'तद्वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु'=वह वहाँ और अधिक तपकर उलटा कर्त्ता को मिलता है। विदुरजी ने कहा है—**'एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः। भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते'**=[महा० उद्यो० ३३।४२] पाप एक करता है अर्थात् पाप करके पदार्थ लाता है, उसका उपभोग-उपयोग अनेक जन=सारा कुटुम्ब करता है। भोगनेवाले पाप के भागी नहीं होते, हाँ, पाप का करनेवाला दोषी होता है। **'प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु'** और **'कर्त्ता दोषेण लिप्यते'** दोनों एक बात कह रहे हैं। भगवान् ने तो इससे भी [अ० १२।३।४८] स्पष्ट बतलाया है—

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सह सममान एति।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति॥

कर्म्म में कमी नहीं होती, आश्रय (सिफारिश=समर्थना) नहीं होती। मित्रों के साथ चलता हुआ भी अभीष्ट को नहीं पाता। यह हमारा कर्म्मपात्र अनून=अन्यून (जिसमें घटा-बढ़ी असम्भव है) रखा है। पकनेवाले को पका हुआ वापस आता है अर्थात् किसी गुरु, पीर, पैगम्बर के आधार से कर्म्मों में न घटा-बढ़ी होती है, और न इसमें उलट-फेर होता है। कर्म्मों का फल कर्त्ता को ही मिलता है। इस तत्त्व को जानकर कर्म्म बहुत सावधानता से करने चाहिएँ। पाप से छूटने का उपाय भगवान् और ज्ञान का आराधन है।

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम्।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुंचत्वंहसः॥—अ० ४।२३।७

यह सारा संसार जिसके आदेश में है, जो विशेष प्रकाशमान है, जो आनन्दमय था, है, और होगा, उस प्रकाशस्वरूप भगवान् का स्तवन करता हूँ। उपतप्त हुआ, सन्ताप करता हुआ, पश्चात्ताप करता हुआ उसे पुकारता हूँ। वह हमें पापभाव से छुड़ावे। भगवान् शुद्ध है, अपापविद्ध है। मैं अशुद्ध हूँ, पापविद्ध हूँ। इस प्रकार स्तुति करने से मनुष्य पाप से बच जाता है।

३१२. धार्मिक जन का प्रभाव

ओ३म् । न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥

ओ३म् । यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥ —अ० ४।३६।७, ८

शब्दार्थ—मैं **न न पिशाचैः** पिशाचों के साथ **सं** एक होकर **शक्नोमि** कार्य्य कर सकता हूँ, **न** ना ही **स्तेनैः** चोरों के साथ और **न** ना ही **वनर्गुभिः** डाकुओं के साथ । **यम्** जिस **ग्रामम्** ग्राम या समुदाय में **अहम्** मैं **आविशे** घुसता हूं **पिशाचाः** पिशाच **तस्मात्** उससे **नश्यन्ति** भाग जाते हैं । **यम्** जिस **ग्रामम्** ग्राम या समुदाय में **मम** मेरा **इदम्** यह **उग्रम्** उग्र **सहः** सह, बल **आविशते** घुसता है, **पिशाचाः** पिशाच **तस्मात्** उससे **नश्यन्ति** नष्ट हो जाते हैं, भाग जाते हैं अर्थात्, **पापम्** पाप को **उप+न+जानते** समीप से भी नहीं जानते ।

व्याख्या—धार्मिक सदाचारी का प्रभाव इन मन्त्रों में वर्णित है । धार्मिक जन पिशाचों, चोरों-डाकुओं के साथ मेल नहीं रख सकता । 'पिशाच' का अर्थ समझ लिया जाए तो इस मन्त्र का भाव हृदयङ्गम करना कठिन नहीं होगा । अथर्ववेद [८।२।१२] में लिखा है—**'आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् । रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि ॥'** हम कंजूसी, पाप अथवा असत्य, पकड़ रखनेवाले रोग, कच्चा मांस खानेवाले पिशाचों और राक्षसों को, जो कुछ दुर्भूत=दुर्गुण है, उसको अन्धकार की भाँति दूर भगाते हैं ।

इससे प्रतीत होता है कि मांसाहारी को पिशाच कहते हैं । जो प्रजा का रक्त-मांस चूस जाए, वह पिशाच है। पिशाच के साथ और दुर्भूत=दुर्गुण गिनाये हैं, उनपर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है । अराति=कंजूसी । पास में कोई भूख-प्यास से तड़प रहा है, कंजूस को उसकी पीड़ा से तनिक भी क्लेश नहीं होता । कंजूस दूसरों को देने की बात दूर रही, स्वयं भी नहीं खाता, अतएव सदा दुरवस्था में रहता है । निर्ऋति पाप तथा असत्य का नाम है । ग्राहि ऐसे शारीरिक रोग का नाम है, जो जाने का नाम नहीं लेता, किन्तु मनुष्य के शरीर को सुखाये डालता है । इनके साथ परिपठित होने से पिशाच किसी लौकिक पदार्थ का नाम है । पिशाच के विशेषण 'क्रव्याद् ने' इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है ।

पिशाचों के साथ चोरों और डाकुओं की चर्चा आने से भी पिशाच उनके भाई-बन्धु हैं । तनिक प्रकृत मन्त्र की रचना पर ध्यान दीजिए । पहले पिशाचों का नाम लिया गया है, फिर चोरों का और फिर डाकुओं का । वनर्गु=डाकू, जङ्गल के वासी हैं, अर्थात् दूरस्थ हैं । चोर हैं तो दूरस्थ, किन्तु हैं नगर या ग्राम के वासी, अर्थात् उनकी अपेक्षा समीपतर । पिशाच उनकी अपेक्षा और भी समीप रहनेवाले होने चाहिएँ । ये वे लोग हैं, जो प्रजा में रहते हुए प्रजा का मांस खाते रहते हैं, विविध प्रकार से प्रजा को सताते रहते हैं । धार्मिक मनुष्य इनके साथ मिलकर नहीं रह सकता । हाँ, जहाँ वह पहुँचता है, वहाँ से ऐसे लोग भाग जाते हैं । भाग जाने के दो अर्थ हो सकते हैं—१. सचमुच दूसरे स्थान को चले जाना, और २. अपने दुर्भूत=दुर्व्यवहार को भगा देना । इन मन्त्रों में भागने का अर्थ दूसरा है, क्योंकि दूसरे मन्त्र में लिखा

है—**'पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते'**=पिशाच वहाँ से भाग जाते हैं, वे पाप को नहीं जानते। पाप को न जानना पाप-त्याग है। धर्माचरण से ऐसा तेजोबल मिलता है जिससे अपने भीतर बैठे दुर्भूतरूप पिशाच भाग जाते हैं और साथ ही दूसरों के भी, अतः मनुष्य को धर्म्माचरण के द्वारा उग्र धर्म्मबल लाभ करने का यत्न करना चाहिए।

३१३. यह लोक देवों का प्रिय है

ओ३म् । अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः । यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ —अ० ५।३०।१७

शब्दार्थ—अयम् यह **अपराजितः** अपराजित=न हारा हुआ **लोकः** लोक **देवानाम्** देवों का **प्रियतमः** अत्यन्त प्यारा है । **यस्मै** जिस **मृत्यवे** मृत्यु के लिए **दिष्टः** नियत किया हुआ, **पुरुष** हे पुरुष ! **इह** इस संसार में **त्वम्** तू **जज्ञिषे** उत्पन्न हुआ है । **सः** वह **च** भी **त्वा+अनु** तेरे अनुकूल हो, हम तुझे **ह्वयामसि** कहते हैं **जरसः** बुढ़ापे से **पुरा** पूर्व **मा+मृथाः** तू मत मर ।

व्याख्या—यह मानवदेह, यदि कामक्रोधादि राक्षसों से पराजित न हो तो देवों=विद्वानों, धर्मात्माओं को अत्यन्त प्यारा है, क्योंकि इस मानवदेह में ही आत्मा को भवसागर से पार उतारने के साधन मिलते हैं । अन्य किसी देह में यह सुविधा नहीं मिलती । किन्तु मनुष्य की सब कामनाएँ मृत्यु के कारण अधूरी रह जाती हैं । आत्मा इस संसार में आया तो है किन्तु **'मृत्यवे दिष्टः'**=मृत्यु के समर्पित होकर । जाने, मृत्यु कब झटका दे और इस शरीर से बाहर कर दे और फिर पश्चात्ताप करना पड़े ! मृत्यु अनिवार्य्य है, वह अवश्य आएगी, उससे बचकर कोई नहीं जा सकता । किन्तु मरकर फिर जन्म होता है—**'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'**=उत्पन्न का मृत्यु अवश्यम्भावी है और मरे का जन्म भी अवश्य होता है । अतः **'अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः** [अ० ५।३०।७]=बुलाया जाकर, इस तत्त्व को समझकर तू पुनः उन्नति के मार्ग पर आ अर्थात् जनन-मरण होते ही रहते हैं । तू ऐसी कमाई कर कि जिससे तेरा अगला जन्म उन्नततर, प्रशस्ततर हो ।

इस संसार का प्रयोजन जीव की उन्नति ही है—**'आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम्'** [अ० ५।३०।७] ऊपर को उठना, आगे बढ़ना प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है, अतः लक्ष्य की ओर चलना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है । वह तभी पूरा हो सकता है जब अगला जन्म क्या, अगला दिन, पहले की अपेक्षा उत्तम हो । यतः यह शरीर देवों तक का प्यारा है, अतः वेद कहता है, मनुष्य ! तू इसमें बहुत दिन रह । इसे शीघ्र-शीघ्र न छोड़ देना—**'मा पुरा जरसो मृथाः'**=बुढ़ापे से पहले मत मरना । मृत्यु का हेतु रोग है और रोग का हेतु पाप और दुराचार है । यथा—**'अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च । यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥** [अ० १२।२।२] पापभाव तथा दुराचार के विचार, बुरे कर्म्म और उनके अनुकरण से सारे रोग होते हैं, उसी से मृत्यु होता है । उन सबको हम शरीर से भगाते हैं ।

पाप की भावना, दुराचार, आदि शरीर-नाश के हेतु हैं । यदि पापवासना और दुर्विचारों पर विजय पा ली जाए, तो यह देह सचमुच अपराजित हो जाए, अतः सद्विचार, सद्व्यवहार, सदाहार और सदाचार से अपना आयुष्य बढ़ाना चाहिए और मनुष्य-जन्म को सफल करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

३१४. पाप-त्याग

ओ३म् । यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ —अ० ६।२६।२

शब्दार्थ—हे **पाप्मन्** पापवृत्ते ! **यः** जो तू **नः** हमें नहीं **जहासि** छोड़ता है **उ** ऐसे **त्वा** तुझको **वयम्** हम **जहिमः** छोड़ते हैं। **पथाम्** मार्गों के **व्यावर्तने** बदलने पर **पाप्मा** पाप **अन्यम्+अनु** अन्य मार्ग को लक्ष्य करके **पद्यताम्** प्राप्त हो ।

व्याख्या—पाप का पन्थ बड़ा विकट है । एक बार मनुष्य इस पापपथ पर चल पड़े, तो इससे हटना बड़ा कठिन होता है । पाप-पथ नदी के प्रवाह के अनुकूल चलता है । पाप-मार्ग में चलनेवाले को चलते समय आपाततः कोई हानि प्रतीत नहीं होती, अतः वह बेखटके इसपर चला जाता है । अब पापचरण का अभ्यास इतना बढ़ गया है कि इच्छा न होते हुए भी उससे पाप हो जाते हैं, क्योंकि पापाचार से उसके संस्कार ऐसे बन गये हैं कि उसे फिर वही व्यवहार करने पड़ जाते हैं। योगदर्शन के भाष्य में इस संस्कार-व्यवहार-चक्र को बहुत सुन्दर शब्दों में समझाया गया है—**'तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति । एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्त्तते'** (यो० द० १।५)=वृत्तियों से ही तदनुरूप संस्कार बनते हैं और संस्कारों से पुनः वृत्तियाँ [व्यवहार] बनती हैं। इस प्रकार वृत्ति (व्यवहार) और संस्कार का चक्र दिन-रात चलता रहता है ।

संस्कार को मारना सरल कार्य्य नहीं है । तभी तो कहा—**'यो नः पाप्मन् न जहासि'**=पाप ! तू हमें नहीं छोड़ रहा । पाप के संस्कार और आचार से निस्तार पाने का एक ही द्वार है—वह है पाप-संस्कार तथा पापाचार के विरुद्ध विचार । योग की परिभाषा में इसको **'प्रतिपक्षभावना'** कहते हैं । मनुष्य जब दृढ़ संकल्प कर ले, तब कुछ भी असाध्य नहीं रहता, अतः दृढ़ प्रतिज्ञा की भावना से साधक कहता है—**'तमु त्वा जहिमो वयम्'**=ऐसे तुझको हम त्यागते हैं । तू हमें नहीं त्यागता, हम तुझे त्यागते हैं । आरम्भ में पकड़ा भी हमने था, अब छोड़ेंगे भी हम ही । पाप-पुण्य का जहाँ चौराहा है, जहाँ से दोनों मार्ग पृथक् होते हैं, वहाँ ही इसका त्याग किया जा सकता है। पाप की वासना और पुण्य की वासना एक ही स्थान में रहती है । देखने की शक्ति निस्सन्देह आत्मा की है, किन्तु दिखाती आँख है । इस प्रकार भद्र-अभद्र विचारने और करने का सामर्थ्य वास्तव में आत्मा में है, किन्तु आत्मा से इसे कराता मन है । इस दृष्टि से जैसे चक्षु सभी रूपों का एकायन=प्रधान ठिकाना है, ऐसे मन ही सभी—भले-बुरे—विचारों का एकायन है । वेद के शब्दों में मन 'पथों का व्यावर्त्तन' है । यहाँ से ही मार्ग बदलते हैं। यहाँ से पाप को दूसरे मार्ग पर चला दो अर्थात् उसे उदय ही न होने दो, उसका विनाश कर दो । यह हम कह चुके हैं कि पाप के संस्कार बड़े प्रबल होते हैं । वे पुनः सामने आएँगे । तब प्रतिपक्षभावना से काम लो । योगदर्शन के भाष्य में श्री व्यासदेवजी ने लिखा है—

> **एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत् । घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपगतो योगधर्मः । स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत् । यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति ।**

इस प्रकार कुमार्ग के लिए उन्मुख वितर्क-(पाप)-रूप अति तीव्र ज्वर से पीड़ित मनुष्य प्रतिपक्षों का=विरुद्ध भावों का चिन्तन करे। अहो ! संसाररूप घोर अङ्गारों में जलते हुए मैंने किसी भाँति योगधर्म्म की शरण ली। अब मैं उसे छोड़कर फिर उन पापों को करूं, सो यह कुत्तों के व्यवहार के समान है, ऐसा विचार करना चाहिए। कुत्ता अपने वमन=कै को चाटता है, वैसा ही त्यागे कार्य्य को पुनः अपनानेवाले को समझना चाहिए।

३१५. परमात्मा कर्म्मानुसार देह देता है और वाणी भी

ओ३म् । आ यो धर्म्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ —ऋ० ५।१।२

शब्दार्थ—**यः** जो **प्रथमः** सर्वप्रधान भगवान् **आ** सबसे पूर्व **धर्म्माणि** धर्म्मों, कर्त्तव्यों को **ससाद** जानता है । **ततः** तब **पुरूणि** अनेक **वपूंषि** शरीरों को **कृणुषे** बनाता है । **धास्युः** धाता होकर **प्रथमः** पहले **योनिम्** योनि में **आ+विवेश** प्रवेश करता है **यः** जो **अनुदिताम्** न बोली हुई **वाचम्** वाणी को **चिकेत** जानता है, सीखता है ।

व्याख्या—(१) **आ यो धर्म्माणि प्रथमः ससाद**—सृष्टिरचना से पूर्व भगवान् रचने-योग्य पदार्थों का विचार करते हैं, किस-किस जीव का क्या-क्या कर्म्म हैं और उसके उपयुक्त फल तथा उसके भोगने के साधन कैसे होने चाहिएँ, इसका आलोचन करते हैं । वेदान्त में इसका नाम **'ईक्षण'** है । ऋग्वेद [१०।१९०।१] में **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'** [भगवान् के जाज्वल्यमान तप से ऋत और सत्य प्रकाशित हुए] में यही बात कही गई है । ऋत=सृष्टि-नियम, सत्य=तदनुगामिनी कर्म्मफल-व्यवस्था । अथर्व में उन दोनों को धर्म्म शब्द से कहा गया है ।

(२) **ततो वपूँषि कृणुषे पुरूणि**, तब—कर्म्मफलालोचन के पश्चात् अनेक वपुओं=शरीरों की रचना करता है । जैसे-जैसे जिसके कर्म्म हैं, वैसे-वैसे भगवान् उसके लिये भोग का अधिष्ठान, भोग का साधन और भोग का सामान विधान करता है ।

(३) **धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश**—कर्म्मफलों को धारण करता हुआ जीव शरीर में पहले घुसता है । इस वेदवचन से प्रतीत होता है कि गर्भाधान-क्रिया के समय पहले जीव जाता है, तभी शरीर बनता है, जीव प्रवेश न करे तो गर्भ की स्थिति ही नहीं होती ।

(४) **यो वाचमनुदितां चिकेत**—इस खण्ड के दो अर्थ हैं । एक प्रभुपरक है—जो अनुच्चरित वाणी को भी जानता है अर्थात् जो हमारी मानसिक मन्त्रणाओं को भी, जो हम वाणी पर नहीं लाये, जानता-पहचानता है; अथवा जो अनुच्चरित वाणी को समझता है—अर्थात् बोलने की युक्ति देता है। सीधे-सीधे शब्दों में वाणी भी वही देता है । दूसरा अर्थ जीवपरक है—जो न बोली हुई वाणी को समझता है । बालक जब स्वयं नहीं बोलता, तब भी माँ-बाप की बोली को समझता है ।

इन चारों बातों पर तनिक-सा विचार किया जाए तो इनका सार यह प्रतीत होता है कि जीव भगवान् की दी योनि में आता-जाता है, और वह योनि उसके कर्म्मों का फल है। ऋग्वेद में इस सिद्धान्त को इन शब्दों में कहा गया है—**'आ यो योनिं देवकृतं ससाद क्रत्वा ह्यग्निरमृताँ अतारीत्'** [ऋ० ७।४।५] जो भगवान् के रचे देह में रहता है; ज्ञानस्वरूप भगवान् जीवों को कर्म्म से तारता है । एक योनि से दूसरी योनि में भेजने तथा मुक्त करने को यहाँ तारना कहा गया है । भगवान् ही इस कार्य्य को कर सकता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है—**'सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् । संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्**···॥' [अ० ४।१६।५] जो इस संसार में और जो कुछ इससे परे है, अन्तर्यामी जगद्राजा उसे जानता है; उसने तो प्राणियों के निमेषोन्मेष तक गिन रखे हैं !

३१६. प्रश्न द्वारा आत्मनिरूपण

ओ३म् । को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ —अ० ७।१०३।१

ओ३म् । कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ —अ० ७।१०४।१

शब्दार्थ—वस्यः+इच्छन् आदर का अभिलाषी **कः** कौन **क्षत्रियः** दुःखनिवारकों में श्रेष्ठ **नः** हमें **अस्याः** इस **अवद्यवत्याः** दोषवाली **द्रुहः** द्रोहभावना से **उन्नेष्यति** ऊपर उठाएगा ? **कः** कौन **यज्ञकामः** यज्ञ की कामनावाला है ? **कः** कौन **पूर्त्तिकामः** त्रुटिपूर्त्ति का अभिलाषी है ? **कः** कौन **देवेषु** देवों=इन्द्रियों में या दिव्यगुणों के निमित्त **दीर्घम्** दीर्घ **आयुः** आयु को, जीवन को **वनुते** चाहता है ? **अथर्वणे** अथर्वा= असन्दिग्ध योगी के प्रति **वरुणेन** वरुण से **दत्ताम्** दी गई **सुदुघाम्** उत्तम दूधवाली **नित्यवत्साम्** सदा बछड़ों-वाली, **पृश्निम्** विविध वर्णोंवाली **धेनुम्** धेनु को **कः** कौन चाहता है ? **बृहस्पतिना** बृहस्पति से **सख्यम्** मैत्री का **जुषाणः** प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला **यथावशम्** इच्छानुसार **तन्वः** शरीरों को **कल्पयाति** समर्थ करता है।

व्याख्या—अनुक्रमणिकाकार ने इन दोनों मन्त्रों का देवता=प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' लिखा है। अथर्ववेद [७।१०४।१] का उत्तरार्ध ले भी उधर ही जाता है। इन्द्रियाँ विषयों की ओर वेग से प्रवृत्त हो चुकी हैं। एक प्रकार से वे आत्मा के वश से बाहर हो गई हैं। यह आत्मा के विरुद्ध इन्द्रियद्रोह ही तो पाप का मूल है जैसा कि वेद में कहा है—**'अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः'** [अ० ५।१८।२]=इन्द्रियद्रोह के कारण राजा अपनों से पराजित होकर पापी हो गया है अर्थात् जब इन्द्रियाँ आत्मा के वश में न हों, तब पाप-अवस्था है, और पाप-अवस्था कभी भी अनवद्य—निर्दोष नहीं होती, सदा ही अवद्य=दोषयुक्त, या अवद्यवती=दोषभरी होती है। एक-एक पाप से आत्मा में चोट लगती है। जो आकर पाप से बचाये, वह मानो चोट से बचानेवाला=क्षत्+त्र=क्षत्र है, क्षत्रों का जो क्षत्र हो वह क्षत्रिय। यज्ञ-याग, इष्टापूर्त्त, दीर्घजीवन के उपाय कौन करता है ? **'को वनुते दीर्घमायुः'** [कौन दीर्घ आयु चाहता है] को उपनिषद् में यह रूपान्तर दिया गया है—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ।।—कठो० १।१।२८

अजरों-अमरों की-सी अवस्था को प्राप्त होकर दुर्दशाग्रस्त कौन मनुष्य रङ्ग-रूप मौज-विहार का विचार करता हुआ जान-बूझकर दीर्घ जीवन पसन्द करेगा ? सचमुच यदि अङ्ग विकल हों, मन जवान हो अर्थात् विषय-वासनाओं में उलझा हुआ हो, और जीवन हो दीर्घ, तो उससे बढ़कर कौन-सी दशा अधिक दुःखद होगी ? किन्तु यह अकाट्य सत्य है कि हीन, अत्यन्त दुःखदायी दशा में पड़ा हुआ क्षुद्र प्राणी भी जीना चाहता है, अधिक जीवन चाहता है। आत्मा जीवनवाला है, अमृत है, अतः शरीर को भी अमृत बनाना चाहता है। इसी के लिए वह यज्ञ-याग करता है, इसी के लिए इष्ट और पूर्त्त करता है ताकि लोग प्रसन्न होकर इसे सुदीर्घ जीवन का शुभाशीर्वाद दें। यह है भाव—**'को यज्ञकामः······दीर्घमायुः'** का। एक दूसरा भाव है—कौन यज्ञ करता है, कौन पूर्त्त=[कुआँ-तालाब, बाग-बगीचे] लगाता है, दिव्य गुणों के लिए कौन दीर्घ जीवन चाहता है ? अर्थात् कोई विरला ही इन शुभ कर्म्मों को करता है।

भगवान् (वरुण) ने अथर्वा को एक गौ दी। वह गौ पृश्नि—नाना वर्णोंवाली है, उत्तम दूध देती है, और सदा इसके पास बछड़ा रहता है। जानते हो, यह गौ क्या है? ऋग्वेद [१०।७१।५] में कहा है कि—जो वेदवाणी का अर्थ नहीं जानता है, वह मानो नकली गौ के साथ घूम रहा है—**'अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्'**=जो मनुष्य पुष्पफलरहित वाणी को सुनता है, मानो वह नकली गौ के साथ घूम रहा है। गौ की मूर्त्ति गौ जैसी दीखती है, किन्तु दूध आदि नहीं देती। वह नकली गौ है। वेद मनुष्य को आत्मकल्याण के लिए दिया गया है। वेदमन्त्रों का अर्थ जाने बिना वेदानुसार आचरण कैसे किया जा सकता है?

ऋग्वेद के इस वचन के आधार पर यह धेनु वेदवाणी है। यह पृश्नि है। मनुष्य-जीवनोपयोगी सब रङ्गों-वर्णों का इसमें वर्णन है। यह सुदुधा है। वेद अत्यन्त सरल है। इतने सरल कि संस्कृत-साहित्य में इसके समान सरल ग्रन्थ और कोई नहीं; हाँ, भाव निस्सन्देह गम्भीर हैं। वेद-धेनु नित्यवत्सा है अर्थात् सदा सफल है। भगवान् ने यह सुदुधा धेनु दी है। किन्तु कितने इसका दूध पीकर पुष्ट होते हैं? शरीर, इन्द्रिय मनुष्य के वश में नहीं हैं। मनुष्य इनके वश होकर इनसे यथेष्ट लाभ नहीं उठा रहा है। लाभ उठाने की युक्ति बतलाई है—**'बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति'**=बृहस्पति के साथ मैत्री का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला शरीरों=शरीर तथा इन्द्रियों को यथेष्ट समर्थ बनाता है। भगवान् ही सर्वथा निरवद्य है; उसके संग से अवद्य=दोष कटते हैं। प्रत्युत वही दोषों को काटता है। उससे प्रीतिपूर्वक मैत्री करनी चाहिए। मित्र को मित्र पर बड़ा अभिमान होता है। वह मित्र से यथेष्ट माँगता और लेता है। देखिए, वैदिक भक्त किस आवेश से भगवान् से कहता है—**'देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि।।'** [अ० ५।११।९]—जो तूने मुझे नहीं दिया, मुझे वही दे, तू मेरे सदा साथ रहनेवाला सप्तपद सखा है। भगवत्सख्य का फल है—शरीर और इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार—**'यथावशं तन्वः कल्पयाति?**

३१७. झूठ का त्याग करके सत्य का ग्रहण

ओ३म् । अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ —यजु० १।५

शब्दार्थ—हे **व्रतपते** व्रतरक्षक **अग्ने** सर्वोन्नति-साधक परमेश्वर ! मैं **व्रतम्** व्रत **चरिष्यामि** करना चाहता हूँ । **तत्** उसको **शकेयम्** मैं कर सकूँ, **मे** मेरा **तत्** वह व्रत **राध्यताम्** सिद्ध हो, सफल हो । **अहम्** मैं **अनृतात्** मिथ्या को छोड़कर **सत्यम्** सत्य को **उप+एमि** प्राप्त करता हूँ ।

व्याख्या—शतपथ ब्राह्मण में [आरम्भ ही में] लिखा है कि मनुष्य व्रत का धारण करते हुए, दीक्षा लेते हुए इस मन्त्र को पढ़ता है । यह मन्त्र वास्तव में प्रत्येक मनुष्य का, विशेषकर आर्य्य का तो जप-मन्त्र होना चाहिए । भगवान् सत्यस्वरूप है । सत्य की रक्षा, सत्यव्रती की रक्षा भी वही करता है । तैत्तिरीयों की प्रार्थना है—

ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु ।

ऋत बोलूंगा, सत्य बोलूंगा, वह सत्यस्वरूप परमेश्वर मेरी रक्षा करे, सत्यवक्ता की रक्षा करे ।

सत्यवचन के रक्षक होने का वर्णन ऋग्वेद [१०।३७।२] में है—**'सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः'**=वह सत्यवचन मेरी सब प्रकार रक्षा करे । वेद सत्य का बहुत पक्षपाती है । वेद में स्थान-स्थान पर सत्य के पालन का आदेश है ।

(१) **'तेन सत्येन जागृतमधि प्रचेतुने पदे'** [ऋ० १।२१।६] उस सत्य के साथ तुम पति-पत्नी दोनों चेतना देनेवाले पद के लिए जागरूक रहो ।

(२) **अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया'** [ऋ० १।४६।११] पार जाने के लिए ऋत का मार्ग ही अच्छा होता है ।

(३) **'ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः'** [ऋ० १।६५।२] देव ऋत-व्रत के अनुगामी होते हैं ।

शतपथ ब्राह्मण में **'अग्ने व्रतपते···'** मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—**सत्यमेव देवाः**=विद्वान् सत्य हैं । वेद ने कहा—**'ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः ।'** शब्द भिन्न हैं, बात एक ही है । जो **'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि'** [मैं झूठ को छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हूँ] की प्रतिज्ञा करने लगा है, मानो वह देव बनने लगा है ।

यदि देव=भगवान् की बातें सुनने का चाव है, तो देव बनो, क्योंकि—**'देवो देवाय गृणते'**—देव देव के प्रति बोलता है ।

गुरुकुल से समावर्त्तन करके शिष्य को घर भेजते समय गुरु उपदेश देते हैं—**'सत्यं वद'**=सदा सच बोलो । जीवन को सर्वथा सत्यमय बनाना चाहिए । **'इदमहमनृतात्'** व्रत लेनेवाला कह सके कि—**'ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान्'** [ऋ० ३।५५।१४]—मैं समझ-बूझकर ऋत के घर में विचरता हूँ । जीवन की प्रभात-वेला में कहता है—**'अग्ने व्रतपते······चरिष्यामि······। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥'**—जीवन के सान्ध्य समय में कहता है—**'अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं य एवास्मि सोऽस्मि'** ॥ [य० २।२८] हे व्रतरक्षक उन्नतिसाधक प्रभो ! मैंने व्रत किया था, तेरी दया से उसे कर पाया, वह मेरा व्रत पूर्ण हुआ । जो कुछ मैं हूं, वही हूँ । आरम्भ से अन्त तक जीवन सत्य से ओत-प्रोत होना चाहिए ।

३१८. तेरे आकर्षक रूप को यहीं देखा है

ओ३म् । अत्रा॑ ते रूपमु॑त्तमम॑पश्यं जिगी॑षमाणमि॒ष आ प॒दे गोः ।
य॒दा ते॒ मर्त्तो॒ अनु॑ भोग॒मान॒ळादिद् ग्रसि॑ष्ठ॒ ओष॑धीरजीगः ॥

—ऋ० १।१६३।७

शब्दार्थ—**गोः** पृथिवी के, इन्द्रियों के **पदे** ठिकाने में, **इषः** अन्नों के=विषयों के सदृश **अत्र** इसी शरीर में, इसी संसार में **ते** तेरे **जिगीषमाणम्** जयशील=आकर्षक **उत्तमम्** सर्वश्रेष्ठ **रूपम्** स्वरूप को **आ**+**अपश्यम्** सब ओर मैंने देखा है। **मर्त्तः** मनुष्य **यदा** जब **ते**+**अनु** तेरी अनुकूलता से **भोगम्** भोग को **आनट्** प्राप्त करता है **आत्** तब **इत्** ही **ग्रसिष्ठः** अतिशय ग्रसनशील होकर **ओषधीः** ओषधियों को, दोषनाशक पदार्थों को **अजीगः** निगलता है।

व्याख्या—समाधि की पूर्ण परिपक्व दशा में योगी को जो अनुभव होता है उसका यह संक्षिप्त, किन्तु वास्तविक निरूपण है। योगी भगवान् के भर्गः स्वरूप के दर्शन कर चुका है। उसके कारण उसके सब पापमल धुल चुके हैं। भगवान् का मनोहारी स्वरूप अनुभव करके सहसा उसके मुख से निकलता है—**'अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यम्'**=यहीं मैंने तेरे सर्वश्रेष्ठ रूप के दर्शन किये हैं। इसी संसार में और इसी मानव-शरीर में ही भगवान् के दर्शन होते हैं—**'यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि'**=जो तेरा कल्याणतम—सबसे अधिक कल्याणकारी स्वरूप है, उसे मैं देखता हूँ। सुनी-सुनाई या पढ़ी-पढ़ाई बात नहीं। ऋषि अपना अनुभव बताकर वेद की पुष्टि कर रहे हैं। उसके विषय में पुनः कहते हैं—**'जिगीषमाणमिष आ पदे गोः'**=जैसे विषय इन्द्रियों को खींचते हैं, वैसे ही तेरा यह स्वरूप जिगीषमाण=विजयशील आकर्षक है।

तात्पर्य यह कि योगी जब परमात्मस्वरूप के दर्शन करता है तो उसे यह अनुभव होता है कि यह तो सबसे अधिक सुन्दर है। सभी सौन्दर्य्यों को उसने जीत रखा है, तभी तो इसे **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** कहते हैं। सचमुच भगवान् का स्वरूप सुन्दर एवं कल्याणकारी है और कि यह उसे भी जीतने के कार्य्य में लगा है। सच्ची विजय भगाने में नहीं, अपनाने में है। भगवान् भक्त को भगाता नहीं, अपनाता है। लोहे को चुम्बक के तनिक समीप लाओ, वह उसे खींच लेता है। इसी प्रकार भक्त भगवान् के ज्योंही समीप जाने का यत्न करता है वह उसे खींच लेता है। जैसे इन्द्रियाँ विषयों को अपनी ओर खींचती हैं, ऐसे भगवान् भक्त को अपनी ओर आकर्षित करता है।

मनुष्य कर्म्म भी करता है, भोग भी भोगता है। पापकर्म्मों का फल भोगकर भी बहुधा इसका आत्मा मैला रह जाता है। इसका कारण है—भोग भोगते हुए यह भोगविधाता के प्रतिकूल था। भगवान् कर्म्मफल देकर इसके आत्मा को शुद्ध कर रहे थे और यह नास्तिकता-रूपी गन्दगी उसमें डालकर उसे मलिन कर रहा था, अतः इसके दोष बने रहे; किन्तु ज्योंही—**'यदा ते मर्त्तो अनु भोगमानट्, आदिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः'**=भगवान् की अनुकूलता से मनुष्य भोग प्राप्त करता है, ज्योंही वह वास्तविक भोक्ता बनता है और सब ओषधियाँ—दोषनिवारक पदार्थों को निगल जाता है, तब संसार के सब पदार्थ इसके लिए ओषधि= दोषनाशक बन जाते हैं।

३१९. विज्ञानी गुरु

ओ३म् । साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तुविष्मान् ।
पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम् ॥ —ऋ० ४।५।३

शब्दार्थ—**द्विबर्हा** दो में—विद्या और विनय में बढ़ा हुआ **तिग्मभृष्टिः** तीव्र परिपाकवाला **सहस्ररेताः** अतुल पराक्रमी **वृषभः** श्रेष्ठ **तुविष्मान्** बलवान्, **अग्निः** अग्रणी, अगुआ, **विविद्वान्** उत्तम विद्वान् **मह्यम्** मुझे **गोः** गौ के, इन्द्रिय के, वाणी के, पृथिवी के ज्ञान के **अपगूढम्** अत्यन्त गुप्त **पदम्** पद की, ठिकाने की **न** भाँति **महि** बड़े **साम** सिद्धान्त का, सिद्धान्तित कर्म का **उ** तथा **मनीषाम्** प्रज्ञा, बुद्धि का **प्र**+**वोचत्** श्रेष्ठता से उपदेश करे ।

व्याख्या—इस मन्त्र में गुरु के सम्बन्ध में कुछ बातें बताई गई हैं—

(१) **'द्विबर्हा'**—विद्यावृद्ध तथा विनयवृद्ध । गुरु भरपूर ज्ञानी होना चाहिए । विद्या के साथ उसमें विनय भी होनी चाहिए । सच्ची विद्या ही वह है जिसके साथ विनय-शान्ति हो ।—**'विद्या ददाति विनयम्'**=विद्या विनय देती है अर्थात् उद्धतपन को दूर करती है ।

(२) **'तिग्मभृष्टिः'**—तीव्र परिपाकवाला अर्थात् जिसमें अनुभव परिपक्व है, कच्चा नहीं । जो दूसरों का भी तीव्र परिपाक कर सकता हो ।

(३) **'सहस्ररेताः'**—अतुल पराक्रमी । जो शिष्यों के सब अज्ञान दूर करके उनमें ज्ञानाधान कर सकता हो । जिसमें अनन्तवीर्य्य हो, अर्थात् जिसने ब्रह्मचर्य्य का पूर्णतया पालन किया हो । योगदर्शन-भाष्य [३।३८] में ब्रह्मचर्य्य का लाभ बतलाते हुए व्यासदेवजी लिखते हैं—**'सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति'**=ब्रह्मचर्य में सिद्ध मनुष्य शिष्यों में ज्ञान डाल सकने में समर्थ हो जाता है ।

(४) **'अपगूढं विविद्वान्'**—जो अत्यन्त गुप्त को भी विशेषतः जानता हो । गुप्त-से-गुप्त रहस्य को जानता हो । प्रत्येक पदार्थ के दो स्वरूप होते हैं : एक सामान्य, दूसरा विशेष । गौ को ले लीजिए । गौ में एक गोत्व धर्म्म है, जो सब गौओं में है, जिसके कारण सकल गौओं को एक माना जाता है । इसको 'सामान्य' कहते हैं । इसका कार्य्य एकता=समता का बोध कराना है । इस धर्म्म के ज्ञान से मनुष्य एक गौ के देखने से तत्सदृश सभी पदार्थों को गौ मानता है । विशेष भेदबोधक होता है । गोत्व के कारण सभी गौएँ एक होती हुई भी व्यक्तिभेद के कारण परस्पर भिन्न हैं । यही विशेष ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है । गुरु को 'विविद्वान्' कहने का प्रयोजन यह है कि गुरु विशेषज्ञ हो । सामान्य तो विशेष के साथ समन्वागत रहता ही है । ऐसा गुरु जो ज्ञान देता है, वह 'साम' सान्त्वना=तसल्ली=शान्ति देनेवाला होता है ।

(५) **'तुविष्मान्'**—बलवान्, अर्थात् शरीरबल में भी हीन न हो । रोगी या दुर्बल शरीरवाला अध्यापन या शिक्षण का कार्य्य भली-भाँति नहीं कर सकता ।

३२०. बाल की खाल निकालना

ओ३म् । निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिर्या जरन्ता युवशा ताकृणोतन ।
सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवाँ अयातन ॥

—ऋ० १।१६१।७

शब्दार्थ—**धीतिभिः** मननों के द्वारा **गाम्** वाणी को **चर्मणः** चमड़े से **निः** रहित करके **अरिणीत** प्राप्त करो । **या** जो दो [माता-पिता] **जरन्ता** वृद्ध [हो रहे हैं] **ता** उन दोनों को **युवशा** युवासमान **अकृणोतन** करो । हे **सौधन्वनाः** धनुर्विद्या में कुशलो ! **अश्वात्** अश्व से **अश्वम्** अश्व को **अतक्षत** बनाओ और **रथम्** रथ को **युक्त्वा** जोड़कर **देवान्** दिव्य पदार्थों को **उप+अयातन** समीप होकर प्राप्त करो । अथवा **रथं+अयातन** रथ को जोड़कर विद्वानों के पास जाओ ।

व्याख्या—**'निचर्मणो गामरिणीत धीतिभिः'** का अर्थ सायणाचार्य्य आदि ने 'गौ' का चमड़ा उचेड़ो' ऐसा किया है, किन्तु इस अर्थ की कोई सङ्गति नहीं । हाँ, इससे वेद के मत्थे गोहत्या का कलङ्क अवश्य लगता है, जो सर्वथा अन्याय है । वेद में गौ को अघ्न्या=न मारने योग्य माना है । सायणादि का अर्थ **'गां मा हिंसीः'** [गौ को मत मार] इस वेदवचन का विरोधी भी होता है । सभी ऋषि-मुनि मानते हैं कि वेद में 'वदतो व्याघातदोष'=पारस्परिक विरोध नहीं है । फिर यदि श्रीसायणजी का अर्थ ठीक हो तो वेदवाक्य 'निश्चर्मणं गामकुरुत' होना चाहिए न कि **'निश्चर्म्मणो गामरिणीत'** चर्म्म से रहित गौ को प्राप्त करो । चर्म से रहित होने पर तो वह गौ ही न रहेगी । इसलिए इस वाक्य का अर्थ कुछ अन्य है । 'गौ' शब्द का एक अर्थ वाणी भी है; इस अर्थ को मानकर अर्थ होगा—**'वाणी को चर्म्मरहित करके प्राप्त करो'** अर्थात बात के मर्म को जानो, जो काल पाकर 'बाल की खाल निकालो' के रूप में आ गया । 'गौ' का एक अर्थ बाल भी है । बाल की खाल निकालने का अर्थ सभी जानते हैं ।[1]

इस मन्त्र में उत्तम शिल्पियों को आदेश है । उनका कार्य्य ऐसा है कि जिसमें उन्हें इस बात की आवश्यकता है । वे अपनी विद्या के सारे रहस्यों को हस्तगत न करें तो कार्य्य ही न चले ।

दूसरे चरण में उपदेश है कि जो बूढ़े माता-पिता हैं, उन्हें जवान बनाओ । ऋग्वेद [१।११०।८] में भी इसी ढङ्ग की बात कही गई है—**'जिव्री युवाना पितराकृणोतन'**=वृद्ध पिता-माता को युवा कर दो । माता-पिता को जवान करने का भाव है कि वे वार्द्धक्य के कष्ट को अनुभव न करें ।

तीसरे चरण में कहा है—**'सौधन्वना अश्वादवश्वमतक्षत'**=हे उत्तम शिल्पियो ! घोड़े से घोड़ा बनाओ । घोड़े से घोड़ा ही बनता है, पैदा होता है । फिर वेद ने यह बात क्यों कहीं ? इसका सीधा-सादा अर्थ है कि घोड़े से उत्तम घोड़ा पैदा करो अर्थात् तुम्हारे पशुओं की सन्तान आकार, शक्ति आदि में हीन न होने लग जाए । इस विषय में सावधानता न बरती जाए तो उत्तरोत्तर ह्रास होने लगता है । चतुर विज्ञानी मनुष्य ह्रास को रोककर उत्तरोत्तर उत्कर्ष की व्यवस्था करता है ।

चौथे चरण में एक आवश्यक व्यावहारिक तत्त्व का उपदेश है कि शिल्पियों को चाहिए कि वे अपने से उत्कृष्ट विद्वानों की सङ्गति करते रहा करें ताकि शिल्प की उन्नति होती रहे ।

---

१. इस मन्त्र का विशेष अर्थ लेखक के 'वेद प्रवेश' प्रथमापद्धति के १६१-१६२ पृष्ठों में देखिए ।

३२१. अथर्ववेद के ज्ञान से पौरोहित्य

ओ३म् । अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या ।
भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ॥

—ऋ० १०।२१।५

शब्दार्थ—**अथर्वणा** अथर्ववेद से, अथर्ववेद के ज्ञान में **जातः** प्रसिद्ध होकर **अग्निः** ज्ञानी=पुरोहित **विश्वानि** सम्पूर्ण **काव्य** परम कवि के वचन, वेद, तथा कवि के कर्त्तव्यों को **विदत्** जाने, प्राप्त करे और विचारे । वह **विवस्वतः** विवस्वान् का, काल का **दूतः** दूत **भुवत्** होता है, और **वः** तुम्हारे **मदे** मद=आनन्द के लिए तथा **विवक्षसे** विशेष कथन के लिए तथा विशेष भार उठाने के लिए **यमस्य** संयम का **वि** विशेष **प्रियः** प्यारा=प्रेमी होता है ।

व्याख्या—वेद में कई स्थानों पर अग्नि को पुरोहित कहा गया है । वेद का आरम्भ ही अग्नि को पुरोहित मानकर हुआ है—(१) **'अग्निमीळे पुरोहितम्'** [ऋ० १।१।१] पुरोहित अग्नि की स्तुति करता हूँ । (२) **'असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोसि यज्ञेषु मानुषः'** [ऋ० १।४४।१०] ग्रामों में तू रक्षक है और यज्ञों में मनुष्य का हितकारी पुरोहित है । इसी प्रकार के अन्य बीसियों वैदिक प्रमाण हैं, जिनमें अग्नि को पुरोहित बताया गया है । पुरोहित बनने के लिए अथर्ववेद का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि पुरोहित द्वारा कराये जानेवाले सम्पूर्ण संस्कारों के मन्त्र अथर्ववेद में हैं । अथर्ववेद में शरीर और आत्मा को संस्कृत करने के साधन विशद रूप से समझाये गये हैं ।

अथर्ववेद अन्तिम वेद है, उसको समझने के लिए पहले तीन वेदों का जानना भी आवश्यक है अर्थात् अथर्ववेद समाप्त करते-करते सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान हो जाता है । इसीलिए कहा है—**'विदद्विश्वानि काव्या'**=परम कवि के सम्पूर्ण वचनों को जान लेता है, अथवा पुरोहित के सकल कर्त्तव्यों को जान लेता है । पुरोहित काल की सूचना देता है अर्थात् किस समय क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, इसका उपदेश करना पुरोहित का काम है । दूसरे शब्दों में मनुष्य को अपनी दिनचर्य्या और जीवनचर्य्या पुरोहित के निर्देश के अनुसार बनानी चाहिए । बहुधन्धी मनुष्य बहुधा अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है । पुरोहित उसे सावधान करता रहता है । पुराने आर्य्यों में एक नियम था कि वे अपने परिवार का एक पुरोहित अवश्य नियत करते थे । पुरोहित अपने यजमान के सब दुःखों का निवारण करता था । राजा दिलीप ने पुरोहित-प्रवर वसिष्ठ को कहा था—**'उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वंगेषु यस्य मे । दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्त्ता त्वमापदाम्'** [रघुवंश, १।६०] सचमुच मेरे राज्य के सातों अङ्गों में कल्याण है, क्योंकि मेरी दैवी और मानुषी आपत्तियों को दूर करनेवाले आप हो ।

यह कोरी कविकल्पना नहीं है । वैदिक पुरोहित ऐसे ही हुआ करते थे । अथर्ववेद का ३।१६ समस्त सूक्त पुरोहित का घोष है । पुरोहित कहता है—**'प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः'** [अ० ३।१६।७]=हे मनुष्यो ! आगे बढ़ो, विजय करो । तुम्हारे भुजा उग्र हों । **'एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि'** [अ० ३।१६।५]=इनके राष्ट्र को उत्तम वीरों से भरपूर करके बढ़ाता हूँ । **'जिष्णवेषां चित्तम्'** [अ० ३।१६।५]=इनका चित्त जयशील हो । **'संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः'** [अ० ३।१६।१]=जिनका मैं पुरोहित हूँ, उनका सुतीक्ष्ण क्षात्र तेज अजर रहे, घटे नहीं । अथर्ववेद से यदि पुरोहित बनता है तो पुरोहित की महिमा भी वहीं गाई है । पुरोहित बनने के लिए संयमी होना चाहिए, यह मन्त्र के अन्त में कहा गया है ।

३२२. विश्व के जीवन ! तेरी स्तुति करना चाहता हूँ

ओ३म् । स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन ।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य यजिष्ठं हव्यवाहन ॥ —ऋ० १।४४।५

शब्दार्थ—हे **विश्वस्य+अमृत** विश्व के जीवन ! **भोजन** योग्यविधाता ! हे **अग्ने** सबको आगे ले-जानेवाले ! हे **मियेध्य** पवित्र करनेवाले ! **हव्यवाहन** भोग्य पदार्थ प्राप्त करानेवाले ! **त्वाम्** तुझ **त्रातारम्** रक्षक, **अमृतम्** अविनाशी, **यजिष्ठः** सबसे अधिक पूजनीय की **अहम्** मैं **स्तविष्यामि** स्तुति करना चाहता हूँ ।

व्याख्या—आज मन में आया है, तेरी स्तुति करूँ । तूने ही प्रेरणा की कि मैं तेरी स्तुति करूं । तेरा आदेश है—**'कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे । देवममीवचातनम् ॥'** [ऋ० १।१२।७]=यज्ञ में क्रान्तदर्शी, सबके उन्नायक, अटल नियमोंवाले, दुःखनाशक भगवान् के पास बैठकर उसकी स्तुति कर । तेरे इस आदेश को शिरोधार्य्य कर मैं तेरी स्तुति करना चाहता हूँ । तू अग्नि है, ज्वाला है । मैं भी आग बनना चाहता हूँ । तेरा ही कथन है **अग्निनाग्निः समिध्यते** [ऋ० १।१२।६]—आग से आग जलती है । प्रभो ! तू आग है, मुझे भी आग बना, चमका । प्रभो ! तू विश्व का जीवन है, तेरे बिना यह जगत समाप्त हो जाए, मर जाए । तू ही जीवन की सामग्री देता है । तू न हो तो सभी भूखे मर जाएँ, प्रभो ! मैं काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर के कारण अपवित्र हूँ, **तू मियेध्य है**, पवित्र है । मैं पवित्र बनने के लिए तेरी स्तुति करता हूँ । अपना यह गुण मुझमें संक्रान्त कर । तू मियेध्य=पवित्रकार है । मेरे सब आवरण, मल दूर कर । मुझे विमल बना दे । भगवन् ! तेरी शक्ति अनन्तपार है । तू गर्भस्थ को भोजन पहुँचाता है । तू ही सबको भोगसामग्री देता है । प्रभो ! तू केवल हव्यवाहन ही नहीं है, तू तो देववाह भी है—**'स देवाँ एह वक्षति'** [ऋ० १।१।२] तू देवों को यहाँ लाता है, अतः हमारी प्रार्थना है—

स आ वह पुरुहूत प्रचेतसोऽग्ने देवाँ इह द्रवत् [ऋ० १।४४।७]=हे पुरुहूत ! बड़ी पुकारवाले ! तू शीघ्र ही उत्तम ज्ञानी देवों को यहाँ ले आ । यहाँ कहाँ ? प्रभो ! **'देवाँ इहा वह । उप यज्ञं हविश्च नः'** [ऋ० १।१२।१०]=देवों को यहाँ हमारे यज्ञ और हवि के समीप ले-आ । प्रभो ! तू त्राता है, अतः **'प्राविता भव'** [ऋ० १।१२।८]=उत्तम रीति से हमारी रक्षा कर । भगवन ! तू अमृत है । मैं तेरी स्तुति करता हूँ, क्योंकि **'स्तोता वो अमृतः स्यात्'** [ऋ० १।३८।४] तेरा स्तोता=स्तुति करनेवाला अमृत हो जाता है । पूज्यतम ! तू यजिष्ठ है, सबसे बड़ा याज्ञिक है । मैं भी यज्ञ करूंगा—**'यजाम देवान् यदि शक्नवाम'** [ऋ० १।२७।१३] हम यथाशक्ति देवयज्ञ करेंगे । प्रभो ! मैं अज्ञानी हूँ । तेरी स्तुति की गति नहीं जानता, अतः तेरे बताये शब्दों से तेरा यशोगान मैंने किया है । अतः विनती है—**'इमं स्तोमं जुषस्व नः'** [ऋ० १।१२।१२]=हमारे इस स्तोत्र को स्वीकार कर । प्रभो ! वास्तव में यह तेरी ही देन है । अतः—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'**=ज्ञानदाता ! तेरी वस्तु तुझे ही भेंट करता हूँ ।

३२३. वेदकर्त्ता

ओ३म् । यो अद॑धा॒ज्ज्योति॑षि॒ ज्योति॑र॒न्तर्यो अस॑ृज॒न्मधु॑ना॒ सं मधू॑नि ।
अध॑ प्रि॒यं शू॒षमिन्द्रा॑य॒ मन्म॑ ब्रह्म॒कृतो॑ बृ॒हदु॑क्थादवाचि ॥ —ऋ० १०।५४।६

शब्दार्थ—**यः** जो **ज्योतिषि**+**अन्तः** ज्योति में **ज्योतिः** ज्योति **अदधात्** डालता है, **यः** जो **मधुना** मधु में **मधूनि** मधुओं को **सम्**+**असृजत्** एक रस मिलाता है, **अध** अब उस **इन्द्राय** इन्द्र के लिए **प्रियम्** प्रिय **शूषम्** बलकारक **बृहत्** बहुत बड़ा **मन्म** मननात्मक ज्ञान **ब्रह्मकृतः** परमेश्वररचित **उक्थात्** वेद से **अवाचि** कहना चाहिए।

व्याख्या—जीव ज्योति है, प्रकाशवान् है । भगवान् सर्गारम्भ में उसे वेदज्ञान देता है । मानो वह ज्योति में ज्योति का आधान करता है, सूर्य्य-चन्द्र आदि प्रकाशमय पदार्थों में वह ज्योतिर्मय ही ज्योति डालता है । पदार्थों का संयोग-विभाग भी भगवान् ही करता है । **'असृजन्मधुना सं मधूनि'**=मधुरता से मधुरों को मिलता है अर्थात् जिन पदार्थों का मिलना योग्य है, उनको परस्पर मिलाता है । वेद में एक अन्य स्थान पर भी कुछ इसी ढंग की बात कही गई है—**'स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन । मधुमतीं मधुमता सृजामि सँ सोमेन ।।'** [य० १९।१]=तेरे लिए स्वादु के साथ स्वादु वस्तु को, तीव्र के साथ तीव्र को, अमृत=जीवनदायी=जीवनीय के साथ जीवनीय को, मधुर सोम के साथ मधुर वस्तु को मिलाता हूँ । अथवा स्वादु के द्वारा स्वादु को, तीव्र के द्वारा तीव्र को, जीवनीय के द्वारा जीवन को, मधुर सोम के द्वारा मधुर वस्तु की रचना करता हूँ ।

इसका एक गहरा अभिप्राय है । भगवान् ने यह जगत् जीवों के उद्धार—भोग और मोक्ष प्राप्त करने के लिए बनाया है, अतः इसके सभी पदार्थ मधुर हैं । जैसे जल सभी का जीवन है किन्तु जवासे[1] के लिए मौत-सा है, वैसे जगत् के सारे पदार्थ हैं तो मधुर, स्वादु, किन्तु पापी के लिए उपताप देनेवाले हैं । सूर्य्यादि प्रकाशकों में भगवान् ने प्रकाश डाल दिया, योग्य रीति से सृष्टि के सारे पदार्थ रच दिये—**'अध प्रियं...... उक्थदवाचि'** तब जीव के प्रिय बलकारक मननात्मक ज्ञान को ब्रह्मकृत वेद से कथन किया । सृष्टि उत्पन्न करके उससे प्रयोग लेने के लिए भगवान् ने ज्ञान भी दिया । स्पष्ट ही यहाँ उक्थ=वेद को ब्रह्मकृत भगवान् का रचा हुआ कहा है । ऋग्वेद [१।३७।४] **में स्पष्ट आदेश है**—**'देवत्तं ब्रह्म गायत'**=परमात्मा-प्रदत्त वेद का गान करो । स्पष्ट ही मन्त्र में बताया है कि जो जगत्कर्त्ता है वही वेदकर्त्ता है ।

---

१. जवासा एक काँटेदार जंगली पौधा है, जो गर्मियों में अपने यौवन पर होता है परन्तु वर्षा ऋतु में सूख जाता है ।

[सम्पादक]

३२४. मनुष्य

ओ३म् । वनेम पूर्वीरर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः ।
आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म ॥—ऋ० १।७०।१

शब्दार्थ—**मानुषस्य जनस्य** हमारा मानव **जन्म** जन्म **आ** यही है कि हम **अर्यः** ज्ञानी की **पूर्वीः** सनातन से चली आई **मनीषाः** मनीषा को **वनेम** ग्रहण करें । **सुशोकः** उत्तम तेजस्वी **अग्निः** अग्रणी **विश्वानि** इन सबको **अश्याः** प्राप्त करता है और **दैव्यानि** देवत्वसाधक **व्रता** व्रतों को **आ** पूर्ण रूप से **चिकित्वान्** जानता है ।

व्याख्या—मनुष्य-जन्म की सफलता इसी में है कि वह पूर्व से चली आई ज्ञान-विज्ञान की युक्तियों को भली प्रकार जाने । ऋग्वेद [१०।५३।३] में मनुष्य बनाने के साधनों में एक साधन बताया है—**'ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्'**=ज्ञान के मार्गों को अपनी बुद्धि से परिष्कृत करके रक्षा कर । पूर्वों की विद्या ग्रहण कर ली, किन्तु उसमें अपना भाग न डाला, तो विद्या की वृद्धि न होगी । मनुष्य का ज्ञान तो उत्तरोत्तर बढ़ना चाहिए । जैसे हम दूसरों के ज्ञान से लाभान्वित हुए हैं वैसे हमारे पश्चात् आनेवाले हमसे कुछ लाभ उठाएँ । ऋग्वेद [२।१८।१] में कहा है—

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः ।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत् ॥

जीवन की प्रभात में नया रथ (शरीर) मिलता है जो अतिशय शुद्ध होता है, जिसमें चार युग=जुए, तीन चाबुक और सात लगामें होती हैं । दश अरित्रवाला मनुष्य अति सुखी होता हुआ यज्ञों और ज्ञानों से वेगवान् हो जाता है ।

मुक्ति से लौटना जीवन की प्रभात=प्रातःवेला है । नया शरीर मिलता है जो पवित्र होता है । सप्तरश्मि=सात लगामें, सात इन्द्रियाँ, तीन चाबुक—देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण हैं । धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार युग=जुए हैं । मानव-शरीर इनके लिए मिलता है । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ, यही मनुष्य के दश अरित्र हैं । इनके द्वारा मनुष्य ज्ञान और कर्म्म करता है । सार यह कि धर्मार्थकाममोक्ष—रूप चतुर्वर्ग प्राप्त करना मनुष्य-जन्म की सफलता है । इस सफलता की प्राप्ति के लिए उसे **'आ दैव्यानि व्रता चिकित्वान्'**—'दैव्य व्रतों का पूर्ण रूप से जाननेवाला' होना चाहिए ।

दैव्य व्रत=देवों का व्रत । देवों का व्रत सत्य है । धर्म्मशास्त्रकार सत्य को सर्वोत्कृष्ट धर्म्म मानते हैं—**'नहि सत्यात्परो धर्म्मः'**=सत्य से बढ़कर कोई धर्म्म नहीं । अर्थ और काम यदि धर्म्ममूलक हों, तो मोक्षप्राप्ति में सुविधा होती है । मनुष्य की विशेषता धर्म्म के कारण है । कहा भी है—**'धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्म्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'**=धर्म्म ही मनुष्य की विशेषता है । धर्म्महीन मनुष्य पशुओं के तुल्य होते हैं, अतः मनुष्यपन स्थिर रखने के लिए मनुष्य को सदा धर्म्माचरण करना चाहिए ।

३२५. प्रथम दाता

ओ३म् । त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥ —ऋ० ८।९०।२

शब्दार्थ—**त्वम्** तू **राधसाम्** धनों का **प्रथमः** पहला **दाता** दाता **असि** है । तू ही **सत्यः** तीनों कालों में एक-रस रहनेवाला, सत्यस्वरूप **ईशानकृत्** शासनकर्त्ता, राजाओं का राजा **असि** है । हम तुझ **तुविद्युम्नस्य** महातेजस्वी **शवसः**+**पुत्रस्य** बल के शोधक **महः** पूजनीय का **युज्या** योग, मेल, सहयोग **वृणीमहे** चाहते हैं ।

व्याख्या—सचमुच सबसे प्रथम—पहला और मुख्यदाता परमेश्वर ही है । धनों का स्वामी भी वही है—**'त्वं हि राधस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधतः'** ॥ [ऋ० ८।६१।१४]=हे धनपते ! तू ही धन का और महान् स्थान का विधाता और दाता है । भगवान् बड़े-बड़े पदार्थ देता है—**'इन्द्र इन्नो महानां दाता'** [ऋ० ८।९२।३]=भगवान् हमारे लिए महान् पदार्थों का दाता है । भगवान् के दान जहाँ महान् होते हैं वहाँ भले भी होते हैं—**'भद्रा इन्द्रस्य रातयः'** [ऋ० ८।६२।१]=भगवान् के दान भद्र हैं । भगवान् सदा एकरस रहता है, और राजाओं का भी राजा है । राजा, रङ्क सभी उनकी प्रजा हैं । उस सत्यस्वरूप का कैसा सुन्दर वर्णन है—**'कस्त्वा सत्यो मदानां मँहिष्ठो मत्सदन्धसः'** [य० ३६।५] आनन्दवालों में अत्यन्त पूजनीय, आनन्दस्वरूप सत्य=सत्यस्वरूप भगवान् तुझको अन्नादि द्वारा मस्त करता है । सत्य, एकरस होने के कारण भगवान् क=आनन्दमय है, और आनन्दियों=मुक्तों का भी पूज्य है । वह सत्यस्वरूप भगवान् जीवों को आनन्द देता है ।

परमात्मा सबका राजा=ईशानकृत् है, वेद में इस बात को अनेक प्रकार से बताया गया है । यथा—**'त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम्'** [ऋ० ८।६४।३]=हे परमेश्वर ! तू ही उत्पन्न पदार्थों का, तथा तू ही अनुत्पाद्य=जीवों और प्रकृति का ईश्वर है, तू ही लोकों का राजा है । **'त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि ।'** [ऋ० ८।९५।३]=तू सचमुच सदा रहनेवाली प्रजाओं का पालक राजा है । सबका पालक और राजा जब परमेश्वर ही है, तब उसकी सहायता चाहना स्वाभाविक ही है, अतः हम सब **'तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः'** महातेजस्वी, बलशोधक, पूजनीय, महान् परमेश्वर का सहयोग चाहते हैं, क्योंकि—**'क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः'** [ऋ० १०।८९।१०] क्षेम और योग में भगवान् ही स्मरण करने योग्य है । अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति के यत्न का नाम योग और प्राप्त पदार्थों की रक्षा का नाम क्षेम है । तात्पर्य यह कि जीवन की प्रत्येक क्रिया में भगवान् को स्मरण करते रहना चाहिए । उसे कभी भी भूलना नहीं चाहिए । प्रत्युत—**'योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये'** [ऋ० १।३०।७]=हम मित्र प्रत्येक उद्योग और प्रत्येक संग्राम में महाबली भगवान् को पुकारते हैं ।

३२६. हम तेरे तू हमारा

ओ३म् । त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः ।
त्वमस्माकं तव स्मसि ॥ —ऋ० ८।९२।३२

शब्दार्थ—हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **त्वया+युजा+इत्** तुझ सहयोगी के सहयोग-बल से युक्त हुए **वयम्** हम, **स्पृधः** हमें दबाने की कामना करनेवालों को **प्रति+ब्रुवीमहि** प्रत्युत्तर दे सकें, अर्थात् उन्हें दबा सकें, क्योंकि, **त्वम्** तू **अस्माकम्** हमारा है, और हम **तव** तेरे **स्मसि** हैं ।

व्याख्या—यह प्रार्थना-मन्त्र है । इसमें शत्रुओं को दबाने की प्रार्थना है । काम-क्रोध आदि आत्मिक शत्रु हैं जो सदा आत्मा को अभिभूत करने में लगे रहते हैं । समाजश्रृङ्खला को तोड़नेवाले समाज की व्यवस्था का अकारण उल्लङ्घन करके अव्यवस्था को उत्तेजित करनेवाले लोग समाज के शत्रु हैं । लुटेरे, साहसी, लालची राजा जो किसी राष्ट्र को दबाना और हथियाना चाहते हैं, वे राष्ट्र-शत्रु हैं । इन सबको दबाने की इस मन्त्र में प्रार्थना है । इस मन्त्र की यह एक विशेषता है कि एक साथ सबके लिए कामना की जा सकी है । वेद में शत्रु को दबाने की, और वह भी भगवान् के सहयोग से, अनेक प्रार्थनाएँ हैं—

१. **'वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् । सासह्याम पृतन्यतः'** [ऋ० १।८।४]=हे इन्द्र ! हम शस्त्रविद्याकुशल शूरों को साथ मिलाकर तेरे सहयोग से फसादियों को मसल सकें ।

२. **'वयं जयेम शतिनं सहस्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः'** [ऋ० ६।८।६]=हे अग्ने ! तेरी कृपाओं से हम सैकड़ों-हजारों शक्तिवाले आक्रमणकारी को जीत सकें ।

३. **'वयं जयेम त्वया युजा वृतम्'** [ऋ० १।१०२।४]=तेरे सहयोग से हम घेरनेवाले शत्रु को जीतें ।

४. **'त्वया युजा पृतनायूँरभि ष्याम'** [ऋ० ७।१।१३]=तुझसे युक्त होकर हम फसादियों को दबा सकें ।

प्रकृत मन्त्र के उत्तरार्ध में जो कहा गया है कि—**त्वमस्माकं तव स्मसि** [तू हमारा और हम तेरे हैं] वह भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने और उसकी आज्ञा में चलने की भावना का द्योतक है । इस भावना का कई ढङ्ग से प्रकाश किया गया है—**'ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह'** [ऋ० ७।६६।९]=हे वरुण ! हम तेरे होवें, हे मित्र अव्याज स्नेही ! हम विद्वानों के साथ तेरे ही हों ! भगवान् तो सचमुच हमारा है । वह आपद्-विपद् से सदा हमारी रक्षा करता है । जीवन की सारी सामग्री देता है, अतः वेद में वही माता, पिता, बन्धु, त्राता, कहा गया है—**'त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः । सखा सखिभ्य ईड्यः'** (ऋ० १।७५।४)=तू लोकों का बन्धु है, प्रिय मित्र है; सखाओं का पूज्य सखा है । हम भी उसके बन जाएँ, तो फिर क्या कहना ? औपनिषद् महर्षि ने हृदय के अन्तस्तल से कहा—**'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्'**=मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ, क्योंकि ब्रह्म ने मेरा निराकरण नहीं किया । सचमुच उत्तम भावना है, किन्तु जो रस **'त्वमस्माकं तव स्मसि'** (तू हमारा है हम तेरे हैं) में है वह अन्य में नहीं । ऋषि का निर्वेद है, यह समवेद है । इस भेद पर ध्यान देने की आवश्यकता है ।

३२७. महान् पुरुष

ओ३म् । वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

—य० ३१।१८

शब्दार्थ—**अहम्** मैं **एतम्** इस **तमसः+परस्तात्** अन्धकार से रहित, प्रकृति से बहुत परे, उत्कृष्ट **आदित्यवर्णम्** सूर्य्यसम तेजस्वी **महान्तम्** महान् **पुरुषम्** पुरुष को **वेद** जानता हूँ । मनुष्य **तम्+एव** उसे ही **विदित्वा** जानकर **मृत्युम्** मृत्यु को **अति+एति** लाँघ जाता है । **अयनाय** सद्गति के लिए, मुक्ति के लिए **अन्यः** अन्य **पन्थाः** मार्ग **न** नहीं **विद्यते** है ।

व्याख्या—भगवान् सचमुच महान् है । यजुर्वेद (३१।१) में कहा है—**'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिँ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।'** वह पुरुष हजारों सिरोंवाला, हजारों आँखोंवाला, हजारों पैरोंवाला है, वह ब्रह्माण्ड को सब प्रकार से व्याप्त करके भी हृदय में विराजमान है । समस्त संसार के आँख आदि करण=उपकरण उसी में रहते हैं । अथवा उसका दर्शन, चिन्तन, चलनादि शक्तियाँ अनन्त हैं । यजुर्वेद (१७।१९) में मानो इस 'सहस्रशीर्षा' की व्याख्या ही है **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखोविश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।'**=सभी ओर उसकी आँख है, मुख भी सर्वत्र है, और पैर भी सभी दिशाओं में हैं ।

सामान्यतः नियम यह है जिधर आँख है, उधर पाँव नहीं होता । जहाँ भुजा है, वहाँ मुख नहीं होता, किन्तु इस महान् पुरुष को जहाँ मुख हैं वहीं आँख, भुजा और चरण भी हैं; अर्थात् उसकी सब शक्तियाँ सर्वत्र कार्य्य कर रही हैं । कितना महान् और अद्भुत वह भगवान् है कि—**'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ।।'** (य० ३२।२)=उस प्रकाशमान व्यापक भगवान् (पुरुष) से सब चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु कोई भी उसे न ऊपर न नीचे, न टेढ़ा, न बीच में पकड़ पाता है ।

पुरुष का अर्थ है व्यापक । अथर्ववेद (१०।८।३८) में पुरुष को 'सूत्र-का-सूत्र' भी कहा है—**'वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः । सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ।'** मैं इस फैले हुए सूत्र को, जिसमें ये सब प्रजाएँ ओत हैं, जानता हूँ और मैं सूत्र-के-सूत्र को जानता हूँ और जो महान् ब्रह्मज्ञान है, उसे भी जानता हूँ । उसी ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है, मृत्युभय से छुटकारा भी उसी ज्ञान से होता है—**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति**=उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को (जन्म-मरण के चक्र को) लाँघ जाता है । इस मन्त्र के भाव को अथर्ववेद (१०।८।४४) में बहुत अद्भुत रीति से कहा गया है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।।

भगवान् निष्काम, धीर, अविनाशी, स्वयंभू, आनन्द से भरपूर है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है । उसी धीर, अजर, सदा जवान आत्मा (परमात्मा) को जाननेवाला मृत्यु से नहीं डरता ।

भगवान् का ज्ञान सचमुच भय का नाशक है ।

३२८. भोगसाधन पहले बनाता हूँ

**ओ३म् । दधामि ते मधुनो भक्षमग्रे हितस्ते भागः सुतो अस्तु सोमः ।
असश्च त्वं दक्षिणतः सखा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ॥**

—ऋ० ८।१००।२

शब्दार्थ—अग्रे पहले **ते** तेरे लिए **मधुनः** मधु का **भक्षम्** भोजन, भोग **दधामि** बनाता हूँ। **ते** तेरा **भागः** भाग **हितः** रखा है, हितकारी है। **सोमः** सोम **सुतः** तय्यार **अस्तु** हो। **च** और **त्वम्** तू **मे** मेरा **सखा** सखा होकर **दक्षिणतः** दक्षिण में **असः** हो, **अध** और हम दोनों **वृत्राणि** पापों को **भूरि** पूरी तरह **जङ्घनाव** सर्वथा मार दें।

व्याख्या—भक्त ने भगवान् से बड़ी आन से कहा, कि—

**अयं त एमि तन्वा पुरस्ताद् विश्वे देवा अभि मा यन्ति पश्चात् ।
यदा मह्यं दीधरो भागमिन्द्राऽऽदिन्मया कृणवो वीर्य्याणि ॥**—ऋ० ८।१००।१

हे इन्द्र ! पहले मैं अपने शरीर के साथ तेरे सामने आता हूँ। पीछे मेरी इन्द्रियाँ भी मेरे पीछे आती हैं, जब तू मेरे लिए भोग-व्यवस्था करेगा और मेरे साथ पुरुषार्थ करेगा। भक्त कहता है, मैं सर्वात्मना तेरे पास आने लगा हूँ, तन-मन सब तुझे अर्पण करने लगा हूँ। एक बात तू भी कर कि मेरे भोग्य भाग मुझे दे और साथ ही पापनाश के लिए मेरा साथ दे।

भगवान् ने उसका उत्तर दिया है—

दधामि ते मधुनो ......जङ्घनाव भूरि ।

तेरा भाग—मधु का भाग तो मैं पहले दिया करता हूँ। तेरा भाग रखा हुआ है, यह तेरे लिए हितकारी है। सोम तय्यार होना चाहिए। तू मेरा मित्र होकर दाहिनी ओर आ [अर्थात् पुरुषार्थ में तत्पर हो]। फिर हम दोनों मिलकर पापों को पूरी तरह मार देंगे।

भक्त ने भोग-भाग्य माँगा और माँगी साथ ही सहायता। भगवान् ने कहा—मैं भोग सदा देता हूँ और जो देता हूँ, तेरे लिए हितकर देता हूँ। पाप-नाश के लिए यदि तू सहायता चाहता है तो मेरी दक्षिण ओर आ अर्थात् अपने-आपको मेरा करण बना दे। अहंकार-ममकार छोड़कर मेरा हथियार बन जा।

भोग पहले देने का विशेष अभिप्राय है। भगवान् का कहना है कि मनुष्य को सृष्टि में लाने से पूर्व उसके उपयोगी सभी पदार्थों का मैं निर्माण कर देता हूँ। मनुष्य गर्भ से बाहर आता है तो माता के स्तनों में दूध पाता है। सभी जीवों के लिए भगवान् की यह व्यवस्था है। जीव जो अपने लिए हितकर समझता है, वैसा कर्म्म करता है। कर्म्म करने में मनुष्य स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता के कारण भला-बुरा जो उसे अच्छा लगता है वह कर देता है। फल दूसरे के हाथ है। जैसे कर्म्म करते हुए बुरे को बुरा नहीं माना था, वैसे अब उसके फल को भी बुरा न मान, उसे भी हित मान। भगवान् आशीर्वाद देता है—**'सुतो अस्तु सोमः'** =सोम तय्यार होवे अर्थात् यदि तू चाहे तो हे जीव ! इस दुरवस्था से भलाई निकल सकती है।

३२६. अल्पज्ञ मनुष्य वेद का त्याग न करें

ओ३म् । वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम् ।
देवीं देवेभ्यः पर्य्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः ॥

—ऋ० ८।१०१।१६

शब्दार्थ— **वचोविदम्** वाणी को प्राप्त करानेवाली=वाणी का रहस्य उद्घाटन करनेवाली, **वाचम्+उदीरयन्तीम्** वाणी को उन्नत करनेवाली, वागिन्द्रिय को बुलवानेवाली, **विश्वाभिः+धीभिः+उपतिष्ठमानाम्** सभी विचारों के द्वारा सत्कार करनेवाली, **देवेभ्यः+परि+आ+ईयुषीम्** देवों को, देवों से सर्वथा प्राप्त होनेवाली, **देवीम्** दिव्य गुणयुक्त **गाम्** वाणी को—वेदवाणी को **दभ्रचेताः** थुड़दिला, अल्पज्ञ **मर्त्यः** मनुष्य **मा** मत **आ+अवृक्त** कभी त्यागे ।

व्याख्या—इस मन्त्र में विशेषणों द्वारा वाणी—वेदवाणी के गुणों का वर्णन करके अन्त में आदेश किया है—**गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः**=छोटे दिलवाला, अल्पज्ञ गौ को मत छोड़े । गौ और वाणी के बहुत-से शब्द साझे हैं । लौकिक संस्कृत में 'गौ' शब्द वाणी के अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त होता है । 'गौ' का एक पर्य्याय शब्द 'धेनु' है, वह तो स्पष्ट ही वेद में 'वाणी'-अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यथा—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥—ऋ० ८।१००।११

दिव्यगुणयुक्त अथवा व्यवहारसाधिका वाणी को व्यवहारकुशल लोग उत्पन्न करते हैं । उसको सभी रूपोंवाले पशु बोलते हैं, वह अति प्रशस्त वाणी धेनु आनन्ददायिनी होकर हमें अन्न, बल देती हुई प्राप्त हो ।

संसार का एक पर्य्याप्त भाग वाणी के आश्रय जीता है । वाणी की मूल वेदवाणी 'वचोवित्' वाणी प्राप्त करानेवाली है, उसी से संसार की सब बोलियाँ निकलती हैं । वह वाणी को उन्नत करनेवाली है । अपशब्द बोलने से मनुष्य की वाणी पतित होती है, किन्तु ज्ञान-विज्ञान और भगवान् की महिमा-गान से ओत-प्रोत वाणी के अनुशीलन से वाणी की उन्नति होती है । वाणी के व्यवहार से मनुष्य सभ्य या असभ्य माना जाता है ।

विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्=सभी विचारों से सत्कार करनेवाली । वेदवाणी का उद्देश्य मनुष्य की उन्नति कराना है, अतः मनुष्योन्नति के जितने विचार हो सकते हैं, उन सभी का वेद में उपदेश है । इस दृष्टि से इसे **'विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमाना'** कहा है । यह मनुष्य को उन्नत करके देव बनाती है, अतः यह **देवेभ्यः पर्य्येयुषी**=देवों को, देवों=दिव्य गुणों या व्यवहारों के लिए प्राप्त होती है अर्थात् सकल व्यवहार सिखाना इसका प्रयोजन है । इसी से इसे **देवी**=व्यवहारशिक्षिका कहा है । ऐसी व्यवहारशिक्षिका दिव्यगुणप्रापिका वाणी का मूर्खों को तो अवश्य अभ्यास करना चाहिए । वाणी का अभ्यास न करना इसकी हत्या करना है और इस वाणी-हत्या=गोहत्या का वेद निषेध करता है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥— ऋ० ८।१०१।१५

वेदवाणी रुद्रों की मान्यकर्त्री, वसुओं की इच्छा पूरी करनेवाली, आदित्यों की अपनी शक्ति है । मैं ज्ञानाभिलाषी जन को कहता हूँ—इस निर्दोष वाणी की हत्या मत करो ।

३३०. अहिंस्य आत्मा

ओ३म् । न यं रिपवो न रिषण्यवो गर्भे सन्तं रेषणा रेषयन्ति ।
अन्धा अपश्या न दभन्नभिख्या नित्यास ईं प्रेतारो अरक्षन् ॥

—ऋ० १।१४८।५

शब्दार्थ—गर्भे+सन्तम् गर्भ में रहते हुए भी **यम्** जिसको **न** न तो **रिपवः** शत्रु और **न** न **रिषण्यवः** हिंसाभिलाषी **रेषणाः** हिंसक **रेषयन्ति** मार और मरवा सकते हैं । **अपश्याः** न देखनेवाले **अन्धाः** अन्धे **न** नहीं **दभन्** दबा सकते; —**अभिख्याः** सब ओर देखनेवाले **नित्यासः** नित्य **प्रेतारः** उत्तम ज्ञानी **ईम्** उसकी **अरक्षन्** रक्षा करते हैं ।

व्याख्या—इस मन्त्र में आत्मा की नित्यता का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है । इस मन्त्र का देवता अग्नि है । अग्नि शब्द का एक अर्थ आत्मा भी है । ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थानों पर आया है **'आत्मा वा अग्निः'** [निश्चय से आत्मा अग्नि है] । जब तक आत्मा देह में रहता है, तभी तक शरीर में अग्नि रहती है । आत्मा ने शरीर छोड़ा कि शरीर ठण्डा पड़ गया, अतः आत्मा आग है । अग्नि का एक अर्थ 'ले-जानेवाला' है । आत्मा ही शरीर को ले चलता है । आत्मा के कारण ही शरीर में वृद्धि होती है, अतएव आत्मा अग्नि है ।

मनुष्य के सैकड़ों शत्रु होते हैं, उनमें कई ऐसे होते हैं जो इसे जान से मार देना चाहते हैं । वे मनुष्य का अङ्ग-भङ्ग कर सकते हैं, मनुष्य के शरीर की हिंसा कर सकते हैं, किन्तु आत्मा की **'न रेषयन्ति'** हिंसा नहीं कर सकते । वैज्ञानिक बतलाते हैं कि आग, हवा, पानी संसार के पदार्थों के जहाँ स्थितिकारण हैं, वहाँ विनाश भी यही करते हैं । अग्नि जलाकर नाश करती है, पवन उड़ाकर आँधी के रूप में आकर अनिष्ट करता है । बाढ़ के रूप में बढ़कर पानी अनेकों को डुबाता है; किन्तु—**'न यं रिपवो न रिषण्यवो गर्भे सन्तं रेषणा रेषयन्ति ।'**—शरीरस्थ आत्मा का न तो रिपु और न हिंसाशक्तिवाले हिंसक ही नाश कर सकते हैं । गीता में बहुत सुन्दर शब्दों में इसका अनुवाद किया गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥—गीता २।२३

इसे शस्त्र नहीं काट सकते, नाही इसे अग्नि जला सकती है, जल इसे गीला नहीं कर सकता, पवन इसे सुखा नहीं सकता ।

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।' [२।२४]—यह अकाट्य है, न जलाया जा सकता है, न भिगोया जा सकता है और न सुखाया जा सकता है । **'देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।'** [२।३०]—हे अर्जुन ! सभी के देह में यह आत्मा अवध्य है । आत्मा को मरनेवाला माननेवाले अज्ञानी हैं—**'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥'** [कठो० १।२।१९]—जो इसे मारनेवाला मानता है, जो इसे मरा मानता है, वे दोनों अज्ञानी हैं । न यह मारता है और न यह मरता है ।

'गर्भे सन्तम्' का अर्थ **'गूढमनुप्रविष्टम्'** उपनिषदों ने किया है । तभी तो—**'अन्धा अपश्या न दभन्'**=न देखनेवाले और अन्धे इसे नहीं देखते । जिनकी अन्दर-बाहर की दोनों ओर की आँखें फूटी हुई

हैं, ये ग्रात्मा को नहीं देख पाते । जीते-मरे शरीरों का भेद जिन्हें ज्ञात नहीं, सचमुच वे 'ग्रपश्य' हैं। शरीर की वृद्धि देखकर वृद्धि का हेतु जिन्हें नहीं प्रतीत होता, सचमुच वे 'ग्रन्धे' हैं। ग्रात्मा की रक्षा से तात्पर्य उसे कामक्रोधादि से बचाकर उसको उन्नत करना है। यह कार्य्य वही कर सकते हैं जिनकी हिये की ग्राँखें नहीं फूटी हैं।

३३१. दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम

ओ३म् । रेवद्वयों दधाथे रेवदाशाथे नरा मायाभिरितऊति माहिनम् ।
न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम् ॥

—ऋ० १।१५१।९

शब्दार्थ—तुम दोनों **रेवत्** धनयुक्त **वयः** कान्ति **दधाथे** धारण करते हो और हे **नरा** आगे ले चलनेवाले मित्र और वरुण ! तुम दोनों **मायाभिः** बुद्धियों के द्वारा अथवा युक्तियों के द्वारा **इतः+ऊति** इस लोक में रक्षा करनेवाले **माहिनम्** महान् सामर्थ्य को **आशाथे** प्राप्त करते हो, **यम्** जिस सामर्थ्य को **द्यावः** सूर्य्य आदि प्रकाशक **अहभिः** दिनों के द्वारा **न** नहीं प्राप्त करते **उत** और **न** ना ही **सिन्धवः** सिन्धु प्राप्त करते हैं । **पणयः** बनिये **न** न तो **देवत्वम्** देवत्व **आनशुः** प्राप्त कर सकते हैं, और **न** ना ही **मघम्** धन प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या—मित्र और वरुण दो दैवी शक्तियाँ हैं, जिनका कार्य्य वृष्टि आदि लाना है । शरीर में ये प्राण और उदान हैं । आत्मा में यह 'स्नेह की भावना' तथा सबको अपनाने की भावना' है । मित्र स्नेहभावना है, वरुण सबको अपनाने की भावना है । ये दोनों भावनाएँ 'नर'—उन्नत करनेवाली हैं । सर्वस्नेही तथा सबको अपना माननेवाला सबका स्नेहास्पद तथा सबका अपना होता है । ये दोनों भाव जहाँ एकत्र हों, वहाँ धन, मान आदि का अभाव नहीं रहता । वेद कहता है—**'रेवद्वयो दधाथे······माहिनम् ।'** ये दोनों भाव धन धारण करते तथा आयु देते हैं और देते हैं इस लोक की प्रतिष्ठा तथा रक्षा । वह तेज और प्रतिष्ठा इतनी बड़ी है कि न सूर्य्यादि तेजोमय पिण्ड और न सदा स्यन्दनशील सिन्धु ही जिसकी समता कर सकते हैं ।

एक शर्त अवश्य है । इन दोनों—स्नेह और अपनापन—भावों को सौदे की दृष्टि से नहीं धारण करना चाहिए । जो इस भाव से दूसरों से प्यार करता है कि लोग उसे प्यार करें, जो इस भावना से दूसरों को अपनाता है कि लोग उसे अपनाएँ वह पणि है, बनिया है । धर्म्म के व्यवहार में भी जो पण=व्यवहार =सौदा—व्यापार करे, उसे वेद पणि=बनिया कहता है । वेद का उपदेश है—**'न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम्'** बनिये को न देवत्व मिलता है और न धन । संसार में दो मान्य पदार्थ हैं, एक ज्ञान दूसरा धन । धर्म्म के विषय में वणिग्वृत्ति से मनुष्य दोनों से वंचित हो जाता है । देव निष्काम होते हैं, यह सकाम है । सकामता से देवत्व नष्ट हो जाता है, अतः देवत्व इसे मिल नहीं सकता । दुचित्ता होने के कारण धन भी यथेच्छ प्राप्त नहीं कर पाता । इसे कहते हैं—**'दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम ।'**

३३२. प्रभु को आर्य्य ही प्राप्त कर सकता है

ओ३म् । मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः ।
तं त्वा देवासोऽजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय ॥ —१।५९।२

शब्दार्थ—हे **वैश्वानर** सर्वजनहितकारिन् ! तू **अग्निः** तेजोमय अग्रणी होकर **दिवः** प्रकाशक पदार्थों का **मूर्धाः** मूर्धा-समान है । **पृथिव्याः** पृथिवी का **नाभिः** बन्धन, विचलित न होने देनेवाला बल है । **अथ** और **रोदस्योः** दोनों लोकों का **अरतिः** सर्वत्र प्राप्त स्वामी **अभवः** है । **तम्** उस **त्वा** तुझ **देवम्** देव=दिव्य **ज्योतिः** ज्योति को, ज्योतिर्मय को **देवासः** निष्काम ज्ञानी **आर्याय** सदाचारी धर्म्मात्मा के लिए **इत्** ही **अजनयन्त** प्रकट करते हैं ।

व्याख्या—इस मन्त्र का विशेष रहस्य **'वैश्वानरोपनिषत्'**[1] में उद्घाटन करेंगे । यहाँ इतना बतलाना पर्य्याप्त है कि वैश्वानर विद्या उपनिषदों तथा वेदों का मुख्य विषय है । सर्वत्र व्यापक परमात्मा का साक्षात् कराना वैश्वानर विद्या का कार्य है । मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वैश्वानर की सर्वव्यापकता दिखलायी है । ऋग्वेद [१०।८८।१४] में इस तत्त्व को इन शब्दों में कहा गया है—**'यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात्'**=जो देव अपने महत्त्व के कारण दोनों लोकों में, इनसे नीचे, इनसे ऊपर, परे भी व्यापक है ।

भगवान् का ज्ञान सर्वसामान्य को नहीं होता । भगवान् देव है, उसे कोई देव ही जान-पहचान सकता है । ऋग्वेद [१०।८८।१३] में कहा भी है—**'वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्'** =यज्ञिय=पूजनीय, पूज्य परमात्मा के भक्त, क्रान्तदर्शी=तत्त्वज्ञानी महात्मा ही कभी नाश न होनेवाले वैश्वानर अग्नि को प्रकट करते हैं । यजुर्वेद [३२।८] में इस बात को ऐसे कहा है—**'वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत्'**=मेधावी जन ही गुहा में गुप्त उस परमपुरुष को देख पाता है, किन्तु वे देव इस वैश्वानर ज्योति का प्रकाश आर्य्य के लिए—सदाचारी के लिए ही करते हैं । कठोपनिषत् [१।२।२४] में भी यह बात स्पष्ट कही गई है—**'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥** जिसने दुराचार का त्याग=तिरस्कार नहीं किया, जिसने चंचलता दूर नहीं की, जो सावधान नहीं है, जिसके मन में अशान्ति है, वह प्रज्ञान के द्वारा भी इसे नहीं पा सकता । 'वैश्वानर' के अभिलाषी नर को दुराचार का त्याग करके इन्द्रियों और मन का संयम करना चाहिए । ये गुण आर्यत्व के सम्पादक हैं । विवेक, वैराग्य के बिना इन गुणों का सम्पादन कठिन है । ज्ञानवान्, सदाचारी, धर्मात्मा को आर्य्य कहते हैं और वही परमात्म-ज्योति के प्राप्त करने का अधिकारी होता है ।

---

१. स्वामीजी महाराज वेदमूलक कई उपनिषदें लिखना चाहते थे । वे केवल दो उपनिषदें ही लिख पाये—'ब्रह्मोद्योपनिषत्' और—'योगोपनिषत् ।' शेष उपनिषत् जिनका उन्होंने अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र उल्लेख किया है, वे लिख नहीं पाये । यथा—आत्मोपनिषत् पुरुषोपनिषत्, वैश्वानरोपनिषदादि । [सम्पादक]

३३३. स्वयंवर विवाह

ओ३म् । कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥

—ऋ० १०।२७।१२

शब्दार्थ—**कियती** कौन-सी **योषा** स्त्री **वधूयोः** वधू के अभिलाषी **मर्यतः** मनुष्य से, उसके **वार्येण** श्रेष्ठ **पन्यसा** स्तोतव्य व्यवहार से **परिप्रीता** पूर्ण प्रसन्न होती है । **वधूः** वधू **भद्रा** भली **भवति** होती है **यत्** यदि **सा** वह **सुपेशाः** सुन्दरी स्वयं **जने**+**चित्** जनसमुदाय में से **मित्रम्** अपने मित्र, साथी, प्रेमी को **स्वयम्** अपने-आप **वनुते** चुन लेती है ।

व्याख्या—जीव-जगत् में स्वात्मसंरक्षण तथा वंशपरिचालन के भाव स्वभाव से विद्यमान हैं । कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, चींटी-कुञ्जर, नर-वानर सभी में यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है । कदाचित् वंश-चालन के लिए ही भगवान् ने शरीरों में स्त्री-पुरुष का भेद रखा है । वंश-चालन के लिए स्त्री-पुरुष का संयोग होता है । पशुओं में स्त्री में समयविशेष में एक विशेष भाव पैदा होता है, उस समय वह अपने सजातीय किसी पुमान् से समागम करती है । सन्तान होने तक उसकी यह वृत्ति शान्त रहती है । मनुष्य-जाति का भी यही निसर्ग है, किन्तु सभ्यता के अभिशाप से मनुष्य इस निसर्ग का उल्लंघन करता है । अस्तु ।

इसी स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने वर-वरण का अधिकार स्त्री को दिया है । पुरुष अपने कितने ही गुणों का कथन और प्रकाशन चाहे कितना ही क्यों न करें, किन्तु बहुधा वह स्त्री को नहीं रुचता, अतः जो इस प्रकार स्त्री के भावों का तिरस्कार करके विवाह करते हैं, उनके विवाह प्रायः असफल रहते हैं । विवाह की सफलता का साधन एक ही है कि स्त्री स्वयं अपना मित्र=साथी=जीवनसंगी पसन्द करे, चुने । इसी कारण वेद कहता है—**'भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्'**=वह वधू भली होती है जो सुन्दरी जन-समुदाय में से (अथवा जनन के निमित्त) मित्र को स्वयं चुन लेती है ।

ऋग्वेद [५।३७।३] में कहा है—

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम् ।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परि वर्तयाते ॥

पति की कामना करती हुई यह वधू आती है, जो इस उत्तम कुलप्रसूत, महा गुणवती, कमनीय से विवाह करता है, उसका गृहस्थाश्रमरूप रथ सब ओर कीर्तियुक्त और प्रसिद्ध होता है । दोनों पति-पत्नी मिलकर अनेकानेक शुभकर्म्मों का परिचालन करते हैं ।

इस मन्त्र में भी विवाहाभिलाषिणी कन्या द्वारा पति वरने की चर्चा है । इसी प्रकार ऋग्वेद [२।३५।४] में अन्यत्र भी है—**'तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः'**=ब्रह्मचर्य्य आदि व्रतों से शुद्ध, जल-समान शीतल स्वभाववाली युवती स्त्री गम्भीर मुद्रा धारण करके युवा पति को प्राप्त करती है । युवती स्त्री का युवा पुरुष से विवाह होना चाहिए ।

३३४. जब भगवान् को धारण करता था

ओ३म् । प्र मा युयुज्रे प्रयुजो जनानां वहामि स्म पूषणमन्तरेण ।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन् दुःशासुरागादिति घोष आसीत् ॥

—ऋ० १०।३३।१

शब्दार्थ—कभी **मा** मुझे भी **जनानाम्** लोगों की **प्रयुजः** उत्तम युक्तियाँ **प्र+युयुज्रे** प्रयुक्त करती थीं, चलाती थीं, प्रेरित करती थीं । जब **जनानाम्** ब्रह्माण्डों के **पूषणम्** पालक, मार्ग-प्रदर्शक को **अन्तरेण** अन्दर, हृदय से **वहामि स्म** मैं धारण करता था, **अध** तब **विश्वे** सम्पूर्ण **देवाः** विद्वान्, दिव्यगुण **माम्** मुझको **अरक्षन्** बचाते थे । तब **इति** ऐसा **घोषः** घोष, शोर **आसीत्** था कि **दुःशासुः** कठिनता से वश में होनेवाला **आगात्** आ गया है ।

व्याख्या—प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसी जन्म में अवश्य उत्तम गति का अनुभव कर चुका है । अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं, जो उत्तम अवस्था में रहकर फिर नीचे गिर जाते हैं । धनी निर्धन हो जाते हैं । प्रमाद के कारण तपस्वी तपोभ्रष्ट हो जाते हैं । **'अनभ्यासे विषं विद्या'**=अभ्यास न करने से विद्या भी विष हो जाती है, अर्थात् अनभ्यास के कारण ज्ञानी का ज्ञान लुप्त हो जाता है । कोई मनुष्य जो धनी से निर्धन बना है, प्रमाद के कारण तप के ऊँचे शिखर से नीचे गिरा है, ज्ञान खो बैठा है, वह अपनी पुरातन अवस्था को स्मरण करके रोता हुआ कहता है—**'प्र मा······आसीत् ।'** आह ! कैसी दयनीय दशा है ! संसार में कल जिनका घोष था, जिनका शासन चलता था, सभी विद्वान् जिनका मान करते थे, आज वह नगण्य अवस्था में हो गया है । परन्तु यह रुदन किसी संसारी जन का नहीं है, यह तो ईश-भक्त का है, जो कहता है—**'वहामि स्म पूषणमन्तरेण'**=मैं पालक परमेश्वर को हृदय में धारण करता था । मेरा पालक मेरे हृदय में था, अब उस सम्पत्ति को गँवा बैठा हूँ । जब प्रभु की भक्ति करता था, सब मान करते थे । अभिमान में आकर अब अपना मान गँवा बैठा हूँ ।

मेरी यह सारी महिमा और कीर्त्ति भगवद्भक्ति के कारण थी, उसको भुलाने से सब-कुछ नष्ट हो गया है । जो भगवान् को अपनाता नहीं वह कुछ भी पाता नहीं—**'न यस्य ते शवसान सख्यमानंश मर्त्यः । न किः शवांसि ते नशत्'** [ऋ० ८।६८।८]=बलियों के जीवनाधार ! जो मनुष्य तेरा सख्य नहीं प्राप्त करता, वह कभी तेरे बलों को नहीं पाता । भगवान् दुःशासु=अदाभ्य है । उसके संग से मैं भी अदाभ्य बन गया था । उसका संग छोड़, संसार का सङ्ग किया । संसार का रङ्ग चढ़ते मेरे भीतर से वह सारा बल निकल गया । अब मेरी पुनः इच्छा है कि—"मुझे भी लोगों की प्रेरणा करनेवाली युक्तियाँ प्राप्त हों, मैं पुनः प्रभु को अपने हृदय में धारण करूँ । सभी विद्वान् मेरी रक्षा करें, और संसार में एक शोर उठ खड़ा हो कि दुःशासु=अदाभ्य, वश में न होनेवाला आ गया है ।" सचमुच भगवान् को धारण करने से यह फल होता है—**'सो अस्त्वयं च सोमो हृदि यं बिभर्मि'** [ऋ० १०।३२।९]—जिसे मैं अपने हृदय में धारण करता हूँ, वह भगवान् मेरे लिए सोम=ऐश्वर्य्यदायक हो ।

३३५. गुरुकृत शिक्षा

ओ३म् । निधीयमानमपगूळ्हमप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच ।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम् ॥

—ऋ० १०।३२।६

शब्दार्थ—**अप्सु** प्रकृति की सूक्ष्म तन्मात्राओं में **निधीयमानम्** रखे जाते हुए **अपगूळ्हम्** अत्यन्त गूढ़ के विषय में **मे** मुझे **देवानाम्** देवों के **व्रतपाः** व्रतरक्षक ने **प्र+उवाच** उत्तम उपदेश किया है कि **इन्द्रः** विद्यैश्वर्य्यसम्पन्न गुरु **हि** ही **त्वा** तुझे **अनुचचक्ष** ठीक-ठीक बतलाएगा। हे **अग्ने** ज्ञानिन्! **तेन** उससे **अनुशिष्टः** शिक्षित होकर **अहम्** मैं **आ+अगाम्** आया हूँ।

व्याख्या—आत्मा क्या है? कहाँ है? यह जाननेवाले जन संसार में अत्यन्त थोड़े हैं, किन्तु जो जानते हैं, क्या वे अपने-आप जान गये? उन्हें भी किसी ने बताया ही है। जो विद्या किसी को सीखनी होती है, वह उस विद्या के आचार्य्य के पास जाता है। आचार्य्य जिज्ञासु की पात्रता की परीक्षा करके उसे यथायोग्य विद्या प्रदान करता है। आत्मविद्या का जिज्ञासु भी यदि ऐसे पूर्ण गुरु के पास जाए तो कुछ फल पाये। आत्मविद्या के आचार्य्य का लक्षण वेद ने बताया है कि वह **'देवानां व्रतपा'** होना चाहिए। देव=विद्याभिलाषी जिज्ञासु को भी कहते हैं। आचार्य्य ऐसा हो जो शिष्य के व्रत=पवित्र ब्रह्मचर्य्य, ब्रह्मजिज्ञासादि शुभ व्रतों की रक्षा करे। उपनयन कराते समय शिष्य आचार्य्य से प्रार्थना करता है—**'मम व्रते ते हृदयं दधामि'**=मैं अपने व्रत में आपका मन लगाता हूँ। शिष्य का व्रत पूरा ही तब होगा, जब गुरु का मन भी उसमें होगा। ऐसा व्रतपा गुरु ही सत्य और यथार्थ आत्मोपदेश कर सकता है—**'निधीयमानमपगूळहमप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच'** पञ्चतन्मात्राओं में अत्यन्त गूढ़ आत्मतत्त्व को देवों के 'व्रतपा' ने मुझे बताया है। वेद आत्मा का इशारा कर गया है। पञ्चतन्मात्र के बने हुए पञ्चभूतमय शरीर में आत्मा छिपा बैठा है। इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह ज्ञान साधारण जन नहीं दे सकता। यम ने कहा है—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात् ॥—कठो० १।२।८

अनेक प्रकार से विचारणीय यह आत्मतत्त्व ओछे मनुष्य के बताने पर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। ज्ञानी से भिन्न के बतलाने पर इसमें गति नहीं हो सकती। प्रमाणों=बाह्य साधनों से यह अचिन्त्य है। तपःसाधन से, शास्त्रविचार से आत्मा का कुछ आभास मिल जाता है, किन्तु ठीक-ठीक ज्ञान तो गुरु से ही मिलता है। जैसे प्राकृत पदार्थों के पर्य्यवेक्षण से आत्मज्ञान प्राप्त हुए सत्यकाम ने, गुरु के पूछने पर कहा था—**'अन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे। भगवाँ्स्त्वेव मे कामे ब्रूयात्। श्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति।'** [छां० ४।९।२-३] महाराज! मुझे मनुष्यों से भिन्न पदार्थों ने उपदेश किया है, किन्तु भगवान्=महाराज ही मेरी इच्छा के अनुसार उपदेश करें। मैंने आप-जैसे महात्मा पुरुषों से सुना है कि आचार्य्य से सीखी विद्या अभीष्ट फल प्राप्त कराती है।

श्वेताश्वतरजी [६।२३] ने तो गुरु की बड़ी महिमा कही है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

जिसकी भगवान् के समान गुरु में परा भक्ति है, उसी महात्मा को ये उपदिष्ट तत्त्व सूझते हैं।

गुरु का ज्ञानी होना आवश्यक है, जैसाकि वेद ने कहा—**'अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट्'** [ऋ० १०।३२।७]—अज्ञानी ज्ञानी से पूछता है।

जिस गुरु की कृपा से यह अमूल्य तत्त्व प्राप्त हुआ, उसका कीर्तन करना ही चाहिए, अन्यथा कृतघ्नता-दोष लगेगा।

३३६. आधिव्याधिभिः परीतोऽस्मि (विचारों के प्रहारों से सविकार हूँ)

ओ३म् । सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः ॥
ओ३म् । मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाऽधा पितेव नो भव ।

—ऋ० १०।३३।२-३

शब्दार्थ—**सपत्नीः**+**इव** सौकिनों के समान **पर्शवः** आत्मा को स्पर्श करनेवाले कुत्सित भाव **अभितः** सब ओर से **माम्** मुझे **सं**+**तपन्ति** बहुत तपा रहे हैं, सता रहे हैं। मुझे **अमतिः** अज्ञान **नि**+**बाधते** बहुत दुःख देता है । **नग्नता** नंगापन तथा **जसुः** हिंसा के भाव मुझको सता रहे हैं । **वेः**+**मतिः**+**न** पक्षी की मति के समान मेरी मति **वेवीयते** अत्यन्त चञ्चल हो रही है। **शतक्रतो** अनन्तक्रियाशक्तिसम्पन्न भगवन् ! **न** जिस प्रकार **मूषः** चूहे **शिश्नाः** माँड लगे सूत की तारों को खा जाते हैं, उसी प्रकार **मा** मुझ **ते** तेरे **स्तोतारम्** स्तोता को **आध्यः** आधियाँ, मानसिक चिन्ताएँ **वि**+**अदन्ति** खा रही हैं । हे **मघवन्** पूजित-धनवन् ! हे **इन्द्र** परमेश्वर ! **सकृत्** एक बार तो **नः** हमपर, **सु**+**मृळय** भली प्रकार दया कर । **अध** और **नः** हमपर, हमारे **पिता**+**इव** पिता की भाँति **भव** हो ।

व्याख्या—मनुष्य को मानसिक विचार किस प्रकार सताते हैं, इसका अतीव मनोहारी चित्र इन दो मन्त्रों में खींचा गया है । इनका मनन कीजिए और मन की अवस्था से इसकी तुलना कीजिए । इस मन्त्र में व्यंग्य से अनेक विवाह का निषेध किया गया है । मानसिक दुःख का मूल है अज्ञान, अतः वेद ने सबसे पूर्व **अमतिः**=अज्ञान का नाम लिया है । साधारण मनुष्य प्रत्यक्षवादी होता है, उसे अपने शरीर से परे कुछ नहीं सूझता, अतः **नग्नता**=नंगापन भी दुःखदायी है । हिंसा का भय, भूख-प्यास से मरने का भय भी उसे भीत करता रहता है । इन सब दुःखों के कारण उसकी मति ठिकाने नहीं रहती, भयभीत पक्षी की भाँति काँपती रहती है । दुःखी होकर भगवान् को उपालम्भ देता है कि **'व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं शतक्रतो'** =अनेकों के कार्य्य सँवारनेवाले ! मैं तेरा भक्त हूँ, फिर भी मुझे मानस-विचार सता रहे हैं, खाये जा रहे हैं । वेद में दूसरे स्थान पर भगवान् के प्रति इससे भी तीव्र उपालम्भ है—

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् । स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥
शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे । यदहं गोपतिः स्याम् ॥—ऋ० ८।१४।१-२

हे परमेश्वर ! यदि मैं तेरी भाँति सारे धन का अकेला ही स्वामी होता, तो मेरा स्तोता गोमित्र होता [अर्थात् उसे धनधान्य, ज्ञान की त्रुटि न रहती, इन्द्रियाँ उससे द्रोह न करतीं] । हे इन्द्र ! यदि मैं गोपति [पृथिवीपति, वाक्पति, ज्ञानपति] होता, तो मैं इस ज्ञानी, बुद्धिमान् को सिखाता, और देना चाहता । प्रभो ! तू कैसा है ? मैं तेरा भक्त और मानस विचारों से तथा भूख-प्यास से पीड़ित ! हा ! हन्त ! !

कितना मीठा उपालम्भ है ! कितनी गहरी वेदना है !

प्रभो ! बहुत हो चुकी—**'सकृत्सु मघवन्निन्द्र मृळय'**=एकबार ही भगवन् ! परमेश्वर ! कृपा कर। तू हमारा पिता है—**'पितेव नो भव'**=पिता की भाँति ही हो । क्या पिता पुत्र को बाधित, पीड़ित, त्रस्त देखकर शान्त रह सकता है ? प्रभो ! एक बार तेरी दया प्राप्त हो जाए, तो हमारा उद्धार हो जाए। दया कर—**'सकृत् सुमृळय'**, और **'पितेव नो भव'** और बस ।

३३७. सत्योपदेश मुझे प्रसन्न करे

ओ३म् । पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनं देवानां यन्मनुष्या३ अमन्महि ।
विश्वा इदुस्राः स्पळुदेति सूर्य्यः स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे ॥

—ऋ० १०।३५।८

शब्दार्थ—मा मुझको **ऋतस्य** ऋत का, सत्य का **तत्** वह **प्रवाचनम्** उपदेश **पिपर्तु** प्रसन्न करे, **देवानाम्** देवों के **यत्** जिस उपदेश को **मनुष्याः** हम मनुष्य **अमन्महि** मनन करते हैं । **विश्वाः** सम्पूर्ण **इत्** ही **उस्राः** किरणों को **स्पळ्** स्पष्ट करता हुआ, प्रकाशित करता हुआ **सूर्य्यः** सूर्य्यसमान विद्वान् **उदेति** उदय हो रहा है, उन्नति कर रहा है, बढ़ रहा है । हम **समिधानम्** उत्तमता से प्रकाश करनेहारे **अग्निम्** अग्नि को **स्वस्ति** सुखपूर्वक **ईमहे** चाहते हैं ।

व्याख्या—सत्य का कहना बहुत कठिन है, सुनना उससे भी कठिन है । सत्य को सुनकर उसे पसन्द करना तो और भी विकट है किन्तु सत्य से बढ़कर मनुष्य का हितकारी और कोई पदार्थ नहीं । कोई भाग्यवान् ही यह कहने का साहस कर सकता है कि **'पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनम्'**=ऋत का वह प्रसिद्ध उपदेश मुझे प्यारा लगे । जिसे ऋत का उपदेश [वेद] प्यारा लगता है, वह पुकारकर कहता है, नम्रता से प्रार्थना करता है—**'अग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः काव्यैः'** [ऋ० १०।१५।६]—हे ज्ञानी ! सुप्रसिद्ध सत्य उपदेशों के साथ तू हमारे सामने आ । ऋत का अनुसरण जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है—**'परिचिन्मर्त्तो द्रविणं ममन्यादृतस्य पथा नमसा विवासेत्'** [ऋ० १०।३१।२]—यदि मनुष्य धन चाहे तो नम्रता से, ऋत के मार्ग से परिचर्या करे ।

जो इस तत्त्व को जानता है, उसे सत्योपदेश अवश्य मीठा लगता है । जिसे सत्योपदेश प्रिय लगता है, वह विद्वानों से प्रार्थना करता है—**'तन्नो देवो यच्छत सुप्रवाचनं छर्दिरादित्याः सुभरं नृपाय्यम् ।'** [ऋ० १०।३५।१२]—हे देवो ! निर्दोष विद्वानो ! हमें वह उत्तम उपदेश दीजिए, जो दोषनाशक, तथा उत्तमपोषक मनुष्यहितकारी है । उपदेश विद्वानों का होना चाहिए और उसका मनन भी करना चाहिए—**'देवानां यन्मनुष्या अमन्महि'**=हम मनुष्य देवों के, विद्वानों के उपदेश का मनन करें ।

मनन से उपदेश की सत्यता का निश्चय होता है, अतः वेदों, उपनिषदों, धर्म्मशास्त्रों, दर्शनों आदि वैदिक साहित्य के मान्य ग्रन्थों में मनन का बहुत विधान है । जैसे सूर्य्य अपनी किरणें खोल देता है, ऐसे ही विद्वान् अपनी ज्ञानमयी किरणें सबके सामने खोल देता है, अतएव आदित्यसमान विद्वानों को सभी बुलाते और उनसे लाभ उठाते हैं—**'त आदित्या आगता सर्वतातये वृधे नो यज्ञमवता सजोषसः'** [ऋ० १०।३५।११]—हे आदित्यो ! सब-कुछ देने के लिए आओ ! प्रसन्न होकर हमारी वृद्धि के हेतुभूत यज्ञ की रक्षा कीजिए । विद्वान् ही यज्ञरक्षा के साधन बता सकते हैं । यज्ञ=विद्वत्सङ्ग की रक्षा का उपाय विद्वान् ही बताएगा । ऋतज्ञान, ऋताचरण करते हुए—**'महो देवाय तदृतं सपर्यत'** उस महान् ऋत को भगवान् की पूजा में लगा दो । उपदेश के बिना ऋतज्ञान हो नहीं सकता । ऋतज्ञान के बिना उसे भगवान् के अर्पण कैसे करेंगे ?

३३८. सत्योक्ति मेरी रक्षा करे

ओ३म् । सा मा॑ स॒त्योक्ति॒ः परि॑ पातु वि॒श्वतो॒ द्यावा॑ च यत्र॑ त॒तन॒न्नहा॑नि च ।
विश्व॑म॒न्यन्नि वि॑शते॒ यदेज॑ति वि॒श्वाहापो॑ वि॒श्वाहोदे॑ति॒ सूर्य॑ः ॥

—ऋ० १०।३७।२

शब्दार्थ—सा वह **सत्या** सच्ची **उक्तिः** उक्ति, बात **मा** मुझको **परि-पातु** सब ओर से बचाये, **यत्र** जिसके आश्रय में **द्यावा च अहानि** रात और दिन, अथवा प्रकाशमय दिन **विश्वतः** सब ओर **ततनन्** विस्तृत होते हैं, और **विश्वम्** यह संसार **अन्यम्** दूसरे **में नि विशते** निविष्ट होता है [प्रलयकाल में संसार, प्रकृति का विकार जगदाधार में सन्निविष्ट हो जाता है], **यत्** और जिसके उत्थान में वह **एजति** गति करता है, और उसी प्रकार **विश्वाहा** सब दिन **आपः** जल चलते हैं, और **सूर्य्यः** सूर्य्य **विश्वाहा** सब दिन **उदेति** उदय होता है।

व्याख्या—इस मन्त्र में सत्यकथन की महिमा कही गई है । वेद कहता है कि दिन-रात, जीव-जड़, जल-आग आदि समस्त जड़-चेतन जगत् सत्य के आश्रय पर है । इस वचन में लेशमात्र भी अत्युक्ति नहीं है । सत्य का अर्थ है तीनों कालों में एकसमान रहनेवाला । भगवान् के नियम सत्य हैं, तीनों कालों में एक-से हैं । भगवान् के इन नियमों की सत्यता ही विज्ञान की आन है । वैज्ञानिक तत्त्व की खोज में लगे हुए ज्ञानी सृष्टिनियमों की इस एकरसता के बल पर ही नित्य नये-नये आविष्कार करने में सफल होते हैं और मनुष्य-समाज की सुखसमृद्धि में वृद्धि करते हैं। यदि सृष्टि के नियम एकरस न होते, आज कुछ और कल कुछ होते तो कोई आविष्कार न किया जा सकता, अतः वेद का यह कथन कि, सारा संसार सत्य के आधार पर है, सर्वदा सत्य है। वेद बहुत स्पष्ट कहता है **'सत्येनोत्तभिता भूमिः'**=भूमि सत्य ने थाम रखी है । **'ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति'**=ऋत के सहारे आदित्य रहते हैं, अतः जीवन के लिए ऋतज्ञान अत्यन्त प्रयोजनीय है । तभी तो वेद में जिज्ञासा है—**'कदृतं कदनृतम्'**=ऋत कैसा है, और अनृत कैसा है ? संसार सत्य के आधार पर है, अतः वेद कहता है—**'सत्यामाशिषं कृणुत'** [ऋ० १०।६७।११]=इच्छा भी सच्ची करो । मिथ्या इच्छा करने से हानि के सिवा कोई भी लाभ नहीं है । इस मन्त्र का एक भाव और भी है—वह प्रसिद्ध सत्योक्ति=वेदवाणी मेरी रक्षा करे जिससे सूर्य्य, दिन-रात, जड़-चेतन, जल आदि जगत् का ज्ञान होता है। वेद का प्रयोजन मनुष्य को यथार्थ ज्ञान देना है। यथार्थ ज्ञान सबसे बड़ा रक्षक है । यथार्थ ज्ञान देना ही रक्षा करना है । जो वेदाभ्यास करेगा, इस सत्य वचन का मनन-चिन्तन करेगा, उसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा ।

३३९. सुकर्म्मा नर

ओ३म् । एते नरः स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः ।
वामंवामं वो दिव्याय धाम्ने वसुवसु वः पार्थिवाय सुन्वते ॥

—ऋ० १०।७६।८

शब्दार्थ—**नरः** हे नेतृत्वगुणयुक्त मनुष्यो ! **एते** ये तुम **स्वपसः** सुकर्म्मा **अभूतन** होते हो, **ये** जो तुम **अद्रयः** पर्वत की भाँति निश्चलमति होकर **इन्द्राय** ऐश्वर्य्य के लिए **सोमम्** सोम को **सुनुथ** कूटते हो । **वः** अपने **दिव्याय** दिव्य **धाम्ने** धाम=जन्म के लिए **वामंवामम्** सुन्दर-सुन्दर पदार्थ [अर्पण करो], क्योंकि **पार्थिवाय** पार्थिव उद्देश्य के लिए **वः** तुममें से **सुन्वते** सवन=यज्ञ करनेवाले के लिए **वसुवसु** धन ही धन है ।

व्याख्या—वेद में उपदेश है—'**एते सोमासः**······**इन्द्रं वर्धन्ति कर्म्मभिः**' [ऋ० ९।४६।३]=ये सोम कर्म्मों द्वारा ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं अर्थात् कर्म्म करने से ऐश्वर्य्य की वृद्धि होती है । कर्म्म का महत्त्व स्पष्ट है । ऐश्वर्य्य-वृद्धि के लिए जो भी मनुष्य कर्म्म करता है, वेद की दृष्टि में वह सुकर्म्मा है । तभी तो कहा है—'**एते नरः स्वपसो अभूतन् य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः**'=ये तुम सुकर्म्मा हो, जो इन्द्र के लिए सोम का सवन करते हो ।

नित्य, नैमित्तिक और काम्य-भेद से कर्म्मों के तीन भेद हैं । जैसे शौच-भोजनादि शारीरिक नित्य कर्म्म हैं, इनके न करने से शरीर रोगी हो जाता है, ऐसे ही सन्ध्यावन्दनादि आत्मिक नित्य कर्म्म हैं, उनके न करने से आत्मा की हानि होती है । जैसे शरीर के रुग्ण होने पर औषधोपचार किया जाता है, न करने पर शरीर के अधिक रोगी होने की सम्भावना रहती है, इसी प्रकार आत्मा के संस्कार के लिए अथवा किसी अनिष्टदोष के प्रति-विघात के लिए जो कर्म्म किये जाते हैं, वे नैमित्तिक कर्म्म हैं । किसी लक्ष्यविशेष की सिद्धि के लिए किये जानेवाले कर्म्मों को नैमित्तिक कहते हैं । जैसे कोई विद्वान् बनना चाहता है, कोई महाराजा बनना चाहता है, कोई लक्षाधिपति, कोट्यधीश बनना चाहता है—इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रत्येक को कर्म्म करने पड़ते हैं । विद्या ऐश्वर्य्य है, राज्य ऐश्वर्य्य है, धन ऐश्वर्य्य है । इस प्रकार ऐश्वर्य्य के नाना प्रकार हैं । उन ऐश्वर्य्यों की सिद्धि के लिए विविध कर्म्म करने पड़ते हैं । उनके लिए कुछ परिश्रम—किसी में न्यून और किसी में अधिक करना पड़ता है । वेद में कहा है—'**सोमं हिनोत महते धनाय**' [ऋ० ९।९७।४]—महान् ऐश्वर्य्य के लिए सोम को प्रेरणा करो । वेद और ब्राह्मणों में सोम को ओषधियों का राजा कहा है अर्थात् सोम वनस्पति पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है । इस सर्वश्रेष्ठ का सवन=यज्ञार्थ त्याग करना कितना श्रेष्ठ कर्म्म है !

उत्तरार्ध में कह ही दिया कि—'**वामंवामं वो दिव्याय धाम्ने**' दिव्य जन्म के लिए सुन्दर-सुन्दर पदार्थों से यज्ञ करना होगा । जितनी बड़ी कामना, उतना बड़ा त्याग—तब होगा पूर्ण याग ।

३४०. सूर्य्य किसी और प्रकाश से प्रकाशित होता है

ओ३म् । न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरै रथर्यसि ।
प्राचीनमन्यदनु वर्त्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य ॥

—ऋ० १०।३७।३

शब्दार्थ—हे **सूर्य्य** सूर्य्य ! **यत्** जब तू **पतरैः** गतिशील **एतशेभिः** किरणों द्वारा **रथर्यसि** रथारूढ़ की भाँति व्यवहार करता है, तब **ते** तेरा **प्रदिवः** प्रकाश्य कोई भी **अदेवः** प्रकाशरहित **न** नहीं **निवासते** रह पाता। **रजः** लोक **अन्यत्** अपने से भिन्न **प्राचीनम्** पुरातन [तेज] का **अनु+वर्तते** अनुवर्त्तन करता है। **अन्येन** दूसरे **ज्योतिषा** प्रकाश से तू **उद्+यासि** उदय होता है।

व्याख्या—जब सूर्य्य उदय होता है, सूर्य्य का सम्मुखस्थ कोई भी पदार्थ प्रकाशरहित नहीं रह पाता। पर्वत, वन, अरण्य सभी उद्भासित और आलोकित हो उठते हैं। सूर्य्य प्राकृत जन को पूर्व से उदय होकर पश्चिम में अस्त होता दीखता है, अतः उसे रथारूढ़ के समान व्यवहार करनेवाला कहा गया है। "संसार किसी दूसरे पुराने मार्ग का अनुसरण कर रहा है, तू किसी दूसरे प्रकाश से उदय होता है।" यह उत्तरार्ध सूचित करता है कि यह मन्त्र अन्योक्ति है। सूर्य्य के व्याज से आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश किया गया है।

आत्मारूपी सूर्य्य पतर=पतनशील घोड़ों=इन्द्रियों के साथ रथारूढ़ हुआ है। वेदादि शास्त्रों में अनेक स्थानों पर शरीर को आत्मा का रथ कहा गया है। आत्मा को लक्ष्य करके कहा गया है—**'प्राचीन-मन्यदनुवर्तते रजः उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य'**=संसार तो किसी दूसरे पुरातन व्यवहार का अनुवर्त्तन करता है; किन्तु हे सूर्य्य ! तेरा उदय किसी अन्य ज्योति से होता है। **'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः'**=संसार तो गतानुगतिक है, लोक सत्य का अनुगामी नहीं है। विचारे बिना एक के पीछे दूसरे के चलने को गतानुगतिक कहते हैं। संसार में गड्डरिका-प्रवाह=भेड़ियाधसान प्रधान है। विरले वीर यथार्थ का ज्ञान करते हैं।

शरीर में आत्मा के प्रवेश करते ही सभी प्रकाशित होने लगते हैं। आँख, नाक, कान आदि सभी देव बन जाते हैं। इससे आत्मा में अभिमान का प्रवेश होने की सम्भावना है। इसलिए उसे सावधान करते हुए वेद कहता है—**'उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य्य'**=सूर्य्य ! तू किसी अन्य प्रकाश से उदय होता है, उन्नत होता है अर्थात् आत्मन् ! तुझमें जो प्रकाश है, तुझे जो उत्तरोत्तर उन्नत कर रहा है, वह तेरा नहीं; किसी और का है। उसकी खोज कर। उस परम ज्योति का पता लगा, जिससे तू उद्भासित होता है, और जिससे बाह्य सूर्य्य आलोकित है।

३४१. अजन्मा प्रजापति

ओ३म् । प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।

—य० ३१।१९

शब्दार्थ—**प्रजापतिः** प्रजापति=समस्त सृष्टि का पालक भगवान् **गर्भे**+**अन्तः** गर्भ में, प्रकृति में, संसार में **चरति** विद्यमान है । वह **अजायमानः** जन्म न लेता हुआ **बहुधा** अनेक प्रकार से **विजायते** प्रकट होता है, प्रकाशित होता है । **धीराः** ध्यानीजन ही **तस्य** उसके **योनिम्** ठिकाने को **परिपश्यन्ति** सर्वत्र देखते हैं और **तस्मिन्** उसमें ह ही **विश्वा** सब **भुवनानि** लोक **तस्थुः** ठहरे हैं ।

व्याख्या—संसार का उत्पन्न करनेवाला कहाँ रहता है, उसके स्थान का अनुसन्धान हो रहा है । कोई उसे कहीं बताता है और कोई कहीं । वेद कहता है—**'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः'**=प्रजापति गर्भ के भीतर रहता है अर्थात् वह प्रत्येक पदार्थ के अन्तस्तल में विराजमान है । कहीं यह भ्रम न हो जाए कि जब वह गर्भ में विचरता है तो किसी दिन जन्म भी लेगा, इसका उत्तर दिया है—**'अजायमानः'**=जन्म न लेता हुआ । तब उसका ज्ञान मनुष्य को कैसे हो, इसका समाधान करने के लिए कहा—**'बहुधा विजायते'**=नानाप्रकार से यह प्रकट होता है । नित्य-नूतन सृष्टि का सर्जन, नित्य संहार, नित्य पालन, विचित्र उपायों से रक्षण भगवान् की सत्ता के प्रमाण हैं ।

प्रकृतजन कहता है, हमें झमेले में मत डालो, हमें उसका ठिकाना बताओ, हम उससे मिलना चाहते हैं । इसके उत्तर में कहा—**'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः'**=ध्यानीजन उसका ठिकाना सर्वत्र देखते हैं अर्थात् भगवान् ध्यानगम्य है । आँख, नाक, कान, उसको नहीं देख पाते । ध्यान से उसके स्थान का सर्वत्र भान होता है अर्थात् वह किसी स्थान-विशेष में नहीं रहता, प्रत्युत सब जगह रहता है । सन्ध्या में नित्य पढ़ते ही हैं—**'आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**=स्थावर-जंगम का आत्मा, सबका गतिदाता भगवान् त्रिलोकी में भरपूर समा रहा है । केवल इतना ही नहीं कि वह सबमें समा रहा है, वरन्—**'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'**=उसमें सब भुवन स्थित हैं । यजुर्वेद [३२।४] में पुरुष=व्यापक भगवान् के सम्बन्ध में क्या ही सुन्दर कहा है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।।

यह भगवान् सब दिशाओं-विदिशाओं में विराजमान है, वह सबसे पूर्व विद्यमान था, वह गहराइयों में है । वह प्रसिद्ध था, है और होगा । प्रत्येक पदार्थ में रहता हुआ वह सर्वतोमुख है अर्थात् कोई स्थान ऐसा नहीं, जहाँ भगवान् नहीं । कोई काल ऐसा नहीं, जब भगवान् न हो; सब स्थानों और सब कालों में रहनेवाला एक स्थान या काल के बन्धन में कैसे आये !

३४२. प्रभु के अनेक नाम

ओ३म् । तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ —य० ३२।१

शब्दार्थ—**तत्+एव** वही **अग्निः** अग्नि, **तत्** वही **आदित्यः** आदित्य **तत्** वही **वायुः** वायु, **तत्+उ** वही **चन्द्रमाः** चन्द्रमा है । **तत्+एव** वही **शुक्रम्** शुक्र **तद्** वही **ब्रह्म** ब्रह्म, **ताः** वही **आपः** आपः, और **सः** वही **प्रजापतिः** प्रजापति है ।

व्याख्या—भगवान् को वेद में **पुरुणामन्**=अनेक नामोंवाला कहा गया है । इस मन्त्र में कुछ-एक नामों का उल्लेख है । इससे पूर्व यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय में भगवान् का पुरुष=व्यापक-रूप में वर्णन किया गया है । वहीं (३१।१९ में) उसे प्रजापति कहा गया है । इस मन्त्र के अन्त में **'स प्रजापतिः'** कहा गया है । इसका भाव यह निकला कि प्रजापति पुरुष ही अग्नि=अग्नि नामवाला है, उसी का नाम आदित्य है, उसी को वायु और उसी को चन्द्रमा कहते हैं; शुक्र, ब्रह्म और आपः भी उसी के नाम हैं । भगवान् के अनन्त गुण-कर्म्म हैं अतएव उसके नाम भी अनन्त हैं । जैसे एक मनुष्य किसी का पुत्र होने से पुत्र, भाई होने से भाई, पिता होने से पिता, जमाता होने से जमाता आदि नामों से पुकारा जाता है, ऐसे ही सबकी उन्नति करनेवाला होने से वह अग्नि है; अखण्डनीय होने से वह आदित्य है । सबसे बलवान् और सबका गतिदाता होने से वह वायु है । सबके आह्लाद का कारण होने से वह चन्द्रमा है । शीघ्रकारी तथा शुद्धि-कर्त्ता होने से वही शुक्र है । सबसे महान् होने के कारण वह ब्रह्म है । सर्वत्र व्याप्त होने के कारण वह 'आपः' है । सब प्रजाओं का पालक होने से वह प्रजापति है । इस प्रकार विचारने से प्रतीत होता है कि ये सब नाम अन्वर्थ हैं, लौकिक नामों की भाँति निरर्थक नहीं हैं । सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास में लिखा भी है—"तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे लोक में दरिद्री के धनपति आदि नाम होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं ।"

ऋग्वेद [१।१६४।४६] में परमेश्वर के अनेक नाम होने का स्पष्ट उल्लेख है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

सर्वाग्रणी भगवान् को इन्द्र, मित्र और वरुण कहते हैं, वही दिव्य, सुपर्ण और गरुत्मान् है । उस अद्वितीय सत्स्वरूप को विद्वान् बहुत तरह कहते हैं । उसी को अग्नि, यम, और मातरिश्वा कहते हैं ।

सर्ववेदवित् मनुजी [१२।१२२-२३] भी यही कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

सबको शिक्षा देनेवाला, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, प्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य परमेश्वर को परम पुरुष जानना चाहिए । कई इसे अग्नि कहते हैं, कई मनु और कई प्रजापति । कुछ लोग प्राण, कुछ इन्द्र और दूसरे उसे शाश्वत ब्रह्म कहते हैं ।

भगवान् के अनेक नाम होने में कोई मतभेद नहीं । सभी मानते हैं कि भगवान् के अनेक नाम हैं ।

३४३. सकल संसार के निरीक्षण का फल

ओ३म् । परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ —य० ३२।११

शब्दार्थ—भूतानि सब भूतों को **परीत्य** सब ओर से जानकर **लोकान्** लोकों को **परीत्य** पूर्णरूप से जानकर **सर्वाः** सब **दिशः** दिशाओं **च** और **प्रदिशः** प्रदिशाओं को **परीत्य** सर्वत्र जानकर **ऋतस्य** ऋत के **प्रथमजाम्** प्रथमोत्पादक को **उपस्थाय** पूजकर **आत्मना** आत्मा से **आत्मानम्** परमात्मा में मैं **अभि+सं+विवेश** सब ओर से संविष्ट हुआ हूँ ।

व्याख्या—यजुर्वेद का इकत्तीसवाँ तथा बत्तीसवाँ—दोनों अध्याय पुरुषमेधयज्ञ-विषयक हैं । पुरुषमेध यज्ञ का अर्थ है पुरुष=व्यापक परमात्मा से मिलने की विधि । भगवान् से मिलने के लिए भक्त ने भूतों को जांचा । भगवान् के बिना भूत अपना कार्य्य करने में असफल थे । सभी लोकों, दिग्देशों, दिशाओं-विदिशाओं की जाँच करके परमात्मा की पूजा कर उसमें तन्मय होने लगा । मुण्डक ऋषि ने इस मन्त्र के एक अंश का भाव हृदय में रखकर कहा है—**'परीक्ष्य लोकान् कर्म्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ॥'** [१।२।१२]—कर्म्म से संगृहीत लोकों=कर्म्मफल देनेवाले सामानों की परीक्षा करके ब्राह्मण को=ब्रह्मज्ञानी को निर्वेद=दुःख होता है कि नश्वर पदार्थ से वह अविनश्वर नहीं मिल सकता । मन्त्र में परमात्मा के दर्शन का सोपान बताया गया है । भगवान् के जानने के लिए इन सबको जानना होगा । भगवान् व्यापक है । किनमें व्यापक है ? सर्वत्र उनकी जाँच किये बिना भगवान् के व्यापकत्व का बोध असम्भव है, अतः सम्पूर्ण लोकों की परीक्षा करनी होगी ।

मन्त्र का अन्तिम चरण **'आत्मनात्मानमभि संविवेश'** [आत्मा के द्वारा परमात्मा में सब ओर संविष्ट होता है ।] बतलाता है कि परमात्मा आँख, नाक आदि भौतिक करणों से नहीं जाना जा सकता । वह आत्मैकसंवेद्य है, केवल आत्मा के द्वारा ही इसका बोध हो सकता है । तलवकार ऋषि ने बहुत सुन्दर शब्दों में परमात्मा की वाङ्मनस-अगोचरता सुलझाई है—**'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् । अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥'**—वहाँ न आँख की पहुँच है, न वाणी की, न मन की । बाह्य इन्द्रियों से उसे हम नहीं जानते और न अन्तःकरण से जानते हैं । उसके समझाने के लिए इतना ही कहा जाए कि वह ज्ञात पदार्थों से भिन्न है, और अज्ञात से भी अधिक है ।

चक्षु ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है, और वाक् कर्म्मेन्द्रियों का । मन तो अनुव्यवसायी है; जो इन्द्रियाँ बताती हैं, उसे आत्मा तक पहुँचाता है । मन और इन्द्रियों की पहुँच भौतिक पदार्थों तक है । वह इनसे सचमुच भिन्न है । वाङ्मनस-अगोचर परमेश्वर को जानने के लिए आत्मा रह जाता है । वह जब स्वयं, इन करणों की सहायता के बिना, समाधि द्वारा, सब इन्द्रियों की वृत्तियों को रोककर उसे देखना चाहता है, तब उसको साक्षात् होता है, और उसे प्रतीत होता है कि परमात्मा उसके अन्दर-बाहर सब ओर है ।

३४४. दो विरूप मिलकर बच्चे का पालन करते हैं

ओ३म् । द्वे विरूपे चरतः स्वर्थेऽअन्यान्या वत्समुप धापयेते ।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो ऽअन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥

—य० ३३।५

शब्दार्थ—**द्वे** दो **विरूपे** विरूप, किन्तु **स्वर्थे** उत्तम प्रयोजनवाली **चरतः** विचरती है, **अन्यान्या** परस्पर मिलकर **वत्सम्** बच्चे को **उप+धापयेते** समीप होकर दूध पिला रही है, **अन्यस्याम्** दूसरे के निमित्त से **स्वधावान्** जीवनशक्ति पाकर **हरिः** हरि **भवति** बनाता है, **अन्यस्याम्** दूसरे के निमित्त से **सुवर्चाः** उत्तम तेजस्वी होकर **शुक्रः** शुद्ध और शोधक **ददृशे** दीखता है।

व्याख्या—प्रकृति और पुरुष दोनों परस्पर विरूप हैं। पुरुष=परमेश्वर अपरिणामी, अविकारी, कूटस्थ, सर्वज्ञ है। प्रकृति परिणामिनी, विकारिणी, अचेतन है। दोनों में इतना अन्तर=विरूपता होने पर भी एक बात में दोनों समान हैं। जीवरूप वत्स की दोनों पालना करते हैं। जीव का भोगाधिष्ठान=शरीर, भोग के साधन=इन्द्रियाँ, तथा भोग की सामग्री=इन्द्रियों के विषय—ये सभी प्रकृति की देन हैं। निस्सन्देह भोग की लालसा आत्मा में है, किन्तु उस लालसा की पूर्ति प्रकृति से होती है। प्रकृति के सहयोग के बिना जीव संसार का एक भी कार्य्य नहीं कर सकता। जीव के सामने दो लक्ष्य हैं, एक भोग दूसरा मोक्ष। भोग प्रकृति से ही मिलता है। भोग का देना दूध पिलाना है। जीव का भोगाधिष्ठान, जीव के भोग-साधन तथा उनकी भोग-सामग्री निस्सन्देह प्रकृति से बनती है, किन्तु कौन बनाता है? यदि परमात्मा जीव के कर्म्मों के फलस्वरूप यह सब सामान न दे तो इसे भोगप्राप्ति ही न हो। अतः लौकिक भोग जहाँ प्रकृति से मिलता है, वहाँ परमात्मा उसका प्रधान कारण है। इसलिए वेद ठीक कहता है—**'द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते।'**

जीव का दूसरा लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति में प्रकृति तथा परमात्मा दोनों की सहायता जीव को लेनी पड़ती है। मानवदेह को मुनिजन मोक्षद्वार मानते हैं। मानव है ही प्रकृति का बना। प्रकृति निरानन्द है, इसके संसर्ग से आनन्द की आशा बालू में से तेल निकालने के समान है। आनन्द परमानन्द, सच्चिदानन्द के साथ सख्य स्थापित करने से मिलता है। सर्वदुःखत्यागपूर्वक ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। दो का दूध जीव यद्यपि युगपत् पी रहा है, तथापि एक समय में दोनों में से किसी एक के साथ ही वह अपनी घनिष्ठता रखता है। जब प्रकृति के साथ उसकी घनिष्ठता होती है तब **'हरिरन्यास्यां भवति स्वधावान्'**=यह स्वधावान्=प्रकृतिवाला होने से हरि=विषयों से ह्रियमाण हो रहा है—कभी इसे आँख रूप की ओर खींचती है, कभी कान शब्द के लिए इसके कान ऐंठता है, कभी नाक गन्ध के गन्द की ओर ले-जाती है, कभी रसना इसे रस का रसिया बना देती है। इस प्रकार प्रकृति के वश में होकर, केवल प्रकृति का दूध पीकर विषयों के विषम-विष से विद्ध हो जाता है। जब प्रकृति से विरत होकर, उसकी पोल जानकर परमात्मा की ओर झुकता है तब—**'शुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः'**=परमात्मा के संग से यह सुवर्चाः=उत्तम तेजस्वी होकर शुक्र हो जाता है। भगवान् के 'भर्गः' को धारण करने से इसके सब मल जल गये हैं। मल के हट जाने से अब यह सुदीप्त हो उठा है। अब यह केवल स्वयं ही शुद्ध नहीं है, वरन् दूसरों को भी शुद्ध कर सकता है और करता है।

३४५. सब देव अग्नि की सेवा करते हैं

ओ३म् । त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ।। —य० ३३।७

शब्दार्थ—**त्रीणि** तीन **शता** सौ **त्री** तीन **सहस्राणि** हजार **च** और **त्रिंशत्** तीस **च** और **नव** नौ **देवाः** देव **अग्निम्** अग्नि की **असपर्यन्** परिचर्य्या करते हैं । वे **घृतैः** घृतों से **औक्षन्** सींचते हैं, **अस्मै** इसके लिए **बर्हिः** आसन **अस्तृणन्** बिछाते हैं, **आत्** इसके बाद **इत्** ही **होतारम्** होता को **नि+असादयन्त** बिठाते हैं ।

व्याख्या—माता जिस तरह अनेक प्रकार से अपनी सन्तान को रिझाती और अपनी बात मनवाती है, [क्योंकि वह इसी में अपने बालक का कल्याण मानती है,] ठीक इसी भाँति जगदम्बा अपने जीव-वत्स को नाना प्रकार से समझाती और सत्पथ पर, कल्याणमार्ग पर लाती है । इस मन्त्र में देवसेना किस प्रकार जीव का मङ्गल साधती है, इस बात का वर्णन है । संसार में प्रकृति की कितनी शक्तियाँ कार्य्य कर रही हैं, इसे कौन गिन सकता है ? इन सबका उद्देश्य **'अग्निं असपर्यन्'**=अग्नि की सेवा करना है । अग्निहोत्र हो रहा है । आग जलाई जा चुकी है । घी उसमें डाला जा रहा है । आसन बिछाया गया है और होता को उसपर लाके बिठाया गया है ।

राजा जनक की सभा में पण्डितों का शास्त्रार्थ छिड़ गया है । एक ओर याज्ञवल्क्य है और दूसरी ओर राजसभा के सब ज्ञानी । उनमें विदग्ध शाकल नामक विद्वान् ने याज्ञवल्क्य से पूछा, देव कितने हैं ? उसने उत्तर दिया—**'यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते—त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा'** [बृ० ३।९।१]=वैश्वदेव की निवित् में जितने कहे गये हैं—अर्थात् तीन, तीन सौ···तीन हजार । यजुर्वेद के तेंतीसवें अध्याय के आरम्भ के मन्त्र याज्ञिकों के मत से 'विश्वदेव' देवों की निवित् हैं । दो-चार और प्रश्न करके विदग्ध महाराज फिर पूछते हैं—**'कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा'** इति='वे तीन, तीन सौ···तीन हजार देव कौन-से हैं ?' याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—**'महिमान एवैतेषामेते, त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः'**—ये 'तीन हजार······' आदि तो इनकी बड़ाई है, देव तो तैंतीस ही हैं । तैंतीस कहो या तीन हजार कहो, ये सब **'अग्निं असपर्यन्'** अग्नि=जीव की पूजा करते हैं ।

पूजा का प्रकार बताते हैं—(१) **'औक्षन् घृतैः'**=घृतों से सींचते हैं । अग्नि घृत में प्रदीप्त होती है तो अग्नि का अग्नित्व बना रहता है । ये देव जीव को भोगसामग्री देते हैं जिससे इसका भोक्तृत्व अक्षुण्ण बना रहता है । (२) **'अस्तृणन् बर्हिरस्मै'**=इसके लिए आसन बिछाते हैं । आग के लिए आसन नहीं बिछाया जाता । होता-अध्वर्यु आदि ऋत्विजों के लिए आसन बिछाया जाता है । इसी एक वाक्य ने 'अग्नि' को भौतिक न रहने देकर चेतन बना दिया है । आसन बैठने के लिए होता है । जीव भी शरीर में आकर बैठा है अर्थात् जीव के बैठने का स्थान=भोगाधिष्ठान को ये देव ही बनाते हैं और (३) **'आदिद्धोतारं न्यसादयन्त'**=इसके बाद होता=भोक्ता को इसमें बिठाते हैं । सार यह कि सृष्टि के सारे पदार्थ आत्मा के लिए हैं, न कि आत्मा इनके लिए है ।

३४६. सरस्वती को जानेवाली पाँच नदियाँ

ओ३म् । पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः ।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित् ॥ —य० ३४।११

शब्दार्थ—सस्रोतसः स्रोतोंसहित **पञ्च** पाँच **नद्यः** नदियाँ **सरस्वतीम्** सरस्वती को **अपि** भी **यन्ति** जाती हैं । **सा+उ** वही **सरस्वती** सरस्वती **तु** भी **देशे** देश में **पञ्चधा** पाँच प्रकार की **सरित्** नदी **अभवत्** हो गई है ।

व्याख्या—यह किसी भौतिक नदी का वर्णन नहीं है । भौतिक नदी का वर्णन होता तो मन्त्र में **'सस्रोतसः'** पद न होता, केवल **'पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति'** [पाँच नदियाँ सरस्वती को जा रही हैं] इतना ही होता । यहाँ 'सरस्वती'-सरित्=सरस्वती नदी से अभिप्राय आत्मा है । पाँच नदियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उनके स्रोत उनके विषय हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषय-प्रवाहों के साथ आत्मा को प्राप्त हो रही हैं । तात्पर्य यह है कि आँख-नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों का अपना कोई प्रयोजन नहीं है । आत्मा को रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध का ज्ञान कराना इनका एकमात्र प्रयोजन है । दूसरे शब्दों में आत्मा के ये सहायक या करण हैं । प्रवाहों के साथ=विषयों के साथ ये आत्मा को प्राप्त होती हैं अर्थात् आत्मा इन विषयों को ग्रहण करता है । दूसरे शब्दों में आत्मा इनका भोक्ता है । आत्मा को 'सरस्वती' कहने का विशेष प्रयोजन है । 'सरस्वती' शब्द का अर्थ है प्रवाहवाली । शरीर आदि आते-जाते रहते हैं किन्तु आत्मा का प्रवाह बना रहता है । प्रवाह कभी स्वच्छ होता है कभी मलिन । कभी आत्मा में अज्ञान के कारण पापवासनाओं का प्रवाह बहने लगता है, कभी सुसंस्कारों के जागने से भव्य भावों का बहाव बहने लगता है । हाँ, यह प्रवाह सदा बना रहता है ।

श्रोत्रेन्द्रिय आत्मा में शब्द को पहुँचाती है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श का ज्ञान कराती है, चक्षुः रूप का निरूपण करती है । रसना रस चखाती है, घ्राणेन्द्रिय गन्ध सुँघाती है । इन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के संस्कार पाँच प्रकार के होते हैं । अतः कहा—**'सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्'**=सरस्वती भी देश में पाँच प्रकार की नदी हो गई अर्थात् आत्मा पाँच प्रकार के संस्कारों के अनुसार व्यवहार करने लगता है । आत्मा संस्कार के वशीभूत होकर विचित्र कार्य्य करता है । ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं तो कर्म्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं । आत्मा की भावना को बाहर लाने का द्वार कर्मेन्द्रियाँ हैं । शरीर आत्मा का देश है । वहाँ ही आत्मा-सरित् पाँच प्रकार से बह रही हैं । चाहो, बाहर की नदियों के स्रोत बन्द कर दो, तब प्रवाह एक हो जाएगा । इस बात को कठोपनिषद् [१।६।१०] में यों कहा—**'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्'**—जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ ठहर जाती हैं और बुद्धि भी क्रिया नहीं करती, उसे परम गति कहते हैं । जबतक ये पाँचों नदियाँ चल रही हैं, शरीरस्थ आत्मा-सरित् भी पाँच प्रकार की होती रहेगी ।

३४७. संसार की अनित्यता

ओ३म् । अ॒श्व॒त्थे वो॑ नि॒षद॑नं प॒र्णे वो॑ वस॒तिष्कृ॒ता ।
गो॒भाज॒ इत्किला॑सथ॒ यत्स॒नव॑थ॒ पूरु॑षम् ॥ —य० ३५।४

शब्दार्थ—अश्वत्थे अश्वत्थ पर **वः** तुम्हारा **निषदनम्** बैठना है **पर्णे** पत्र पर **वः** तुम्हारा **वसतिः** वास **कृता** बना हुआ है । **यत्** यदि **पुरुषम्** पुरुष को **सनवथ** पूजो तो **किल** अवश्यमेव, **गोभाजः** गोभागी **असथ** हो जाओ ।

व्याख्या—मनुष्य संसार में आकर समझता है कि मुझे सदा यहीं रहना है । युधिष्ठिर से किसी ने पूछा था—इस संसार में आश्चर्य क्या है ? युधिष्ठिरजी ने जो उत्तर दिया, वह उस समय भी सत्य था और इस समय भी सत्य है—**'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् । शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥'**=प्रतिदिन सहस्रों प्राणी मौत के घाट उतर रहे हैं, किन्तु शेष स्थायी रहना चाहते हैं, इससे अधिक आश्चर्य क्या है ? अपने हाथों लोग अपने बन्धु-बान्धवों को जला आते हैं किन्तु उन्हें यह कभी विचार नहीं आता कि हमारा भी निस्तारा कभी ऐसा ही होगा ।

संसार के किसी पदार्थ में स्थिरता है ही नहीं । फिर यहाँ स्थिरता की कामना कैसी ? तुम्हें ज्ञात है, तुम्हारी बैठक कहाँ है ? **'अश्वत्थे वो निषदनम्'**=अश्वत्थ पर तुम्हारी बैठक है । 'अश्वत्थ' का अर्थ है—**यः श्वो न स्थास्यति सः**=जो कल न ठहरेगा । तुम सोच रहे हो, अमुक कार्य्य हम कल करेंगे । किन्तु तुम कल देख पाओगे, कल तक रह भी पाओगे, इसका क्या प्रमाण ? तुम्हारा निषदन तो अश्वत्थ पर है । अश्वत्थ का एक अर्थ पीपल वृक्ष है । पीपल को लौकिक संस्कृत में चलदल भी कहते हैं । चलदल का अर्थ है चञ्चल पत्तोंवाला । पीपल के पत्ते प्रायः हिलते रहते हैं, मानो वे अस्थिरता की घोषणा कर रहे हैं । तुम्हारा वासस्थान ? **'पर्णे वा वसतिष्कृता'**=पत्ते पर तुम्हारा वास है । पत्ते का जीवन स्वयं अल्प होता है । जाने कब वायु का झोंका आये और पत्ता नीचे गिर जाए ! जाने कब कोई पत्ता सूख जाए ! जो स्वयं क्षणभंगुर है, उसपर आश्रय करने का लाभ ? कितने सरल किन्तु मार्मिक शब्दों में संसार की असारता, जीवन की क्षणभंगुरता का बोध कराया गया है !

इस संसार की असारता का ज्ञान कब होता है ? **'गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्'**—जब पुरुष=पूर्णपुरुष भगवान् की पूजा करोगे तो निश्चय ही गोभागी=किरण-भागी=प्रकाशाधिकारी हो जाओगे । भगवान् प्रकाशकों के प्रकाशक हैं । प्रकाश की कामना है=जिससे सदसद्विवेक हो, खरे-खोटे का भान हो सके—तो भगवान् को भजो ।

३४८. मेरे दोष दूर हों

ओ३म् । यन्मे॒ छि॒द्रं चक्षु॑षो॒ हृद॑यस्य॒ मन॑सो॒ वाति॑तृण्णं॒ बृह॒स्पति॑र्मे॒ तद्द॑धातु ।
शन्नो॑ भवतु॒ भुव॑नस्य॒ यस्पतिः॑ ॥ —य० ३६।२

शब्दार्थ—यत् जो **मे** मेरे **चक्षुषः** नेत्र का **हृदयस्य** हृदय का **छिद्रम्** छिद्र है; **वा** अथवा **मनसः** मन का **अतितृण्णम्** बहुत बड़ा छिद्र या घाव है—**मे** मेरे **तत्** उस छिद्र को **बृहपतिः** बड़ा रक्षक भगवान् **दधातु** पूरा करे, **यः** जो **भुवनस्य** संसार का **पतिः** पालक, स्वामी है, वह **नः** हमारे लिए **शम्** शान्तिदायक **भवतु** हो ।

व्याख्या—जीव अल्पज्ञ है । अल्पज्ञता के कारण उससे त्रुटियाँ होती हैं । वाणी भगवान् ने बोलने को दी है किन्तु इस वाणी से मनुष्य असत्य, कठोर, अमङ्गल और असम्बद्ध प्रलाप करने लगता है । यह मानव-देह इस भवसागर से पार उतरने की नौका है; किन्तु मनुष्य हिंसा, चोरी और व्यभिचार द्वारा इसमें भी छिद्र कर देता है । मन भगवान् ने मनन, विचार के लिए दिया, किन्तु मनुष्य इससे नास्तिकता, परद्रोह और दूसरे के धन-हरण की बातें सोचा करता है । चक्षु भगवान् ने देखने को दी किन्तु मनुष्य इससे अभद्र रूपों और आकारों को देखकर मन और अन्तःकरण को दूषित और कलुषित करता है । इसी तरह दूसरी इन्द्रियों तथा साधनों के सम्बन्ध में विचार कर लीजिए । इस मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना है कि—**'यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु**=मेरे दर्शन में, मेरे भावों में तथा मेरे मन में जो त्रुटि है, उसे बड़ा पालक पूरा कर दे ।

दूसरे स्थान में प्रार्थना है—**'देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि'** [य० ८।१३]=इन्द्रियकृत अपराध का तू शोधक है । **'आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि'** [य० ८।१३]=आत्मा के किये अपराधों का भी तू शोधक है, अतः यहाँ भी उसी से प्रार्थना है कि यह महान् भगवान् दोषों को दूर करे । आंख [आंख समस्त इन्द्रियों की उपलक्षण है] में यदि छिद्र रहेगा तो स्पष्ट दिखलाई नहीं देगा । हृदय में यदि भद्दे भाव होंगे तो व्याकुलता एवं शङ्का रहेगी । मन में विकार रहा तो सभी कार्य्यों में बिगाड़ रहेगा । यदि इच्छा है कि किसी करण-उपकरण में कोई दोष न रहे तो यत्न करो कि—**'शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः'**=जो लोक का, समस्त संसार का रक्षक है, वह कृपा करता रहे । प्रभु की कृपा बनी रहे तो समस्त दोष नष्ट हो जाएँ । अतएव उससे पुनः-पुनः प्रार्थना है—**'अनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्'** [य० ८।१४]=जो मेरे शरीर की त्रुटियाँ हैं, भगवान् उन्हें आत्मा की अनुकूलता से शुद्ध करे ।

३४६. प्रथम संस्कृति

ओ३म् । अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो ऽअग्निः ॥ —य० ७।१४

शब्दार्थ—हे **सोम** शान्तिदायक **देव** परमात्मन् ! **ते** तेरे **अच्छिन्नस्य** परम्परा से अनवच्छिन्न, अटूट **सुवीर्य्यस्य** उत्तम-शक्ति-प्रदात्री के तथा **रायः+पोषस्य** धनवृद्धि के **ददितारः** धारण करनेवाले और देनेवाले **स्याम** हम हों । **सा** वह **प्रथमा** सबसे पहली, मुख्य और **विश्ववारा** सबसे स्वीकार करने योग्य **संस्कृतिः** संस्कृति है **सः** वह **प्रथमः** प्रथम **मित्रः** मित्र, **वरुणः** वरणीय और **अग्निः** अग्नि है ।

व्याख्या—भगवान् के दान का प्रवाह कभी नहीं टूटता । भगवान् नित्य है, उसका कार्य्य सृष्टि-सर्जन आदि भी नित्य है, अतः उसका दान भी नित्य है । दान-प्रवाह नित्य होते हुए भी किसी भाग्यवान् को ही यह दान प्राप्त होता है । हमारी कामना है हम सभी इसके **'ददितारः स्याम'**=धारण करनेवाले और प्रदान करनेवाले हों । हमें मिले और हम फिर आगे दें, इसका सदा विस्तार होता रहे । भगवान् का दान मूलदान, मूलधन है । जैसे एक व्यापारी कुछ धन व्यापार में या सूद पर लगाता है, उससे आनेवाला सारा धन मूलधन की वृद्धि है, यदि वह धन—मूलधन न हो तो वृद्धि नहीं हो सकती; इसी प्रकार भगवान् का यह दान भी—**'प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'**=सबसे पहली, मूल अतएव सबकी स्वीकरणीय संस्कृति है । संसार की सारी संस्कृतियाँ वेद की संस्कृति से निकली हैं ।

संसार के समस्त सद्व्यवहारों और विचारों का मूल उद्गम वेद है । मनुष्यों के आत्माओं का संस्कार=परिष्कार करने तथा समस्त व्यवहार सिखाने के लिए भगवान् ने सर्ग के आरम्भ में मनुष्यों के लिए चार ऋषियों—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा—को वेदज्ञान दिया । चूँकि उसने कृपा करके ज्ञानदान दिया, अतः—**'स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः'** वह सबसे पहला, मुख्य, मित्र है, और वही वरण=चाहने योग्य है, अग्नि=आगे ले जानेवाला है । मित्र का काम है कि मित्र को हित सुझाये । संसार के रणक्षेत्र में अवतीर्ण होने के साथ ही उसने हमें ज्ञान-कृपाण दे दी, अतः वह मित्र है, और इसी कारण वह हमारा अभीष्ट है । सभी जीवों की भगवान् उन्नति करता है, अतः वह अग्नि है । और—**'सः प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वान्'** [य० ७।१५]=वही बृहस्पति सबसे पहला ज्ञानी, सुझानेवाला है । अतः **'तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा'** [य० ७।१५]=उस ज्ञानैश्वर्य्यसम्पन्न, अज्ञानवारक भगवान् के लिए सच्चे मन से सभी ऐश्वर्य्य दे डालो ।

३५०. देव के अनुकूल सबका प्रयाण

ओ३म् । यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे सऽएतशो रजाᳬसि देवः सविता महित्वना ॥

—य० ११।६

शब्दार्थ—**यस्य** जिस **देवस्य** देव के **प्रयाणम्**+**अनु** प्रयाण के पीछे तथा **महिमानम्**+**अनु** महिमा के कारण **अन्ये** दूसरे **देवाः** देव **ओजसा** हठात् **ययुः**+**इत्** चलते ही हैं । **यः** जो **पार्थिवानि** पार्थिव तथा अन्य **रजांसि** लोकों को **वि**+**ममे** विशेष रूप से बनाता है, **सः** वह **सविता** सर्वोत्पादक **देवः** भगवान् **महित्वना** महत्त्व के कारण **एतशः** सबका गतिदाता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में आत्मानुसन्धान का विशेष विधान है । **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'** (नि०)=देने के कारण, प्रकाशमय होने के कारण अथवा प्रकाशक होने के कारण पदार्थ 'देव' होता है । आत्मा को वेदों में अनेक स्थानों में ज्योति कहा है । यथा—**'ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कम्'** [ऋ० ६।६।५] =दर्शन के लिए सुखकारी अविनाशी ज्योति [शरीर में] है, अतः निरुक्तनय से आत्मा देव है । मन और इन्द्रियों को यजुर्वेद [३४।१] में ज्योति कहा है—**'ज्योतिषां ज्योतिरेकम्'**=जो [मन] ज्योतियों में प्रधान ज्योति है, अतः मन तथा इन्द्रियाँ भी देव हैं । इस दृष्टि से मन्त्र का भाव हुआ—"आत्मदेव के प्रयाण के पीछे सभी देव चले जाते हैं, मानो इसने सब पार्थिव लोकों को माप रखा है, और वही इनका गतिदाता है ।" जीवित तथा मृत शरीर के देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है । आत्मा के निकल जाने पर आँख, नाक, कान आदि सभी इन्द्रियाँ चली जाती हैं । अब आँख देखने का कार्य्य नहीं करती । कान सुनते नहीं, नाक सूँघती नहीं, रसना स्वाद नहीं लेती । स्पर्शन अब सर्दी-गर्मी का पता नहीं देती ।

वास्तव में बात यह है कि ये सब हथियार हैं । आत्मा के बिना ये बेकार हैं । आत्मा ही इनका प्रयोक्ता है । रानी मक्खी के चल देने पर जैसे अन्य मक्खियाँ उसके पीछे चल देती हैं, वैसे ही आत्मा के पीछे ये सब चल देते हैं । संसार में कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता, किन्तु मरते सभी हैं । क्यों ? प्रतीत होता है, कोई ऐसा बली है, जो बलात् आत्मा को देह से निकाल देता है । उस महादेव के प्रयाण= प्रेरणा के अनुकूल अन्य सूर्य्य-चन्द्र आदि चलते हैं । भगवान् सभी लोक-लोकान्तरों का निर्माता है । केवल संसार बनाकर ही उसने छोड़ नहीं दिया, वरन् उसने ही इसमें गति डाली है । इस सबका कारण उसका महाबल है । सारांश यह कि यह सारा संसार भगवान् के विधान के अनुसार चल रहा है । वही इसका विधाता तथा गतिदाता है ।[1]

१. इस मन्त्र की विशेष व्याख्या योगोपनिषत् में देखिए ।

३५१. नेता बनने के साधन

ओ३म् । भुवों यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ —य० १५।२३

शब्दार्थ—तू **यज्ञस्य** यज्ञ का **च** तथा **रजसः** संसार का **नेता** नेता **भुवः** होगा, **यत्र** जब तू **शिवाभिः** कल्याणमयी **नियुद्भिः** नीतियों से **सचसे** संयुक्त होगा । **मूर्धानम्** सिर को **दिवि** द्यौ में, प्रकाश में **दधिषे** धारण करेगा और **स्वर्षाम्** उत्तमगतिवाली, मधुर **जिह्वाम्** जिह्वा को **हव्यवाहम्** भोग प्राप्त करानेवाली **चकृषे** करेगा ।

व्याख्या—इस मन्त्र में नेता बनने के निम्न उपाय बताये गये हैं—

(१) **'यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः'**=जब कल्याणकारी नीतियों, युक्तियों से युक्त होगा। नेता बनने के अभिलाषी को पहले अपना व्यवहार सँवारना चाहिए। उसका व्यवहार ऐसा हो, जिससे सबका भला हो। भाव यह कि उसे सदा अपने अनुगतों की प्रत्येक आवश्यकता तथा उसकी पूर्त्ति के साधन ज्ञात होने चाहिएँ।

(२) **'दिवि दधिषे मूर्धानम्'**=सिर आसमान पर रखे। इसका यह भाव नहीं कि वह अभिमान करे; प्रत्युत यह कि अपने ज्ञानादि गुणों के कारण वह सबसे ऊंचा हो। यदि नेता योग्यता में कम हुआ तो उसका नेतृत्व चल नहीं सकेगा। वह आसमान में सिर तभी रख सकेगा, जब उसे [सिर को] ज्ञानी गुरुओं के चरणों में रखने का अभ्यस्त होगा।

(३) **'स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्'**=अपनी मधुर वाणी को भोग प्राप्त करानेवाली बनाये। वाणी की मिठास सबसे आवश्यक है, और सबके लिए आवश्यक है। नेता के लिए तो कहना ही क्या है ! मनुजी ने कहा है—

अहिंसयैव भूतानां कार्य्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥—२।१५९

धर्माभिलाषी को प्राणियों का अनुशासन अहिंसापूर्वक ही करना चाहिए, और वाणी मधुर तथा श्लक्ष्ण-सुथरी ही प्रयोग करनी चाहिए। केवल मीठी और चिकनी-चुपड़ी बातों से ही दूसरे को नहीं टाल देना चाहिए, प्रत्युत वह स्वर्षा=मधुर या सुखदायी वाणी, 'हव्यवाट्' भी होनी चाहिए। नीतिकार कह गये हैं—**'निरत्ययं साम न दानवर्जितम्'**=निर्बाध सान्त्वना दान के बिना व्यर्थ है अर्थात् जहाँ मीठी-मीठी बातें बनाओ, वहाँ वास्तव में भी कुछ करके दिखाओ। ऋग्वेद [१०।३८।४] में 'रक्षक' के सम्बन्ध में कुछ ऐसे ही भाव हैं—

यो दभ्रेभिर्हव्यो यश्च भूरिभिर्यो अभीके वरिवोविन्नृषाह्ये ।
तं विखादे सस्निमद्य श्रुतं नरमर्वाञ्चमिन्द्रमवसे करामहे ॥

जिसे छोटे बुला सकें, बड़े बुला सकें, जो दूरस्थ, मनुष्य से सहनयोग्य कार्य्य में विधान का ज्ञान रखता हो, विपत्ति के समय ऐसे अतिशय शुद्ध विद्वान्, सरल ऐश्वर्य्यसम्पन्न नेता को हम रक्षा के लिए नियुक्त करते हैं।

३५२. कर्म्म करते जीवन बिता

ओ३म् । कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥ —य० ४०।२

शब्दार्थ—मनुष्य **इह** इस संसार में **शतम्+समाः** सौ वर्ष=सम्पूर्ण आयु **कर्म्माणि** कर्म्मों को, सत्कर्म्मों को **कुर्वन्+एव** करता हुआ ही **जिजीविषेत्** जीने की इच्छा करे। **एवम्** इस प्रकार अर्थात् कर्म्म करते हुए **त्वयि** तुझ **नरे** मनुष्य में **कर्म्म** कर्म्म **न लिप्यते** लिप्त नहीं होता, बन्धन का कारण नहीं बनता। **इतः** इससे **अन्यथा** दूसरा प्रकार **न+अस्ति** नहीं है।

व्याख्या—मनुष्य के शरीर को वेदों में क्षेत्र कहा गया है—**'स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज'**=अपने शरीर में नीरोग रह। शरीर को क्षेत्र कहने का विशेष प्रयोजन है। क्षेत्र में कृषिकर्म होता रहना चाहिए। बोना, काटना बराबर चलते रहना चाहिए। इसी से इसे कोई-कोई **कुरुक्षेत्र** भी कहते हैं। इस दृष्टि से वेद में उपदेश है—**'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि'**—कर्म्म करते हुए ही। कर्म्म की तीन गतियाँ हो सकती हैं—१. कर्म्म, २. विकर्म्म तथा ३. अकर्म्म। न करने को अकर्म्म तथा उलटे कर्म्म को विकर्म्म कहते हैं। शेष कर्म्म का अर्थ सुतरां सत्कर्म्म हुआ। कर्म्म-अकर्म्म की विवेचना बहुत गहन है। गीता में कहा है—**'किं कर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'** क्या कर्म्म है, और क्या अकर्म्म है, इस विषय में कवि=क्रान्तदर्शी भी विमुग्ध हैं, तथापि स्थूलरूप से कर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म की उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना सभी को मान्य है। इससे पूर्व यजुर्वेद [४०।१] में कहा है—**'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'**=किसी के धन का लालच मत कर! 'पराये धन का लालच' समस्त बुरे कर्म्मों का उपलक्षण है अर्थात् बुरे कर्म्म मत कर। इससे विकर्म्म का निषेध हो गया। कर्म्म और अकर्म्म के विवाद में **'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत्'** से 'अकर्म्म' का निषेध कर दिया गया है। शेष कर्म्म=सुकर्म्म रह गये। इससे अर्थ हुआ—मनुष्य इस संसार में सम्पूर्ण आयु सत्कर्म्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे।

कहावत है—**'लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः'**=यह संसार कर्म्मों से बँधा है अर्थात् कर्म्म बन्धन के कारण हैं। वेद इसका खण्डन करता हुआ कहता है—**'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे'**=ऐसा करने पर कर्म्म तुझे नहीं बाँधेगा; और कोई उपाय नहीं है। जब कामना छोड़कर केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से, भगवान् की आज्ञा समझकर कर्म्म किये जाते हैं, तब वे कर्म्म बन्धन के कारण नहीं बनते। इच्छा, वासना के कारण किये कर्म्म बन्धन के कारण बनते हैं, क्योंकि यदि इच्छा पूरी हो गई तो हर्ष होता है; यदि इच्छा पूरी न हुई, उसका विघात हुआ, तो विषाद होता है। प्रसाद और विषाद बन्धन के कारण हैं। जब किसी इच्छा को सामने रखकर कार्य्य न किया जा रहा हो, तो इष्टसिद्धि या वासनाविघात का अवसर न होने से बन्धन के हेतु प्रसाद या विषाद उत्पन्न ही नहीं होते।

३५३. भोग और कर्म्म हाथों में धारण करता हूँ

ओ३म् । सोमा॑सो न ये सु॒तास्तृ॒प्तांश॑वो हृ॒त्सु पी॒तासो॑ दु॒वसो॒ नास॑ते ।
ए॒षा॒मंसे॑षु र॒म्भिणी॑व रारभे॒ हस्ते॑षु खा॒दिश्च॑ कृ॒तिश्च॒ सं द॑धे ॥

—ऋ० १।१६८।३

शब्दार्थ—ये जो **तृप्तांशवः** रस से पूर्ण अंशुओं से युक्त **सोमासः+न** सोमों की भाँति **सुताः** निष्पन्न किये गये हैं, **हृत्सु+पीतासः** जी भरके जो पान कर चुके हैं और जो **दुवसः+न** परिचारकों की भाँति **आसते** रहते हैं; **एषाम्** इनके **अंसेषु** कन्धों पर **रम्भिणी+इव** आरम्भशक्ति के समान शक्ति **रारभे** कार्य्य आरम्भ करती है। **खादिः** भोग **च** और **कृतिः** कर्म्म, पुरुषार्थ **च** भी **हस्तेषु** हाथों में ही **सं+दधे** भली प्रकार धारण किया जाता है।

व्याख्या—जी भरकर सोम पीना भोग का उपलक्षण है, किन्तु यह भोग वैसे ही नहीं मिल जाता। इसके लिए तृप्तांशु सोमों को कूटने की आवश्यकता है अर्थात् सोमपान से पूर्व सोमसवन अनिवार्य्य है। सोमसवन स्पष्ट ही परिश्रमसाध्य है। सुतरां परिणाम निकला कि पुरुषार्थ=परिश्रम=कर्म्म=कृति पहले है और भोग=खादि=प्रारब्ध पीछे है। उत्तरार्ध में एक सूक्ष्म सिद्धान्त की ओर ध्यान दिलाया गया है। जिनके हाथ में भोग और कर्म्म है—**'एषामंसेषु रम्भिणीव रारभे'**=आरम्भशक्ति भूयोभूयः उन्हीं के कन्धों पर की जाती है अर्थात् भोग भी पुरुषार्थ के बिना सिद्ध नहीं होता। भोगप्राप्ति के लिए भी पुरुषार्थ की आवश्यकता है। भोजन परसा जा चुका है, यह हमारा भोग है; किन्तु हाथ और वाणी की क्रिया के बिना यह शरीर का अंग नहीं बन सकता।

वैदिकधर्म्म प्रारब्धवादी नहीं, पुरुषार्थवादी है। यजुर्वेद (४०।१५) में मरण का दृश्य दिखलाकर **'कृत॑ꣳ स्मर'** अपने 'कर्म्मों का स्मरण कर' कहा है, न कि **'भाग्यं स्मर'** [अपने भाग्य=प्रारब्ध को स्मरण कर]। 'प्रारब्ध' शब्द के अर्थ पर विचार करने से भी कर्म्म-वाद की पुष्टि होती है। प्रारब्ध=प्र+आरब्ध=भली प्रकार आरम्भ किया गया। खेती का भली प्रकार प्रारम्भ किया जाएगा, भूमि का जोतना आदि कर्म्म भली प्रकार किये जाएँगे तो फल भी अच्छा होगा अर्थात् प्रारब्ध=भाग्य, किये हुए का फल है, अतः कर्म्मप्रधान है। अब यह अपने वश में है कि हम अपना भाग्य—प्रारब्ध [भली प्रकार का आरम्भ किया हुआ] बनाएँ, या दुरारब्ध [बुरी भाँति आरम्भ किया हुआ] बनाएँ। अतः वेद का यह कथन कि—**'हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च संदधे'** सर्वथा यथार्थ है। बालक उत्पन्न होते ही पहले पूर्वार्जित कर्म्म का भोग भोगने लगता है। कर्म्म-योनिगत मनुष्य-बालक पर्य्याप्त काल तक भोग्य अवस्था में रहता है; अत मन्त्र में: 'खादि' को 'कृति' से पहले स्थान दिया है।

३५४. भगवान् ने श्रेष्ठ रचना की है

ओ३म् । उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो॑ घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चम् ॥

—ऋ० १।१६४।२६

शब्दार्थ—मैं **एताम्** इस **सुदुघाम्** उत्तम दूधवाली या आसानी से दोही जानेवाली **धेनुम्** दुधारू गौ को **उपह्वये** अपने समीप में चाहता हूँ, **उत** और **सुहस्तः** उत्तम हाथवाला=कुशल **गोधुग्** गौ दोहनेवाला **एनाम्** इसको **दोहत्** दोह सकता है । **अभीद्धः** सब ओर प्रदीप्त, सब ओर प्रकाशमान, **घर्म्मः** तेजोमय **सविता** जगदुत्पादक भगवान् **नः** हमारे लिए **श्रेष्ठम्** उत्तम **सवम्** जगत्, उपदेश **साविषत्** उत्पन्न करता है।

व्याख्या—सचमुच भगवान् ने यह महान् जगत् अत्युत्तम बनाया है । सूर्य्य की ओर देखो, भूमि को देखो, कैसी सुन्दर है ! कैसी युक्तियुक्त ! आँख किस स्थान पर रखी है ? ठीक नाक के ऊपर । यदि नाक के नीचे रहती, तो बड़ा कष्ट होता । नाक से मलस्राव होता रहता है, उसपर कभी-कभी मक्खी आदि प्राणी आ जाते हैं । आँख नीचे होती तो देख न पाती; फिर मुख और नाक के बीच में पर्य्याप्त व्यवधान हो जाता । मुख में जानेवाले पदार्थ के गन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान न हो पाता । दुर्गन्धयुक्त पदार्थ खाने से शरीर में विकार हो जाता । विचार से सारांश यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक पदार्थ ठीक-ठीक उत्पन्न किया गया है और यथास्थान स्थापित किया गया है । भगवान् ने प्रकृति से यह जगत् बनाया है । प्रकृति को इस मन्त्र में 'धेनु' कहा गया है । भोगरूप दूध देने के कारण प्रकृति सचमुच धेनु है और है भी यह सुदुघा=आसानी से दोही जानेवाली ।

जीव कहता है—**'उपह्वये सुदुघां धेनुमेताम्'**=मैं इस सुदुघा धेनु को पास चाहता हूँ । पास तो आ जाएगी, किन्तु कार्य्य कर लोगे इससे ? इसे तो—**'सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्'**=कोई चतुर दोहनेवाला ही दोह पाता है । गौ के स्तनों में दूध है, किन्तु उसे प्रत्येक नहीं दोह पाता । प्रकृति में भोग है, किन्तु प्रत्येक इससे भोग नहीं प्राप्त कर सकता । कोई सुहस्त=उत्तम हाथोंवाला, जिसे अपने हाथों का प्रयोग करना आता है, वही दोह सकता है । किसी ने ठीक ही कहा है—**सकल पदारथ हैं जग माहीं । कर्म्महीन नर पावत नाहीं ।** इसको यों पढ़ दो—**सकल पदारथ हैं इहि माहीं । हस्तहीन नर पावत नाहीं ।** वेद ने ठीक कहा—**'समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः'** [ऋ० १०।११७।९]—दोनों हाथ बराबर हैं, किन्तु समानरूप से कार्य्य नहीं कर सकते । एक शरीर के दो हाथ जो समान भी हैं, एक तरह कार्य्य नहीं कर सकते तो भिन्न-भिन्न शरीरों के हाथ जिनकी शक्ति, योग्यता समान नहीं है, कैसे इस धेनु से एकसमान दूध दोह सकते हैं ? इसे तो कोई सुहस्त ही दोहेगा । भगवान् ने इस प्रकृति-धेनु से यह श्रेष्ठ जगत्—दूध दोहा है ।

३५५. अनेक सन्तानोंवाले दुःख पाते हैं

ओ३म् । य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ।।

—ऋ० १।१६४।३२

शब्दार्थ—**यः** जो **ईम्** इस प्रकार **चकार** करता है, **सः** वह **अस्य** इसके [रहस्य को] **न** नहीं **वेद** जानता । **यः** जो **ईम्** इस प्रकार, इसको **ददर्श** देखता है, वह **तस्मात्** उससे **नु** सचमुच **हिरुग्** पृथक् है **सः** वह **मातुः** माता के **योनौ+अन्तः** गर्भ के भीतर **परिवीतः** सब ओर से लिपटा हुआ है । **बहुप्रजाः** बहुत सन्तानोंवाला **निर्ऋतिम्** दुःख को **आविवेश** अनुभव करता है ।

व्याख्या—इससे पूर्व 'अपश्यं गोपाम्……' मन्त्र है । उसमें आत्मस्वरूप का निरूपण है । उसमें कहा गया है कि—**'आ च परा च पथिभिश्चरन्तम् । स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ।'** —उलटे-सीधे मार्गों से चलता हुआ वह उलटी-सीधी दशा को प्राप्त होता है, संसार-चक्र में बार-बार आता रहता है । जीव की इस दशा की ओर इशारा करता हुआ वेद कहता है—**'य ईं चकार न सो अस्य वेद'** जो ऐसे कर्म्म करता है, वह आत्मा के रहस्य को नहीं जान पाता ।

भले कर्म्म दो प्रकार के होते हैं, एक मोक्ष दिलानेवाले, और दूसरे भली योनियों में ले-जानेवाले । जो आत्मज्ञानशून्य हैं, वे आत्मकल्याण के लिए प्रयतमान ही नहीं हो सकते, अतः उनके यदि कोई भद्र कर्म्म भी होंगे, तो वे मोक्षसाधक नहीं, वरन् भोगबाधक होंगे । उन्हें तो आत्मा के जन्मान्तर ग्रहण करने का ज्ञान ही नहीं है । जिसे कर्म्मफलविज्ञान का ज्ञान होता है, वह आत्मा के स्वरूप को समझकर कुकर्म्म से पृथक् हो जाता है । भोग-सम्पादक कर्म्मों से पृथक् होकर वह विचारता है—**'स मातुर्योना परिवीतोऽन्तः'** =वह माता के गर्भ में लिपटा पड़ा है, अर्थात् भोगभावना से भावित मनुष्य पुनः-पुनः माता के गर्भ में लपेटा जाता है । उसे—**'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'** [बार-बार जन्मना, बार-बार मरना, बार-बार माँ के गर्भ में पड़ना] का विचार कँपा देता है ।

किसी ने 'जाया' की निरुक्ति करते हुए कहा है कि यतः पति इसमें पुत्ररूप से उत्पन्न होता है, अतः पत्नी को जाया कहते हैं । इसका भाव यह हुआ कि अनेक बच्चे पैदा करना मानो स्वयं बार-बार पैदा होना है । वेद बार-बार पैदा होना और अनेक सन्तान के उत्पादन की ओर लक्ष्य करके कहता है—**'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश'** =अनेक सन्तानोंवाला दुःख पाता है अर्थात् संयम रखकर गृहस्थी चलानी चाहिए ।

३५६. पञ्च भूतों का अनादि चक्र

ओ३म् । पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥

—ऋ० १।१६४।१३

शब्दार्थ—तस्मिन् उस **पञ्चारे** पाँच अरोंवाले **चक्रे** चक्र के **परिवर्त्तमाने** चलने पर **विश्वा** सब **भुवनानि** भुवन, लोक **आतस्थुः** सब ओर स्थित होते हैं। **तस्य** उसका **अक्षः** अक्ष **न** न तो **तप्यते** तपता है और **न** न **भूरिभारः** बहुत भारवाला होता है। **सनात्+एव** सनातन से ही वह **सनाभिः** सनाभि=बन्धन-युक्त, केन्द्रयुक्त होने से **न** नहीं **शीर्यते** बिखरता, फटता, नष्ट होता।

यह संसार-चक्र चल रहा है। न्यायदर्शन [१।१।२] के वात्स्यायनभाष्य में संसार का लक्षण है—**'इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्म्मा, अविच्छेदेनैव प्रवर्त्तमानाः संसारः।'**—मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःखों का निरन्तर प्रवृत्त रहना संसार है। मिथ्याज्ञान से राग, द्वेष, मोह होते हैं, राग-द्वेष-मोह से प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति से जन्म होता है और जन्म साक्षात् दुःख है। साधारण लोग इस गहरे संसार के सार तक नहीं पहुँच पाते। उनके मत में सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र-भूमि, आकाश-पर्वत, नदी-नाले-झील-तालाब, खेती-धनधान्य, सामान, मकान, पिता, पुत्र, माता-भगिनी आदि सब मिल-मिलाकर संसार हैं। चाहे तत्त्वज्ञानियों का संसार लें, चाहे अज्ञानियों का, दोनों का कारण एक ही है। निमित्तकारण का विचार छोड़कर उपादानकारण पर ध्यान दीजिए। सभी के मत में पञ्चभूतात्मक प्रकृति ही इसका उपादानकारण है। गिरि, नदी, भूमि, सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह आदि नानाविध लोक इसी के बने और इसी में रहते हैं। घड़ा मिट्टी से बनता और मिट्टी में रहता है। मिट्टी से बाहर घड़ा कहाँ है? कपड़ा तन्तुओं से बना है, तन्तुओं में रहता है। तन्तुओं से अन्यत्र उसकी सत्ता का भान किसको होता है? इसी भाव से वेद कहता है—**'पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनामि विश्वा'**=पञ्चभूतमय, निरन्तर फिरते हुए इस संसारचक्र में सब भुवन स्थित हैं अर्थात् सारा संसार पाँच भूतों से बना है, और इन्हीं में स्थित है।

रथ के पहिये का अक्ष तप जाता है, उसे विश्राम देना होता है। परिमाण से अधिक भार पड़ जाए तो वह टूट जाता है, किन्तु यह चक्र **'नाक्षस्तप्यते न भूरि भारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः'** इस चक्र का अक्ष न तपता है, न बहुत भार से टूटता है और न शीर्ण होता है, क्योंकि सनातन से यह सनाभि=बन्धनयुक्त है। अनादिकाल से यह संसार चला आ रहा है। इसका अक्ष लक्ष्य पर पहुँचने से पूर्व तप ही नहीं सकता। बहुत भार तो तब हो, जब इससे बाहर कुछ भार हो। भार तो पहले सारा इसी में है। भगवान् इसकी नाभि है, अतः इसके शीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं है। दिन के बाद रात्रि, रात्रि के पश्चात् दिन के समान सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद पुनः सृष्टि इसी तरह संसारचक्र चल रहा है।

३५७. स्त्री की अनुकूलता से भला

ओ३म् । सूर्य्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ।।

—ऋ० १।११५।२

शब्दार्थ—**न** जिस प्रकार **मर्यः** मनुष्य **रोचमानाम्** प्रसन्नचित्त **योषाम्+अभि** स्त्री को लक्ष्य करके **पश्चात्** पीछे **एति** आता है, ऐसे ही **सूर्य्यः** सूर्य्य **देवीम्** प्रकाशवती **उषसम्** उषा के पीछे आता है। **यत्र** इस प्रकार **देवयन्तः** सुखाभिलाषी **नरः** मनुष्य **भद्राय** भद्र के **प्रति** बदले **भद्रम्** भद्र को संयुक्त करते हुए **युगानि** जोड़े **वितन्वते** बनाते हैं।

व्याख्या—किसी कवि ने कहा है—**'अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते'**=रात्रि के किये अन्धकार का प्रभात-प्रकाश से नाश हुए बिना सूर्य्य भी उदय नहीं होता। यही बात वेद में कही है—**'सूर्य्यो देवीमुषसं······अभ्येति पश्चात्'**=सूर्य्य प्रकाशमयी उषा के पीछे आता है अर्थात् सूर्य्य को अपने लिए उषा की आवश्यकता है और उषा आगे आती है, सूर्य्य पीछे-पीछे चलता है। वेद ने इस दार्ष्टान्त को दृष्टान्त बनाकर और स्त्री-पुरुषों के व्यवहार-रूप दार्ष्टान्त को दृष्टान्त बनाकर विवाह के गौरव को बहुत बढ़ा दिया है। वेद कहता है, उषा के पीछे आता हुआ सूर्य्य पत्नी के पीछे चलनेवाले पति का अनुकरण कर रहा है। इस काव्यमयी भाषा में पति को पत्नी के अनुकूल चलने का उपदेश है। मनु महाराज ने [३।६१-६२] लिखा है—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् । अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ।।
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् । तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ।।

यदि स्त्री पुरुष को नहीं रुचती, तो पुरुष को प्रसन्न नहीं कर सकती। पुरुष के प्रसन्न न होने पर सन्तानोत्पादन की भावना ही प्रवृत्त नहीं होती। स्त्री के रुचने पर सब परिवार प्रसन्न होता है, उसके न रुचने पर सभी परिवार प्रसन्नतारहित हो जाता है।

वेद ने पुरुष को **'रोचमाना योषा'** के अनुकूल चलने को कहा। मनुजी ने 'रोचमाना स्त्री' के कारण सभी परिवार को रोचमान बताया है। स्त्री पुरुष को रुचे और पुरुष उसके अनुकूल चले, तभी गृहस्थी सुखदायिनी होती है, अन्यथा गृहस्थाश्रम क्लेशागार बन जाता है। गृहस्थी को सुखमयी बनाने के लिए पति-पत्नी की पारस्परिक प्रसन्नता और अनुकूलता साधन है। **'युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्'** के द्वारा वेद ने समानगुण-कर्म्म-स्वभाववालों के जोड़े बनाने का आदेश किया है। गृहस्थाश्रम चलाने के लिए स्त्री-पुरुषों के युग=जोड़े तो बनेंगे ही, उनके बिना गृहस्थाश्रम बन ही नहीं सकता। किन्तु यह **'प्रति भद्राय भद्रम्'** को सामने रखकर होना चाहिए। स्त्री का मान, गृहस्थ में स्त्री की अनुकूलता, समान गुण-स्वभाव का विचार करके विवाह करना केवल वैदिक धर्म्म की विशेषता है।

३५८. अश्विदेव आत्मा को पाप से छुड़ाते ह

ओ३म् । ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन ।
भिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ॥

—ऋ० १।११७।३

शब्दार्थ—हे **नरौ** जीवननेताओ ! **अश्विनौ** तुम दोनों **अशिवस्य** अमङ्गल **दस्योः** दस्यु, अकर्मा के **मायाः** कपटों को **भिनन्ता** नाश करते हुए, और **अनुपूर्वम्** पूर्ववत्, यथापूर्व **वृषणा** सुखवर्षक होकर **चोदयन्ता** भली प्रेरणा करते हुए **पाञ्चजन्यम्** पञ्चजन के हितकारी, पाँचों इन्द्रियों के उपकारी **अत्रिम्** सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण से रहित अथवा भोक्ता **ऋषिम्** द्रष्टा आत्मा को **ऋबीसात्** कुत्सिम **अंहसः** पाप से **गणेन** गण के द्वारा, परिसंख्यान ज्ञान के द्वारा **मुञ्चथः** छुड़ाते हो ।

व्याख्या—इस मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' है । ये दो हैं । वेद के अनुशीलन से यह प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात, सूर्य्य-चन्द्र, द्यावा-पृथिवी, दो प्रभाती तारे, प्राण-अपान आदि अनेक जोड़ों के नाम हैं । यहाँ इस मन्त्र में प्राण-अपान 'अश्विनौ' हैं । साधारणतया हमारे शरीर में प्राण और अपान अपना कार्य्य स्वतन्त्रता से मानो एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर कर रहे हैं । उस अवस्था में भी यह आत्मा को शरीर-वियोगरूप दुःख से बचाये रखते हैं । जब योगी प्राणसाधना द्वारा अथवा ध्यान द्वारा प्राण और अपान को मिला देता है, तब जो कुछ होता है, उसका वर्णन मन्त्र में बहुत सुन्दर शब्दों में है । आत्मा को इस मन्त्र में जिन शब्दों से स्मरण किया गया है वे बहुत महत्त्वशाली हैं—

ऋषि—**ऋषिर्दर्शनात्**=जो देखे, दिखलाये, वह ऋषि । निरुक्त के इस वचन के अनुसार आत्मा और इन्द्रियाँ ऋषि हैं । यजुर्वेद [३४।५५] में तो इन्द्रियों को स्पष्ट ऋषि नाम दिया गया है—**'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**=सात ऋषि शरीर में बिठाये हुए हैं । सात इन्द्रियाँ अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात शरीर में रहते हैं, इनको वेद ने ऋषि कहा है । आत्मा द्रष्टा होने से ऋषि है । वह केवल द्रष्टा ही नहीं वह **'अत्रि'**=भोक्ता भी है । भोक्ता और द्रष्टा कहने से कर्तृत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है, किन्तु वेद ने इसको यहाँ **'पाञ्चजन्य'** भी कहा । पाँच इन्द्रियों का हितकारी अर्थात् वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता भी है; इन्द्रियों का अधिष्ठाता कहो, कर्त्ता कहो, एक बात है ।

योगी जब आत्मा के स्वरूप तथा शक्ति को गुरुमुख द्वारा शास्त्र से जान लेता है, तब वह प्राण-अपान के साधन में लगता है । उसके लिए पहले उसे अकर्मण्यता=दस्युपन का नाश करना होता है, अर्थात् योगाभ्यासी बहुत बड़ा कर्मठ होता है और क्रम से प्राण-अपान की साधना से उसे उत्तरोत्तर शुभ प्रेरणाएँ मिलती हैं । अकर्मण्यता-त्याग के साथ आत्मा के तेजोनाशक अज्ञानादि का भी निरास करता है । साधन और ज्ञानाभ्यास इन दोनों के कारण उसकी कुत्सित वासनाओं का नाश हो जाता है, और प्राण के अभ्यास से उसके भीतर सदाचार के लिए प्रीति उत्पन्न हो जाती है ।

३५९. प्रातःकाल धर्म्मादि-चिन्तन

ओ३म् । आयमद्य सुकृतं प्रातरिच्छन्निष्टेः पुत्रं वसुमता रथेन ।
अंशोः सुतं पायय मत्सरस्य क्षयद्वीरं वर्धय सूनृताभिः ॥

—ऋ० १।१२५।३

शब्दार्थ—मैंने अद्य आज **प्रातः** प्रातः **इष्टेः** यज्ञ से **सुकृतम्** सुकर्म्म को **इच्छन्** चाहते हुए **वसुमता** धनयुक्त **रथेन** रथ के साथ **पुत्रम्** पुत्र को **आयम्** प्राप्त किया है। तू इसको **मत्सरस्य** मस्त करनेवाले **अंशोः** अंशु=किरण=प्रकाश=ज्ञान का **सुतम्** निचोड़=सार **पायय** पिला, और इस **क्षयद्वीरम्** वीरता के केन्द्र को **सूनृताभिः** मीठी वाणियों से **वर्धय** बढ़ा, बधाई दे।

व्याख्या—परमात्मा की पूजा भी यज्ञ है। इष्टि यज्ञ का एक भेद है। प्रातःकाल यज्ञ से इष्टि की अभिलाषा का अर्थ है—मनुष्य प्रातः उठकर भगवान् तथा धर्म्मादि का चिन्तन करे। जैसा कि संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में लिखा है—"चार बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म्म, अर्थ का विचार किया करे और धर्म्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो, तथापि धर्म्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़े, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य-कर्म्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिससे परमेश्वर की कृपा और सहायता से महाकठिन कार्य्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें।"

मनुजी [४।९२] ने भी ऐसा ही आदेश किया है—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् । कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

ब्राह्ममुहूर्त्त=रात्रि के चौथे पहर अथवा चार घड़ी रात्रि रहते उठे, और धर्म्म, अर्थ, शरीर के क्लेश तथा उनके कारण और वेद के तत्त्वार्थ का विचार करे। ऋषि दयानन्द और मनुजी ने जो बात आदेश के रूप में कही, वेद ने उसका फलादेश करके करने की प्रेरणा की। प्रातःकाल की इष्टि=ईशपूजा, धर्मार्थ के अनुचिन्तन का फल मिलता है पुत्र, धन, रमणसाधन। सांसारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए सन्तान, धन, और रमण-साधन ही प्रधान साधन हैं। धर्म्म की भावना परिवार में लगातार बनी रहे, इसके लिए पुत्र-प्राप्ति का आदेश हुआ और पुत्र को—**'अंशोः सुतं पायय मत्सरस्य'**=मस्त करनेवाले ज्ञान का निचोड़ पिला दे। धन प्राप्त कर कहीं तेरा पुत्र कुमार्गगामी होकर मद्यादि का सेवन न करने लग जाए, सो इसे मादक ज्ञान का रस पिला। इसे मस्ती चाहिए। ज्ञान-ध्यान की मस्ती नहीं टूटती। साथ ही इसे—**'क्षयद्वीरं वर्धय सूनृताभिः'**=इस वीरता के केन्द्र को मीठी वेदवाणियों से बढ़ा।

३६०. मनोनुकूल मधुर वाणी

ओ३म् । आ त्वा जुवों रारहाणा अभि प्रयो वायो
वहंन्त्विह पूर्वपीतये सोमस्य पूर्वपीतये ।
ऊर्ध्वा ते अनु सूनृता मनस्तिष्ठतु जानती ।
नियुत्वता रथेना याहि दावने वायो मखस्य दावने ॥

—ऋ० १।१३४।१

शब्दार्थ—हे **वायो** वायुसमान बलवन् ! **जुवः** वेग को **रारहाणाः** त्यागते हुए [अथवा वेगयुक्त त्यागी जन] **पूर्वपीतये** पूर्वार्जित का पान करने के लिए तथा **सोमस्य** सोम के **पूर्वपीतये** प्रथम पान करने के लिए **त्वा** तुझको **इह** यहाँ ही **प्रयः** प्रिय, प्राप्तव्य पदार्थ **आ+वहन्तु** प्राप्त कराएँ । **ते** तेरी **जानती** ज्ञानयुक्त **ऊर्ध्वा** उन्नत **सूनृता** मधुर वाणी **मनः+अनु** मन के अनुकूल **तिष्ठतु** रहे [मन के अनुकूल अनुष्ठान करे] । हे **वायो** वायु के समान वेगवन् ! **दावने** दान देने तथा **मखस्य** यज्ञ के **दावने** धारण करने के लिए **नियुत्वता** वाहकों से युक्त शीघ्रगामी **रथेन** रथ से **आ+याहि** तू आ ।

व्याख्या—संसार को जिन महात्माओं से सुख पहुँचता है, वे महापुरुष पूर्ण त्यागी होते हैं । काम-क्रोधादि के वेगों को जिन्होंने त्याग दिया है, ऐसे जितेन्द्रिय त्यागी मनुष्य ही मनुष्यों को अभीष्ट के समीप ले-जाते हैं । उनकी इच्छा होती है कि आर्त्त, पीड़ित, संतप्त जन सोम=शान्ति का पान करें । यह ठीक है, कि वह सोमरस=शान्ति का शर्बत मिलता मनुष्य को उसके पूर्वकर्म्मों के कारण है । वेद सबसे बड़ा, पुराना और यथार्थ व्यवहार का शास्त्र है । व्यवहार की शिक्षा के लिए ही इसका निर्माण भगवान् ने किया है । सोमपान की उतावली में कहीं वाणी वश से बाहर न हो जाए, इसके लिए उपदेश है—**'ऊर्ध्वा ते अनु सूनृता मनस्तिष्ठतु जानती'**=ज्ञानयुक्त तेरी उन्नत मधुर वाणी मन के अनुकूल रहे अर्थात् मन और वाणी का विरोध न हो । **'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।'**=मन में और, वाणी में और, तथा कर्म में कुछ और, यह दुष्ट मनुष्यों का लक्षण है । तू तो दुष्ट नहीं है; प्रत्युत **सोमकामं हि ते मनः** (ऋग्वेद) तेरा मन तो सोम=शान्ति चाहता है ।

तेरी जिह्वा भी वैसी होनी चाहिए । सोमरसाभिलाषी मन के अनुकूल चलनेवाली 'ऋत की वाणी' होती है, और वह—**ऋतस्य जिह्वा पवते मधुप्रियम् ।'** [ऋ० ९।७५।२]=ऋत की वाणी मधुर और प्रिय, प्राप्तव्य को प्राप्त कराती है । विद्वान् जब तेरे सोमपान के लिए त्वरा करते हैं, तुझे भोग प्राप्त करने में सहायता देते हैं तो तेरा भी कर्त्तव्य है कि तू भी—**'नियुत्वता रथेना याहि दावने मखस्य दावने'** शीघ्रगामी वाहकों से युक्त रथ के द्वारा दान के लिए, यज्ञ करने, दान देने तथा धारण करने के लिए आ ।

३६१. मृत का जीव

ओ३म् । अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥

—ऋ० १।१६४।३०

शब्दार्थ—ध्रुवम् ध्रुव=अविनाशी **जीवम्** जीव को **अनत्** जीवन देता हुआ, **तुरगातु** इन्द्रियों को सञ्चालित करता हुआ, **एजत्** सबको गति देता हुआ ब्रह्म **पस्त्यानाम्** घरों के, शरीरों के **मध्ये** बीच में **आ+शये** पूर्ण रूप से रहता है। **मृतस्य** मरे का **अमर्त्यः** अमृत **जीवः** जीव **स्वधाभिः** अपनी स्वाभाविक शक्तियों के द्वारा **मर्त्येन** मरणधर्म्मा शरीर के साथ **सयोनिः** समानस्थान होकर **आ+चरति** व्यवहार करता है।

व्याख्या—परमात्मा जीव को जीवन=प्राण देता है। वह इसकी इन्द्रियों को गति देता है। इन सबके साथ रहता है किन्तु इनसे पृथक् है। तलवकार ऋषि ने इस पूर्वार्द्ध का भावार्थ ही मानो कहा है—**'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः…'** [केनो० १।२]—वह जो कान का कान, मन का मन, वाणी की वाणी है, वही प्राण का प्राण और आँख की आँख है।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ॥४॥ यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ॥५॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ॥६॥ यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ॥७॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥—२।४-८

जिसे वाणी नहीं बोल सकती किन्तु वाणी जिससे बोलती है, जो मन से मनन नहीं किया जाता, किन्तु मन को जिससे मनन करनेवाला कहते हैं; जो आँख से नहीं दीखता, किन्तु आँखें जिससे देखती हैं; जो कान से नहीं सुना जाता, किन्तु कान जिससे सुनता है; जो प्राण से नहीं जीता, किन्तु प्राण जिससे चलता है; उसी को तू ब्रह्म जान, न कि उसको जिसकी लोग उपासना करते हैं। यह वेद के अनत् तुरगातु, एजत् शब्दों की बहुत हृदयग्राहिणी व्याख्या है।

उत्तरार्द्ध में जीव के सम्बन्ध में जो बात कही है, वह भी मनन करने योग्य है। अमृत=अविनाशी जीव ने विनाशी मरणधर्म्मा के साथ मैत्री की है और उसके साथ ठिकाना आ बनाया है। अब अमर्त्य जीव और मर्त्य शरीर इकट्ठे रह रहे हैं और इस अमर्त्य=अमृत=जीवनमय जीव ने मृतक देह को भी जीवित बना रखा है। कैसा अद्भुत चमत्कार है! और चमत्कार देखिए—अमर्त्य जीव मर्त्य देह को छोड़ जाए तो देह मिट्टी हो जाए, अस्पृश्य हो जाए, किन्तु देह यदि जीव को छोड़ जाए तो वह अपनी स्वधा से विचरने लगे—**'जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः'**=मृतक का जीव अपनी शक्तियों से विचरता है। कितने हैं जो इस रहस्य को देखते हों? और फिर विचारते हों?

३६२. हमारे यज्ञ को देवों में पहुँचने योग्य बना

ओ३म् । येन् वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेद्सम् ।
तेनेमं यज्ञं नॊ नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ —य० १८।६२

शब्दार्थ—**येन** जिससे **सहस्रम्** हज़ार को, संसार को **वहसि** धारण करता है, प्राप्त करता है, हे **अग्ने** सबको आगे ले-जानेवाले भगवन् ! **येन** जिसके द्वारा **सर्ववेदसम्** सब सम्पत्ति को, सब सम्पत्तिवाले जीव को धारण कराता है, प्राप्त कराता है, **तेन** उसके द्वारा **नः** हमारे **इमम्** इस **यज्ञम्** यज्ञ को **स्वः+गन्तवे** आनन्दप्राप्ति के लिए **देवेषु** देवों में **नय** ले-जा, पहुँचा ।

व्याख्या—प्रकाशकों के प्रकाशक ! सकल-ज्ञान-भाण्डागार ! आप सभी को ज्ञानालोक देकर अवलोकन के योग्य बनाते हैं । भगवन् ! जहाँ कहीं प्रकाश है, वह सब आपका है; सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा, आदि सभी आपकी भासा से भासित होते हैं । प्रभो ! तू अनन्त शक्तियों का आधार है, तेरी शक्तियों का पार कौन पा सकता है ! इस अनन्तपार जगत् को जिसमें असंख्य सौरमण्डल हैं, तू अनायास धारण कर रहा है । धन्य हो सर्वशक्तिमन् ! धन्य ! जगत् और जगत् का कारण प्रकृति दोनों जड़ हैं, चेतनाविहीन हैं । उसे जो कोई चाहे प्रयोग कर ले, उसमें प्रतिबन्धक सामर्थ्य नहीं है । किन्तु प्रभो ! तू तो इससे भी महान् है, महत्तर है । प्रभो ! तू जीव को भी, जिसमें जीवन है, जो चेतन है, जिसमें प्रतिरोध करने की शक्ति है, धारण कर रहा है । तब तो सचमुच तेरी शक्ति बहुत बड़ी है । मेरा एक छोटा-सा कार्य्य है, प्रभो ! वह कर दे । तू सदा मेरे काम आता रहा है । सच्ची बात कहूँ, मेरे सभी कार्य्य तू ही करता है । तूने ही शरीर दिया, तूने ही इन्द्रियाँ दीं, तूने ही मन दिया । इन इन्द्रियों की तृप्ति के साधन=भोग भी तूने ही बनाये । मेरा तो सारा जीवन तेरे आधार से है, मेरा क्या समग्र संसार का । मेरा एक काम कर दे, नाथ ! वह बहुत छोटा है । सुनो प्रभो ! हमने मिल-जुलकर एक यज्ञ रचाया है । तेरा आदेश है—**'यजस्व'** यज्ञ करो । हम तेरे आदेश के अनुसार यज्ञ करने लगे हैं । अब वह तेरी कृपा के बिना पूरा नहीं हो सकता । प्रभो ! तुझसे कुछ भी नहीं छिपा । हमारे हृदय की अँधेरी गुहा में छिपे विचार-मृग भी तेरे दृग्गोचर हैं, अतः तुझसे सचसच कहते हैं, हमने वह यज्ञ अपने लिए नहीं रचा । हमने वह यज्ञ देवों के लिए, सभी सुखाभिलाषियों के लिए रचा है । कृपा करके तू—**'तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे'**—उस अतुल बल के एक लव से हमारे इस यज्ञ को सुख-प्राप्ति के निमित्त देवों में, सुखाभिलाषियों में पहुँचा ।

ऋचेमं यज्ञं नो नये स्वर्देवेषु गन्तवे=तेरी वेदवाणी द्वारा सम्पादित हमारे इस यज्ञ को सुख-प्राप्ति के लिए देवों में पहुँचा ।

३६३. किसको अच्छी बुद्धि मिलती है

ओ३म् । प्र स॒प्तगु॑मृ॒तधी॑तिं सुमे॒धां बृह॒स्पतिं॑ म॒तिरच्छा॑ जिगाति ।
य आ॑ङ्गिर॒सो नम॑सोप॒सद्यो॒ऽस्मभ्यं॑ चि॒त्रं वृष॑णं र॒यिं दाः ॥

—ऋ० १०।४७।६

शब्दार्थ—मतिः मननशील मनुष्य **सप्तगुम्** सात को प्राप्त करानेवाले **ऋतधीतिम्** ऋत के विचारनेवाले **सुमेधाम्** उत्तम धारणा शक्तिवाले **बृहस्पतिम्** महान् पालक को **अच्छ** अच्छी तरह **प्र+जिगाति** उत्तम गति देता है । अथवा **मतिः** ज्ञान तथा कर्म्म उस **सप्तगुम्** पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि—[इन सात] को प्राप्त होनेवाले **ऋतधीतिम्** सत्यविचारी **सुमेधाम्** उत्तम बुद्धिमान् **बृहस्पतिम्** महाज्ञानी को **अच्छा** अच्छी तरह **जिगाति** प्राप्त होते हैं **यः** जो **आङ्गिरसः** प्राणविद्या में निपुण तथा **नमसा+उपसद्यः** नमस्कार द्वारा समीप जाने योग्य है, प्रभो ! **अस्मभ्यम्** हमें वह **चित्रम्** मनोहर **वृषणम्** सुखवर्षक **रयिम्** धन **दाः** दे ।

व्याख्या—बुद्धि सप्तगु=आत्मा को मिलती है, इसमें तो कोई शंका ही नहीं है । जड़ का बुद्धि से कोई प्रयोजन नहीं है, अतः उसे बुद्धि देना व्यर्थ है । बुद्धि आत्मा को ही मिलनी चाहिए और मिलती है । सामान्य बुद्धि या सहज मति तो सभी प्राणियों को सहज में प्राप्त है, कीट-कुञ्जर, नर-वानर सभी को प्राप्त हैं । नैमित्तिक बुद्धि के साधन मनुष्य के पास ही होते हैं । वह उसे ही मिलती है । किन्तु वह सबको नहीं मिलती । जिसको मिलती है, उसमें कम-से-कम निम्नलिखित गुण अवश्य होने चाहिएँ—

१. **ऋतधीति**—वह ऋत का विचार करनेवाला हो । केवल उसका विचार ही न करता हो, प्रत्युत तदनुसार आचार और प्रचार भी करता हो, अन्यथा उसका ऋतविचार बेकार है ।

२. **सुमेधा**—उत्तम मेधावाला हो । उसकी धारणाशक्ति अर्थात् स्मृति बड़ी तीव्र हो । स्मृति दृढ़ न होने से ऋतविचार-संस्कार दृढ़ नहीं रहते । विचारों को धारण करनेवाली शक्ति को मेधा कहते हैं । यदि मेधा न हो तो विचार विस्तार न पा सकेंगे, अतः ऋतधीति=ऋतविचार को पक्का करने के लिए तथा ऋत के अनुसार आचार बनाने के लिए उत्तम मेधा अत्यन्त प्रयोजनीय है ।

३. **बृहस्पति**—महाविद्वान् हो । केवल विचारवान् और बुद्धिमान् ही न हो, विद्यावान् भी हो । विचार, बुद्धि तथा विद्या के बिना आचार कच्चा रहता है; किन्तु विद्या-बुद्धि रहते भी मनुष्य आचारशून्य होता है । इन सब गुणों को आचार का उपयोगी बताने के हेतु कहा कि वह—

४. **आङ्गिरस**—प्राणविद्या में निपुण हो, जीवन-विज्ञान-विद्या का आचार्य्य हो, सबको जीवन-विज्ञान सिखा सकता हो ।

यदि ऐसे गुण हों तो सचमुच वह **'नमसोपसद्यः'**=नमस्कार से प्रापणीय=वन्दनीय है । मघवन् ! यह तो विचित्र धन है, अतः—**'अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः'**=हमें भी मनोहर सुखवर्षक धन दे।

३६४. ऋतम्भरा प्रज्ञा

ओ३म् । पुवित्रेभिः पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुत मर्त्यानाम् ।
द्विता भुवद्रयिपती रयीणामृतं भरत्सुभृतं चार्विन्दुः ॥ —ऋ० ९।९७।२४

शब्दार्थ—**नृचक्षाः** मनुष्यद्रष्टा **पवित्रेभिः** पवित्र कर्म्मों से **पवमानः** पवित्र करता हुआ **देवानाम्** देवों=जीवन्मुक्तों **उत** तथा **मर्त्यानाम्** मरणधर्म्माओं, जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुओं का **राजा** राजा तथा **द्विता** दोनों प्रकार से **रयिपतीनाम्** धनियों का **रयिपतिः** धनी **भुवत्** हो जाए, यदि वह **इन्दुः** ग्रानन्दाभिलाषी **सुभृतम्** अच्छी तरह से धारे हुए **चारु** उत्तम **ऋतम्** ऋत को **भरत्** धारे, अर्थात् [ऋतम्भरा] बुद्धिवाला होवे ।

व्याख्या—चित्तवृत्तियों के एकाग्र करने से सम्प्रज्ञात समाधि होती है । सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्व दशा में **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** उत्पन्न होती है, जिसके विषय में पतञ्जलि मुनि ने लिखा है—**'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्'** [यो० द० १।४९]—वह ऋतम्भरा बुद्धि शब्द-प्रमाण-जन्य ज्ञान तथा अनुमान से विलक्षण होती है, क्योंकि उसके द्वारा पदार्थ का विशेष स्वरूप ज्ञात होता है ।

पदार्थों के दो स्वरूप होते हैं, एक सामान्य, दूसरा विशेष । विशेष ही यथार्थ में पदार्थ का स्वरूप है, क्योंकि उसी के द्वारा पदार्थ का दूसरों से भेद प्रतीत होकर उसकी वास्तविकता का ज्ञान होता है । अनुमान तथा शब्द-प्रमाण सामान्य का बोध कराते हैं । इनसे वस्तु के स्वरूप का निश्चय करना लगभग असम्भव है । प्रत्यक्ष से ही वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान और निर्णय हुआ करता है । सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञा परमप्रत्यक्ष है । उसमें अनृत का लेश भी नहीं होता । उसमें विशुद्ध ऋत=सर्वथा सत्य होता है । जिस महापुरुष को यह प्रज्ञा प्राप्त होती है, **'नृचक्षाः'** हो जाता है । वह लोगों की देखभाल करता है, उनको पाप के पातक-संसर्ग से बचाने का यत्न करता है, पवित्र कर्म्मों से अपनी और दूसरों की शुद्धि करता है, अहिंसादि शुभाचारों के पालन से तथा दूसरों को उन कर्म्मों के लिए उत्साह देने से वह **'पवमान'** बन जाता है ।

समाधिसिद्ध होकर जो लोकोपकार के कण्टकाकीर्ण संकटशतविकट मार्ग पर आरूढ़ होता है, सचमुच वह जीवन्मुक्तों तथा साधारणों का **राजा**=राजा की भाँति सर्वाधिक तेजस्वी होता है ।

भौतिक और आत्मिक दो प्रकार के धन होते हैं । जो समाधि-सिद्ध महात्मा हैं, वे दोनों तरह से धनी होते हैं । समाधिरूप आत्मिक धन उनके पास है ही । यम-नियम की सिद्धि के कारण सांसारिक धन की न्यूनता भी उनके पास नहीं होती । योगदर्शन में लिखा है—**'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** [यो० द० २।३७]—अस्तेय की सिद्धि होने से सब रत्नों—धनों की प्राप्ति होती है ।

३६५. गाँठ खोल

ओ३म् । ग्रन्थिं न वि ष्य ग्रथितं पुनान ऋजुं च गातुं वृजिनं च सोम ।
अत्यो न क्रदो हरिरा सृजानो मर्यो देव धन्व पस्त्यावान् ॥

—ऋ० ९।९७।१८

शब्दार्थ—हे **सोम** शान्तिप्रद ! **ग्रन्थिम्**+**न** गाँठ की भाँति **ग्रथितम्** बँधे हुए को **वि**+**स्य** खोल दे और **ऋजु** सरल और **वृजिनम्** पापयुक्त, वर्जनीय, कुटिल **गातुम्** मार्ग को भी खोल दे । **अत्यः**+**न** ज्ञानवान् की भाँति **क्रदः** उपदेश करनेवाला तथा **हरिः** हरणशील **आसृजानः** नानाविध सर्जन कार्य्यों का करनेवाला मनुष्य, हे **देव** दिव्यगुणयुक्त देव ! **पस्त्यावान्** घरवाले **मर्यः** मनुष्य की भाँति **धन्व** मुझे प्राप्त हो ।

व्याख्या—'गाँठ खोल' ऐसी याच्ञा न करके **'ग्रन्थिं न विष्य ग्रन्थितम्'** [गाँठ की भाँति बँधे हुए को खोल] कहा है । बँधे को खुलवाने की प्रार्थना सीधी और साफ है । मनुष्य में कई प्रकार के बन्धन, ग्रन्थियाँ=पाश होते हैं । सभी खुलने चाहिएँ—**'उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत । अवाधमानि जीवसे ॥'** [ऋ० १।२५।२१]=हे भगवन् ! हमारे उत्तम पाश को खोल, मध्यम को काट और जीने के लिए अधम पाशों को भी काट । पाश तभी कटते हैं जब भगवान् के दर्शन हो जाएँ—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, बन्धनहेतु कर्म्म शिथिल पड़ जाते हैं, जब उस परावर के दर्शन होते हैं ।

गाँठ खुलने के साथ सुमार्गज्ञान भी चाहिए । इसीलिए कहा—**'ऋजुं च गातुं वृजिनं च'**=ऋजु और वृजिन मार्ग को भी खोल । दोनों का भेद बता, ताकि हम वृजिन छोड़कर ऋजु मार्ग पर चल सकें । भगवान् को ऋजु मार्ग ही प्यारा है, जैसा कि अथर्ववेद [८।४।१२] में कहा है—**'तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमो अवति हन्त्यासत् ॥'** उन दो में जो सत्य और जौन-सा ऋजु होता है, भगवान् उसकी रक्षा करता है और मिथ्या को सर्वथा मार देता है ।

भगवान् से प्रार्थना है कि जिस प्रकार घर-बारवाला मनुष्य शीघ्रता करता हुआ, चिल्लाता हुआ अपनी सन्तान के बचाने के लिए दौड़ता है, प्रभो ! तू भी हमें वैसे ही बचा ।

३६६. घर में व्यवस्था होने से परिश्रम सफल होता है

ओ३म् । भूम्या अन्तं पर्य्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः ।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः ॥

—ऋ० १०।११४।१०

शब्दार्थ—**एके** कुछ-एक **भूम्याः** भूमि के **अन्तम्** अन्त तक **चरन्ति** विचरते हैं । दूसरे **रथस्य** रथ की **युक्तासः** जुड़ी हुई **धूर्षु** धुरियों पर **अस्थुः** बैठते हैं । **एभ्यः** इनको **श्रमस्य** परिश्रम का **दायम्** देय, हिस्सा, भाग, तब **विभजन्ति** विभक्त करके देते हैं **यदा** जब **हर्म्ये** घर में **हितः** हितकारी **यमः** नियन्ता, या व्यवस्थाविधान **भवति** होता है ।

व्याख्या—इस मन्त्र में एक ऐसा संकेत है जो श्रमवाद का बीज है । आज यम के अभाव में सचमुच संसार की वही अवस्था है जिसका चित्र मन्त्र में खींचा गया है । लाखों मनुष्य दिन-रात दौड़धूप करते रहते हैं । आज इस स्थान में हैं, कल उस प्रदेश में हैं । इतना घोर परिश्रम करके भी वे भूखे-नंगे हैं । शायद भर्तृहरिजी [वैरा० ५] ने ऐसों के लिए ही कहा था—**'भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमम्'**=विकट कठिनताओं और विषमताओं से जूझते हुए अनेक देशों में घूमा, किन्तु **'लब्धो न काणवराटकोपि**—मिली न कानी कौड़ी । लाखों श्रमजीवियों पर यह बात चरितार्थ होती है । इसके विपरीत कई ऐसे हैं, जिनके लिए हर समय रथ तय्यार रहते हैं और वे उनमें सवार रहते हैं ।

सचमुच बड़ा विषम है यह संसार । एक ही घर में ऐसी विषमता हो जाती है, जिसका जो दाव चलता है, उड़ा लेता है । इस सबका कारण व्यवस्था का न होना है, अतः—**'श्रमस्य दायं विभजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः'**—परिश्रम का दाय=फल तब इनको बाँटते हैं, जब घर में यम=नियम=नियन्त्रण लागू रहता है । परद्रव्यहरण की प्रवृत्ति मनुष्य में कुछ स्वाभाविक है । जीवन का धन यद्यपि कर्म्म है, परिश्रम है, तो भी अकर्मण्यता सबको रुचती-सी है । संसार में पदार्थ तो सभी हैं,किन्तु परिश्रम के बिना मिलने दुर्घट हैं, अतः कई मनुष्य परिश्रम की चरम सीमा तक पहुँचते हैं किन्तु वे बेचारे देखते रह जाते हैं और कोई एक चालाक या अनेक चालाक मिलकर उनके परिश्रम को खा जाते हैं । इसका अवश्य उपाय होना चाहिए, वह यह कि ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए कि सबको परिश्रमानुसार दाय=भाग=हिस्सा मिलना चाहिए, अधिक या न्यून नहीं । इस अवस्था को वेद ने 'यम' कहा है । उसमें विशेष प्रयोजन है । यम का एक अर्थ दण्डधर है, अर्थात् व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसका उल्लङ्घन करने-वाले को दण्ड मिल सके । परमेश्वर सबको उनके कर्म्मों के अनुसार फल देता है । संसार में भी वैसा होना चाहिए । भगवान् दयानिधान दया करें, लोगों की मति फेरें, ताकि लोग कह सकें—**'मा अन्यकृतं भुजेम'**=हम दूसरे की कमाई न खाएँ ।

३६७. मनुष्य बन

**ओ३म् । तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ।** —ऋ० १०।५३।६

शब्दार्थ—**रजसः** संसार का **तन्तुम्** ताना-बाना **तन्वम्** तनता हुआ [भी] **भानुम्** प्रकाश के **अनु+इहि** पीछे जा । **धिया** बुद्धि से **कृतान्** बनाये, परिष्कृत किये हुए **ज्योतिष्मतः** ज्योतिर्मय, प्रकाशयुक्त **पथः रक्ष** मार्गों की रक्षा कर, **जोगुवाम्** निरन्तर ज्ञान और कर्म्म का अनुष्ठान करनेवालों के **अनुल्बणं** उलझनरहित **अपः** कर्म्मों को **वयत** विस्तृत कर । [इन उपायों से] **मनुः भव** मनुष्य बन [और] **दैव्यम्** देवों के हितकारी **जनम्** जन को, सन्तान को **जनय** उत्पन्न कर ।

व्याख्या—संसार को जिसकी आवश्यकता रही है और रहेगी, और इस समय भी जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है, उस तत्त्व का उपदेश इस मन्त्र में किया गया है । वेद में यदि और उपदेश न होता, केवल यही मन्त्र होता, तब भी वेद का आसन संसार के सभी मतों और सम्प्रदायों से उच्च रहता ।

वेद कहता है—**मनुर्भव**—मनुष्य बन !

आज का संसार ईसाई बनने पर बल देता है अर्थात् ईसा का अनुकरण करने के लिए यत्नवान् है । संसार का एक बड़ा भाग बौद्ध बनने में लगा हुआ है अर्थात् बुद्ध के चरणचिह्नों पर चलता हुआ **'बुद्धं शरणं गच्छामि'** का नाद गुँजा रहा है । इसी प्रकार संसार का एक भाग मुहम्मद का अनुगमन करने में तत्पर है । महापुरुषों का अनुगमन प्रशंसनीय है; किन्तु थोड़ा-सा विचार करें तो एक विचित्र दृश्य सामने आता है, अद्भुत तमाशा देखने को मिलता है । ईसाई ने ईसा का नाम लेकर जो कुछ अपने भाइयों के साथ किया, उसकी स्मृति ही मनुष्य को कँपा देती है । बिल्ली के बच्चे तक की रक्षा करनेवाले मुहम्मद की उम्मत का इतिहास भी भाइयों के रक्त से रञ्जित है । आः ! जिसे मनुष्य कहते हैं, वह मनुष्यता का वैरी हो रहा है । हमने संकीर्णता के कारण संकुचित दल बना डाले; एक दल दूसरे दल को दलने—मसलने-कुचलने पर तत्पर है । आज मनुष्य, मनुष्य का वैरी हो रहा है, अतः वेद कहता है—**'मनुर्भव'**—मनुष्य बन ! ईसाई या बौद्ध या मुसलमान बनने या किसी दूसरे सम्प्रदाय में सम्मिलित होने में वह रस कहाँ जो 'मनुष्य' बनने में है ! ईसाई बनने में केवल ईसाइयों को ममत्व से देखूँगा । बौद्ध बनने से और सबको असद्धर्मी मानूँगा । मुसलमान होकर मोमिनों को ही प्यार का अधिकारी मानूँगा, किन्तु मनुष्य बनने पर तो विश्व=सारा संसार मेरा परिवार होगा, सबपर मेरा एकसमान प्यार होगा । वसुधा को कुटुम्ब माना तो सारे कुटुम्ब से प्यार करना चाहिए । कुटुम्ब में ममता का साम्राज्य होता है । विषमता का व्यवहार कुटुम्ब की एकतानता पर वज्रप्रहार है । ममता स्थिर रखने के लिए स्नेही का व्यवहार करना होता है । तभी तो वेद ने कहा—**'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'** [य० ३६।१८]=सबको मित्र की स्नेहसनी दृष्टि से देखें ।

यहाँ वेद मनुष्यसीमा से भी आगे निकल गया है । प्यार का अधिकारी केवल मनुष्य नहीं रहा, वरन् सब भूत=प्राणी हो गये । यह उचित भी है, क्योंकि 'मनुष्य' शब्द का अर्थ है—**'मत्वा कर्माणि सीव्यति'** [निरु० ३।७]—जो विचारकर कर्म्म करे । कर्म्म करने से पूर्व जो भली प्रकार विचारे कि मेरे इस कर्म्म का फल क्या होगा ? किस-किसपर इसका क्या-क्या प्रभाव होगा ? यह कर्म्म भूतों के दुःख=प्राणियों की पीड़ा का कारण बनेगा, या भूतहित साधेगा ?

मनुष्य यदि सचमुच मनुष्य बन जाए तो संसार सुखधाम बन जाए। देखिए, थोड़ा विचारिए, थोड़ा-सा मनुष्यत्व काम में लाइए। वेद के इस उपदेश के महत्त्व को हृदयङ्गम कीजिए। धार्मिक दृष्टि से विचारें तो मनुष्य-समाज के दो बड़े विभाग बन सकते हैं—ईश्वरवादी, तथा अनीश्वरवादी। सभी ईश्वर-वादी ईश्वर को 'पिता' मानते हैं। वेद इससे भी आगे जाता है। वह ईश्वर को पिता के साथ माता भी मानता है, यथा—**'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे ॥'** [ऋ० ८।९८।११] अर्थात् सबको ठिकाना देनेवाले ! सचमुच तू हमारा पिता है, जीवों की उत्पत्ति आदि नानाविध कर्म्म करनेवाले परमात्मन् ! तू हमारी माता है, अतः हम तेरा हृदय Good wishes चाहते हैं। माता-पिता की शुभाशीः, शुभकामना सन्तान का कितना कल्याण करती है ! परमपिता दिव्य माता की भव्यभावना हमारा कितना इष्ट कर सकती है इसकी पूरी कल्पना कौन कर सकता है ?

प्रभु हमारे माता-पिता हैं और हम उसकी सन्तान, किन्तु कुसन्तान, जघन्य सन्तान, अयोग्य सन्तान, विद्रोही सन्तान। हम आपस में लड़ते हैं। भाई-भाई की लड़ाई! भगवान् ने कहा था—**'सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** [ऋ० १०।१९१।२]=तुम्हारी चाल एक हो, तुम्हारा बोल एक हो, तुम्हारा विचार एक हो। हमारी चाल आज भिन्न-भिन्न ही नहीं, परस्पर विरुद्ध भी है। आज हम संवादी नहीं, विवादी हो गये हैं। आज हम 'संवाच' नहीं 'विवाच' हो गये हैं। इसका कारण हमारा 'वैमनस्य'=मनोभेद=मतभेद=विचारभेद है। एक चाल=संगति, एक बोल=संउक्ति के लिए 'सौमनस्य' =मन की एकता=मत की अभिन्नता=विचार की समता की आवश्यकता है। पिता का आदेश है, माता का संदेश है=**'सं गच्छध्वं'**, हम उसके विपरीत चलकर पिता का अधिकार, माता का प्यार, कैसे पा सकते हैं ! मानव ! ठहर ! सोच तू कहाँ चला गया ? कहाँ भटक गया ?

मैं भटक गया ! बहक गया ! वज्र भ्रान्ति ! ईश्वर-ईश्वर कह रहे हो, कहाँ है ईश्वर ? जब ईश्वर ही नहीं, तब उसका माता-पिता होना कैसे ? और हम सब मनुष्य 'भाई-भाई' कैसे ? **'सति कुड्ये चित्रम्'** ! आधार होगा तो चित्र बनेगा !

अच्छा ! ईश्वर को ही जवाब ! जाने दो, तुम्हारा मन ईश्वर को नहीं मानता, न सही। भगवान् का मानना बड़े भाग्य की बात है। किन्तु भगवान् को न मानकर भी मानव मानव का भाई है।

कैसे ? सुनो ! सावधान होकर सुनो ! तुम दो की सन्तान हो ना ? घबराने क्यों लगे ? इसमें अचम्भे की बात ही क्या है ? माता और पिता के संयोग से ही मनुष्य की उत्पत्ति होती है। अकेली स्त्री से सन्तान नहीं हो सकती। अकेले पुरुष से कुछ नहीं बनता। सृष्टि चलाने के लिए स्त्री-पुरुष, रयि-प्राण का संयोग आवश्यक है अर्थात् दो मिले तो तुम एक आये अर्थात् तुममें दो का रुधिर आया, और ये दो भी तो दो-दो की सन्तान हैं अर्थात् हम में चार का रुधिर आया। उन चार के जो और सन्तान हुईं, उनमें भी उनका रुधिर आया। कहो, वे और तुम सब सपण्डि हुए या नहीं ? तनिक और आगे चलो, वे चार आठ के सन्तान, वे आठ सोलह की, इस प्रकार ज्यों-ज्यों ऊपर को जाओगे, अपने खून का सम्बन्ध बढ़ता हुआ पाओगे।

कहो, हुए न हम भाई-भाई ? बताओ, भाई-भाई का व्यवहार कैसा होना चाहिए ? क्या भाई भाई का गला काटे, यह अच्छा है अथवा भाई के पसीने के बदले अपना खून बहाये यह अच्छा है ? भाई को भाई से भय नहीं होता। भाई को अपने से अभिन्न माना जाता है। डर होता है दूसरे से—**'द्वितीयाद्वै भयं भवति'**—भाई को देखते ही हृदय हर्षित हो उठता है। आ ! सारे संसार को भाई बना। भय को भगा। सर्वत्र निर्भय-निष्कण्टक आ और जा।

कहो, वेद का **'मनुर्भव'** कहना कल्याणसाधक है वा नहीं ? निस्सन्देह मनुष्य बनना संसार में शान्ति स्थापन करने का एकमात्र साधन है। सभी मनुष्य 'मनुष्य बन जाएं' तो यह मार-काट, यह लूट-खसूट उसी क्षण समाप्त हो जाए।

निस्सन्देह मनुष्यत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। शङ्कराचार्य्य जी ने कहा—**'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्।'** सचमुच नरतन पाना दुस्साध्य है; दुस्साध्य है किन्तु असाध्य नहीं। वेद इससे आगे जाता है—मनुष्य जन्म, नरतन तो तूने प्राप्त कर लिया, 'मनुष्य भी बन'! केवल नरतनधारी ही न रह, नरमनधारी भी बन! इसीलिए वेद ने कहा—**'मनुर्भव'**।

यद्यपि **'मनुर्भव'** कहने से ही सब बात आ गई, किन्तु भगवती श्रुति उसके उपाय भी बता देता है। वैसे तो सारा वेद ही नरतनधारी को मनुष्य बनाने के लिए है, किन्तु इस मन्त्र में जो कुछ कहा है, उसपर भी यदि आचरण किया जाए तो अभीष्ट सिद्ध हो जाए।

मनुष्य बनने का पहला साधन—**'तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि।'** संसार का ताना-बाना बुनता हुआ भी तू प्रकाश का अनुसरण कर अर्थात् तेरे समस्त कर्म्म ज्ञानमूलक होने चाहिएँ। अज्ञान, अन्धकार तो मृत्यु के प्रतिनिधि हैं। अन्धकार से उल्लू को प्रीति हो सकती है, मनुष्य को नहीं। मनुष्य बनने के लिए अन्धकार से परे हटना होगा। ऋषि ठीक ही कहते हैं—

तमसो मा ज्योतिर्गमय! [शत० १४।३।१।३०]=अन्धकार से हटाकर मुझे प्रकाश प्राप्त करा।

अन्धकार में कुछ नहीं सूझता; सब क्रियाएँ, चेष्टाएं रुक जाती हैं, अतः वेद कहता है—**भानुमन्विहि**—प्रकाश के पीछे चल।

प्रकाश का अनुसरण करनामात्र ही पर्य्याप्त नहीं है, कुछ और भी आवश्यक होता है। प्रकाश के पीछे तभी चला जा सकता है जब प्रकाश स्थिर हो। यदि प्रकाश विद्युच्छटा के समान चञ्चल हो तो उसका अनुसरण कैसे हो सकता है! इस आशय को लेकर वेद ने दूसरा उपाय बतलाया—

'ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्'—प्रकाश के मार्गों की रक्षा कर, उनमें अपनी बुद्धि से परिष्कार कर।

संसार के सभी देशों में रौशनी बुझानेवालों के लिए दण्ड का विधान है, किन्तु संसार की गति अत्यन्त विचित्र है। संसार में ऐसे भी हुए हैं और कदाचित् आज भी ऐसे मनुष्याकारधारी प्राणी हैं, जो प्रकाश का नाश करते रहे और कर रहे हैं। उन्हें क्या कहोगे, जिन्होंने सिकन्दरिया का विशाल पुस्तकालय जला दिया? उन्हें क्या कहोगे जो वर्षों भारत के ज्ञानभण्डार से हमाम=स्नानागार गरम करते रहे? उनका क्या नाम धरोगे जिन्होंने चित्रकूट का करोड़ों रुपयों का पुस्तकालय अग्निदेव की भेंट कर डाला? ये सब नरतनधारी थे, किन्तु क्या ये मनुष्य नाम के भी अधिकारी थे, इसमें सन्देह है। मनुष्य बनाने का साधन नष्ट करनेवाले मनुष्य कैसे? वे कोई मनुष्यता के वैरी थे। उनको क्या कहोगे जो आज भी ज्ञान-भण्डार को जल देवता के अर्पण कर रहे हैं? उनको क्या कहोगे, जो प्रकाश को दूसरों तक नहीं जाने देते, अपने तक रोक रखते हैं? ये सब······लाखों ज्ञानी ज्ञान अपने साथ ले जाते हैं। वह ज्ञान किस काम का? वेद कहता है—**'ज्योतिष्मतः पथो रक्ष'**—ज्ञान-मार्गों की रक्षा कर! पूर्वजों से प्राप्त ज्ञानराशि की रक्षा कर।

मानव ! तू वायुयान में बैठकर आकाश की ओर उड़ जाता है, अन्तरिक्ष की सैर करता है। ज्ञात है यह कैसे सम्भव हो सका ? वेद के **'अन्तरिक्षे रजसो विमानः'** की बात नहीं कहूँगा और न ही कहूँगा रामायण के पुष्पक विमान की बात। आज के विमान का वर्णन सुनाऊँगा। किसी भद्र के चित्त में पक्षी को उड़ता देख उड़ने की समाई। उसने कृत्रिम पंख लगाकर उड़ने की ठानी। बेचारा गिर पड़ा; उसमें अपना मस्तिष्क लगाया। अब सोच मानव ! यदि उस प्रथम त्यागी के ज्ञान को भुला दिया जाता तो नये सिरे से यत्न करना पड़ता; फल क्या होता ? वायुयान न बन पाता, अतः वेद का यह कहना **'ज्योतिष्मतः पथो रक्ष'** बहुत ही सारगर्भित है।

हाँ, यदि उस पहले उड़नेवाले ने जितना यत्न किया था उतने की ही रक्षा की जाती, उसमें अपना भाग न डाला जाता, अपना दिमाग न लड़ाया जाता, तो भी वायुयान न बन पाता। अतः वेद ने ठीक ही कहा—**'धियाकृतान्'**—प्रकाश की रक्षा अवश्य कर किन्तु उसमें अपना भाग भी डाल। अन्यथा दीपक बुझ जाएगा।

वैदिकों ने इस तत्त्व को समझकर प्रथम संस्कृति=वेद तथा उसके अङ्गोपाङ्गों की रक्षा करने में प्राणपण से यत्न किया है। अतः वेद के शब्दों में कहो—**'नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः**।

ज्ञान का पर्य्यवसान कर्म्म में होता है। ज्ञान का अनुसरण करने के लिए ज्ञान के रक्षण और परिवर्धन की नितान्त आवश्यकता है। किन्तु ज्ञान का प्रयोजन ? 'ज्ञान ज्ञान के लिए' यह सिद्धान्त प्रमादियों का है। ज्ञान की सफलता कर्म्म में है। अतः वेद कहता है—

'अनुल्बणं वयत जोगुवामपः'=ज्ञानानुसार कर्म्म करनेवालों के उलझनरहित कर्म्मों को करो।

लोकोक्ति है—**'लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः'** कर्म्म बन्धन का कारण है। वेद कहता है कर्म्म तो अनिवार्य हैं उनसे छूट नहीं सकते हो। अतः ऐसे कर्म्म करो जो उलझन को मिटानेवाले हों, न कि उलझन को बढ़ानेवाले। जो कर्म ज्ञानविरहित होंगे, ज्ञान के विपरीत होंगे, वे अवश्य उलझन पैदा करेंगे, अतः ऐसा न कर जिससे संसार की उलझनें और बढ़ें। तू तो पहले ही बहुत उलझा हुआ है। तुझे सूझता नहीं कि कौन-सा अनुल्वण है और कौन-सा उल्बण ? तुझे कोई अंगुलि पकड़कर बताये।[1] अच्छा, जहाँ तू रहता है, वहाँ कोई ब्रह्मनिष्ठ भी है या नहीं ? उन ब्रह्मनिष्ठों का व्यवहार देखना, जो सत्यप्रिय, मधुरभाषी, निष्काम, सर्वहितकारी हों। देख वे कैसे रहते हैं ? उनका अनुसरण कर, किन्तु ज्ञान को हाथ से न जाने देना, इन साधनों के अनुष्ठान से निस्सन्देह मनुष्यता सुलभ हो जाती है। किन्तु, मनुष्यत्व के साथ वेद ने कर्त्तव्य भी लगा दिया है—

जनया दैव्यं जनम्=दैव्य जन पैदा कर।

मनुष्य को मनुष्यता की सारी सामग्री समाज से मिलती है, अतः उसे चाहिए कि वह भी समाज को कुछ दे जाए। समाज का सारा कार्य्यभार देवों के सहारे चलता है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि ऐसे सर्वहितकारी देवों का कुछ-न-कुछ प्रत्युपकार अवश्य करे। इस भाव को लेकर वेद ने कहा—

जनया दैव्यं जनम्—

दैव्य=देवहितकारी जन को कौन पैदा करेगा ? क्या राक्षस, दस्यु ? कभी नहीं। अतः देवजन-

---

१. यदि ते कर्म्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। (तै० उ० १।११।३-४)

हितकारी सन्तान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को स्वयं देव[1] बनना पड़ेगा अर्थात् मनुष्य बनकर जब सन्तान उत्पन्न करने में प्रवृत्त होने लगे, तब उसके हृदय में कुकाम की कुवासना न हो, वरन् जन-समाज, नहीं-नहीं, देवसमाज के हित की भावना हो।

वेद मनुष्य बनाकर चुपके से देवत्व के मार्ग पर ला खड़ा करता है। यह विशेष मनन करने की बात है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यवेदानन्दसरस्वतीसार्थकापरनामधयेन
स्वामीदयानन्दतीर्थेन दुग्धः स्वाध्याय-सन्दोहः
समाप्तः।

ओ३म् शम्

——:०:——

१. 'देव' शब्द के सम्बन्ध में 'बोधायन गृह्यसूत्र' के कुछ सूत्र देखने योग्य हैं।

ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्रागुपनयनाज्जातः इत्यभिधीयते ॥१॥

ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ बालक उपनयन से पूर्व 'जात' कहलाता है।

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किंचिदधीत्य ब्राह्मणः ॥२॥

ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों का आचरण करनेवाला यज्ञोपवीतधारी कुछ वेद पढ़कर 'ब्राह्मण' होता है।

एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥३॥

एक शाखा पढ़ने से 'श्रोत्रियः' होता है।

अङ्गान्यधीत्यानूचानः ॥४॥

वेदाङ्ग पढ़कर 'अनूचान' होता है।

कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥५॥

वेद की कल्पविद्या पढ़कर 'ऋषिकल्प' होता है।

सूत्रप्रवचनाध्यायी 'भ्रूणः' ॥६॥

सूत्र और व्याख्या को पढ़नेवाला 'भ्रूण' होता है।

चतुर्वेदादृषिः ॥७॥

चारों वेदों के पढ़ने से 'ऋषि' होता है।

अत ऊर्ध्वं देवः ॥८॥

इससे आगे 'देव' होता है।

चारों वेदों के पढ़ने से आगे उनके अनुसार अनुष्ठान हो सकता है। वेदविद्या के अनुसार जीवन बितानेवाले सर्ववेदवित् को देव कहना चाहिए। वेदानुसार जीवन विताने का अर्थ है लोकोपकार में अपने-आपको लगा देना।

——:०:——

मूलमन्त्र तथा व्याख्यागत प्रमाणों की अकारादि क्रमानुसार

अनुक्रमणिका

र

ल

व

श

स

□□□

K. SHASTRI
NAINITAL

8135 - 12 - 137 - 8302

Vacumetic®

DIN 55531 - 1

TL 8135-0003-1

131 H - class 1

160°C - 20N/cm² - 3 s